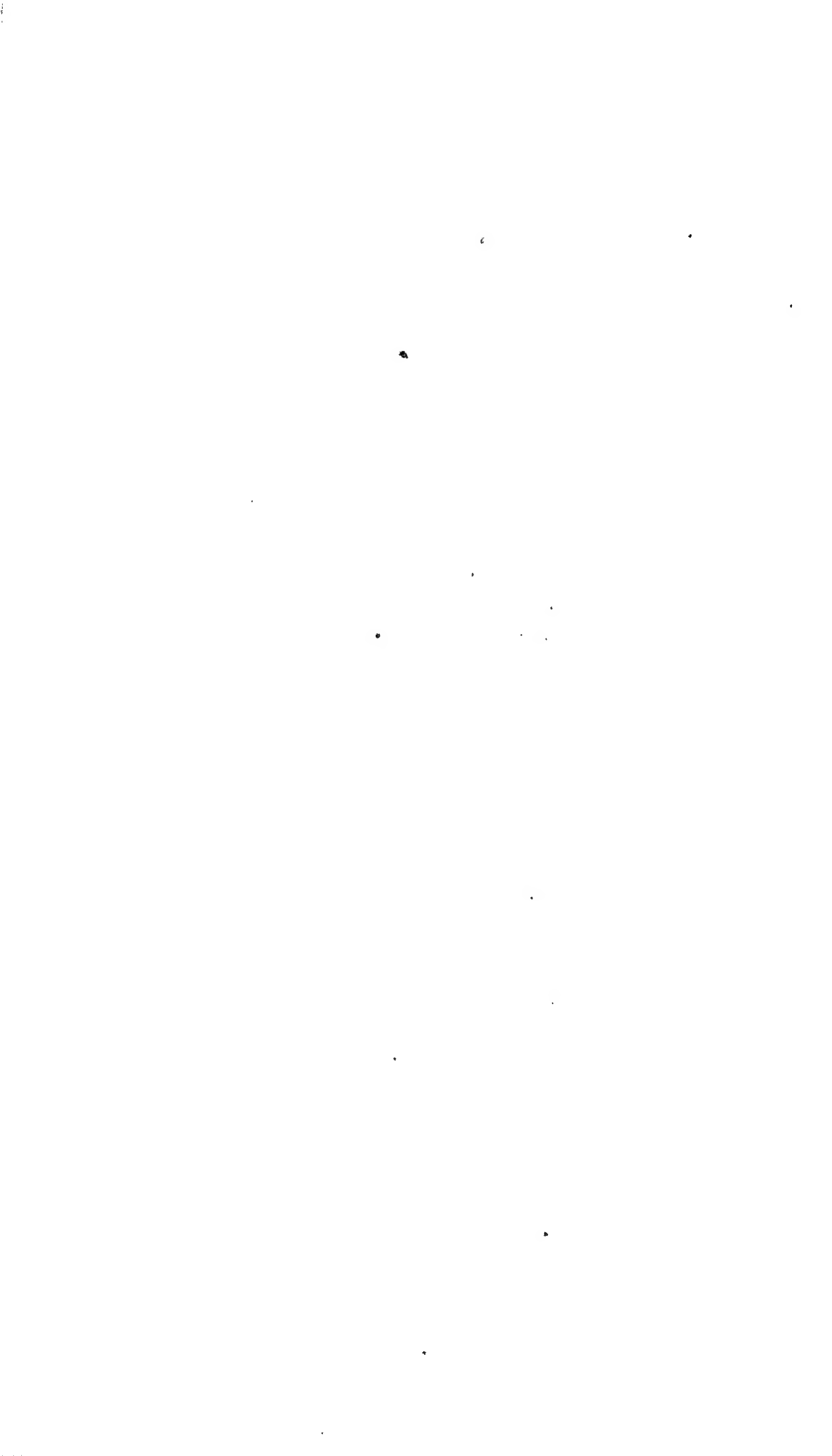


भारतीय संस्कृति का विकास

(According to the syllabus prescribed by Agra University for B. A. Students)



लेखक

डाक्टर मथुरालाल शर्मा, एम. ए. डी. लिट

अध्यक्ष इतिहास विभाग

राजपूताना विश्वविद्यालय, जयपुर

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड

पुस्तक प्रकाशक तथा विक्रेता

आगरा

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं० प्राइवेट लि०,
हॉस्पीटल रोड, आगरा

प्रथम संस्करण : १९५७
मूल्य : ६)

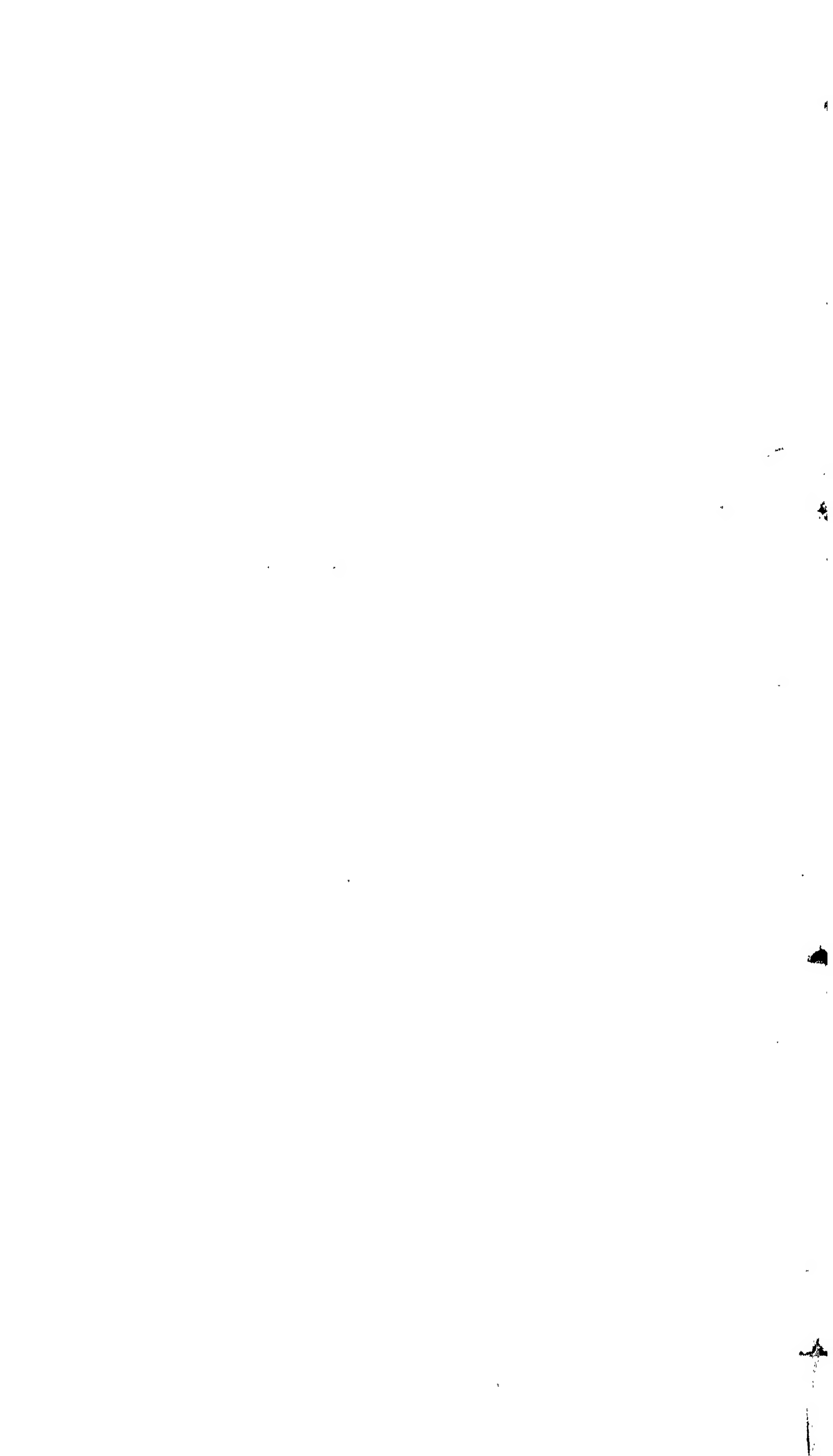
मुद्रक
अमृत इलैक्ट्रिक प्रेस,
बेलनगंज, आगरा।

भूमिका

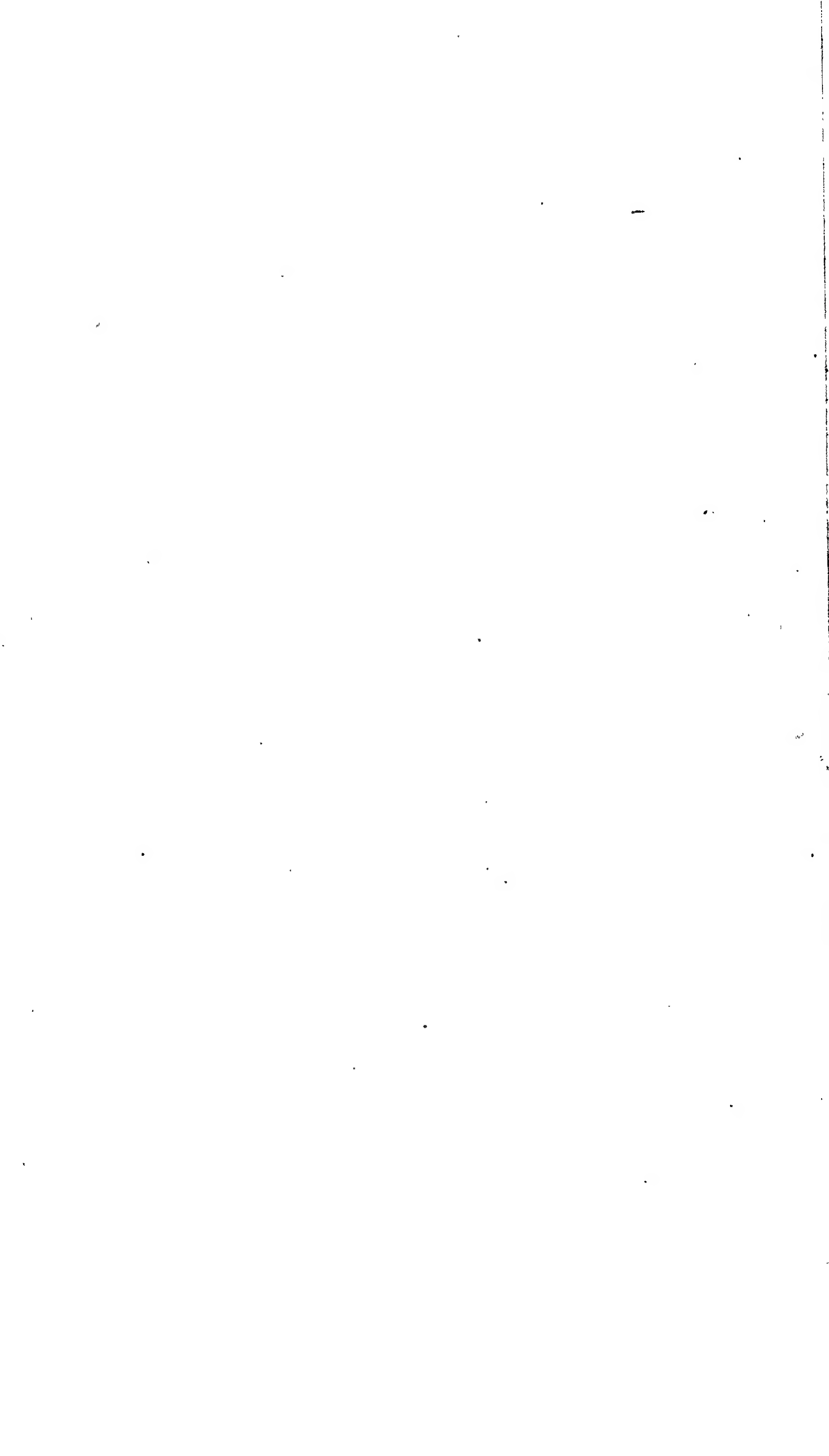
अब तक हमारे विद्यार्थी विदेशियों द्वारा लिखे हुए भारतीय इतिहास पढ़ते आये हैं। दो-चार ग्रन्थ जो भारतीय विद्वानों ने लिखे हैं उनमें भी प्रायः विदेशियों का ही दृष्टिकोण प्रधान है। इसके अतिरिक्त इतिहास अब तक शासकों की जय-पराजय, शासन नीति या शासन पद्धति की कहानी बना हुआ है। आधुनिक इतिहासज्ञ अब संस्कृति और सभ्यता के विकास और प्रसार तथा परिवर्तन पर भी जोर देने लगे हैं। शासक और शासन से शून्य इतिहास तो इतिहास नहीं कहला सकता किन्तु इतिहास को संस्कृति की उपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए। लोक जीवन को समझने के हेतु यह आवश्यक है कि इतिहास तत्कालीन संस्कृति और सभ्यता का प्रतिबिम्ब हो। भारतीय इतिहास को भलीभाँति तभी समझा जा सकता है जब इस विषय के ग्रन्थों में विभिन्न काल की संस्कृति के विकास, स्वरूप और परिवर्तन का यथोचित वर्णन और निरूपण किया जाय। आगरा विश्वविद्यालय के इतिहास-वेत्ताओं ने बी० ए० के पाठ्यक्रम में इस अभाव की पूर्ति को आवश्यक समझकर 'भारतीय संस्कृति का विकास' नामक एक प्रश्नपत्र इतिहास में अनिवार्य कर दिया है; परन्तु अभी कोई ऐसा ग्रन्थ किसी भाषा में नहीं है जिसमें हमारे सांस्कृतिक विकास का क्रमबद्ध और सुपाठ्य इतिहास हो। अब स्वतन्त्र भारत में विद्यार्थियों को हिन्दी में अध्ययन करने की तथा उत्तर देने की अनुमति हो गई है, इसलिए यह पुस्तक हिन्दी में तैयार की गई है। पाठ्यक्रम के अनुसार इसमें सब विषयों का समावेश तथा दिग्दर्शन किया गया है। इसके अध्ययन से हमारे सांस्कृतिक इतिहास में पाठकों का प्रवेश हो सकेगा।

जयपुर
१५ दिसम्बर, १६५६

मथुरालाल शर्मा



विषय-सूची



प्रथम अध्याय

भूगोल तथा विभिन्न जातियों का प्रभाव

भारत की भौगोलिक स्थिति : भारत के उत्तर में लगभग २,००० मील लम्बा हिमालय पर्वत है। यह संसार में सब से ऊँचा पहाड़ है। इसका एक शिखर २९,००० फीट से भी कुछ अधिक ऊँचा है। कहीं-कहीं तो हिमालय ४०० मील तक चौड़ा हो गया है। इसकी ऊँची चोटियाँ हमेशा बर्फ से ढकी रहती है। पूर्व और पश्चिम में इसका सिलसिला मुड़कर तथा झुककर समुद्र तक पहुँच गया है। इससे भारत के उत्तर में हिमालय की एक ऐसी दीवार बन गई है जो पार नहीं की जा सकती। केवल दो तीन जगह इसमें ऐसे मार्ग हैं जो परिश्रम और कठिनाई के साथ पार किये जा सकते हैं। ये मार्ग हैं बोलन और ख़ैबर की घाटी तथा ब्रह्मपुत्र नदी की घाटी। पूर्व, पश्चिम और दक्षिण-की ओर भारत समुद्र से घिरा हुआ है। प्राचीन काल में इन समुद्रों को पार करके भारत में प्रवेश करना असम्भव था।

भारत के मध्य में पूर्व से पश्चिम तक विन्ध्याचल नामक पर्वत स्थित है। इससे भारत दो भागों में विभक्त होता है। उत्तर भारत और दक्षिण भारत। दक्षिण भारत के पूर्व में पूर्वी घाट और पश्चिम में पश्चिमी घाट उत्तर से दक्षिण की ओर स्थित हैं जो दक्षिण में मिल जाते हैं। यह मिला हुआ भाग नीलगिरि कहलाता है। पूर्वी घाट और समुद्र के बीच, और इसी प्रकार पश्चिमी घाट और समुद्र के बीच उपजाऊ मैदान हैं जो समुद्र तट के साथ-साथ उत्तर से दक्षिण की ओर फैले हुए हैं। विन्ध्याचल और पश्चिमी तथा पूर्वी घाट से जो घिरा हुआ ऊँचा प्रदेश है वह दक्षिण का पठार कहलाता है। नीलगिरि से नीचे इलायची का पहाड़ है। इन दोनों पर्वतों के मध्य में एक घाट है। इसी प्रकार पश्चिमी घाट में भी पश्चिम से पूर्व की ओर जाने के दो मार्ग हैं जो घाट कहलाते हैं। अन्यत्र यह पर्वत श्रेणी पार नहीं की जा सकती। दक्षिण की नदियों के प्रवाह से स्पष्ट है कि दक्षिण का पठार पश्चिम से पूर्व की ओर ढलता है।

उत्तर भारत बहुत उपजाऊ है और दक्षिण भारत कम। पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में वर्षा खूब होती है। नदियों में हिमालय के बर्फ का पानी आता रहता है, भूमि पथरीली नहीं है और ख़ैबर की घाटी से बंगाल तक आने जाने में कोई भौगोलिक कठिनाई नहीं है। विन्ध्याचल के दक्षिण में यह बात नहीं है। पानी कम बरसता है, भूमि पथरीली और कंकरीली है, नदियों का प्रवाह बहुत तेज़ है और

सिंचाई कठिन है। आवागमन भी सहज नहीं है। उत्तर में गर्मी ज़्यादा पड़ती है और दक्षिण में ऊँचाई के कारण कम।

भूगोल और भारतीय संस्कृति : प्रत्येक देश की संस्कृति के निर्माण पर भूगोल का बहुत बड़ा प्रभाव होता है। यह बात हमारी संस्कृति पर भी अति स्पष्ट रूप से लागू है। हमारी संस्कृति के विभिन्न स्वरूपों पर भूगोल का हाथ स्पष्ट दिखाई देता है।

बाहर की जातियों का प्रवेश : जब आर्य लोगों ने मध्य एशिया छोड़ा और उनका एक दल पश्चिम से भारत की ओर मुड़ा तो उसने ख़ैबर की घाटी को पार करके इस देश में प्रवेश किया। आर्यों के एक दल के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा, इस प्रकार सदियों तक आर्यों के दल ख़ैबर के मार्ग से भारत में आते रहे। ये लोग इतनी अधिक संख्या में आये कि भारत के आदि निवासी द्रविड़ लोग इनके सामने अधिक समय तक नहीं टिक सके। आर्य लोगों ने इनको पहिले वर्तमान उत्तर प्रदेश की ओर और फिर दक्षिण की ओर खदेड़ भगाया। आर्य लोग सर्वाधिक संख्या में पंजाब में बसे और उससे कुछ कम संख्या में उत्तर प्रदेश और बिहार में पहुँचे। उत्तर राजस्थान में भी इनका बाहुल्य रहा। यही कारण है कि इन प्रदेशों के निवासियों की सूरत शक्ल, शरीर की ऊँचाई तथा बनावट और रंग आर्यों का सा है। द्रविड़ों के रक्त का संक्रमण इनमें बहुत कम है। ब्रह्मपुत्र नदी की घाटी से मंगोल जाति के लोग भारत में घुसे और बंगाल में बसे। इस प्रदेश में भी मंगोल और द्रविड़ों में संघर्ष हुआ। लेकिन मंगोल लोग आर्यों की भांति अधिक संख्या में नहीं आये थे और इनके आक्रमण भी बार-बार सदियों तक जारी नहीं रहे, इसलिए मंगोल लोग द्रविड़ों को खदेड़ कर नहीं भगा सके। यही कारण है कि बंगाल के निवासियों में मंगोल और द्रविड़ों का सम्मिश्रण है जो उनकी शारीरिक आकृति तथा रंग से स्पष्ट प्रकट होता है। अतः पंजाब और बंगाल के निवासियों की शारीरिक आकृति, प्रकृति और प्रवृत्ति में भेद है।

यूनानी, शक, पार्थियन और हूणों का प्रवेश : ईसा से लगभग तीन सौ वर्ष पहिले यूनानियों ने भारत में प्रवेश किया। ये लोग सिकन्दर के नेतृत्व में भारत को विजय करने आये थे। ख़ैबर की घाटी से इन लोगों ने प्रवेश किया और पंजाब तथा सिंध को विजय किया तथा वहाँ अपना अधिकार स्थापित करके कुछ यूनानी सेना छोड़कर चले गये। सीमान्त प्रदेश पर यत्र तत्र कुछ यूनानी सरदारों ने अपने छोटे छोटे राज्य स्थापित किये जो चार पाँच सदियों तक चले और फिर लुप्त हो गये। यूनानी इतनी कम संख्या में भारत में आये और इतने कम समय यहाँ टिके कि उनका यहाँ के निवासियों की शारीरिक आकृति या बनावट पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यूनानियों के बाद दूसरी सदी से सातवीं सदी तक कई आक्रमणकारी जातियों ने

ख़ैबर तथा बोलन घाटी से भारत में प्रवेश किया। इनमें विशेष उल्लेख के योग्य हैं पार्थियन, शक और हूण। पार्थियन लोगों ने सीमान्त प्रदेश पर छोटे-छोटे राज्य स्थापित किये और यूनानियों में तथा भारतीयों में ये लोग घुल मिल गये। शक लोग ख़ैबर से मथुरा, मालवा, सौराष्ट्र, गुजरात तथा महाराष्ट्र तक फैल गये और भारतीयों में घुल मिल गये। एवं उत्तर पश्चिम तथा पश्चिम भारत में इन्होंने कई राज्य स्थापित किये। हूण लोगों के हमले चौथी सदी से सातवीं सदी तक होते रहे। इन लोगों ने कई भारतीय राज्य नष्ट कर डाले और यहाँ की लड़ाकू जातियों में ये लोग मिल गये। भारतीय राजपूतों में इनकी गणना होने लगी और उनके साथ इनके विवाह भी होने लग गये।

अरब, अफ़ग़ान और मुगलों का प्रवेश : आठवीं सदी में अरब लोगों ने भारत में प्रवेश किया। ये लोग मुसलमानों के ख़लीफा के सेनानायक मुहम्मद कासिम के नेतृत्व में सिंध को जीतने के वास्ते आये थे। विजय के बाद सिंध में अपना राज्य स्थापित किया और बहुत बड़ी संख्या में अरब लोग यहाँ निवास करने लगे तथा छल या बल से हिन्दुओं को मुसलमान बनाने लगे। आठवीं सदी में सिंध प्रान्त में जो मुसलमानों का प्रभुत्व कायम हुआ वह कभी नहीं हटा। वहाँ हिन्दुओं की संख्या कम ही कम होती गई। अरब लोगों के लगभग तीन सौ वर्ष बाद तुर्क लोगों ने ख़ैबर की घाटी के द्वारा भारत पर आक्रमण किया। इनमें विशेष उल्लेख के योग्य महमूद ग़ज़नी है जिसके नेतृत्व में ग्यारहवीं सदी के आदि में चौबीस हमले हुए। उसके बाद मुसलमानों के हमले होते ही रहे। सन् १२०६ में मुसलमानों का राज्य कायम हो गया और उसके बाद मुसलमानों की कई जातियाँ आक्रमण करने के लिये इस देश में घुसीं। इनमें कोई तुर्क थे, कोई अरब, कोई अफ़ग़ान और कोई ईरानी। ऐसे मुसलमान लाखों की तादाद में उत्तर भारत में फैल गये और बस गये। चौदहवीं सदी में अलाउद्दीन खिलजी ने प्रायः सब दक्षिण भारत पर हमला किया और सब हिन्दू राज्यों को परास्त किया परन्तु दक्षिण पर मुसलमानों का प्रभुत्व नहीं टिका और वहाँ अधिक संख्या में मुसलमान नहीं बसे।

सोलहवीं सदी के आरम्भ में मुग़लों ने बाबर के नेतृत्व में भारत पर आक्रमण किया और अफ़ग़ानों के साम्राज्य को नष्ट करके मुग़ल साम्राज्य स्थापित किया। मुग़ल काल में मुसलमान प्राय: समस्त देश में यत्र तत्र फैल गये परन्तु प्रधानता इनकी उत्तर भारत में ही रही। इस काल में दक्षिण भारत में भी मुसलमानों ने बड़े-बड़े पाँच राज्य स्थापित किये जिससे वहाँ भी मुसलमानों का विस्तार होने लगा। ये लोग मुग़ल नहीं बल्कि अरब, पठान आदि दूसरे मुसलमान थे।

मुसलमान बाहर से बहुत बड़ी संख्या में आये थे और यहाँ के निवासी भी बड़ी संख्या में मुसलमान बनाये गये थे। ये परस्पर घुल मिल गये और इनमें विवाह

सम्बन्ध होने लगे। हिन्दू लोगों ने इनसे अपना विशेष सम्पर्क नहीं जोड़ा। जो मुसलमान बन गये वे सब अलग माने जाने लगे। इस प्रकार भारतीय समाज का सारा रूप बदल गया। हिन्दू अलग रहे परन्तु सर्वांश में अलग रहना असम्भव था। एवं देशी विदेशी रक्त मिलने लगा और मिलता ही रहा। इस सम्मिश्रण के कारण भारतीय समाज की आकृति और प्रकृति में अनेक रूपान्तर हुए। ये रूपान्तर सर्वाधिक पंजाब, सिंध और उत्तर प्रदेश में हुए। परन्तु देश का कोई भी भाग मुसलमानों के प्रभाव से नहीं बच सका।

यूरोपीय जातियों का प्रवेश : अब तक तो बाहर के लोग भारत में, विशेष कर ख़ैबर की घाटी या बोलन और ब्रह्मपुत्र की घाटियों से, घुसे थे और इनके प्रवेश का प्रभाव सबसे ज्यादा इन घाटियों के निकटवर्ती प्रदेशों पर ही पड़ा था, परन्तु पन्द्रहवीं सदी के अन्त में यह क्रम बदल गया। अब समुद्र पार करके भी विदेशी लोग भारत में आने लगे। सर्व प्रथम वास्कोडिगामा नामक एक पुर्तगाली नाविक भारत के पश्चिमी तट पर स्थित कालीकट नगर में आया। उसके बाद कितने ही पुर्तगाली जहाज यहाँ आये। पश्चिमी तट पर पुर्तगाली लोगों की कई बस्तियां बस गईं। यत्र तत्र इनके राज्य स्थापित हो गये। भारतीयों को जबरदस्ती वहाँ ईसाई बनाया जाने लगा और परस्पर जबरदस्ती से, विशेष कर भारतीय स्त्रियों से, पुर्तगाली लोग विवाह करने लगे। इस प्रकार पश्चिमी तट पर एक सम्मिश्रित बस्तियाँ तैयार होने लगीं। ये लोग सूरत शक्ल से न पूरे भारतीय थे और न पूरे पुर्तगाली। इनके बाद डच लोग आये, जिन्होंने बंगाल में अपना व्यापार जमाया और बस्तियाँ बसाईं। फिर फ्रान्सिसी आये, जिन्होंने पूर्वी तट पर अपनी कोठियाँ स्थापित कीं और बस्तियाँ कायम कीं। अन्त में सतरहवीं शताब्दी में अंग्रेज़ लोग आने लगे, जिन्होंने फ्रान्सिसियों को दबाकर शनैः शनैः सारे देश पर अपना राज्य कायम कर लिया और लगभग दो सौ वर्ष तक यहाँ शासन किया।

पुर्तगाली, डच, फ्रान्सिसी और अंग्रेज तथा इनके साथ कुछ अन्य योरोपीय जातियों के लोग भारत में जहाँ तहाँ, विशेषकर बम्बई, सूरत, मद्रास, कलकत्ता आदि नगरों में बस गये और कितनों ही ने यहाँ की स्त्रियों से विवाह कर लिये। इनसे एंग्लो-इण्डियन नामक एक मिश्रित जाति उत्पन्न हुई जिनमें मिश्रित फ्रान्सिसी और अन्य मिश्रित यूरोपियन लोगों का भी समावेश होता है।

यह समझना भूल होगी कि विभिन्न जातियों का मिश्रण केवल हमारे ही देश में हुआ है। अफ़ग़ानिस्तान, ईरान, तुर्किस्तान, ब्रह्मा, मलाया आदि देशों में भी ऐसा ही हुआ है। कोई भी देश अन्य देशों के सम्पर्क से पूरा पूरा नहीं बच सकता। फिर भारत जैसा उपजाऊ, सम्पन्न और सुन्दर देश दूसरे लोगों के सम्पर्क या आक्रमण से कैसे बच सकता था ?

अनेक जातियों के सम्मिश्रण का तथा भूगोल का शरीर पर प्रभाव : उपरोक्त सम्मिश्रण का और भूगोल का परिणाम हम शरीर पर प्रत्यक्ष देख सकते हैं। आर्य लोग ख़ैबर की घाटी से पंजाब में घुसे थे और बहुत बड़ी संख्या में आये थे। अतः ख़ैबर से दिल्ली तक लोग गौर वर्ण लम्बे और सुन्दर हैं। नाक लम्बी और तीखी और लिलाट ऊँचा और प्रशस्त होता है। कालान्तर में आर्य लोग उत्तर प्रदेश में घुसे। यहाँ से ये सब आदि निवासियों को नहीं निकाल सके। ज्यों ज्यों पूर्व की ओर बढ़ते गए त्यों त्यों यह समस्या भी बढ़ती गई। इसलिए हम देखते हैं कि हम ज्यों ज्यों दिल्ली से पूर्व की ओर जाते हैं तो शरीर की विशेषतायें बढ़ती जाती हैं। लम्बाई कम होती जाती है और रंग अधिकाधिक साँवला मिलता है। लिलाट भी वैसा प्रशस्त और ऊँचा नहीं है और सुन्दरता भी घटती जाती है। फिर बिहार और बंगाल में तो सारी ही बातें बदल गई हैं। ब्रह्मपुत्र नदी की घाटी से आये हुए मंगोल लोग इस भाग में आदि निवासियों में मिले हैं। ये लोग चीनियों जैसे थे। रंग पीला, कद छोटा, नाक चपटी, आंख छोटी और कुछ गड़ी हुई सी, ये सब विशेषताएँ हम बिहार और बंगाल के निवासियों में देखते हैं। उधर राजस्थान, मालवा, गुजरात और काठियावाड़ तथा महाराष्ट्र में आर्य लोग नहीं किन्तु शक, सीथियन और हूण लोग घुसे थे। अतः इधर के लोग न पंजाबियों से मिलते हैं और न बंगालियों से। इनका कद छोटा, रंग गोरा और साँवला, नाक छोटी, आँख भी कुछ छोटी, किन्तु सब शरीर गठीला और सुन्दर होता है। यहाँ के जंगलों में भील आदि लोग मिलते हैं जो प्राचीन काल में ही मैदानों को छोड़कर जंगलों में आत्मरक्षार्थ जा बसे थे। विन्ध्याचल से दक्षिण की ओर लोग बिल्कुल भिन्न हैं। इधर भी कुछ आर्य, सीथियन और दूसरे लोग आए परन्तु सुदूर दक्षिण तक बहुत कम लोग पहुँच पाए। यहाँ पर प्रधानता द्रविड़ लोगों की ही रही। विशेष कर मद्रास और त्रावणकोर में तो उत्तर से बहुत ही कम लोग पहुँच पाए। हैदराबाद और मैसूर तक कुछ अधिक लोग गये। इसलिए इस हिस्से में द्रविड़ों की ही प्रधानता है। ज्यों ज्यों विन्ध्याचल से हम दक्षिण की ओर बढ़ते हैं त्यों त्यों द्रविड़ों की भी प्रधानता बढ़ती है। इनका रंग काला, शरीर छोटा, नाक छोटी और पतली, शरीर कम पुष्ट और कुछ निर्बल होता है।

जातियों के सम्मिश्रण का तथा भूगोल का भाषा पर प्रभाव : आर्यों के आने से पहिले उत्तर भारत के आदि निवासी कैसी भाषा बोलते थे, इसका ठीक पता नहीं है। आर्य लोगों की भाषा ऋग्वेद की भाषा से मिलती जुलती होगी, ऐसा अनुमान किया जाता है। भारत में आने से पहिले आर्य लोगों की भाषा ऋग्वेद की सी थी परन्तु ठीक वैसी नहीं थीं। जब ये लोग ईरान में थे तो इनकी भाषा कुछ और प्रकार की थी। उस समय का वहाँ का ग्रन्थ ज़िन्दावस्ता है। इसकी भाषा अनेक अंशों में ऋग्वेद जैसी है, परन्तु उच्चारण, व्याकरण और छन्द में बहुत

भिन्नता है। इस भेद का कारण है भूगोल और समय। जब आर्य लोग पंजाब में पहुँचे तो यहाँ का जलवायु भिन्न मिला। इससे उनका उच्चारण बदलने लगा और कालान्तर में भाषा की रचना भी बदलने लगी। आदि निवासियों के सम्पर्क से भी भाषा कुछ बदली होगी। कुछ ऐसे ही और कुछ अन्य कारणों से प्राकृत भाषा बनने लगी। प्राकृत मूल में संस्कृत है, केवल उच्चारण और व्याकरण का भेद है। जब आर्य लोग और अधिक पूर्व की ओर बढ़ने लगे तो आदि निवासियों से उनका सम्पर्क भी बढ़ने लगा। अब आर्यों की संख्या बहुत बढ़ गई थी और विभिन्न व्यवसायों तथा द्रविड़ों के अधिक सम्पर्क के कारण उनमें वर्ण भेद भी होने लगा था। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र सब ठीक एक प्रकार की भाषा कैसे बोल सकते थे। भूगोल के प्रभाव, कुल संस्कार तथा संस्कृति भेद से भाषा में भी भेद उत्पन्न होना स्वाभाविक बात थी। इसलिए उत्तर, पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में कई प्रकार की प्राकृत बन गई। पश्चिम और मध्य में शक, सीथियन और हूणों की भाषा का भी प्रभाव पड़ा। उनके उच्चारण से भी इन देशों की भाषाओं के रूप बदले। वेदों की भाषा भी केवल वेदों में ही रह गई। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के बाद जो ग्रन्थ बने उनकी भाषा धीरे-धीरे बदलने लगी। इस परिवर्तन को देखकर पाणिनि महाराज ने अष्टाध्यायी नामक प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ बनाया। इसमें निश्चय किया कि वेद भाषा का क्या रूप है और लोक भाषा का क्या। इस लोकभाषा का नाम संस्कृत अर्थात् सुधरी हुई भाषा रखा गया। शेष सब भाषाएँ प्राकृत कहलाने लगीं। पाणिनि के व्याकरण से यह लाभ हुआ कि संस्कृत भाषा गत तीन हजार वर्ष से ज्यों की त्यों बनी हुई है। इसका रूप विकृत नहीं हुआ। पाणिनि के व्याकरण की सहायता से हम इस समय वाल्मीकि रामायण, महाभारत, पुराण, कालिदास और अन्य महाकवियों के ग्रन्थ तथा विभिन्न विषयों पर लिखे हुए संस्कृत के ग्रन्थों को समझ सकते हैं।

दक्षिण की चार भाषायें : यूनानी, शक और हूणों के यहाँ आने और सम्मिश्रण से तो हमारी भाषा के मूल स्वरूप में कोई भेद नहीं हुआ। कुछ दस बीस शब्द नये आये, कुछ उच्चारण बदला, कुछ शब्द विकृत हुए परन्तु मूल रूप संस्कृत तथा प्राकृतों का जैसा का तैसा ही बना रहा। परन्तु समय के साथ प्राकृत भी बदलने लगीं और इनके भेद प्रभेद बढ़ने लगे। दक्षिण की भाषाओं पर भी संस्कृत का थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ने लगा। दक्षिण में प्राचीन काल से चार भाषायें बोली जाती हैं। मद्रास में तामिल, दूर दक्षिण में मलियाली, पश्चिमीय दक्षिणी तट पर कनाडी और हैदराबाद तथा मैसूर में तेलगू। इनमें तामिल सबसे प्राचीन है। यह ऋग्वेद की भाषा से भी अधिक पुरानी मानी जाती है। इसमें साहित्य अच्छा है और इस पर संस्कृत का प्रभाव केवल नाम मात्र का है। अन्य तीनों भाषाओं में संस्कृत के शब्द अधिक घुस गये हैं। सर्वाधिक संस्कृत शब्द तेलगू भाषा में हैं। इसका कारण स्पष्ट और प्रत्यक्ष है। इसके प्रदेश उत्तर भारत से इतने दूर नहीं हैं जितने शेष तीन

भाषाओं के प्रदेश। फिर भी संस्कृत के कारण इन दक्षिणी भाषाओं के मूल स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आया। जैसे हमारी आजकल की हिन्दी में अंग्रेजी शब्द मिल गये हैं उसी प्रकार उत्तर भारत के सांस्कृतिक सम्पर्क के कारण इन चारों भाषाओं में भी संस्कृत के शब्दों ने प्रवेश पाया परन्तु उनकी लिपि व्यवस्था, विभक्तियाँ तथा क्रिया भेद पूर्ववत् बने रहे।

वर्तमान भाषायें : प्राकृत के भेद उत्तर, मध्यप्रदेश, पूर्व और पश्चिम में सर्वत्र नये-नये होने लगे। इनके भेद समझने के वास्ते तथा इनके स्वरूपों को यथापूर्व बनाये रखने के लिये प्राकृत भाषा के भी व्याकरण बनने लगे। परन्तु काल के प्रवाह के समान भाषा का प्रवाह भी रोकने से नहीं रुकता। इसकी गति स्वाभाविक और अनिवार्य है। एवं प्राकृतें बनती रहीं। इनकी संख्या बढ़ती गई और रचना बदलती रही। परन्तु प्रान्तिक और प्रादेशिक भेद होते हुए भी प्राकृतें मूल में समान थीं। महाराज अशोक ने जो राजाज्ञायें जारी की थीं वे शिलाओं पर और स्तम्भों पर खुदी हुई सारे देश में पेशावर से दक्षिण मैसूर तक तथा सौराष्ट्र से उड़ीसा तक मिली हैं। इनकी भाषा में स्थानीय भेद है परन्तु मूलत: वह एक ही भाषा है। वास्तव में हमारे देश के अधिकांश भाग में एक भाषा हमेशा से समझी जाती रही है। आठवीं और नवीं शताब्दियों में रूप और बदलने लगे। शनैः शनैः ये भाषायें संस्कृत से दूर जाने लगीं। ये अधिक विकृत किन्तु प्रचलित रूप अपभ्रंश कहलाने लगे। एक रूप का नाम व्राचड भी था। अपभ्रंश के भी प्राकृत के समान अनेक रूप थे। इन अपभ्रंशों से ही हमारी वर्तमान भाषायें—हिन्दी, बंगला, उड़िया, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी आदि—विकसित हुई हैं।

मुसलमानों के आक्रमण : सातवीं सदी से मुसलमान भारत में आने लगे। आरम्भ में अरब लोग यहाँ आये। ये समुद्र तट के पास-पास नावों द्वारा काठियावाड़ और गुजरात में घोड़े बेचने तथा दूसरा छोटा व्यापार करने और कुछ लोग जादू के खेल दिखाने के लिये आया करते थे। आठवीं शताब्दी के आरम्भ में अरब लोगों ने सिन्ध प्रान्त पर हमला किया और वहाँ के ब्राह्मण नरेश दाहिर के वंश का अन्त करके अपना राज्य स्थापित किया। दशवीं शताब्दी में खैबर की घाटी से तुर्क मुसलमानों ने आक्रमण शुरू किये। पहिले अलपतगीं, फिर सुबुगतगीं और तदनन्तर महमूद गज़नी ने कितने ही हमले किये। अन्तिम आक्रमण महमूद गज़नी का सन् १०२४ में हुआ। उसके बाद मुसलमानों के पैर पंजाब में जम गये। महमूद गज़नी के बेटे पोते पंजाब के पश्चिमी भाग पर राज्य करते रहे। फिर बारहवीं शताब्दी के अन्त में शहाबुद्दीन ग़ोरी ने भारत पर सात आक्रमण किये और अन्त में चौहान सम्राट् पृथ्वीराज को हराकर हिन्दुओं के साम्राज्य का अन्त किया तथा मुसलमानों के साम्राज्य की स्थापना की। सन् १२०६ में दिल्ली के राजसिंहासन पर प्रथम मुसल-

मान बादशाह बैठा। उसके बाद पठान और अफगान बादशाहों के कई वंशों के हाथ में उत्तर भारत का राज्य रहा। इनमें से एक बादशाह ने तो कुछ वर्ष के लिये सारे भारत पर उत्तर से दक्षिण समुद्र तक अपना आधिपत्य जमा लिया था। इसका नाम अलाउद्दीन खिलजी था। इसका प्रभुत्व अधिक काल तक नहीं रहा। दक्षिण के हिन्दू राजाओं ने स्वाधीनता का संग्राम लड़ा और फिर अपना राज्य कायम कर लिया। इन पठान अफगान बादशाहों ने सन् १२०६ से १५२६ तक भारत में राज्य किया। उसके बाद बाबर नामक एक मुग़ल जाति के मुसलमान बादशाह ने भारत पर आक्रमण करके इन मुसलमान राजवंशों का अन्त किया और मुग़ल साम्राज्य की नींव डाली।

हिन्दी की उत्पत्ति : इस प्रकार सन् १२०६ से १५२६ तक अर्थात् लगभग तीन सौ वर्ष तक अफग़ान, खिलजी, लोदी आदि मुसलमानों ने भारत में राज्य किया। इस अर्से में लाखों मुसलमान अफग़ानिस्तान, बलूचिस्तान, ईरान, अरब और तुर्किस्तान से व्यापार, राजसेवा और मुसाफरी के लिये भारतवर्ष में आये। मुसलमान बादशाहों ने लाखों हिन्दुओं को बल, छल और कौशल से मुसलमान बनाया। एवं भारतवर्ष में एक नया मनुष्यदल बन गया जिसके धर्म, भाषा, रहन-सहन, स्वभाव और विचार तथा दृष्टिकोण हिन्दुओं से भिन्न थे। परन्तु फिर भी हिन्दू और मुसलमान आपस में मिले जुले बिना कैसे रह सकते थे ? मुसलमानों की भाषा फारसी थी और हिन्दुओं की तत्कालीन अपभ्रंश। परस्पर बातचीत में इनसे काम नहीं चल सकता था। इसलिये परिस्थिति और आवश्यकता के दबाव से एक नई भाषा बनने लगी। यह न केवल मुसलमानों की थी और न हिन्दुओं की, यह वास्तव में दोनों के सम्पर्क की सृष्टि थी। इस भाषा का नाम हिन्दी हुआ। और यह नामकरण भी मुसलमानों ने ही किया। ये लोग भारत को हिन्द कहते थे। दसवीं शताब्दी के मध्य में इब्न हाकल नामक एक अरबी विद्वान् ने मुसलमान देशों का हाल लिखा था और अपने ग्रन्थ में देशों के नक्शे भी दिये थे। इस ग्रन्थ में सिन्ध प्रान्त का नक्शा है और भारत की सीमा बतलाते हुए लिखा है "हद्दउल हिन्द" अर्थात् हिन्द की सीमा। इस ग्रन्थ में भारतवर्ष के अर्थ में हिन्द शब्द का ही प्रयोग है। यही कारण है कि मुसलमानों ने यहाँ की भाषा का नाम हिन्दी रक्खा। मुसलमान भी इस भाषा को केवल भारत में ही बोलते थे। भारत से बाहर यह भाषा किसी मुसलिम देश में नहीं बोली जाती थी। इसलिये इसका नाम मुसलमानों की दृष्टि से अत्यन्त उपयुक्त था।

अमीर खुसरो की हिन्दी : इस अर्से में अमीर खुसरो नामक विद्वान् मुसलमान कवि हुआ। यह फारसी का तो विद्वान था ही लेकिन तत्कालीन हिन्दी का भी पंडित था। इसने अपने ग्रन्थों में हिन्दी शब्दों का प्रयोग किया है और हिन्दी

पद्यों में कुछ रोचक पहेलियाँ भी लिखी हैं। इसकी भाषा और रचना इस बात की साक्षी देती है कि हिन्दी भाषा लगभग छः सौ वर्ष पुरानी है। यह हिन्दी कहलाती थी, इस बात का भी प्रमाण है। बाबर ने अपनी आत्मकथा लिखी है जिसका नाम 'तुज़ुके बाबरी' है। मूल ग्रन्थ तुर्की भाषा में था, उसका अनुवाद फारसी में हुआ और फिर अन्य भाषाओं में। इस ग्रन्थ में हिन्दुस्तानी का उल्लेख इस प्रकार है : 'मैंने दौलत खाँ लोदी को अपने सामने बिठाया और एक आदमी से जो हिन्दुस्तानी ज़बान जानता था कहा कि इसको मेरा एक एक वाक्य समझाओ।' फीरोज़शाह के राजकाल में एक शालिहोत्र 'पशु चिकित्सा' ग्रन्थ का अनुवाद फारसी में करवाया गया था। इस फारसी ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है कि फारसी अनुवाद हिन्दी से किया गया है।

हिन्दी का स्वरूप : मुसलमानों के सम्पर्क से जो हिन्दी या हिन्दुस्तानी भाषा बनी वह मूल में अपभ्रंश है अर्थात् वह संस्कृत की संतान है। शब्द भी या तो संस्कृत के हैं या संस्कृत से बिगड़ कर बने हैं। इनमें अरबी, फारसी, तुर्की आदि भाषाओं के शब्द भी सैकड़ों हैं और इतने घुल मिल गये हैं कि बोलचाल में यह पता नहीं लगता कि ये शब्द किन विदेशी भाषाओं के हैं। नमक, रज़ाई, तकिया, हिसाब, बाकी, मालिक, मुल्क, कलम, कागज़, सस्ता, बाजार आदि शब्द इतने प्रचलित हैं कि इनको अब हिन्दी के शब्द नहीं कहना भूल होगी। हिन्दी के वाक्य की रचना संस्कृत के समान है। अर्थात् इसमें पहिले कर्त्ता, फिर कर्म और तदन्तर क्रिया होती है। हिन्दी की क्रियायें सब संस्कृत मूलक हैं। इनमें फारसी, अरबी या तुर्की की क्रियायें एक भी नहीं हैं। चलता है, खाता है, देखता है, लिखता है, हंसता है, रोता है, पीता है—ये सब संस्कृत की क्रियायें हैं। प्रान्तिक भाषाओं में भी प्रायः संस्कृत की क्रियाओं का ही बाहुल्य है। क्रिया भाषा का प्राण है और वाक्य रचना उसका शरीर। परन्तु हिन्दी पर अरबी, फारसी का ऋण बहुत है। हिन्दी के प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थ में भी इन भाषाओं के शब्दों का प्रयोग है। हिन्दी भाषा वास्तव में हिन्दू मुस्लिम सम्पर्क की देन है।

जातियों के सम्मिश्रण का स्वभाव पर प्रभाव : प्रत्येक प्रान्त के निवासियों के स्वभाव में कुछ विशेषता है। यह विशेषता विभिन्न जातियों के सम्मिश्रण का परिणाम है। आर्य लोगों का स्वभाव एक प्रकार का था और उनके बाद आने वाली जातियों का दूसरी प्रकार का। जैसे व्यक्तियों का स्वभाव भिन्न होता है उसी प्रकार जलवायु, व्यवसाय और परम्पराओं के कारण जातियों का स्वभाव भी भिन्न हुआ करता है। वैसे कुछ अंशों में मानव स्वभाव एक कहा जा सकता है, परन्तु व्यक्ति विशेष और जाति विशेष के स्वभाव में विषमतायें हुआ करती हैं। जब दो जातियाँ मिलती हैं तो उनका स्वभाव भी एक नवीन प्रकार का होता है। जैसे माता पिता दोनों का असर बालक पर होता है, जैसे दो जातियों की भाषा मिलकर एक नई

भाषा बन जाती है, ठीक उसी प्रकार विभिन्न जातियों के सम्मिश्रण से मिश्रित जातियों का स्वभाव भी नया होता है। यही कारण है कि पंजाबियों और बंगालियों का स्वभाव जुदा जुदा है, सिन्धियों और गुजरातियों का स्वभाव एक तरह का है और राजस्थान तथा महाराष्ट्र के निवासियों का स्वभाव दूसरी प्रकार का। प्रान्तीय स्वभाव की व्याख्या करना कठिन है और अनुचित भी। परन्तु अनुभव से इन विषमताओं का पता लगता है। उत्तर भारत के हिन्दू का स्वभाव और दक्षिण भारत के हिन्दू का स्वभाव नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि उत्तर का हिन्दू मुसलमानों के सम्पर्क में आया है और दक्षिण के हिन्दू का ऐसा सम्पर्क कम रहा है।

जातियों के सम्मिश्रण का और भूगोल का खानपान पर प्रभाव : पंजाब और उत्तर प्रदेश में गेहूँ खूब पैदा होता है, इसलिये यहाँ के लोग गेहूँ खाते हैं। राजस्थान और मालवा तथा खानदेश और बरार में ज्वार पैदा होती है इसलिये यहाँ के निवासियों का मुख्य भोजन ज्वार है। समुद्र तट के मैदानों में और बिहार तथा बंगाल में चावल की खेती होती है इसलिये यहाँ के निवासियों का मुख्य भोजन चावल है। समुद्रतट पर और बंगाल में मछली आसानी से तथा विपुलता से मिलती है, अतः यहाँ के निवासी मछली खाते हैं। पंजाब में जातियों का मिश्रण सबसे ज्यादा हुआ है, इसलिये यहाँ खान पान का तथा स्पर्शास्पर्श का परहेज़ नहीं है। प्रायः सब हिन्दू मांस खाते हैं। उत्तर भारत में मुसलमानों के सम्पर्क के कारण माँस खाने का और मद्यपान का अधिक रिवाज़ हो गया है। दक्षिण भारत में मुसलमान कम हैं तथा इनका सम्पर्क भी बहुत लम्बा नहीं रहा है और न इनकी सभ्यता या संस्कृति की धाक वहाँ पर जम पाई है, इसलिये वहाँ मांस खाने का प्रचार इतना अधिक नहीं हुआ है। राजस्थान के राजपूतों का और उत्तर प्रदेश के कायस्थों का मुसलमानों से अति निकट सम्बन्ध रहा। इसलिए इनमें मांस भक्षण और मद्यपान का प्रचार अधिक हो गया। राजपूतों के खान पान पर शक और हूणों का भी प्रभाव पड़ा है।

सांस्कृतिक सम्मिश्रण और भूगोल का दृष्टिकोण पर प्रभाव : सुदूर दक्षिण में आर्य लोग बहुत कम पहुँच पाये। जो अल्प संख्या में गये वे या तो विजेता थे या विद्वान्। मिश्रण और वर्णविलोप के भय से ये लोग द्रविड़ लोगों से अलग रहे। शक, हूण, यवन आदि वहाँ न पहुँच सके, इसलिये इनके सम्पर्क का भी उदार प्रभाव वहाँ पर नहीं पड़ सका। मुसलमान भी केवल अल्प संख्या में वहाँ जा सके। इन कारणों से दक्षिण के लोगों में कट्टरता और स्पर्शास्पर्श की भावना अधिक रही और उत्तर के लोगों में कम। दक्षिण के लोगों का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक संकुचित रहा। उत्तर में अनेक जाति के लोग आते रहे और घुल मिलते रहे। इसलिये यहाँ अनेक विचारधाराओं का सम्मिश्रण होता रहा। जो लोग आये यहीं बस गये और यहाँ के धर्म तथा संस्कृति को स्वीकार करके हिन्दू जाति के अंग बन गये। मुस-

लमान इस प्रकार नहीं मिले, परन्तु उन्होंने लाखों हिन्दुओं को अपने में मिला लिया, इस प्रकार दो हज़ार वर्ष तक घुलना मिलना जारी रहा। इसके कारण उत्तर भारत अधिक उदार बन गया, इसका दृष्टिकोण अधिक विस्तृत हो गया, और कट्टरता कुंठित हो गई। उत्तर भारत में यवनों का आदर होता था, शक और हूणों से विवाह होते थे, मुसलमानों से अधिक मेल-जोल था। बादशाहों के दरबार की चकाचौंध और उनके प्रबन्ध का भी हिन्दुओं पर असर था। इसलिये उत्तर में कबीर और नानक पैदा हुए। इनसे पहिले यहाँ महायान नामक एक बौद्ध धर्म का सम्प्रदाय चला। इन सब ने जातिपांति की निन्दा की और धार्मिक कट्टरता को बुरा बतलाया गया। महायान धर्म तो तत्कालीन धार्मिक विचारों का एक प्रकार का समन्वय है।

संस्कृति में मौलिक एकता

विदेशियों का मत : जब योरोपीय लोगों ने भारतीय इतिहास, भाषा, धर्म और संस्कृति का अध्ययन करना शुरू किया तो उन्होंने इस देश की भिन्नताओं और विषमताओं पर विशेष जोर दिया। विशेषकर अँग्रेज़ लोगों को यह बात बहुत अच्छी लगती थी। इनमें कितने ही लोग बड़े विद्वान् हुए और भारतीय धर्म तथा भाषा तथा इतिहास के सम्बन्ध में उन्होंने उत्तम शोध कार्य किया, परन्तु भिन्नता और विषमताओं पर जोर देना इनमें से कोई नहीं भूला। भारत का इतिहास लिखते समय या यहाँ की सस्कृति और सभ्यता का विवेचन करते हुए अँग्रेज़ लोगों का यह मंगलाचरण है कि भारतवर्ष देश नहीं है किन्तु एक महाद्वीप है। यह लम्बाई और चौड़ाई में बहुत विस्तृत है। उत्तर और दक्षिण में भौगोलिक असमानता है। उत्तर मैदान है, दक्षिण पठार है। उत्तर उपजाऊ है, दक्षिण वैसा उपजाऊ नहीं है। भारत में नाना प्रकार का जलवायु है, वर्षा कहीं कम होती है और कहीं अधिक। इसका धरातल कहीं कैसा है और कहीं कैसा। इसी प्रकार यहाँ की आबादी भी नाना प्रकार की है। हिन्दू और मुसलमान ये बड़ी-बड़ी जातियाँ तो हैं ही, इनके अतिरिक्त मुसलमानों में भी भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं और हिन्दुओं में तो जातियों और उपजातियों की कोई गिनती ही नहीं है। इन जातियों के खान-पान, रहन-सहन, दृष्टिकोण, प्रकृति, स्वभाव, व्यवहार और रीति-रिवाज सब भिन्न हैं। विभिन्न भाषाओं का तो भारतवर्ष एक अजायब घर है। यहाँ पर बारह कोस पर भाषा बदल जाया करती है। सारे देश में नहीं किन्तु प्रति प्रदेश में भी कई प्रकार की बोलियाँ हैं और भिन्न-भिन्न प्रकार की लिपियाँ हैं। इसी प्रकार वर्ण भेद भी बहुत हैं। कोई गोरा है, कोई काला, कोई साँवला, कोई पीला। इसके सिवाय किसी जाति के लोग कद में छोटे और किसी के नाटे। किसी जाति के लोग दुर्बल और किसी के पुष्ट तथा बलवान्। इन विषमताओं के कारण योरोपीय विद्वानों का कहना है कि भारतवर्ष देश नहीं महाद्वीप है। अँग्रेजी सम्राट

और वायसराय जब भारत को कोई सन्देश देते थे तो इस मत के प्रभाव में कहा करते थे "हिन्दुस्तान महाद्वीप की कौमें और जातियाँ।" इस मत के मूल में वास्तव में अँग्रेज़ों की राजनीति थी। भारतवर्ष की विभिन्नताओं और विषमताओं पर जोर देने से और इसके निवासियों को एक कौम न मानने से उनका साम्राज्यवाद अधिक टिकाऊ और दृढ़ होता था।

भारत एक देश है: परन्तु सूक्ष्मता से देखा जाये तो भारतवर्ष में इतनी विभिन्नतायें और विषमतायें नहीं हैं जितनी प्रत्यक्ष में जान पड़ती हैं। भौगोलिक दृष्टि से तो यह एक देश है ही, विस्तार के कारण ही यह महाद्वीप नहीं कहा जा सकता। इसकी सीमायें इसको एशिया महाद्वीप से अलग कर रही हैं और एक स्वतन्त्र तथा पृथक् देश का रूप दे रही हैं। उत्तर में व्योमचुम्बी हिमालय और पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण में अगाध समुद्र इनको मानो ललकार कर एक देश घोषित कर रहे हैं। इसके जलवायु, उपज, भूमि और मनुष्यों में भी इतने अन्तर नहीं हैं जितने बतलाये जाते हैं। यों तो पिता पुत्र और भाई भाई का भी रंग, कद और स्वभाव एकसा नहीं होता। ग्रेट ब्रिटेन स्वयं तीन प्रदेशों का समूह है इंगलैण्ड, वेल्स और स्कॉटलैण्ड। जर्मनी गत शताब्दी के अन्त तक अनेक छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था और यही दशा गत शताब्दी के मध्य तक इटली की थी। राजक्रान्ति से पहिले अर्थात् अठारहवीं शताब्दी में फ्रान्स की भी यही हालत थी। इन विभिन्नताओं के कारण ये देश तो कोई महाद्वीप नहीं कहलाये। फिर भारतवर्ष की ऊपरी विषमताओं पर जोर देकर इसको महाद्वीप कहना और यहाँ के निवासियों को एक कौम न कहकर अनेक कौमें कहना कैसे संगत कहा जा सकता है? हमारे देश में मौलिक सांस्कृतिक एकता है जिसके कारण यह भी फ्रान्स, जर्मनी, इटली और ग्रेट ब्रिटेन की भांति एक देश है और एक राष्ट्र है तथा यहाँ के निवासी एक कौम हैं।

भारत के निवासियों की शरीर रचना आदि: भारतीयों के शरीर की रचना, उनका चेहरा, रंग और आवाज किसी अन्य देश से नहीं मिलती है। यहाँ तक कि अपने पड़ोसियों से भी वे भिन्न हैं। चीनी, बर्मी, अफ़ग़ानी, सीलोनी आदि किसी से उनकी आकृति नहीं मिलती। प्रत्यक्षतः प्रकृति ने ही उनको अन्य लोगों से अलग करके एक कौम बना दिया है। यह सही है और पिछले अध्याय में बतलाया जा चुका है कि भारत में अनेक जातियों का सम्मिश्रण है, परन्तु ये सब जातियाँ मिलकर एक जाति अर्थात् भारतीय कौम बन गई है। देश के अन्दर आकृति भेद चाहे हो परन्तु सब मिलकर अन्य देशों से निराले हैं। दूसरे देश में यदि कोई भारतीय मिले तो उसको आसानी से पहचाना जा सकता है। भारतवर्ष का रहन-सहन भी अन्य देशों से बिलकुल भिन्न है। भारत के बाहर किसी देश में पुरुष धोती नहीं पहनते और स्त्रियाँ साड़ी नहीं पहनतीं। अब कुछ अर्से से कोट पतलून का रिवाज अधिक होने लगा है परन्तु फिर भी

यह अंग्रेजी पढ़े लिखे नगर-निवासियों तक ही सीमित है। प्रायः ६५ प्रतिशत भारतीय इस समय भी रहन सहन में अन्य देश निवासियों से बिलकुल भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त हमारा खान पान एशिया महाद्वीप के अन्य देशों से ही नहीं बल्कि सारे संसार से अलग है। जगत के किसी देश के निवासी इतनी बड़ी संख्या में निरामिष नहीं हैं जितने भारतवर्ष में। दूसरे देशों में भी ऐसे आदमी मिल सकते हैं जो मांस नहीं खाते परन्तु ऐसे लोगों की संख्या अतीव अल्प है और इन लोगों ने भी पहिले मांस खाया है और फिर विवेक बुद्धि से उसका खाना छोड़ा है। भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जहां करोड़ों की संख्या में ऐसे मनुष्य मिलते हैं जिन्होंने कितनी ही पीढ़ियों से मांस खाना तो क्या उसका स्पर्श भी नहीं किया है। अल्प-संख्यक लोग जो मांस भक्षण करते हैं उनका भी तरीका अन्य देशों से जुदा है। हमारे देश का पकाने का तरीका, खाने और बैठने का ढंग तथा पंक्ति व्यवस्था, सब विशेषता लिये हुए हैं। प्रान्त भेद से इनकी शैली में किंचित् भेद है परन्तु भारतवर्ष के बाहर यह ढंग, व्यवस्था या तरीका किसी देश में नहीं मिलता। बाहर से आने वाले यात्री को इस देश में प्रवेश करते ही एक विशेष प्रकार की भूमि, जलवायु, मानवता, संस्कृति और सभ्यता मिलती है जो मानो जोर से घोषणा करती है कि भारत एक देश है और यहां के निवासी एक कौम हैं।

चक्रवर्ती राज्य : भारत में एकछत्र या चक्रवर्ती राज्य का परम्परागत आदर्श है। हमारे राजनीति के ग्रन्थों में तथा धार्मिक और काव्य ग्रन्थों में इस आदर्श का पुनः पुनः उल्लेख आता है। चक्रवर्ती राजा पुरुषार्थ का आदर्श माना जाता था। अश्वमेध यज्ञ इस प्रकार का राज्य स्थापित करने के बाद किया जाता था। यह एक प्रकार से राजसी और धार्मिक उत्सव था। हमारा देश अति विस्तृत है, इसलिये यहाँ एकछत्र राज्य एक दो बार ही स्थापित हो सका। प्राचीन काल में इतने बड़े देश पर चक्रवर्ती राज्य स्थापित करना अद्भुत और असाधारण पराक्रम का कार्य था। जिस समय आवागमन के साधन केवल रथ और घोड़े थे, उस समय दो सहस्र मील लम्बे और दो सहस्र मील चौड़े देश पर आधिपत्य स्थापित करना प्रायः असम्भव सी बात थी। इंग्लैंड तो केवल छः सौ मील लम्बा और तीन सौ मील चौड़ा देश है। ऐसे छोटे से भूखंड पर भी नवीं शताब्दी तक एक राजा का राज्य नहीं था और न वहाँ इस बात की उस समय तक किसी ने कल्पना ही की थी कि इंग्लैंड एक देश है, वहां एक जाति है और एकछत्र राज्य कायम होना चाहिये। यही दशा फ्रान्स की सोहलवीं शताब्दी तक और जर्मनी तथा इटली की गत शताब्दी के उत्तरार्ध तक थी। इंग्लैंड के छोटे से देश में नवीं शताब्दी तक सात राजा राज्य करते थे। जर्मनी में गत शताब्दी के मध्य तक लगभग १५० राजाओं का राज्य था और इटली की भी लगभग ऐसी ही दशा थी। इंग्लैंड में सर्व प्रथम एल्फ्रेड, को जर्मनी में बिस्मार्क को और इटली में

गेरीबाल्डी को ध्यान आया कि एक राज्य स्थापित होना चाहिये। आश्चर्य की बात तो यह है कि भारत के राजनीति-वेत्ताओं ने और ऋषियों तथा मुनियों ने आज से तीन हज़ार वर्ष पहिले यह राजनैतिक सिद्धान्त या मत निश्चित किया था कि यहाँ चक्रवर्ती या एकछत्र राज्य स्थापित होना चाहिये। चक्रवर्ती राज्य की कल्पना यह थी कि हिमालय से कन्याकुमारी तक और पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक एक ही राजा का राज्य होना चाहिये। इस राजा के अधीन जो दूसरे नरेश हों वे इसके सामन्त हों, वे अधीनता प्रकट करें और अवसरानुकूल उसकी सेवा करें तथा इन छोटे छोटे राज्यों के स्वतन्त्र शासक हों। यह आदर्श सूचित करता है कि हमारे प्राचीन पूर्वजों की राजनैतिक सूझ कितनी प्रबल और पुष्ट थी।

अनेक बार चक्रवर्ती राज्य स्थापित हुआ : महाभारत काल में यह आदर्श नरेशों के पराक्रम की कसौटी माना जाने लगा था और यह विधान बन गया था कि चक्रवर्ती राज्य स्थापित करने के लिये प्रतापवान् नृपति दिग्विजय करें और विजय प्राप्ति के बाद राजसूय यज्ञ करें। इस आदर्श की पूर्ति के लिये पांडवों ने हस्तिनापुर में राजसूय यज्ञ किया था। महाराज युधिष्ठिर समस्त भारत देश को तो अपने अधीन नहीं कर सके थे परन्तु प्रयास यही था कि चक्रवर्ती राज्य स्थापित किया जावे। ईसा से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व महाराज अशोक ने भारत में अपना चक्रवर्ती राज्य लगभग स्थापित कर लिया था। उन्होंने परम्परा प्राप्त आदर्श और विधान का भी पालन किया। अतः यवन, कम्बोज, आन्ध्र, पुलिन्द, चेरा, पंड्या आदि वंशों के राजाओं का उन्होंने उन्मूलन नहीं किया। इन लोगों ने उनकी मैत्री स्वीकार कर ली और महाराज अशोक ने एकछत्र राज्य के आदर्श के वास्ते इतना ही पर्याप्त समझ कर उनको जैसे के तैसे ही बनाये रक्खा। अशोक का राज्य प्रायः समस्त भारतवर्ष पर उत्तर से दक्षिण तक और पूर्व से पश्चिम तक स्थापित हो गया था। महाराज अशोक के बाद कई नरेशों ने अश्वमेध यज्ञ किये और चक्रवर्ती राज्य स्थापित करने का यत्न किया किन्तु यह केवल दर्प और दम्भ का प्रदर्शन था। इनमें से कोई एक दूसरे प्रान्त से अधिक भाग को अधीन नहीं कर सका। गुप्त वंशीय सम्राटों में महाराज समुद्रगुप्त और महाराज चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने चतुर्थ शताब्दी में पूरा चक्रवर्ती राज्य तो नहीं परन्तु इतना बड़ा राज्य अवश्य स्थापित कर लिया था जो चक्र-वर्ती राज्य कहा जा सकता था। इन दोनों सम्राटों ने भी अपने अधीन राजाओं के प्रति परम्परागत नीति के अनुसार व्यवहार किया था। अर्थात् उनसे केवल अधीनता स्वीकार करवाई थी, उनका उन्मूलन नहीं किया था। महाराज चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शक लोगों को नष्ट करके पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक अपना राज्य स्थापित कर लिया था और महाराज समुद्रगुप्त पाटलीपुत्र से रवाना होकर अनेक दुर्गम वनों

को पार करते हुए और मार्गस्थित राज्यों को अपने अधीन करते हुए कृष्णा नदी के सागरसंगम तक पहुँच गये थे। वहाँ से ये आगे न बढ़ सके और उनको वापिस लौटना पड़ा। यह विजय चक्रवर्ती राज्य की स्थापना के लिये एक बहुत बड़ा कदम था, अतः इसको घोषित करने और चिरस्मरणीय बनाने के लिये महाराज समुद्रगुप्त ने प्रयाग में गंगा यमुना के संगम पर शिलालेख लिखाया जिसमें उन सब राजाओं के नाम हैं जिनको उन्होंने हराया था और जिनके साथ परम्परागत नीति के साथ उन्होंने व्यवहार किया था। सातवीं शताब्दी में महाराज हर्ष ने, नवीं में दक्षिण नरेश राष्ट्रकूट गोविन्द ने और नवीं के अन्त में कन्नौज नरेश मिहिरभोज ने तथा उसके पश्चात् दशवीं के आरम्भ में कन्नौज नरेश महेन्द्रपाल ने और बारहवीं के उत्तरार्ध में चौहान नरेश पृथ्वीराज ने चक्रवर्ती राज्य स्थापित करने का प्रयास किया था। इनमें किसी को पूरी सफलता तो प्राप्त नहीं हुई परन्तु प्रत्येक ने इतना विस्तृत राज्य अवश्य स्थापित कर लिया था जो किसी अंश में चक्रवर्ती राज्य कहा जा सकता था। महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में भी दिग्विजय का उद्देश्य और आदर्श चक्रवर्ती राज्य की स्थापना ही मानी है और पराजित राजाओं को हटाकर तथा अधीनता स्वीकार करवा कर पुनः उनको अपने स्थान पर स्थापित करने की नीति का वर्णन किया है। इस प्रकार आदि काल से भारतवर्ष के राजनीतिज्ञों, विचारकों तथा नरेशों के सामने यह आदर्श रहा है कि चक्रवर्ती राज्य स्थापित होना चाहिये और सम्पूर्ण देश का शासनकेन्द्र एक होना चाहिए। यह राजनैतिक आदर्श इस बात का प्रमाण है कि भारत निवासी आदि काल से इस भारत भूमि को एक देश मानते आये हैं और उनकी सदैव यह अभिलाषा रही है कि यहाँ एकछत्र राज्य स्थापित हो।

सांस्कृतिक दृष्टिकोण में एकता : भारतवर्ष के लेखक, धर्म गुरु और साधु सन्यासी भी इसको सदा से एक देश मानते आये हैं। उत्तर में हिमालय और पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण में समुद्र इसकी सीमायें मानी जाती रही हैं। इस सीमा से बाहर के देश सदा विदेश माने जाते रहे हैं। गान्धार अर्थात् कन्धार देश कभी कभी भारत में शामिल रहा है। महाराज धृतराष्ट्र की रानी गान्धारी उसी देश की राजकुमारी थी, परन्तु गान्धार भारतवर्ष का भाग भौगोलिक दृष्टि से कभी नहीं माना गया। इसी प्रकार लंका, ब्रह्मा आदि देश भी इसमें कभी सम्मिलित नहीं समझे गये। परन्तु उपरोक्त सीमाओं के अन्दर का देश हमेशा एक देश माना गया और इसमें आर्य संस्कृति का प्राधान्य रहा। यह बात कन्याकुमारी, कैलाश, सिन्धुनद, ब्रह्मपुत्र, विन्ध्याचल आदि नामों से स्पष्ट होती है। समस्त भारतवर्ष के पर्वतों, नदियों और प्रदेशों के नाम प्रायः संस्कृत के नाम हैं या कुछ तामिल आदि भाषाओं के नाम हैं।

वर्ण व्यवस्था : सिद्धान्त रूप से समस्त देश में चार वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र माने जाते है। ये वर्ग केवल व्यवसाय और कुल मर्यादा की रक्षा

के लिये हैं वरना यों सब एक माने जाते हैं। मनुजी ने अपनी स्मृति में लिखा है कि जन्म से सब शूद्र हैं अर्थात उत्पन्न होते समय ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र सबके बालक शूद्र जन्म धारण करते हैं। वे शिक्षा तथा चरित्र से द्विज बनते हैं अर्थात दूसरा जन्म धारण करते हैं और जिसको ईश्वर का साक्षात्कार होता है वह ब्राह्मण कहलाता है। हमारे यहाँ यह बात प्रसिद्ध है कि 'जात पांत पूछे ना कोई, हरि को भजे सो हरि को होई।' कितने ही ऋषि और मुनि आरम्भ में शूद्र थे, फिर अपने व्रत, तप और चरित्र के कारण ऋषि माने जाने लगे। कबीर की जाति का पता नहीं है, रैदास चमार थे, नानक खत्री थे, मीरा राजपूत थी और गांधीजी बनिये थे, परन्तु सबको महात्माओं की कोटि में माना जाता है। यों तो भारत में कितनी ही जातियाँ हैं परन्तु सबका समावेश चार वर्णों में हो जाता है। जो जातियाँ भारतवर्ष में बाहर से आईं उनका भी समावेश इन चार वर्णों में कर लिया गया और ये लोग चतुर्वर्ण में इस प्रकार ओतप्रोत हो गये कि उनका अब पृथक अस्तित्व ही नहीं है। आर्यों के बाद पहिली विदेशी जाति जो भारत में घुसी वह यूनानियों की थी। ईसा से ३२५ वर्ष पूर्व नन्दवन्शीय महाशक्तिशाली महाराज महापद्मनन्द भारत पर पाटली-पुत्र राजधानी से राज्य कर रहे थे, तब खैबर के मार्ग से सिकन्दर ने विजय की इच्छा से भारत में प्रवेश किया और मार्ग के कई राजाओं को हराता हुआ और जनतन्त्र राज्यों को कुचलता हुआ वह व्यास नदी तक आ पहुँचा। वहाँ से आगे उसके सैनिक नहीं बढ़ सके। उन्होंने सुना कि गंगा नदी के मैदान में पूर्व की ओर एक महाशक्ति-मान राजा राज्य करता है जिसके पास छः लाख सेना है। इस समाचार से घबराकर उन्होंने सिकन्दर से प्रार्थना की कि अब वापिस लौटा जावे। विवश होकर सिकन्दर ने सैनिकों की बात मानी और वह वापिस मुड़ा। झेलम तक वह वापिस गया। वहाँ पोरस के राज्य से वह दक्षिण की ओर झेलम नदी के किनारे-किनारे चला। उसकी कुछ सेना नावों में चली और कुछ पैदल। इस प्रकार सिंधु नदी के सागरसंगम पर पहुँचा। मार्ग के कई जनतन्त्र राज्यों ने उसका सामना किया। सब वीरता से लड़े। एक बार सिकन्दर मरता-मरता भाग्य से ही बच गया। परन्तु अन्त में विजय सर्वत्र सिकन्दर की ही हुई। भारत छोड़ने के बाद वह ईराक में पहुँचा और वहाँ उसका देहान्त हो गया। भारत से प्रस्थान करते समय वह अधिक्रान्त भाग पर शासन करने के लिए अपने यूनानी हाकिम नियत कर गया था परन्तु उसके मरने के तीन चार वर्ष बाद ही पंजाब और सिन्ध से सब यूनानी महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य ने खदेड़ भगाये। महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य महापद्मनन्द के बाद पाटलीपुत्र के राजसिंहासन पर बैठे थे और इन्होंने मौर्य साम्राज्य की नींव डाली थी। पंजाब और सिन्ध से तो यूनानी लोग निकल भागे परन्तु फिर भी कुछ यवन सरदार सीमान्तर प्रदेश में छोटे-छोटे राज्यों पर शासन करते रहे। इन लोगों ने लगभग तीन शताब्दियों तक इस प्रदेश पर शासन किया। फिर पार्थियन जाति के लोगों ने भारत पर आक्रमण किया। इन नये आक्रमण-

कारियों की प्रथम मुठभेड़ यवन लोगों से हुई। कितने ही पार्थियन सरदारों ने इस प्रदेश में छोटे-छोटे राज्य जमा लिये और वहीं बस गये। कालान्तर में ये लोग यवनों में घुल मिल गये। योरोपीय विद्वान् इन यवन राजाओं और पार्थियन राजाओं को इंडो-ग्रीक और इंडो-पार्थियन राजा कहते हैं। इन लोगों के चलाये हुए सैकड़ों सिक्के प्राप्त हो चुके हैं। इन सिक्कों पर ग्रीक और संस्कृत दोनों भाषाओं में शासकों के नाम लिखे हुए हैं। इन पर देवी और देवताओं की प्रतिमायें बनी हुई हैं। इन सिक्कों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कितने ही यवन और पार्थियन राजाओं ने हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया था। हिन्दू संस्कृति में ये लोग रंग गये थे। हिन्दू राजाओं के साथ इनकी मैत्री थी और उनके यहाँ ये लोग अपने राजदूत भेजा करते थे। एक 'इन्डोपार्थियन' राजा का नाम एन्टियालकिडास था। उसने हैलियोडोरस नामक एक यवन को अपना राजदूत बनाकर मध्य भारत में सौभाग्यसेन नामक एक हिन्दू राजा के यहाँ भेजा था जिसकी राजधानी उस समय वेसनगर थी। इस नगरी के खण्डहर इस समय मध्य भारत में भेलसा नामक नगर के पास मिलते हैं। एन्टियालकिडास के कई सिक्के प्राप्त हो चुके हैं। हैलियोडोरस ने सन् १२० के लगभग वेसनगर के एक वैष्णव मंदिर में एक गरुड़ध्वज स्थापित किया था जिस पर उसने अपना संक्षिप्त विवरण दिया है कि यह गरुड़ध्वज यवन राजा एन्टियालकिडास के पास से आये हुए डायना पुत्र हैलियोडोरस नामक यवन दूत ने स्थापित किया है। इस शिलालेख से प्रकट है कि यवन लोगों के साथ हिन्दुओं का स्नेह सम्बन्ध था और वे हिन्दुओं में घुलने मिलने लग गये थे। महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य ने तो एक यवन राजकुमारी से विवाह किया था और उनके दरबार में राजदूत के रूप में सिल्यूकस नामक यवन नरेश का भेजा हुआ मेगस्थनीज़ नामक एक विद्वान् रहता था जिसने तत्कालीन भारत का अपनी आँखों देखा वर्णन लिखा है। यवनों से भारतीयों ने कई बातें सीखी हैं। नाटकों में जो पर्दा होता है उसको संस्कृत में यवनिका कहते हैं। इससे जाहिर होता है कि ये विधि यवनों से ली हुई है। प्राचीन भारत के नरेशों के अन्तःपुर में यवन युवतियाँ अंग रक्षिकाओं के रूप में रहा करती थीं। हमारे ज्योतिष पर यवनों के ज्योतिष का बहुत प्रभाव है। ज्योतिष ग्रन्थों में अति प्रचलित 'होरा' शब्द यूनानी भाषा का माना जाता है। एक प्रसिद्ध भारतीय ज्योतिषी ने चतुर्थ शताब्दी में लिखा था कि पोलस और रोमक नाम के यवन ज्योतिषी बड़े पंडित हैं और ऋषियों के समान आदर के योग्य हैं। ये दो चार मुख्य बातें हिन्दू यवन सम्पर्क के विषय में ऐतिहासिकों की खोज से मालूम हुई हैं परन्तु इनसे यह अनुमान किया जा सकता है कि सीमान्तर प्रदेश में यवन और हिन्दू ओत प्रोत हो गये होंगे और कालान्तर में सब यवन हिन्दुओं में मिलकर चारों वर्णों में समा गये होंगे। इसी प्रकार हूण आदि अन्य आक्रमणकारी जातियों का भी चारों वर्णों में समावेश हो गया होगा।

जाति और धर्म की एकता : प्रत्यक्ष में हमको अनेक जातियाँ दिखाई देती हैं और हैं भी, परन्तु वास्तव में हिंदू जाति सब एक है। सब हिंदुओं का दृष्टिकोण एक है। सबका झुकाव निवृत्ति की ओर है। सब त्याग, तप और शुद्धाचरण का आदर करते हैं। भारतवर्ष में जो विदेशी यात्री आये सबका ध्यान इन विशेषताओं की तरफ गया है और सब ने इन गुणों की प्रशंसा की है। यवन, चीनी और अरबी यात्री सब हिन्दुओं की सज्जनता, सत्यपरायणता और त्यागनिष्ठा पर मुग्ध हुए हैं। इनमें किसी ने नहीं कहा कि भारत विभिन्नताओं का देश है और हिन्दू जाति एक जाति नहीं है। विभिन्नताओं और विषमताओं की कथायें सबसे पहले अँग्रेजों ने सुनाई और वे भी गत शताब्दी के अन्त में विशेषकर प्रचलित हुईं। उनसे यह पाठ मुसलमानों ने पढ़ा और फिर स्कूल और कालेजों में ये बातें दुहराई जाने लगीं। इस प्रवृत्ति का कारण यह था कि अँग्रेज लोग हिन्दुओं की एकता से भयभीत होते थे। मुसलमान भी अँग्रेजों के बहकावे में आकर इन भेदों का गीत इसलिये गाने लगे थे कि भेदों और प्रभेदों पर ज़ोर देने से हिन्दू एक कौम न मानी जावे। मुसलमान तो एक कौम पहिले से ही मानी जाती थी। वास्तव में यह केवल राजनैतिक प्रपंच था। यह विद्वत्ता की बात नहीं थी। हिन्दुओं के भेद प्रभेद उनके समाज को केवल ऊपर-ऊपर से देखने पर प्रतीत होते हैं। सूक्ष्मता या बारीकी से देखने पर जातियों की विभिन्नताओं में भी एक मौलिक एकता दिखाई देती है और यही तत्व की बात है। सबसे प्रधान बात यह है कि समस्त हिन्दू जाति एक धर्म मानती है। कहा जाता है कि इस धर्म की परिभाषा नहीं की जा सकती। यह बात ठीक हो तो भी यह तो स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म इसलाम धर्म नहीं है, और न यह है ईसाई धर्म या तिब्बत के लामाओं का धर्म। अर्थात् हिन्दू धर्म में कोई ऐसी अनिर्वचनीय विशेषता है जो इसको अन्य धर्मों से पृथक करती है। यही धर्म सब हिन्दुओं का धर्म है। इस धर्म में अनेक सम्प्रदाय हैं, पूजा विधि विभिन्न प्रकार की हैं, प्रतिमायें भी एक सी नहीं हैं, अगणित देव देवियाँ हैं, असंख्य धर्म ग्रन्थ हैं, विभिन्न सिद्धान्तों का जाल है और कर्म-अकर्म की अनेक व्याख्यायें हैं। यह सब ठीक है परन्तु इन सबके तल में भी एक सुन्दर एकता है। सब हिन्दू वेद, पुराण और गीता आदि ग्रन्थों का आदर करते हैं। जो इनको नहीं पढ़ सकते वे भी इन पर श्रद्धा करते हैं। पुराणों की कथायें, पुराणों के पात्र और वेद के ऋषि सब हिन्दुओं को प्रिय हैं। इन ग्रन्थों की भाषा संस्कृत है जिसको सब पवित्र मानते हैं। अनेक कारणों से संस्कृत का पठन-पाठन कम हो गया है परन्तु संस्कृत का सब आदर करते हैं। जैसे मुसलमान अरबी न जानते हुए भी अरब से प्रेम करते हैं वही बात हिन्दुओं की संस्कृत के लिये है। सब हिन्दू एक ईश्वर की पूजा करते हैं। उसको एक मानते हुए भी उसके अनेक स्वरूपों को स्वीकार करते हैं। उसके मुख्य स्वरूप राम, कृष्ण और शिव हैं। किसी का इष्टदेव राम है, किसी का कृष्ण है और किसी का शिव तथा किसी का कोई अन्य देव या देवी, परन्तु अपने इष्टदेव के अतिरिक्त एक निराकार ईश्वर के अस्तित्व को भी

सब मानते हैं। दया, अहिंसा, और जीव मात्र से प्रेम हिन्दू धर्म के प्रधान लक्षण हैं। हिन्दुओं में जो लोग मांस खाते हैं वे भी मांसत्याग को ही आदर्श मानते हैं। जीवों को मारने वाले भी इस बात को मानते हैं कि अहिंसा सबसे बड़ा धर्म है और सब की यह अभिलाषा होती है कि जीवन में कभी न कभी हिंसा का त्याग किया जावे। समस्त हिन्दू जाति गौ को पवित्र और दया तथा रक्षा के योग्य मानती है। दया और अहिंसा की यहाँ पराकाष्ठा हो जाती है। भारतीयों में जैन लोग वेद पुराणों को धार्मिक ग्रन्थ नहीं मानते परन्तु दया और अहिंसा तो उनके धर्म का प्राण है। व्रत और तप की भी उसमें प्रधानता है। एवं हिन्दू धर्म एक धर्म है और त्याग, तप, दया, अहिंसा आदि इसके प्रधान लक्षण कहे जा सकते हैं।

भारत की एक भाषा : भारत में भाषा की विभिन्नतायें भी केवल ऊपर-ऊपर की बात है। दक्षिण की चार भाषाओं के अतिरिक्त शेष समस्त प्रान्तिक भाषायें मूल में संस्कृत हैं। सब की क्रियायें संस्कृत के विकृत रूप हैं। शब्द भण्डार प्राय: सब संस्कृत है और वाक्य रचना भी संस्कृत की सी है। अशोक के शिलालेख पाली भाषा में हैं जो उनके शासन काल में समस्त देश में समझी जाती थी। गुप्तवंशीय सम्राटों के सब सरकारी आदेश शुद्ध संस्कृत में जारी होते थे और सारे उत्तर भारत तथा गुजरात और काठियावाड़ में वे समझे जाते थे। गम्भीर विषयों के सब ग्रन्थ तथा काव्यसाहित्य के सब प्रसिद्ध ग्रन्थ संस्कृत में लिखे हुए हैं। धार्मिक ग्रन्थों की तो अलग बात है परन्तु कानून, चित्रकला, वास्तुशास्त्र, संगीत, नगरनिर्माण, आयुर्वेद, शालिहोत्र आदि विषयों के ग्रन्थ भी संस्कृत भाषा में लिखे हुए हैं। यह प्रवृत्ति गत शताब्दी के मध्य तक बल्कि उत्तर काल तक थी। स्वामी दयानन्द जी महाराज ने अपना धर्म प्रचार कई वर्ष तक संस्कृत भाषा में किया था। उस समय तक सैकड़ों पंडित प्रत्येक मुख्य नगर में संस्कृत बोलने और समझने वाले मिलते थे। बाबू केशवचन्द्र सेन ने स्वामी दयानन्द सरस्वती को सलाह दी थी कि धर्म प्रचार हिन्दी भाषा में किया जावे ताकि जनता भलिभाँति उनके मन्तव्यों को समझ सके। संस्कृत लोक भाषा तो नहीं थी परन्तु विद्वानों और पंडितों की अन्त:प्रान्तीय और सार्वदेशिक भाषा अवश्य थी। और लोक भाषायें भी संस्कृत पर आश्रित थीं। अत: एक दृष्टि से कहा जा सकता है कि भारत में काम चलाने के वास्ते और गम्भीर विचारों के आदान प्रदान के हेतु एक भाषा आदि काल से गत शताब्दी तक थी।

प्रान्तिक भाषायें : प्रान्तीय भाषाओं ने निश्चित स्वरूप गत शताब्दी में प्रिंटिंग प्रेस जारी होने पर धारण किया है। पहिले इनका स्वरूप अनिश्चित और सतत परिवर्तनशील था। भाषाओं की संख्या बढ़ाने में, प्रान्तिक भाषाओं को अत्यधिक महत्व देने में और उनकी सीमायें निश्चित करने में अँग्रेज जाति का बहुत बड़ा हाथ था। इनके आगमन से पहिले महत्व संस्कृत को दिया जाता था और

रात दिन का कार्य प्रान्तिक भाषाओं से लिया जाता था। प्रान्तिक सीमाओं पर दोनों प्रान्तों की भाषायें उस समय प्रायः एक हो जाया करती थीं। अतः अन्तःप्रान्तीय सांस्कृतिक मेल जोल में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं हुआ करती थी।

अन्तःप्रान्तीय मेले : धार्मिक मेले भारत की प्राचीन संस्थाय हैं। ऐसे अवसरों पर विभिन्नता में सुन्दर समन्वय दिखाई देता है। सबसे अधिक महत्व के हैं कुम्भ के मेले। ये तीन-तीन वर्ष के अन्तर से नासिक, उज्जैन, प्रयाग और हरिद्वार में हुआ करते हैं। ये कब जारी हुए निश्चित रूप से नहीं बतलाया जा सकता। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि ये अति प्राचीन सम्मेलन हैं और संभवतः गुप्त काल में इनका आरम्भ किया गया हो। जहाँ मेला होता है वहाँ समस्त देश के साधु सन्त एकत्र होते हैं। सब आपस में अपने विचारों को किसी न किसी भाषा में व्यक्त करते ही हैं। वास्तव में साधुओं की सब की भाषा एक होती है। ये लोग सदैव भ्रमण किया करते हैं और एक प्रकार की हिन्दी बोलते हैं। कोई-कोई विद्वानों से मिलने पर कुछ संस्कृत बोलते हैं परन्तु रात-दिन का काम संस्कृत मिश्रित हिन्दी भाषा से चलाते हैं। कुम्भ के मेलों में उत्तर के साधु सन्त दक्षिण में पहुँचते हैं और दक्षिण के उत्तर में, मध्य भारत में तथा पूर्व में। इन मेलों से पता लगता है कि विभिन्न भाषायें होते हुए भी भारतीय लोग अपने विचार विनिमय एक भाषा में करते हैं। धार्मिक दृष्टि से समस्त देश एक है। सब प्रान्तों के साधु सन्त परस्पर मिलते हैं। इन सम्मेलनों से हमारी मौलिक एकता प्रकट होती है।

अन्तःप्रान्तीय तीर्थ : तीर्थ संस्था भी हमारे यहाँ अतुल है। ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ कोई स्थान तीर्थ न माना जाता हो और जहाँ हजारों मनुष्य स्नान या दर्शन के हेतु एकत्र न होते हों परन्तु मुख्य और सार्वदेशिक तथा प्राचीन तीर्थ चार हैं जो चार धाम कहलाते हैं—बद्रीनाथ, द्वारिका, सेतुबन्द रामेश्वर और जगन्नाथ। इनके अतिरिक्त काशी, प्रयाग, मथुरा, उज्जैन और पुष्करराज का भी महत्व माना जाता है। इन चारों धाम की यात्रा करना और अन्यान्य तीर्थों में जाना महा-फलप्रद और परम सौभाग्य का चिन्ह माना जाता है। इन यात्राओं में धार्मिक महत्व के अतिरिक्त भौगोलिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक महत्व भी है। जब रेल, तार, मोटर और वायुयान का आविष्कार नहीं हुआ था तब इन यात्राओं का अनेक दृष्टियों से महत्व था। असंख्य लोग पैदल या घोड़ों पर या बैलगाड़ी या रथों द्वारा सैकड़ों, हजारों मील का सफर करते थे। मार्ग में अगणित लोगों से मिलते थे। विभिन्न प्रकार की भाषायें सुनते थे और नाना प्रकार का आहार व्यवहार और रहन सहन देखते जाते थे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति को यह अनुभव होता था कि बद्रीनारायण, सेतुबन्द रामेश्वर, द्वारिकाधीश और जगदीश हमारे देश में हैं। यह विस्तृत देश एक है, हमारा है और सर्वत्र मौलिक रूपेण एक प्रकार की संस्कृति है।

संकल्प विधि में एकता का भाव : दान, जप या व्रत करते समय जो संकल्प लेते हैं या धारण करते हैं उसमें भी बड़ा महत्व है। संकल्प इस प्रकार होता है—आर्यावर्त भारत खण्ड में आज अमुक तिथि और वार को श्री नृपति विक्रमादित्य के राज्य को जब इतने वर्ष हुए तब मैं अमुक नाम वाला व्यक्ति अमुक कार्य करता हूँ। अभी इतिहास को यह पता नहीं है कि विक्रमादित्य नृपति कौन थे, कहाँ राज्य करते थे, इनका राज्य कितना विस्तृत था, और इनका राज्यकाल क्या था। कराल काल की करवटों में महाराज विक्रमादित्य का इतिहास तो दब गया परन्तु इनकी स्मृति अभी बिलकुल ताज़ा है। महाराजा विक्रमादित्य चक्रवर्ती राजा माने जाते हैं और ऐसी भी परम्परा है कि वे महा पराक्रमी और परम प्रतापवान् तथा अति धार्मिक थे। अतः पुण्य कार्य करते समय उनका स्मरण किया जाता है और उनके राज सम्वत् का उल्लेख किया जाता है। सारे देश में एक प्रतापी और धार्मिक राजा का तथा उसके चलाये हुए सम्वत् का ऐसे आदर के साथ स्मरण करना देश के सांस्कृतिक आदर्श की एकता प्रकट करता है। दूसरी बात यह स्मरणीय है कि महाराज विक्रमादित्य चक्रवर्ती राजा माने जाते हैं और चक्रवर्ती राजा को प्रति पुण्यावसर पर स्मरण करना हमारे समस्त देश में एकछत्र राज्य की वांछनीयता और राजनैतिक एकता के भाव को प्रकट करता है।

भौगोलिक दृष्टि में एकता : हमारे देश में कुछ नगर अति प्राचीन हैं और प्राचीनता के कारण तथा पुरातन संस्कृति के केन्द्र होने के कारण ये सब नगर पवित्र माने जाते हैं। स्नान करते समय इनके नामों का उल्लेख किया जाता है। इनके नाम हैं—अयोध्या, मथुरा, माया, प्रयाग, कांची आदि। इनमें केवल उत्तर भारत के ही नहीं किन्तु दक्षिण भारत के नगर भी सम्मिलित हैं। इसी प्रकार स्नान करते समय भारतवर्ष की समस्त प्रसिद्ध और पवित्र नदियों के नाम लिये जाते हैं। धार्मिक लोग स्नान करते हुए गंगा, यमुना, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी आदि नदियों का स्मरण करते हैं। भावना यह बनाई जाती है कि स्नान करने वाला मानो इन सब नदियों में डुबकी लगा रहा है। आधुनिक शिक्षा ने ये विधियाँ और परम्परायें अब शिथिल कर दी हैं, परन्तु लगभग दो हज़ार वर्ष तक ये भारत में प्रचलित रही हैं और अब भी निःशेष नहीं हुई हैं। कालिदास ने अपने ग्रन्थों में यत्र तत्र, पर्वतों, नदियों और सागरों का जो वर्णन किया है उससे भी प्रकट है कि उनके समय में भारत एक देश माना जाता था और प्रत्येक पराक्रमी राजा की यह अभिलाषा होती थी कि वह समग्र देश पर अपना आधिपत्य स्थापित करे। कालिदास ने भारतवर्ष के वर्णनप्रसंग में उत्तर में उत्तुंग हिमालय का चित्र खींचा है कि यह पर्वतराज पृथ्वी के मानदंड की भाँति स्थित है और पूर्व पश्चिम के सागरों में अवगाहन करता है। इसी प्रकार उन्होंने पूर्व और पश्चिम के समुद्रों का रोचक वर्णन किया है। वास्तव में भारत की मौलिक सांस्कृतिक एकता सदैव से सब ने स्वीकार की है।

सामाजिक एकता : भारतवर्ष के रीति रिवाज, व्यवहार, व्यापार और रहन-सहन भी ऊपर-ऊपर से भिन्न प्रतीत होते हैं परन्तु इनके तल में वास्तव में आश्चर्य-जनक एकता है। विवाहविधि समस्त देश में एक प्रकार की है। अग्निहोत्र और सप्तपदी सर्वत्र और सब जातियों में होती है। इसके प्रकार और विधान में तथा तत्सम्बन्धित क्रियाओं में यत्र तत्र किंचित भेद मिलते हैं परन्तु मूलतः अग्निहोत्र और सप्तपदी होती ही है। सगोत्रज विवाह भी भारत में नहीं होते। यह प्रथा केवल भारतीय है और इस देश की विशेषता है। अन्य किसी देश में यह प्रथा प्रचलित नहीं है। विस्तार भय से यह नहीं बतलाया जा सकता कि यह प्रथा कितनी उत्तम और वैज्ञानिक है। इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि संतान संस्कार के विशेषज्ञों के मतानुसार असगोत्रज विवाह अत्यन्त वांछनीय और उपयोगी हैं। समाज शास्त्रियों का सिद्धान्त है कि विवाह संस्था समाज रचना का मूल अथवा प्रथम सोपान है। विवाहविधि और विवाह प्रकार से ही ये लोग मानव समाज का वर्गीकरण करते हैं। इस दृष्टि से भारतीय समाज एक अलग समाज है जिसकी रचना, व्यवस्था और स्थिति अन्य समाजों से भिन्न है और अपनी विशेषतायें लिये हुए है। यही बात हमारे अन्य सामाजिक व्यव-हार और पद्धतियों के बारे में कही जा सकती है। हमारे परिवार संयुक्त परिवार हैं। परिवार में वृद्ध सबके मुखिया माने जाते हैं। पुत्रियों और बहिनों के प्रति सर्वत्र परि-वार के लोगों की एक प्रकार की जिम्मेवारी मानी जाती है। उसका योग्य वर से विवाह करना, विवाह में समुचित दहेज देना और विवाह के अनन्तर आजन्म उससे स्नेह रखना और विशेष अवसरों पर उसका और उसके पति पक्ष का सत्कार करना केवल उसके पिता का ही कर्त्तव्य नहीं है बल्कि उसके भाई और भतीजों का भी कर्त्तव्य सर्वत्र माना जाता है। ऐसी परम्परा या पद्धति अन्य देशों में नहीं है परन्तु भारत में यह पाई जाती है। माता-पिता और अन्य वृद्धजनों के प्रति आदर करना भी हमारी संस्कृति की विशेषता है और यह सांस्कृतिक मधुरता विशेषतः भारत में ही पाई जाती है।

भारतीय दृष्टिकोण : भारतीय दृष्टिकोण संसार के सब देशों से भिन्न है। विशेषकर योरोपीय और भारतीय दृष्टिकोण में तो आकाश पाताल का अन्तर है। योरोप के लोग आर्थिक अभ्युदय की ओर दौड़ते हैं। जन्म, जरा और मरण तक वे लोग अर्थ संचय में और जीवन को सुख देने वाले पदार्थों के संग्रह में लगे रहना चाहते हैं। उनका जीवनध्येय वैभव और भोग हैं। भारत ने वैभव और भोग की उपेक्षा तो नहीं की परन्तु वैभवभोगपरायणता को उसने जीवन का आदर्श नहीं बनाया। उसके जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों का सुखद और सुन्दर समन्वय है। हमारे यहाँ पुरुषार्थ की व्याख्या है, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मोह और अज्ञान के वश होकर मनुष्य कुछ भी करे परन्तु जो अपने जीवन को सुन्दर, व्यवस्थित, संतुलित और वास्तव में सफल बनाना चाहता है उसके लिये यह चतुर्मुख मार्ग ही प्रशस्त मार्ग है

कालिदास ने रघुवंशी नृपतियों का वर्णन करते हुए बतलाया है कि वे लोग "बचपन में विद्या पढ़ते थे, यौवन में करते थे भोग। वृद्धकाल में मुनि बनते थे, मरते थे धारण कर योग।" रघुवंशी नरेशों का कोई प्रामाणिक इतिहास प्राप्त नहीं होता परन्तु कवि की इस उक्ति में हमारे देश की प्रिय परम्परा निहित है। इस प्रकार का जीवन ही राजाओं के लिये, और अन्य वर्गीय लोगों के लिये अच्छा जीवन माना जाता था। हमारे वर्तमान इतिहास में भी आदर्श के कई ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। राजस्थान के कई नरेशों ने वृद्धावस्था में राजसिंहासन त्याग कर सन्यास धारण किया है। एक नरेश समर भूमि में हाथी के हौदे में अपने सन्मुख इष्टदेव की प्रतिमा रख कर युद्ध किया करते थे। भक्त मीराबाई को तो बच्चा-बच्चा जानता है। उन्होंने व्योमचुम्बी राज प्रासादों को तज कर वृन्दावन की गलियों में रहना पसन्द किया था। भारतीय जीवन का आदर्श यह है कि ज़िन्दगी के समस्त व्यवहार धर्मदृष्टि पूर्वक हों। यथोचित रूप से धन कमाया जावे, यथोचित रीति से काम सेवन किया जावे और सन्तान वृद्धि की जावे, परन्तु जीवन का परम पुरुषार्थ माना जावे मोक्ष प्राप्त करना। इस मार्ग का सेवन भारत के करोड़ों नर-नारियों ने गत कितनी ही शताब्दियों से किया है। हमारी संस्कृति में यह विशेषता है और यह मौलिक एकता है। वैयक्तिक रूपेण जीवन धारायें भिन्न-भिन्न हो सकती हैं और हैं, लेकिन सब के तल में यह विशेष मौलिक एकता है।

द्वितीय अध्याय

सिंधु घाटी की सभ्यता

इसकी खोज : हमारी संस्कृति और सभ्यता के सबसे अधिक प्राचीन चिह्न सिंध नदी की घाटी में मिलते हैं। सन् १९२२ तक इन चिन्हों का कोई विशेष पता नहीं लगा था। उस वर्ष संयोगवश इनका पता लगा जिससे हमारे पुराने इतिहास का स्वरूप ही बदल गया और तत्सम्बन्धी कई समस्यायें तथा प्रश्न उपस्थित हो गये। १९२२ से पूर्व भी पुरातत्ववेत्ताओं की धारणा थी कि हरप्पा के आस पास कभी किसी अति प्राचीन काल में किसी संस्कृति का विकास हुआ होगा। वहाँ पर ऊपर ही एक टीले पर कई ऐसी मोहरें प्राप्त हो चुकी थीं जिन पर जानवरों की आकृतियाँ बनी हुई थीं और इन आकृतियों के आसपास कुछ चित्रात्मक अक्षर लिखे हुए थे। ये अक्षर तो पढ़ने में अब तक नहीं आए परन्तु तत्कालीन प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता सर एलेक्जेंडर कनिंघम ने यह अनुमान लगाया था कि इन मोहरों की लिपि ही विकसित होकर ब्राह्मी लिपि बनी होगी। ब्राह्मी लिपि में महाराज अशोक के शिलालेख लिखे हुए हैं।

दो नगर मिले : सन् १९२२ में पुरातत्व विभाग के एक विद्वान अफसर और लेखक के गुरू राखलदास बनर्जी मोहिंजोदाड़ो के एक बौद्ध टीले को खुदवा रहे थे कि उनको भूमिगत नगर के कुछ चिन्ह दिखाई दिए और खुदाई कुछ और गहरी करवाई तो निश्चय हो गया कि टीले के नीचे एक नगर गढ़ा हुआ है। तब पुरातत्व विभाग ने बड़े पैमाने पर इस नगर को खुदवाने की व्यवस्था की। हरप्पा उस समय ईंटों की खान बन चुका था। निकटवर्त्ती लोग मकान आदि बनाने के वास्ते यहाँ से कितने ही समय से ईंट खोद खोद कर ले जाया करते थे। पुरातत्ववेत्ताओं को खुदाई करने पर यह तो निश्चय हो गया कि यहाँ पहिले नगर था परन्तु यहाँ की ईंटें बहुत खुद चुकी थीं, इसलिए विशेषज्ञों को यह भी ख्याल था कि इस नगर का असली अतीत चित्र उनके सामने नहीं आसकेगा। ईंटों की अव्यवस्थित खुदाई के कारण हरप्पा नगर के भग्नावशेष बहुत अस्त व्यस्त हो चुके थे। जब यह निश्चय हो गया कि सिन्धु नदी के तट पर अति प्राचीन काल में कोई संस्कृति थी तो इसके अन्य स्थानों का पता लगाने का यत्न किया गया। राखलदास बनर्जी को मोहिंजोदाड़ो का पता लगा और इस अतीत संस्कृति को पुनः प्रकाश में लाने का यश प्राप्त हुआ।

हरप्पा और मोहिंजोदाड़ो की स्थिति : हरप्पा नामक प्राचीन नगर पंजाब के मोंटगोमरी जिले में स्थित है। यह रावी तट पर बसा हुआ था। परन्तु अब नदी का बहाव बहुत बदल गया है, इसलिए इस नगर के खण्डहर रावी नदी से दूर हैं। यह स्थान दिल्ली से उत्तर पश्चिम को लगभग तीन सौ मील दूर है। मोहिंजोदाड़ो सिंधु नदी के दाहिने तट पर सिंध प्रान्त में समुद्र से लगभग साढ़े तीन सौ मील दूरी पर स्थित है। हरप्पा से यह चार सौ मील से अधिक दूरी पर है। जब खुदाई करने पर कुछ यह पता लगा कि मोहिंजोदाड़ो के आस-पास कभी एक विकसित और पुष्ट मानव संस्कृति थी तो पास के प्रदेश को पुरातत्त्ववेत्ताओं ने और ध्यान से देखा। सिन्धु नदी और किर्थर पर्वत श्रेणी के मध्य हैदराबाद से नेकोवाबाद तक उनको कई ऐसे टीले और ढोल मिले जिससे प्रकट हो गया कि यह प्रदेश किसी काल में एक उच्च संस्कृति का स्थान था। इससे पूर्व भी आमरी नामक कस्बे के पास पुरातत्ववेत्ताओं को एक अति प्राचीन सभ्यता के चिन्ह इस प्रदेश में प्राप्त हो चुके थे परन्तु साधनाभाव से इसकी आगे कुछ खोज नहीं हो सकी।

इस संस्कृति का क्षेत्र : खुदाई और जांच करने से पता लगा है कि यह-सभ्यता सिन्धु की घाटी में, पश्चिम में डेढ़ सौ मील तक बलूचिस्तान में और उत्तर पूर्व में शिमला तक फैली हुई थी। सर जॉन मार्शल का तो यह भी मत था कि यह संस्कृति गंगा के मैदान तक अवश्य पहुँच गई होगी परन्तु वहाँ यह जम नहीं सकी। अब यह भी धारणा है कि बीकानेर राज्य के पश्चिम में शायद मोहिंजोदाड़ो जैसे स्थान का पता लग सके। यह अनुमान तो ठीक है ही कि यह संस्कृति केवल मोहिं-जोदाड़ो तक सीमित नहीं थी। जैसे यह पश्चिम में बलूचिस्तान तक पहुँच गई थी उसी प्रकार पूर्व में भी यह अवश्य फैली होगी। सर आरेल स्टीन का कहना था कि बीकानेर के पश्चिम में भी इस संस्कृति को प्रकट करने वाले नगर, कस्बे या दूसरे चिह्न मिलने चाहिएँ। बीकानेर नरेश स्वर्गीय महाराज गंगासिंह जी ने खुदाई करवाने का विचार किया था परन्तु उनके शासनकाल में बड़े पैमाने पर यह कार्य नहीं हो सका। अब भारत सरकार ने यह काम पुरातत्त्व विभाग के सुपुर्द किया है और जाँच का काम तथा कुछ प्रारम्भिक खुदाई शुरू की गई है परन्तु अभी कोई उल्लेखयोग्य प्राचीन चिह्न प्रकट नहीं हुए हैं।

इसके विद्वान् अन्वेषक : हरप्पा और मोहिंजोदाड़ो दोनों की जितनी खुदाई की जा सकती थी उतनी करली गई है। यह काम सन् १९२२ में आरम्भ हुआ और सन् १९३१ में धनाभाव के कारण बन्द कर दिया गया। अधिक गहरी खुदाई हो भी नहीं सकती। पास ही नदी है। जब गहरी खुदाई की जाती है तो विपुल पानी निक-लने लगता है जिसको पम्प द्वारा भी बाहर फैंकना अत्यन्त कठिक कार्य है। उपरोक्त दोनों नगरों की खुदाई पुरातत्त्व के कई योग्य अधिकारियों ने की है जिनमें राखलदास

बनर्जी; दयाराम सहानी और के. एम. दीक्षित का तो देहान्त होगया। श्री एम. एस. वत्स इस समय भारत के डायरेक्टर जनरल ऑफ आर्क्योलाजी अर्थात् पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष हैं। अँग्रेज़ अफसर सब अपने देश को चले गये। अब हरप्पा मोहिंजोदाड़ो दोनों प्राचीन नगर पाकिस्तान में हैं। ऐसा सुना जाता है कि पाकिस्तान सरकार इन स्थानों की समुचित रक्षा कर रही है।

मोहिंजोदाड़ो का महत्त्व : इतिहास की दृष्टि से मोहिंजोदाड़ो हरप्पा की अपेक्षा अधिक महत्त्व का है। हरप्पा तो लोगों ने ईंटें खोद खोद कर बहुत विकृत कर डाला परन्तु मोहिंजोदाड़ो, जब वहां पुरातत्त्ववेत्ता लोग पहुँचे तो महाकाल की गोद में सोया पड़ा था और उसकी महानिद्रा को किसी ने भंग नहीं किया था। यहां पर जो भग्नावशेष और पदार्थ प्राप्त हुए हैं उनके आधार पर हम अतीत संस्कृति का एक स्थूल चित्र कल्पना से बना सकते हैं। मोहिंजोदाड़ो का जो भाग पुरातत्त्ववेत्ताओं ने अब तक अनावृत्त किया है वह लगभग साढ़े पांच फर्लाङ्ग लम्बा और ढाई फर्लाङ्ग चौड़ा है परन्तु पश्चिम की ओर एक और टीला है जिससे यह अनुमान होता है कि यह नगर वहां तक फैला हुआ होगा। यदि ऐसा था तो इस नगर की लम्बाई एक मील से अधिक और चौड़ाई पौन मील के लगभग होगी। ऐसा जान पड़ता है कि इस प्रदेश के तत्कालीन राज्य में मोहिंजोदाड़ो एक मुख्य नगर होगा। खुदाई से एक ऐसी इमारत निकली है जो एक साधारण राज प्रासाद या महल का भाग प्रतीत होती है। ऐसा जान पड़ता है कि यह उस देश के राजा के किसी सामन्त या एक प्रकार के किसी गवर्नर का महल होगा।

यहाँ के निवासियों का आदि स्थान : ऐसा अनुमान लगाया गया है कि मोहिंजोदाड़ो के निवासी वहां के आदि निवासी नहीं थे किन्तु बाहर से आकर यहां बस गये थे। सम्भव है कि ये लोग ख़ैबर और बोलन की तरफ से पहाड़ों को छोड़कर मैदान में आये हों, यहाँ आने से पहिले ही ये लोग सभ्य और सुसंस्कृत हों और बसने के बाद इन लोगों ने अपनी सभ्यता को अधिक पुष्ट और प्रौढ़ बनाया हो। यह तो स्पष्ट ही है कि ये लोग एक समय शिमला से मोहिंजोदाड़ो तक फैले हुए थे और संभवतः पंजाब के पश्चिमी भाग में भी होंगे ही। मोहिंजोदाड़ो में मिली हुई मोहरों और तावीज़ों पर चित्रात्मक अक्षर लिखे हुए हैं। यह लिपि प्राचीन इराक़ अर्थात् मैसोपोटामियां की लिपि से मिलती जुलती है। उस प्रदेश में भी क्रमशः तीन संस्कृतियों का विकास और लोप हुआ है। पहिले "प्रोटो इले पाइट" का अभ्युदय और पतन, फिर इसी प्रकार सुमेरियनों का और तत्पश्चात् सिमायत जाति का उदय और लोप हुआ। मोहिंजोदाड़ो की लिपि उनमें प्रथम जाति की लिपि से मिलती जुलती है। दूसरी और तीसरी जाति की लिपियां तो प्रथम लिपि से विकास पाकर बनी हैं। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि मोहिंजोदाड़ो में जो मनुष्यों की खोपड़ियाँ प्राप्त

हुई हैं उनकी बनावट और प्राचीन मेसोपोटामियां के मनुष्यों की खोपड़ियों की बनावट में भी समानता है। इन दोनां उपरोक्त बातों के आधार पर अर्थात् लिपि और खोपड़ियों की समानता के आधार पर यह अनुमान होता है कि मोहिंजोदाड़ो के निवासियों का और मेसोपोटामियां के निवासियों का कुछ सम्बन्ध हो। ये दोनों एक ही जाति के हों। संभव है मेसोपोटामियां से ये लोग आये हों, या मैसोपोटामियां से सिन्ध और शिमला तक उस समय एक ही प्रकार की संस्कृति का विकास हुआ हो। ये सब कल्पना निराधार तो नहीं हैं, लेकिन इनके आधार केवल उपरोक्त दो ही चिह्न हैं। सिन्ध प्रान्त में मोहिंजोदाड़ो की संस्कृति से भी अधिक पुरानी संस्कृति के कुछ चिह्न प्राप्त हो चुके हैं, इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि उस प्राचीन काल की संस्कृति से आरम्भ होकर विकास होते होते सिन्ध की संस्कृति बनी हो। या यह भी माना जा सकता है कि मेसोपोटामियाँ और सिन्ध दोनों के प्राचीन निवासी संसार के किसी अन्य भाग से आये हों। विद्वानों का मत है कि आर्य लोगों का आदि निवास मध्य एशिया में था। फिर वहां से जब ये लोग चले तो कुछ योरोप में, कुछ ईरान में और कुछ ईरान से भारत में आये। ये लोग सब एक ही जाति के थे और आदि काल में इनकी एक ही संस्कृति थी, इसलिये ईरान के पुराने निवासियों की और पंजाब में आ बसने वाले आर्यों की सभ्यता में अनेक समानता है तथा जिन्दावस्ता नामक पारसियों के प्राचीन धर्म ग्रन्थ में और ऋग्वेद की भाषा, भाव और दृष्टिकोण में अनेक समानतायें हैं। ठीक यही उदाहरण सिन्ध और मेसोपोटामियां के आदि निवासियों पर भी लागू हो सकता है। दोनों के पूर्वजों की एक सभ्यता होगी। फिर अपने आदि निवास को त्याग कर चलते चलते कुछ मेसोपोटामियां में जा बसे और कुछ सिन्धु प्रदेश में आ आबाद हुए। यही कारण है कि दोनों प्रदेशों की लिपि एकसी है। दोनों प्रदेशों के निवासियों की खोपड़ियाँ भी मिलती जुलती हैं और आगे अधिक खोज होने पर संभव है कुछ और चिह्न भी समानता की पुष्टि करने वाले प्राप्त हो सकें। यदि हम ऐसा मान लें तो भी कोई आपत्ति नहीं मालूम होती कि सिन्धु और मेसोपोटामियां के प्राचीन निवासी भी सब आर्य ही थे। दुर्भाग्यवश अभी तत्कालीन लिपि पढ़ी नहीं जा सकी है। इसलिये दोनों देशों के निवासियों के विचारों में समानता थी या नहीं, इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु मेसोपोटामियां का आर्य संस्कृति से सम्बन्ध था इसके प्रमाण ईसा से लगभग ३००० वर्ष पूर्व तक के प्राप्त हो चुके हैं। मेसोपोटामियां के उत्तर में बगोजकोई नामक पर्वत में कुछ ईंटें मिली हैं जिनका काल निर्णय ईसा से ३००० वर्ष पूर्व किया गया है। उस समय वहाँ हिट्टाइट और मिट्टेनी नामक दो जातियाँ निवास करती थीं। दोनों दलों में वर्षों तक परस्पर कलह और युद्ध होता रहा। अन्त में मेल हुआ और दोनों दलों में परस्पर अनेक विवाह किये गये। इस अवसर पर इस मेल को चिरस्थायी बनाने के

उद्देश्य से तथा विवाह सम्बन्धों को सुदृढ़ करने की भावनाओं से प्रेरित होकर अनेक देव और देवियों का स्मरण तथा आह्वान किया गया। इनके नाम उन ईंटों पर खुदे हुए हैं जो पढ़ लिये गये हैं। इनमें कई ऐसे देवों के नाम हैं जिनका वर्णन विवाह प्रसंग में ऋग्वेद में आता है। इससे जान पड़ता है कि तत्कालीन मेसोपोटामियां के निवासी और पंजाब के आर्यों में परस्पर सांस्कृतिक सम्बन्ध होगा या दोनों दल किसी तीसरे दल के, संभवतः मध्य एशिया के आर्यों के वंशज होंगे। इस आधार पर और कुछ अन्य चिन्हों के आधार पर जिनका उल्लेख आगे किया जावेगा यह भी कहा जा सकता है कि मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा तथा मेसोपोटामियां के निवासी सब आर्य थे या आर्यों के वंशज थे। परन्तु इसका निर्विवाद निर्णय उस समय होगा जब मोहिंजोदाड़ो और मेसोपोटामियां में मिली हुई मोहरों के ऊपर अंकित अक्षर पढ़ लिये जावेंगे।

तत्कालीन लिपि : अभी दो विद्वान् इस बात का दावा करते हैं कि उन्होंने इन मोहरों पर लिखे हुए लेख पढ़ लिये हैं। एक बम्बई के विद्वान् प्रोफेसर डाक्टर हेरास हैं और दूसरे काशी विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र के प्रोफेसर डाक्टर प्राणनाथ विद्यालंकार। फादर हेरास का मत है कि मोहिंजोदाड़ो की मोहरों के लेख प्रथम पंक्ति में बायें से दायें दूसरी पंक्ति में दायें से बायें और तीसरी में पुनः बायें से दायें लिखे हुए हैं। इस लिपि का सम्बन्ध वे ब्राह्मी लिपि से तो नहीं बतलाते हैं परन्तु उनका मत है कि इन मोहरों की भाषा ऋग्वेद की संस्कृत से मिलती जुलती प्रतीत होती है। डाक्टर प्राणनाथ इनकी भाषा को ऋग्वेद से पूर्व की कोई भाषा समझते हैं जो वैदिक संस्कृति से बिलकुल भिन्न नहीं हैं परन्तु इनका मत अभी स्पष्ट नहीं है। दोनों ही विद्वानों की बात को अभी पुरातत्त्व के पंडितों ने स्वीकार नहीं किया है क्योंकि स्वीकार करने में बहुत कठिनाइयाँ हैं जिनका उत्तर दोनों ही विद्वान् अभी संतोषजनक रीति से नहीं दे सकते। जब ये लेख निर्विवाद रूपेण पढ़ लिये जावेंगे तब यह निश्चय होगा कि इस संस्कृति का वैदिक संस्कृति से क्या सम्बन्ध है। यह समकालीन है, पूर्वकालीन है या उसी की एक अंश है।

सिंधु संस्कृति का काल निर्णय : सिन्धु संस्कृति का काल निर्णय भी महा विवाद का प्रश्न है। आरम्भ में इस सम्बन्ध में कई कल्पनायें की गईं। परन्तु मेसोपोटामियां के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता डाक्टर फ्रेन्कफर्थ की शोधों से अब इसका काल प्रायः निश्चित सा हो चुका है। मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा में मिली हुई मोहरों, बर्तनों, मिट्टी की चीज़ों, पत्थर के दानों और कुछ वृत्ताकार अलंकरणों के आधार पर यह निर्णय किया गया है कि सिंधु संस्कृति का काल अनुमानतः ईसा से २५०० या ३००० वर्ष पहिले का होना चाहिये। यह निर्णय मेसोपोटामियां में स्थित तैल अस्मर स्थान पर जो खुदाई की गई है और उसमें मिले हुए

भूमितलों का जो काल निर्णय हुआ है उस पर आश्रित है। यदि मेसोपोटामियां के तलों के काल निर्णय में भूल है तो मोहिंजोदाड़ो के काल निर्णय में भी भूल है।

काल निर्णय का आधार : तैल अस्मर में खुदाई करते समय एक मोहर मिली। जिस धरातल में यह प्राप्त हुई है उसका काल ईसा से २५०० वर्ष पूर्व का माना गया है और यह धारणा निराधार नहीं है। यह मोहर लम्बी और समगोल है। इस पर हाथी, मगर, घड़ियाल और गेंडे हाथी के चित्र बने हुए हैं। ये पशु सुमेरिया में नहीं होते हैं और सब भारत में मिलते हैं। इस पर जो खुदाई का सुन्दर काम है वह भी भारतीय ढंग का है। वैसा नमूना सुमेरिया में नहीं मिला है। अतः यह मोहर भारत से सुमेरिया में गई है और उस समय गई है जिस समय के पदार्थ इसके साथ-साथ प्राप्त हुए हैं। इन पदार्थों का काल निर्णय अर्थात् जिस धरातल पर ये सब वस्तुएँ मिली हैं उसका समय ईसा से २५०० वर्ष पूर्व निश्चित किया गया है। अतः इस मोहर का समय भी ईसा से २५०० वर्ष पूर्व का होना चाहिए। मोहिंजोदाड़ो की खुदाई कुछ स्थानों पर चालीस फुट की गहराई तक हो चुकी है। वहाँ सबसे नीचे के पदार्थों में और ऊपर के पदार्थों में बहुत दीर्घकाल का अन्तर नहीं है। अधिक से अधिक अन्तर ५०० वर्ष का हो सकता है। यह मोहर भी इसी काल की है, अतः मोहिंजोदाड़ो का काल भी २५०० ईसवी पूर्व निश्चित होता है। इसको पुष्ट करने वाले दूसरे प्रमाण भी हैं। तैल अस्मर में कई मिट्टी की चीज़ें मिली हैं जिन पर सुन्दरता के वास्ते कुछ उठे हुए बड़े-बड़े दाने बने हुए हैं। इस प्रकार की मिट्टी की दानेदार चीज़ें सुमेरिया में नहीं मिलतीं थीं और इस तह के ऊपर या नीचे ऐसी मिली भी नहीं। यह खास भारतवर्ष की कला थी, और यह चीज़ें स्पष्ट ही भारत से सुमेरिया में पहुँची हैं। इसके साथ की चीज़ें भी २५०० ईसवी पूर्व वाले धरातल में ही प्राप्त हुई हैं, अतः ये मोहिंजोदाड़ो में बनी हुई चीज़ें भी उसी समय सुमेरिया में पहुँची होंगी। मोहिंजोदाड़ो में एक बर्तन का टुकड़ा मिला है। इसकी रचना से भी प्रकट है कि यह बाहर से अर्थात् सुमेरिया से आया हुआ है। इस प्रकार के पात्र खण्ड सुमेरिया में तैल अस्मर के उस धरातल में मिले हैं जिसका काल ईसा से ३००० वर्ष पूर्व माना जाता है। कुछ असाधारण आकार और प्रकार वाले ऐसे दाने मोहिंजादाड़ो, हरप्पा, सुमेरिया, क्रीट और यूनान में मिले हैं जिनका काल भी लगभग यह ही माना जाता है। तैल अस्मर में एक खंड पर एक के अन्दर दूसरा और दूसरे के अन्दर तीसरा इस प्रकार के कई सम चतुर्भुज पात्रों पर बने हुए मिले हैं। इसी प्रकार के चतुर्भुज मोहिंजोदाड़ो में भी मिले हैं। सम्भवतः इनको मन्त्र-तन्त्र में उपयोग किया जाता हो। प्राचीन काल में और अब भी इस प्रकार की आकृतियाँ मन्त्र का काम दिया करती हैं। इन उपरोक्त बातों के अतिरिक्त दो चार और भी चिह्न हैं जिनके आधार पर सिन्धु संस्कृति का काल २५०० वर्ष ईसवी पूर्व निश्चित किया गया है, अब तक की खोज से यह काल ठीक प्रतीत होता है।

यह ऋग्वेद से पूर्व की या पीछे की : अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सिंधु संस्कृति ऋग्वेद से पहले की है, पीछे की है या समकालीन। यह बात तब निश्चित हो सकती है जब पहिले यह तय हो जावे कि ऋग्वेद का रचना काल क्या है। मेक्समूलर आदि योरोपीय पंडितों ने इसका समय ईसा से १२०० वर्ष पूर्व का निश्चय किया है परन्तु यह निर्णय अब निर्विवाद नहीं है। इसके विषय में अन्य विद्वानों ने मतभेद प्रकट किया है। विन्टर निट्ज ईसा से ३००० वर्ष पूर्व बतला कर अन्त में यह निर्णय देते हैं कि ऋग्वेद का काल वर्षों में नहीं बतलाया जा सकता। बाल गंगाधर तिलक ने ज्योतिष के आधार पर जो मन्तव्य प्रकट किया है उसके अनुसार ऋग्वेद का समय ईसा से ६००० वर्ष पूर्व भी ले जाया जा सकता है। अविनाश चन्द्र दास ऋग्वेद का रचना काल ईसा से ४०,००० वर्ष पूर्व ले जाते हैं। इस प्रकार ऋग्वेद के रचना काल के विषय में पंडितों में बड़ा मतभेद है। परन्तु अब यह बात प्रायः विद्वानों ने मानली है कि १२०० वर्ष ईसा के पूर्व का समय ऋग्वेद की रचना के लिये अतीव निकट है। यह १२०० वर्ष से बहुत ही पूर्व होना चाहिए। जिस तर्क और आधार पर १२०० वर्ष ईसा से पूर्व का समय निश्चित किया था उनको अब स्वीकार नहीं किया जाता है। ऋग्वेद का काल चालीस हजार वर्ष ईसा से पूर्व चाहे न हो परन्तु वह १२०० वर्ष ईसा से पूर्व का या उसके आसपास का तो कदापि नहीं हो सकता। अब तो ३००० या ४००० वर्ष ईसा से पूर्व का समय भी अति निकट माना जाता है। अतः विवाद और मतभेद में प्रवेश किये बिना ही इतना तो कह ही सकते हैं कि ऋग्वेद का रचना काल ३००० वर्ष ईसा से पूर्व से भी बहुत पहिले का होना चाहिए। इस निर्णय के पश्चात् यह मानने में कोई कठिनता नहीं रह जाती कि सिंधु संस्कृति ऋग्वेद से या तो कुछ बाद की है या समकालीन है। ऋग्वेद काल में आर्य लोग समस्त पंजाब में फैल चुके थे। यह भी सम्भव है कि इनका कोई दल पहिले या पीछे आने वाला सिंधु प्रदेश में पहुँच गया हो। और उसका एक भाग हरप्पा के आस-पास आबाद हो गया हो। शायद सिंधु संस्कृति वाले लोग आर्य नहीं हों और यहाँ के आदि निवासी हों जिनमें से कुछ तो हरप्पा के आस पास ही जमे रहे हों परन्तु कुछ निरन्तर संघर्ष से बचने के लिये पंजाब छोड़कर नदियों के किनारे-किनारे सिन्ध प्रदेश में पहुँच गये हों और वहाँ बस गये हों। कुछ भी हो यह बात तो मान लेने में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती कि सिंधु संस्कृति ऋग्वेद से पहिले की नहीं है, और यह कहना भी निराधार नहीं है कि ऋग्वेद कालीन आर्यों का इससे प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध रहा होगा।

नगरों के व्यवस्थित मार्ग : मोहिंजोदाड़ो के भग्नावशेषों के अनावरण से प्रकट होता है कि सिंधु घाटी के नगर निश्चित स्वरूप के अनुसार बनाये जाते थे। हरप्पा के खण्डहरों से यह बात उतनी स्पष्ट नहीं होती जितनी मोहिंजोदाड़ो के

खण्डहरों से प्रकट होती है। कारण यह है कि हरप्पा के भग्नावशेष वहाँ ईंटों की खानों के बन जाने से अति विकृत हो गये हैं। मोहिंजोदाड़ो की दशा अधिक अच्छी है। मोहिंजोदाड़ो की सब सड़कें बिलकुल सीधी हैं। जो सड़कें इनको काटती हैं वे भी समकोण बनाती हैं और बिलकुल सीधी जाती हैं। तंग गलियाँ भी सीधी हैं और दूसरी गलियों को या सड़कों को समकोण बनाती हुई काटती हैं। वर्तमान भारत में इस प्रकार के नगर मार्ग केवल जयपुर में हैं। जो नगर अब नये बसाये जा रहे हैं उनमें इनका ध्यान रखा जाता है। अन्यथा प्राचीन और मध्यकालीन नगरों में मार्ग व्यवस्था नहीं हुआ करती थी। योरोप में भी ५० वर्ष पूर्व तक यही हाल था। बेबलन नगर में ईसा से लगभग १००० वर्ष पूर्व कुछ मार्ग व्यवस्था थी और इसी काल में मिश्र में भी, परन्तु मोहिंजोदाड़ो की मार्ग रचना सर्वोत्तम है। आदि कवि बाल्मीक ने अयोध्या का वर्णन करते हुये लिखा है कि नगर के मार्ग सीधे, प्रशस्त और सुविभक्त थे। इससे प्रकट होता है कि प्राचीन भारत में नगर मार्ग व्यवस्था की महत्ता को लोग समझते थे।

मार्गों की चौड़ाई : मोहिंजोदाड़ो की सड़कें या तो उत्तर से दक्षिण को जाती हैं या पूर्व से पश्चिम को। सिंध में पवन प्रायः या तो पश्चिम से चलता है या दक्षिण से। अतः नगर की बन्द और गन्दी हवा को यह दक्षिणानिल या पश्चिमानिल उड़ा ले जाया करता था और नगर का वायु सदा स्वच्छ रहा करता था। यह नहीं कहा जा सकता कि मोहिंजोदाड़ो नगर को बसाने वालों ने इसके मार्गों की दिशायें पवन के विचार से निश्चित की थी या यों ही हो गईं। ऐसे उन्नत लोगों के लिए यह मानना अधिक युक्ति संगत होगा कि वे लोग शुद्ध पवन और स्वास्थ्य की महत्ता को समझते होंगे और नगर मार्गों की रचना करते समय इन बातों का ध्यान अवश्य रक्खा होगा। इस नगर की एक सड़क छत्तीस फीट चौड़ी है, एक अठारह फीट चौड़ी है, और एक छत्तीस फीट से अधिक चौड़ी जान पड़ती है परन्तु यह पूरी नहीं खोदी जा सकी। छोटी सड़कों में एक नौ फीट चौड़ी है और एक बारह फीट। गलियाँ चार फीट से सात फीट तक चौड़ी हैं।

मार्गों और गलियों के मोड़ और मकानों की व्यवस्था : विशेष बात नगर मार्गों और गलियों में यह है कि मकान का कोई भाग सड़क या गली के अन्दर निकला हुआ नहीं है। इससे स्पष्ट है कि मकान बनवाते समय लोग नक्शे पेश करते होंगे और सरकार से मन्जूरी देते समय इस बात का ध्यान रखा जाता होगा कि सड़क या गली की सुन्दरता न बिगड़ जावे। ज्यों-ज्यों नगर की अवनति होती गई त्यों-त्यों इस बात का ध्यान कम होता गया। खण्डहरों के देखने से मालूम होता है कि सबसे नीचे का भाग अति व्यवस्थित है और ज्यों ज्यों ऊपर आते हैं त्यों-त्यों व्यवस्था कम होती जाती है। अभी मोहिंजोदाड़ो की खुदाई पूरी नहीं हुई है परन्तु बड़ी

सड़कों पर दोनों तरफ अठारह फीट ऊँची मकानों की दीवारें निकल आई हैं और छोटी सड़कों पर पच्चीस फीट तक ऊँची दीवारें नजर आने लगी हैं। बड़ी सड़कों पर पानी का बहाव अधिक होने से वहाँ की दीवारें टूट गई हैं और छोटे मार्गों पर बहाव कम होने से वहाँ दोनों ओर के मकानों की दीवारें कम टूटी हैं। जहाँ सड़कें मुड़ती हैं वहाँ मकानों के कोने गोल किये हुए हैं जिससे सवारियों को और पशुओं को मुड़ते समय सुविधा रहे। ऐसे स्थानों पर गोलाई देने के वास्ते विशेष प्रकार की ईंटें लगाई गई हैं। मोहिंजोदाड़ो में कई प्रकार की ईंटों का उपयोग हुआ है। आकार भेद से कोई चपटी हैं, कोई गोल और कोई तीखी।

मिट्टी की चुनाई : मोहिंजोदाड़ो में ईंटों की चुनाई गारे से हुई है। इस प्रकार चुनी हुई दीवारें अब तक अर्थात् साढ़े चार हजार वर्ष तक खड़ी हुई हैं, यह इस बात का प्रमाण है कि वहाँ के गारे में खूब चिकनाई थी। किसी विशेष प्रकार की चुनाई के लिए, जैसे नालियाँ बनाने में, एक प्रकार के चूने का भी उपयोग किया गया है। गारे की चुनाई के कारण ईंटों को आसानी से अलग-अलग किया जा सकता है और ईंटें निकालने वालों को किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। इसलिए हरप्पा ईंटों की खान बन गया है और सदियों से लोग वहाँ ईंटें निकाल रहे हैं। मोहिंजोदाड़ो इस प्रकार की खुली लूट से बचा रहा। इसका कारण यह है कि उसकी स्थिति एक एकान्त स्थान में है और पास में किसी बड़े नगर या कसबे का निर्माण नहीं हुआ।

दरवाजों और खिड़कियों का रुख : इस नगर की इमारत अत्यन्त सादी हैं। सम्भव है कि ऊपरी हिस्सों में कुछ ईंटों की आरायश की जाती होगी या लकड़ी के बरामदे बनाये जाते होंगे परन्तु नीचे के हिस्सों में कला और सुन्दरता का कोई चिह्न दिखाई नहीं देता है। दूसरी विशेषता यह है कि रहने के मकानों में कोई खिड़की नहीं है। शायद उस समय चोरी का भय और भी अधिक होगा। मकानों में पवन और प्रकाश का प्रवेश केवल दरवाजों से होता था। ऐसे गर्म देश में शायद लू से बचने के लिये मकान बन्द रखे जाते थे और खिड़कियाँ नहीं बनाई जाती थीं। रहने के मकानों में कुछ कमरे ऐसे बने हुए हैं कि एक कमरे में बैठा हुआ मनुष्य सारे मकान की निगरानी कर सके और आस-पास से आते जाते मनुष्यों को देख सके। शायद यह भी चोरों से बचने का उपाय था। मोहिंजोदाड़ो की बनावट और मुहल्लों की व्यवस्था ऐसी है कि चोरों से नगर की रक्षा करने में आसानी हो सके। यह नगर अपने अभ्युदय काल में सुसम्पन्न और धनधान्य संकुल होगा। इसका व्यापार भी सुदूर देशों के साथ होता था। ऐसे नगर में पुलिस का सुप्रबंध होना ही चाहिए।

मकानों के आकार जीने और छत : साधारण मकानों का क्षेत्रफल बाहर से नापने से औसतन २७×३० फीट होता है। बड़े मकानों का क्षेत्रफल इससे दुगुना

होता है। इससे भी बड़े मकान बनते थे परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि निवास के लिये बनाये गए थे या अन्य उपयोग के लिए और यदि निवासार्थ बनाये गए थे तो उनमें एक ही परिवार रहता था या अनेक। दो मकानों के बीच एक फुट की गली छोड़ी जाती थी। यह पद्धति सम्मिलित दीवारों के निरन्तर टंटों से बचने के लिए प्रचलित हुई होगी। इन गलियों के निकास ईंटों से बन्द कर दिये जाते थे। मकानों की दीवारें खूब मोटी बनी हुई हैं जिनसे प्रकट होता है कि मकान दो तीन मंजिले बनाये जाते होंगे। दीवारों में कड़ी पाट के चिन्ह मिलते हैं। कड़ी पाट पर शायद कुछ बिछाकर ऊपर से मिट्टी लगादी जाती होगी और इस प्रकार छत बनाई जाती होगी। ऊपर की मंजिल पर जाने के लिये पक्की ईंटों के ज़ीने बनाये जाते थे। कुछ मकानों में ज़ीने के चिन्ह दिखाई नहीं देते। शायद उस समय लकड़ी के ज़ीने बनाये जाते होंगे जो कालान्तर में नष्ट हो गये। अधिकांश ज़ीने मकानों के अन्दर ही हैं परन्तु कहीं-कहीं मकानों के बाहर से भी ज़ीने बने हुए हैं। उद्देश्य प्रत्यक्ष में यह था कि नीचे और ऊपर की मंज़िल पूर्ण रूपेण स्वतन्त्र हो। ज़ीनों की सीढ़ियों की ऊँचाई और चौड़ाई प्रायः बहुत कम है। इसका कारण यह नहीं कहा जा सकता कि मोहिंजोदाड़ो के निवासियों को अधिक अच्छी सीढ़ियाँ बनाना नहीं आता था। कारण वास्तव में यह था कि नगर बहुत ही घना बसा हुआ था। इसलिये मकान के अन्दर छोटे से छोटे ज़ीने बनाये जाते थे जिससे स्थान की अधिक से अधिक बचत हो सके। सीढ़ियों की ऊँचाई प्रायः पन्द्रह इञ्च और चौड़ाई पाँच इञ्च है। कुछ इमारतों में जो सरकारी प्रतीत होती हैं सीढ़ियाँ बिलकुल आधुनिक शैली की बनी हुई हैं। एक मकान में तो जो किसी धनाढ्य नागरिक का जान पड़ता है अतीव सुन्दर दोहरा ज़ीना बना हुआ है। इन ज़ीनों की सीढ़ियों की ऊँचाई केवल सवा दो इंच और चौड़ाई सात आठ इंच है। इससे प्रकट है कि ज़ीने बनाने की कला तो तत्कालीन लोग जानते थे किन्तु स्थानाभाव के कारण सीढ़ियों की चौड़ाई कम बनाते थे।

मकानों की नालियाँ : मकानों की छतें प्रायः चपटी और चौड़ी होती थीं और उनके चारों तरफ मेड़ अर्थात छोटी डोली हिफ़ाज़त के वास्ते बनाई जाती थी। यही पद्धति इस समय हमारे देश में प्रचलित है। जैसे कमरे के अन्दर के फर्श बनाये जाते थे, संभवतः उसी प्रकार छतें भी बनाई जाती होंगी। लकड़ी के कड़ी पाटों पर कुछ कड़ा घास या पतली टहनियों की चटाई बिछाकर उस पर मिट्टी के गारे का लेप कर दिया जाता था। फर्श शायद गाय के गोबर से लेपे जाते थे। यह शैली कच्चे मकानों में इस समय भी प्रचलित है। ऊपर की छत शायद लीपी नहीं जाती होगी। छत की रक्षा के लिये अन्य कोई उपाय नहीं किया जाता था। बरसात का पानी निकालने के वास्ते छतों पर मोरियाँ बनाई जाती थीं जो मकान की दीवार से कुछ आगे निकली हुई और ईंटों की बनी हुई होती थीं। किसी किसी मकान में ये मोरियाँ लकड़ी की

भी बनी हुई हैं। इसका पानी मकान के बाहर बाज़ार या रास्तों में गिरा करता होगा। शायद लकड़ी या ईंट की कोई नाली छत से नीचे तक बनाई जाती होगी परन्तु उसके कोई चिन्ह अभी प्राप्त नहीं हुए हैं। यदि पानी बाहर खुला हुआ पड़ता होगा तो भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ऐसी पद्धति योरोप और एशिया के नगरों में कुछ समय पहिले तक प्रचलित थी। ईरान, चीन और भारत के नगरों में यह अब तक प्रायः चलती है। लेकिन मोहिंजोदाड़ो जैसे उन्नत और विपुल जनसंकुल नगर के विषय में यह अनुमान करना अधिक संगत होगा कि इन मोरियों से धरातल तक ईंटों या लकड़ी की नालियाँ बनाई जाती होंगी।

दरवाजे, कुन्दे आदि : जाँच से यह पता नहीं चलता कि किवाड़ किसके सहारे से टिकते थे। दरवाजों के दोनों पखों (पार्श्व) पर या ऊपर या नीचे कोई ऐसा चिन्ह नहीं जिससे अनुमान लगाया जा सके कि इस स्थान पर कुन्दा था और साँकल या चटखनी इस प्रकार लगाई जाती होगी। मोहिंजोदाड़ो के समीप लकड़ी विपुलता से प्राप्त होती है, इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि चौखटें लकड़ी की बनाई जाती होंगी। परन्तु लकड़ी की चौखट कोई मिली नहीं। संभवत: सब नष्ट हो गई और साँकल कुन्दे के निशान जो इनमें होने चाहिये इनके साथ ही सब नष्ट हो गये। एक दरवाजे के ऊपर का भाग अर्द्ध चन्द्राकार है। शायद सब दरवाजे तो ऐसे नहीं होते होंगे। अधिकांश दरवाजों के ऊपर तो लकड़ी के उतरंगे लगाये जाते होंगे। ऊपर का भार सह सकने के लिये ये उतरंगें मोटे और मजबूत होते होंगे परन्तु उनका कोई नमूना प्राप्त नहीं हुआ है। दरवाजों की चौड़ाई अधिकतर तीन फीट चार इञ्च और ऊंचाई प्राय: ६ फीट है। परन्तु इनसे बड़े दरवाजे भी बनाये जाते थे। वास्तव में मुख्य द्वार का आकार प्रकार मकान के आकार पर अवलम्बित होता होगा। कितने ही दरवाजे लगभग आठ फीट चौड़े भी मिले हैं। प्रत्यक्ष ही है कि ये दरवाजे ऐसे मकानों के हैं जिनमें घोड़े या गाड़ियाँ प्रायः घुसा करती होंगी। दो तीन दरवाजों में साँकल और चटखनी के चिन्ह भी प्राप्त हुए हैं।

मकानों के स्तम्भ : उस युग में बेबलन में कच्ची या पक्की ईंटों के गोल स्तम्भ बनाने का रिवाज था। परन्तु मोहिंजोदाड़ो में गोल स्तम्भ कोई नहीं मिला। यह वास्तव में आश्चर्य की बात है। दोनों नगरों का व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध था परन्तु न जाने क्यों मोहिंजोदाड़ो के निवासियों ने यह निर्माण पद्धति अपने नगर में प्रचलित नहीं की। इससे यह न समझना चाहिये कि मोहिंजोदाड़ो के नागरिक गोल और लम्बे स्तम्भ बनाना नहीं जानते थे। कुछ छोटे-छोटे पत्थर के खांचे प्राप्त हुए हैं। इनमें एक का व्यास उन्नीस इंच का है। यह खांचे गोल बने हुए हैं। इनमें या तो पत्थर के स्तम्भ फंसाये गये होंगे या लकड़ी के। परन्तु खुदाई के समय किसी भी प्रकार के स्तम्भ प्राप्त नहीं हुए। जो स्तम्भ मिले हैं वे या तो समचुतष्पक्ष या समद्विपक्ष।

केवल एक स्तम्भ पक्की ईंटों का बना हुआ ऐसा मिला है जो नीचे मोटा और ऊपर क्रमशः पतला होता गया है। नीचे इसका घेरा तीन फुट है और ऊपर ढाई फीट। शेष स्तम्भों का जितना घेरा नीचे है उतना ही ऊपर है।

लिपाई, पलंग और घड़े आदि : कमरों की दीवारों पर मिट्टी लेपी जाती थी और मिट्टी के ऊपर शायद गऊ का गोबर लेपा जाता था। इसके ऊपर शायद पाँडु या खड़ी पोती जाती हो, परन्तु इसके चिन्ह अब वहाँ दृष्टिगोचर नहीं होते। यही पद्धति अब भी भारत के गाँवों में प्रचलित है। किसी किसी घर में बहुत बड़े-बड़े मिट्टी के घड़े मिले हैं। ये बर्तन उस समय सन्दूकों का काम देते होंगे। गाँवों के अन्दर इस काम के लिये ऐसे घड़ों का उपयोग कुछ समय पहिले तक जारी था। इस समय भी अन्न, दाल आदि भरने के काम में ऐसे बड़े-बड़े घड़े और मटके लिये जाते हैं। मोहिंजोदाड़ो में लकड़ी की आलमारियाँ भी प्रचलित थीं। ये दीवार के अन्दर घुसाकर लगाई जाती थीं। लकड़ी के सन्दूक भी काम में लाये जाते होंगे। सन्दूकों में लगने वाले हड्डियों के और घोंघों के टुकड़े यत्र तत्र प्राप्त हुए हैं। पलंगों और तिपाइयों का प्रयोग प्रायः प्रत्येक घर में होता था। पलंगों के पायों पर कभी-कभी खुदाई का काम किया जाता था और उन पर पशुओं की आकृतियाँ बनाई जाती थीं। ऐसी शैली आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व तक राजस्थान में प्रचलित थी। प्राचीन मिश्र में भी ऐसी कारीगरी का काम होता था।

रसोई, स्नानागार नाली, आदि : रसोई प्रायः मकानों के आँगन में बनाई जाती थी, परन्तु मकान में अलग बनी हुई रसोइयाँ भी मिली हैं। रसोईघर में एक ऊँचा चबूतरा सा बनाया जाता था। यह लकड़ी, बर्तन, मसाले, शाक आदि रखने के काम में आता होगा। चूल्हे कई प्रकार के बनाये जाते थे। ऐसे चूल्हे बने हुए मिले हैं जिन पर कई चीजें एक साथ पकाई जा सकें। कुछ गोल चूल्हे भी पाये गये हैं जो मेसोपोटामिया की पद्धति के हैं। रसोईघरों में बड़े बड़े बर्तन गाड़ दिये जाते थे। इनमें रसोई का पानी डाला जाता था। बर्तन के पैंदे में एक छोटा सा सूराख रखा जाता था। इसके द्वारा बर्तन का पानी शनैः शनैः भूमि में समा जाता था। रसोईघर नीचे के खण्ड में होते थे, इसलिये इस शैली से काम चल सकता था। प्रत्येक घर में एक स्नानागार होता था। प्रायः शौचालय भी बनाया जाता था। स्नानागार और शौचालय सदैव पास-पास बनाये जाते थे। जिस घर में केवल स्नानागार होता था तो वह सड़क या गली की तरफ बनाया जाता था। जिस घर में दोनों होते थे वहाँ शौचालय सड़क की तरफ बनता था और स्नानागार उसके पास मकान में अन्दर की तरफ। पानी शौचालय में जाता था और शौचालय में से मोरी के द्वारा बाहर निकलता था। इस पानी को निकालने के वास्ते दीवार की गहराई के अन्दर ही नाली बनादी जाती थी। मोरी से पानी को निकालने के लिये दीवार की गहराई

के अन्दर ही नाली बनादी जाती थी। मोरी से पानी इस नाली में आता था, और नाली से सड़क या रास्ते की नाली में गिर जाता था। कभी-कभी दीवार की गहराई में पानी के निकास या उछाल के लिये नाली नहीं बनाई जाती थी। मोरी से पानी सीधा सड़क पर डाल दिया जाता था, परन्तु मोरी में ऐसी कला, चतुराई और निपुणता के साथ ढाल दिया जाता था और प्रत्येक मोड़ पर ऐसी निपुणता से काम किया जाता था कि पानी उछलता या उछटता नहीं था। सड़क पर इस प्रकार से गिरता था कि लोग छिटते नहीं थे। जल निकास के विषय में मोहिंजोदाड़ो के निवासियों ने बहुत उन्नति करली थी। मोरी के पास की दीवार का भाग ऐसी कला और दक्षता से घिस कर चिकना किया जाता था कि ईंटों के जोड़ इस समय लगभग पाँच हजार वर्ष बाद भी स्पष्ट दिखाई नहीं देते। स्नानागार या तो आयताकार होता था या वर्गाकार। इसका फ़र्श बड़ी निपुणता से बनाया जाता था। पहिले पक्के बर्तनों के या ईंटों के छोटे टुकड़े बिछाये जाते थे। उनको कूट कर खूब जमाया जाता था। फिर ऊपर पक्की ईंटें जमाई जाती थीं। ये अत्यन्त चिकनी की जाती थीं और परस्पर सटाने के वास्ते इनमें खाँचे काटे जाते थे। फर्श का ढाल एक कोने में रखा जाता था और इस कोने में मोरी बनाई जाती थी जिसमें से जल बाहर की नाली में जाता था और जिस घर में शौचालय होता था वहाँ स्नानागार का पानी इस मोरी से उसमें पहुँचाया जाता था और फिर उसकी मोरी से बाहर की नाली में। स्नानागार की दीवारों के निम्न भाग की ईंटें इस प्रकार सटाई और जमाई जाती थीं कि कहीं पानी का प्रवेश न हो सके।

नालियों का निर्माण : पानी के निकास के लिये मिट्टी की नालियाँ बनाई जाती थीं। हर एक नाली कई टुकड़ों की बनी हुई होती थी। इन नालियों के भाग मिट्टी के बर्तनों की भाँति अवे में पकाये जाते थे और ये इस प्रकार बनाये जाते थे कि एक भाग दूसरे से भली प्रकार सटाया या दूसरे में सम्यक् रीति से बिठाया जा सके। स्नान करते समय मोहिंजोदाड़ो के निवासी तेल का उपयोग करते थे। इसका लाल स्तर स्नानागारों में जमा हुआ मिला है। स्नानागारों की मोरियों और नालियों में अनेक प्रकार के पदार्थ प्राप्त हुए हैं। मालूम होता है कि उस समय भी बालकों की यह आदत थी कि गुसलघर में अपने साथ खिलौने ले जाते थे। खिलौनों के कितने ही टुकड़े इन नालियों में मिले हैं। इनके अलावा मिट्टी की ऐसी कई चीजें प्राप्त हुई हैं जो मैल छुड़ाने के काम में लाई जाती होंगी।

मकानों का स्वरूप और उसके रूपान्तर : छोटे-छोटे मकानों में दरवाजों में घुसते ही रहने का कमरा आता है परन्तु बड़े बड़े मकानों में यह बात नहीं है। इनमें घुसने पर आँगन आता है और आँगन से फिर रहने के कमरों के प्रवेशद्वार हैं। यह शैली अब तक हमारे देश में प्रचलित है। दिन में आँगन में ही सब काम होता

था। यहाँ प्रायः भोजन बनता था, तरकारियाँ काटी जाती थीं, यहाँ ही महिलाएँ सिलाई का काम करती थीं और यहाँ ही पशुओं को खिलाया पिलाया जाता था। वास्तव में जब ऋतु अनुकूल होती थी तो गृहकार्य प्रायः आँगन में ही किया जाता था। यह शैली हमारे यहाँ अब तक चली आ रही है। यह वर्णन मोहिंजोदाड़ो के निम्न भाग के भग्नावशेषों पर लागू होता है। ऊपर के भाग से प्रतीत होता है कि ज्यों ज्यों कालान्तर और स्थिति परिवर्तन के कारण नगर का अभ्युदय क्षीण होने लगा त्यों त्यों संस्कृति के प्रत्येक अंग में भी क्षीणता आने लगी। एक मकान में कई परिवार रहने लगे जिससे आँगन के हिस्से होने लगे, ज़ीने कई बनने लगे, बड़े कमरों के कई छोटे छोटे कमरे बना लिए गए, एक मकान में कई स्नानागार और शौचालय बन गए और कई मोरियाँ और नालियाँ बनानी पड़ीं। इतना ही नहीं बल्कि पुराना नगर जब गिरने लगा और उस पर नया बसने लगा तो सड़कों और बाजारों की व्यवस्था कुछ बिगड़ने लगी। रास्तों को दबा कर मकान बनाए जाने लगे और सड़कों और बाजारों की सीध में भी कुछ फर्क आने लगा। मालूम होता है कि अभ्युदय के क्षय के साथ ही साथ प्रबन्ध और व्यवस्था में भी हीनता आने लगी थी।

स्नानागारों का लोप : सर्वाधिक आश्चर्य की बात यह है कि मोहिंजोदाड़ो में इतने प्राचीन समय में प्रत्येक मकान के अन्दर जो स्नानागार बनाने की उत्तम शैली प्रचलित हुई थी वह कैसे विलीन हो गई। प्रशस्त और सुविभक्त मार्ग और सुव्यवस्थित जल निकास नगर निर्माण की योजना बनाने वालों का काम है। जब राजनैतिक उथल पुथल के कारण प्रबन्ध बिगड़ने लगता है तो कला, व्यवस्था और उत्तमता की ओर लोगों का ध्यान नहीं रहता। लेकिन व्यक्तिगत आराम को लोग नहीं भूलते। नित्य स्नान करने की विधि हमारे यहाँ आदिकाल से प्रचलित है। उसके निमित्त ही मोहिंजोदाड़ो में स्नानागारों का निर्माण इतनी उत्तम शैली से जारी हुआ था परन्तु काल की अनिर्वचनीय गति से वह विलीन हो गया।

जल निकास की व्यवस्था : सिन्धु संस्कृति का सर्वोत्तम पक्ष है वहाँ की नालियों का निर्माण। इनकी उत्तमता पर मोहिंजोदाड़ो के निवासियों ने जितना ध्यान दिया है उतना गृह निर्माण पर भी नहीं दिया। तत्कालीन संसार में जल निकास की इतनी सुन्दर व्यवस्थित और उपयोगी नालियाँ किसी अन्य नगर में नहीं बनाई जाती थीं। बल्कि इस समय भी कितनी ही अच्छी नगरियों में इतना उत्तम प्रबन्ध नहीं है। मोहिंजोदाड़ो में हरएक सड़क के दोनों ओर ईंटों की नालियाँ बनी हुई हैं। दोनों तरफ के घरों की नालियाँ इन नालियों में मिलती हैं। सड़क की नालियाँ प्रायः एक फुट गहरी और नौ इञ्च चौड़ी बनी हुई हैं। कोई-कोई नालियाँ इससे दुगने नाप की भी बनी हैं। ये साधारण पक्की ईंटों की बनी हुई हैं और ईंटें केवल मिट्टी गारे से जुड़ी हुई हैं। कहीं-कहीं एक प्रकार के चूने का भी उपयोग किया गया है। नालियाँ

ईंटों से ही ढकी हुई हैं लेकिन इन ईंटों को किसी गारे से या चूने से चिपकाया नहीं गया है। यह ढकान सड़क की स्तर से कुछ नीचे है। जब सफाई की आवश्यकता होती होगी तो यह ढकान सरलता से हटाया और फिर वापस जमाया जा सकता होगा। नाली के रास्ते में जब कोई नाला आता है तो उस पर पत्थर रख दिया जाता है या बड़ी लम्बी ईंट रखदी जाती है। इस पर से नाली निकाली जाती है। घरों का बरसाती या गन्दा पानी सीधा इन नालियों में नहीं आने दिया जाता था। प्रत्येक घर की नाली के नीचे एक हौज़ बना होता है। यह हौज़ सम्पन्न घरों के सामने तो ईंटों के बने हुए हैं और जो लोग इतने मँहगे हौज़ नहीं बनवा सकते थे उनके मकानों की नालियों के नीचे एक बड़ा बर्तन गड़ा हुआ है। बरसात का और गन्दा पानी इन हौज़ों में एकत्र होता था। इनका आकार ऐसा होता था कि जब हौज़ तीन चौथाई ऐसे पानी से भर जाता था तो पानी फिर सड़क की नाली में जाने लगता था। इस युक्ति का प्रत्यक्ष और विशेष लाभ यह था कि बरसाती या गन्दे पानी से सड़क की नाली उबक नहीं सकती थी। हौज़ के पेंदे में एक सुराख रखा जाता था। इसके द्वारा हौज़ का पानी शनैः शनैः भूगर्भ में समाया करता था। थोड़े-थोड़े फासले पर नालियों के नीचे बड़े-बड़े हौज़ बने हुए हैं। इनमें उतरने के वास्ते सीढ़ियाँ भी बनी हुई हैं। सफाई करने के वास्ते समय-समय पर इनका उपयोग किया जाता होगा। इनमें उतर कर आदमी बाँस या किसी लम्बी लकड़ी के द्वारा नालियों की सफाई करता होगा। जहाँ एक नाली दूसरी नाली में मिलती है वहाँ भी एक हौज़ बना हुआ है। पहिले नाली का पानी हौज़ में जाता है और फिर दूसरी नाली में उसका प्रवेश होता है। इस युक्ति का भी यही उपयोग है कि पानी उबक कर ऊपर नहीं आ सकता है। जहाँ नाली मुड़ती है वहाँ उसमें चतुराई से घुमाव दिया जाता है जिससे पानी के दबाव, रगड़ और वेग से नाली खराब न होती रहे। अति वृष्टि के पानी के बहाव के वास्ते नगर के बाहर के भाग में पुल बने हुये हैं। इनके मोखे प्रायः चार पाँच फ़ीट ऊँचे और ढाई फीट चौड़े बने हुए हैं। ऊपर ढक्कन दृढ़ और टिकाऊ हैं। साधारणतया पानी नीचे से बह जाता था। जब घोर वृष्टि होती होगी तो ऊपर होकर निकल जाया करता होगा। ये पुल और मोखे निर्माण कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। ये इस बात को द्योतित कर रहे हैं कि मोहिंजोदाड़ो के निवासियों की सभ्यता उन्नत थी।

कुएँ और उनका आकार प्रकार तथा उपयोग : आरम्भ में मोहिंजोदाड़ो सिंधु नदी के दाहिने तट पर स्थित था, परन्तु शनैः शनैः नदी अपना प्रवाह मार्ग बदलती गई। अब यह नगर के भग्नावशेषों से लगभग साढ़े तीन मील की दूरी पर है। नगर के लोग शायद नदी का भी उपयोग स्नान आदि के निमित्त कभी-कभी करते होंगे परन्तु प्रत्येक घर में स्नानागार हैं और घरों में कुए बने हुये हैं, जिससे

प्रकट होता है कि नदी का प्रयोग प्रायः नहीं किया जाता होगा। नागरिकों को स्नानागारों में नहाने का शौक था। अतः यह आवश्यक था कि घरों में कुएं हों। ये कुएं सब पक्की ईंटों के बने हुए हैं। पिछले पाँच हजार वर्षों में सिंधु नदी के बहाव के साथ आई हुई मिट्टी का लगभग बीस फीट का दल जम गया है जिसके कारण कुओं के तल तक नहीं पहुँचा जा सकता। इसके अतिरिक्त पानी भी पूर्वापेक्षा अब अधिक ऊँचा आ गया है। पैंदे तक न पहुँच सकने के कारण कुओं में गिरी हुई चीजें नहीं निकाली जा सकीं वरना तत्कालीन अनेक रोचक बातों का पता लगता। ऐसा जान पड़ता है कि आरम्भ में कुएँ अपने मालिकों के ही काम में आते थे। परन्तु ज्यों-ज्यों नगर की आबादी बढ़ती गई त्यों-त्यों ये निकटनिवासियों के भी काम में आने लगे। कितने ही कुओं तक पहुँचने के लिए बाहर से मार्ग नहीं हैं और कितनों ही के लिए हैं, इससे यह बात प्रकट होती है। कुओं की मोहरी आसपास के धरातल से केवल कुछ ही इञ्च ऊँची है। इससे इनमें गिरने का, विशेषकर बच्चों के गिरने का भय रहता होगा। मोहिंजोदाड़ो के उन्नत नागरिकों के ध्यान में यह स्पष्ट बात न जाने क्यों नहीं आई कि कुए की मोहरी ऊँची होनी चाहिए। ये कुए अति उत्तम बने हुए हैं और ऊपर का फ़र्श सब का सुन्दर और चिकनी तथा चतुरता से सटाई और जमाई हुई ईंटों का बना हुआ है। कुओं की मोहरी पर रस्सियों के चिन्ह भी मिलते हैं। कुओं के पास कुछ चबूतरे भी बने हुए मिलते हैं। यह कल्पना की जा सकती है कि अनेक लोग पुरुष और स्त्रियाँ पानी भरने के लिए आते होंगे और वहाँ अपनी बारी के लिए प्रायः प्रतीक्षा करनी पड़ती होगी। प्रतीक्षा के समय इन चबूतरों पर पानी के बर्तन रख दिए जाते होंगे और स्त्री पुरुष इन पर बैठ जाया करते होंगे। पानी भरने वालों में स्त्रियों की संख्या अधिक हुआ करती होगी और पुरुषों की कम। अतः वहाँ इकट्ठी होकर स्त्रियाँ परस्पर कई घरेलू या सामाजिक विषयों पर बात किया करती होंगी। इस समय जहाँ पानी के नल नहीं लगे हैं और कुओं पर पानी भरने के वास्ते स्त्रियाँ एकत्र होती हैं ऐसे दृश्य दिखाई देते हैं। कुए के घेरे का व्यास कम से कम दो फीट और अधिक से अधिक सात फीट मिला है। जितने कुए मिले हैं सब मकानों के अन्दर मिले हैं, यह आश्चर्य की बात है। या तो पंचायती कुए बनाए ही नहीं जाते थे या शायद संयोगवश कोई ऐसा कुआ मिला नहीं है। वर्तमान भारत में अब उल्टी प्रथा है। घरू कुए प्रायः कम होते हैं। अधिकांश कुए पंचायती ही होते हैं।

एक बड़ा गोदाम : हरप्पा और मोहिंजोदाड़ो में कई उल्लेख योग्य और महत्वपूर्ण इमारतों के खण्डहर मिले हैं जिनसे तत्कालीन संस्कृति तथा जीवन का काफी अनुमान हो सकता है। कुछ इमारतों का जिक्र पहले भी किया जा चुका है परन्तु उनके अतिरिक्त इन नगरों में और भी इमारतों के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं।

हरप्पा में एक इमारत के खण्डहर विशेष उल्लेख के योग्य हैं। ईंटों के डाकुओं ने ईंटें खोद-खोदकर इस इमारत को इतना विकृत कर दिया है कि इसके असली स्वरूप का अब ठीक अनुमान करना कठिन है लेकिन इसकी जो कुछ दीवारें निकली हैं उनसे इसके विस्तार, महत्व और उपयोग का अंदाज़ा किया जा सकता है। दीवारों का एक पूर्वी सिलसिला है और दूसरा पश्चिमी। पूर्वी सिलसिले में बारह दीवारें हैं। सब दीवारें समानान्तर हैं। दो दीवारों के मध्य सत्रह फीट का अन्तर है। फिर पाँच फुट का फासला छोड़ा गया है और उसके बाद फिर पूर्व तक दो समानान्तर दीवारें सत्रह फ़ीट के फासले से बनी हुई हैं। इसके बाद फिर पाँच फुट का फासला छोड़ा गया है। इस प्रकार यह बारह दीवारें बनी हुई हैं। प्रत्येक भीत लगभग बावन फुट लम्बी है और नौ फुट चौड़ी। दीवारों के पूर्वी सिलसिले के बाद इक्कीस फ़ीट ज़मीन बीच में छोड़कर दूसरा पश्चिमी सिलसिला शुरू किया गया है और इसकी भी बारह दीवारें पूर्वी सिलसिले की भाँति बनी हुई हैं। जितना भाग अभी खुद चुका है उससे इस इमारत की उत्तर दक्षिण लम्बाई एक सौ अड़सठ फ़ीट और पूर्व पश्चिम चौड़ाई एक सौ चौंतीस फ़ीट है। परन्तु पूरी खुदाई होने पर ही इसके वास्तविक क्षेत्रफल का पता लग सकता है। इन दीवारों की नींव भी विशेष प्रकार की बनाई गई है। गहराई में दो भीतें खड़ी की गई हैं जो नौ फ़ीट चौड़ी हैं। नींव नौ फीट से भी अधिक चौड़ी है जो होनी ही चाहिये। नींव की समानान्तर भीतें पक्की ईंटों की बनी हुई हैं। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह इमारत किस उपयोग के लिये बनाई गई थी। परन्तु अनुमान लगाया जा सकता है कि यह एक बड़ा गोदाम होगा।

उपाहार गृह : एक दूसरी प्रकार की इमारतें मोहिंजोदाड़ो में प्रायः मुख्य सड़कों के चौराहों (चतुष्पथ) पर मिलती हैं। हरएक इमारत में कई कमरे हैं। इनका फ़र्श पक्की ईंटों का अच्छा जमा हुआ और चिकना तथा साफ बनाया गया है। फ़र्श पर ऐसे खाँचे से बने हुए हैं जैसे प्याले हों। एक इमारत में सड़क से घुसने के वास्ते सीढ़ियाँ भी बनी हुई हैं। इसमें से बड़े कमरे में घुसने के वास्ते एक द्वार भी है। इन इमारतों की रचना, स्थिति और फ़र्श पर प्यालों जैसे खाँचों से यह प्रतीत होता है कि ये उपाहारगृह होंगे। यहाँ लोग खाते-पीते होंगे, संभवतः पान भी करते होंगे और एकत्र होकर इधर-उधर की बातें भी करते होंगे। इसके अतिरिक्त अन्य कोई अनुमान नहीं किया जा सकता कि इस प्रकार की चतुष्पथों पर स्थित इमारतों का क्या उपयोग होता होगा।

एक मंदिर या हाट : मोहिंजोदाड़ो में बौद्ध स्तूप के टीले से दक्षिण की ओर कुछ दूरी पर एक और विशेष प्रकार की इमारत के भग्नावशेष निकले हैं। यह एक विशाल भवन है जो आयताकार है और जिसका प्रत्येक पार्श्व पचासी फ़ीट लम्बा है। इसमें बीस स्तम्भ हैं। प्रत्येक स्तम्भ आयताकार है। बीस स्तम्भ चार पंक्तियों में स्थित

है। इनके अन्तर ठीक नाप से निश्चित किये गये हैं। कालान्तर में नीचे के भागों में बहुत हेरफेर हुए हैं। इसलिए इस भवन के निम्न भाग के प्रारम्भिक स्वरूप का पता लगाना कठिन है। स्तम्भ-पंक्तियाँ उत्तर से दक्षिण को बनाई हैं। पंक्तियों के बीच लगभग साढ़े तीन फ़ीट चौड़ी एक रविश (वीथि) बनी हुई है; इस पर कोई फ़र्श नहीं लगा हुआ है। प्रत्येक रविश के दोनों ओर शायद बेंचें रखी होंगी जो नष्ट और विलीन हो गई हैं। सर जॉन मार्शल ने एक बौद्ध मंदिर से जो चट्टान का बना हुआ है इस इमारत की तुलना की है। उनका कहना है कि इस मन्दिर में बैठने का प्रबन्ध उसी प्रकार का था। अर्थात् भिक्षु लोग पंक्तिबद्ध आमने सामने बेंचों पर बैठा करते थे। इससे हम कह सकते हैं कि यह मोहिंजोदाड़ो का विशाल भवन शायद मन्दिर हो और उपासक लोग पंक्तिबद्ध होकर इसमें बैठा करते हों और इस परम्परा का अनुसरण उपरोक्त बौद्ध मन्दिर के निर्माण में किया गया हो। इस बात को मानने में केवल एक आपत्ति है। वह यह है कि बौद्ध मन्दिर इस शीर्ण भवन के लगभग दो हज़ार वर्ष बाद का बना हुआ है। भवन निर्माण परम्परा इतने काल चल सकती है। इसमें कोई आश्चर्य की तो बात नहीं है, परन्तु इस प्रकार की व्यवस्था वाला बौद्ध मन्दिर भी केवल एक ही मिला है। यह भी कहा जावे तो असंगत नहीं होगा कि यह भवन बाजार के काम में लाया जाता हो और इसीलिये इसका निर्माण हुआ हो। इसकी शैली, रचना और स्थिति से यह अनुमान पुष्ट होता है।

स्नान कुण्ड : मोहिंजोदाड़ो की सर्वाधिक रोचक और मनोहर इमारत बौद्ध स्तूप से पश्चिम की ओर टीले पर मिली है। इसको सर जॉन मार्शल ने खोद कर निकलवाया है। यह सार्वजनिक स्नानागार प्रतीत होता है। पास ही एक सामन्त भवन के खण्डहर हैं, अतः यह भी हो सकता है कि यह सामन्त स्नानागार हो। परन्तु इस युग में इसको सार्वजनिक स्नानागार मानना अधिक रुचिकर होगा। इसका आकार ३९ × २३ फ़ीट है और यह पक्की ईंटों का बना हुआ है। अन्दर प्रवेश करने के वास्ते दोनों ओर अर्थात् चौड़ाई की ओर ज़ीने बने हुए हैं। सीढ़ियों की ऊँचाई आठ इंच है और चौड़ाई नौ इंच। हर एक सीढ़ी के जोड़ के खाँचे बने हुए हैं। इनसे पता चलता है कि सुन्दरता के लिए प्रत्येक सीढ़ी काठ निर्मित सुन्दर तख्ते से ढकी गई होगी। ज़ीने के अन्त में स्नानकुण्ड के अन्दर एक अन्तिम सीढ़ी है जिसकी ऊँचाई सोलह इंच और चौड़ाई सवा तीन फ़ीट है। इसकी लम्बाई स्नानकुण्ड की चौड़ाई के बराबर है। यहाँ बैठकर लोग स्नान करते होंगे, यह प्रत्यक्ष ही है। इससे मिलते-जुलते कुण्ड राजस्थान में विशेषकर कोटा और बूँदी के प्रदेश में अनेक मिलते हैं। स्नानागार के चारों ओर पन्द्रह फ़ीट चौड़ी एक रविश है जो पक्की ईंटों के टुकड़ों की नींव पर बनाई गई है। इस रविश से लगी हुई स्नानागार से पन्द्रह फ़ीट दूरी पर चारों ओर पक्की ईंटों की भीत है। इस भीत के पीछे सात फुट का अन्तर चारों ओर छोड़कर फिर एक भीत

है। अन्दर की दीवार में से इस चतुष्कोण मार्ग में जाने के लिये दरवाजे हैं। बाहर की भीत भी चारों ओर बनी हुई है केवल उत्तर पश्चिम का कोण खाली है। बाहर की दीवार के पास अनेक नाप के कितने ही कमरे बने हुए हैं। स्नानागार के पानी को निकालने के लिये उत्तर पश्चिम के कोण में एक आयताकार सूराख बना हुआ है। पानी भरने के वास्ते पूर्व की ओर एक कुंआ है। इस स्नानागार का तल और चारों ओर की अन्दर की दीवारें ऐसी बनी हुई हैं कि पानी कहीं प्रवेश नहीं कर सकता। मालूम होता है कि तल के नीचे भी धरती ख़ास तरह से भरी होगी और दीवारों के पीछे भी दूसरी चुनाई होगी। जल प्रवेश को रोकने के हेतु किसी उत्तम विधि का प्रयोग अवश्य किया गया होगा। परन्तु यह स्नानागार इतना सुन्दर है और इतनी अच्छी हालत में है कि कहीं किसी भाग को तोड़ कर अन्दर की बनावट देखना किसी पुरातत्ववेत्ता को पसन्द नहीं आया। इस स्नानागार के उत्तर की ओर आठ कमरे बने हुए हैं। प्रत्येक कमरे के साथ स्नानागार है। इन कमरों के ऊपर एक और खण्ड होगा। उसमें जाने के वास्ते सीढ़ियाँ बनी हुई हैं परन्तु ऊपर का खण्ड नष्ट हो चुका है। इन आठ कमरों के स्नानागारों में पानी पहुँचाने के लिये इनके मध्य में एक अंडाकार कुआ बना हुआ है। इस कुए की मेड़ पर रस्सियों के चिन्ह भी हैं। जिससे मालूम होता है कि इसमें से जल खूब खींचा जाता होगा। उपरोक्त स्नानागार और समीपवर्ती आठ कमरों तथा उनके स्नानागारों से प्रतीत होता है कि इस नगर के निवासी स्नान करना शायद एक प्रकार का धार्मिक कृत्य समझते थे। सम्भवतः ये लोग दिन में कई बार या तो स्नान करते हों या हाथ पैर धोया करते हों। यह स्नानागार सामन्त भवन स्नानागार भी हो सकता है। इसके निकट ही जो भग्नावशेष हैं वे भी सामन्त भवन के चिन्ह प्रतीत होते हैं। एक यह भी खयाल है कि इसके निकटस्थ जो आठ कमरे हैं उनमें शायद साधु सन्त रहते हों और उनसे मिलने तथा इस बड़े स्नानागार में स्नान करने के हेतु नगर निवासी आया करते हों। कुछ भी हो यह स्नानागार और उसके पास के कमरे तथा इसके चारों ओर का मार्ग और भीतें निर्माण कला और चतुरता का सुन्दर नमूने हैं और तत्कालीन लोगों की संस्कृति की प्रौढ़ता को प्रकट करते हैं।

सामन्त भवन : इससे थोड़े अन्तर पर एक इमारत है जो सामन्त भवन सा प्रतीत होता है। यह दो सौ फीट लम्बा और एक सौ पन्द्रह फीट चौड़ा है। इसकी दीवारें पाँच फुट तक मोटी हैं। इनकी बनावट बहुत सुन्दर और दृढ़ है। पास ही नौकरों के और धातु का काम करने वालों के मकान बने हुए हैं। कई कमरे गोदाम से मालूम होते हैं। ऐसा अनुमान किया गया है कि प्रासाद किसी नरेश का नहीं बल्कि किसी सामन्त का है जो शायद नरेश की ओर से मोहिंजोदाड़ो का शासन करता हो।

ईंटों और पत्थरों का प्रयोग : मोहिंजोदाड़ो में उपयोगिता, सफ़ाई और स्वच्छता के चिन्ह तो बहुत हैं परन्तु कला के चिन्ह कम दिखाई देते हैं। प्राय: सब मकान, सब कुएँ, सब स्नानागार, सब रसोई घर और सब रास्ते एक जैसे, एक शैली के और एक ही ढंग के हैं। देखने वाला इनकी सराहना अवश्य करेगा परन्तु उसका चित्त इस तमाम रचना और निर्माण को देख कर गद्‌गद् नहीं होता। मोहिंजोदाड़ो को देखकर या हड़प्पा को देख कर यह धारणा हो सकती है कि इस प्रदेश के निवासी केवल ईंटों का ही प्रयोग जानते होंगे, क्योंकि दोनों नगरों में विपुल प्रयोग ईंटों का ही किया गया है। पत्थर कहीं किसी काम में यदि लाया भी गया है तो न उसमें कोई सफ़ाई है और न चतुराई का कोई काम। तो भी यह धारणा भ्रान्ति मात्र है। इन दोनों नगरों में ईंटों का विपुल प्रयोग इसलिये किया गया है कि पास ही कहीं पत्थर की खान नहीं है। बहुत दूर से पत्थर लाने में इतनी सुविधा नहीं थी जितनी ईंटें पकाने में। इसके अतिरिक्त ईंटें भी बहुत टिकाऊ होती हैं। परन्तु सिन्धु प्रदेश के लोग पत्थर का उपयोग जानते थे और करते थे। इस बात के भी अच्छे प्रमाण मिलते हैं। सिन्धु नदी और किरथर पहाड़ के मध्यवर्ती प्रदेश में दो नगर मिले हैं जहाँ से प्राप्त हुए मिट्टी के पात्रों के निर्माण तथा उन पर बने हुए चित्रादि से पता चलता है कि ये नगर भी मोहिंजोदाड़ो के समकालीन हैं। इन नगरों के कोट और मकानों के निम्न खण्ड पत्थर के बने हुए हैं। अभी इन नगरों की खुदाई नहीं हुई है इसलिये इनके विषय में अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि सिन्धु प्रदेश के निवासी ईंटें और पत्थर दोनों का निर्माण के लिये उपयोग करना जानते थे। जहाँ पत्थर मिल सकता था वहाँ पत्थर का उपयोग करते थे और जहाँ पत्थर दुर्लभ था वहाँ ईंटों को काम में लेते थे

शिव प्रतिमायें : सिन्धु प्रदेश निवासी शाक्त धर्मावलम्बी थे। ये लोग शिव और पार्वती की पूजा करते थे। पार्वती की पूजा केवल उमा के रूप में ही नहीं किन्तु नानाविध रूप में भी होती थी। खुदाई में इन देव और देवियों के कोई मन्दिर नहीं निकले। यदि निकले हुए मकानों में मन्दिर होंगे तो उनका ठीक पता भी नहीं लगता। इमारतों के ऊपर के भाग सब क्षीण हो चुके हैं। निम्न खण्ड से पता नहीं लगता कि अमुक मकान किस काम आता था। जो छोटी बड़ी प्रतिमायें अब तक मिली हैं उनमें एक के अतिरिक्त कोई भी मन्दिर में रखने योग्य नहीं है। केवल दो शिव प्रतिमायें ऐसी हैं जो मन्दिर में रखी जा सकती हैं। इनमें भी निश्चित रूप से एक ही अब तक शिवमूर्ति मानी गई है। दूसरी के विषय में अब तक कोई मत प्रकट नहीं किया गया है। जो प्रतिमा शिव की मानी जाती है वह भी आधुनिक प्रतिमाओं की अपेक्षा अत्यन्त छोटी है। परन्तु सब से अधिक महत्त्व की प्रतिमा यही है। इसमें देव नग्न हैं। दोनों पैरों के तलवे मिले हुए हैं। यह एक आसन मुद्रा है। प्रतिमा के

तीन सिर हैं और तीन सींग। चारों ओर हिरण, साँभर, हस्ती, सिंह, भैंसा आदि पशु हैं। यह प्रतिमा पशुपति महादेव की है, परन्तु मोहिंजोदाड़ो के निवासी इस देव को क्या कहते थे इसका पता नहीं है। इस समय शिव के सहस्राधिक नाम हैं। इस प्रतिमा का उस समय या तो इन्हीं में से कोई नाम होगा या कोई अन्य नाम होगा। इस बात का निर्णय तब हो सकता है जब तत्कालीन लिपि पढ़ी जा सके। अधिक सम्भव यही है कि इसका नाम शिव ही होगा। शिव की और भी तीन प्रतिमायें मिली हैं जो इससे मिलती जुलती हैं। एक पत्थर की प्रतिमा मिली है जो ध्यान मुद्रा में उत्तरीय पहिने हुए एक आदमी की है। यह प्रतिमा भी वास्तव में आदमी की नहीं है, किसी देव की ही मालूम होती है और यह देव शिव ही हो सकता है। ध्यान मुद्रा शिव का विशेष लक्षण है। इनके अतिरिक्त और अनेक छोटी-छोटी प्रतिमायें मिली हैं जिन पर पुरुष की आकृति है। पुरुष खड़ा हुआ है। उसके लम्बे बाल हैं। दाढ़ी पीछे को धँसी हुई है। ऊपर के होठ पर बाल नहीं हैं और दोनों हाथ नीचे जाँघों पर लटके हुए हैं। ये सब प्रतिमायें शिव की प्रतीत होती हैं और यदि शिव की नहीं हैं तो किसी अन्य देव की होंगी लेकिन साधारण मनुष्य की नहीं हो सकतीं। यदि साधारण मनुष्यों की होतीं तो भिन्न-भिन्न प्रकार की होतीं; न सब एक ही प्रकार की होतीं और न ध्यानमुद्रा में होतीं। देव प्रतिमायें सब दिगम्बर हैं अर्थात् बिलकुल नग्न हैं।

देवियों की प्रतिमायें : देव-प्रतिमाओं की अपेक्षा हरप्पा और मोहिंजोदाड़ो दोनों नगरों में देवी-प्रतिमायें बहुत बड़ी संख्या में मिली हैं। ये प्रतिमायें नग्न नहीं हैं। कमर के नीचे केवल घुटनों के ऊपर एक प्रकार का लहँगा सा पहिना हुआ है। शिर पर सब प्रतिमाओं के पंखा सा बना हुआ है। पंखे में दो ऐसे खड्डे से बने हुए हैं जिनमें छोटे-छोटे दीपक रखे जा सकें। हाथों में चूड़ियाँ है। ये प्रतिमायें देवियों की हैं, इसमें तो कोई सन्देह नहीं है। उस समय भारतवर्ष, अफ़ग़ानिस्तान, ईरान, अरब, मेसोपोटामिया, मिश्र और मध्य एशिया में देवी पूजा प्रचलित थी और सर्वत्र देवी की प्रतिमायें बनाई जाती थीं तथा उस पर सिन्दूर लगाया जाता था। परन्तु यदि यह निश्चय हो सके कि ये प्रतिमायें किस देवी की हैं तो तत्कालीन धर्म के स्वरूप पर बड़ा प्रकाश पड़ सकता है। पश्चिमी एशिया में देवी की पूजा माता के रूप में की जाती थी, अतः मोहिंजोदाड़ो में भी ये प्रतिमायें माता देवी की ही होंगी। हमको यहाँ शिव की प्रतिमायें मिली हैं अतः ये प्रतिमायें पार्वती की भी हो सकती हैं। या तो सब देव-प्रतिमायें शिव की हैं और देवी प्रतिमायें पार्वती की हैं, या ये प्रतिमायें कई देवियों और कई देवताओं की हो सकती हैं। गहरी उलझन में पड़े बिना और समस्याओं का हल किये बिना इतना तो कहा जा सकता है कि सिन्धु प्रदेश के लोग शाक्त धर्म को मानते थे। शक्ति की उपासना उमा के रूप में होती है और अन्य

अनेकों रूपों में भी। शक्ति कुमारी, माता आदि अनेक रूपों में पूजी जाती है, और उस समय भी यह अनेक रूपों में पूजी जाती होगी।

पशु प्रतिमायें : देव और देवियों के अतिरिक्त उस समय अनेक पशु भी पूजे जाते थे। इनमें बकरा, बैल, मैंढ़ा, भैंसा और हाथी मुख्य हैं। देवों की प्रतिमाओं पर भी पशुओं के सींग बने हुए हैं। कुछ ऐसी प्रतिमायें भी हैं जिनमें दो या तीन पशु साथ-साथ बने हुए हैं। इससे प्रकट होता है कि इन सब की साथ-साथ पूजा की जाती होगी। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वेदों में दो देवों का, तीन देवों का और सब देवों का साथ-साथ आह्वान किया जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि आरम्भ में जो पशु पूजे जाते थे उनका स्थान धीरे-धीरे अन्य देव लेने लगे किन्तु पशुओं को भी भक्तजनों ने त्यागा नहीं। जो पशु आरम्भ में देव थे वे कालान्तर में देवों के वाहन बन गये। या उस समय भी ये पशु देवों के वाहन या प्रतीक होंगे। देवों की प्रतिमायें नहीं मिली हैं और केवल वाहनों की मिल गई हैं। पशु प्रतिमायें कुछ पत्थर की भी बनी मिली हैं। ये प्राय: दस इंच ऊँची हैं। सम्भव है कि ये अलंकरण के निमित्त किसी मन्दिर में लगी हुई हों। देव-प्रतिमाओं के द्वारा मन्दिरों में बाह्य भाग को अलंकृत करने की शैली भारत में बारहवीं शताब्दी तक प्रचलित थी। एक प्रतिमा यहाँ ऐसी मिली है जिसका शरीर और सींग मैंढे जैसे हैं और सामने एक लटकती सी चीज बनी हुई है जो हाथी की सूँड मालूम होती है। इस प्रकार दो वाहनों या देव प्रतीकों को मिलाने की उस समय पद्धति थी। एक बैल की प्रतिमा भी साबित हालत में मिली है। यह शायद शंकर के नन्दी की प्रतिमा है।

खंडित प्रतिमायें : मानव प्रतिमाओं का भी एक पुंज प्राप्त हुआ है परन्तु मूर्तियाँ सब खण्ड-खण्ड हैं जिससे यह पता नहीं लगता कि इसका असली स्वरूप क्या था। पशु और मानव मूर्तियाँ प्राय: सब अति खण्डित अवस्था में प्राप्त हुई हैं जिससे यह अनुमान होता है कि ये मूर्तियाँ काल और ऋतु के प्रकोप से स्वतः टूटी हुई नहीं हैं बल्कि प्रयास से खण्डित और चूर्णित हो गई हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इस नगर पर कभी किसी ऐसे लोगों ने आक्रमण किया हो जो प्रतिमा पूजन को या विशेष प्रकार की प्रतिमाओं के पूजन को हीन और अवांछनीय समझते हों। इन लोगों ने सम्भवत: ये सब मानव मूर्तियाँ और पशु प्रतिमायें खण्डित की होंगी। मूर्ति-पूजा और मूर्ति विरोध अति प्राचीन धर्मधारायें प्रतीत होती हैं। शायद दोनों विचारधाराओं का पारस्परिक विरोध भी सनातन है। पुरातत्व के पंडितों का ऐसा अनुमान है कि बलूचिस्तान की पर्वतीय जाति ने शायद कभी आक्रमण करके यह विनाश किया हो।

वृक्षों की और मिश्रित प्रतिमायें : सिन्धु सभ्यता के धर्म में मनुष्य, पशु और वृक्ष ओत-प्रोत थे। वास्तव में मनुष्य अपनी परिस्थिति से ही देवों की परिस्थिति

का अनुमान करता है। जो उसको अपने चारों ओर दिखाई देता है उसको ही वह धार्मिक विचारों के क्षेत्र में देखता है। इस प्रकार मनुष्य देवों का स्रष्टा है। मनुष्य, पशु और वृक्ष सब परस्पर अन्योन्याश्रित हैं ही, इसलिये देव, पशु और वृक्ष भी अन्योन्याश्रित समझे जाते थे। ऐसे विचार वैदिक काल में भी थे। वेदों में पशुओं और वृक्षों तथा वनस्पतियों को नमस्कार किया गया है और इनसे शान्ति की प्रार्थना की गई है। वृक्षों और पशु-देवों की सम्मिलित प्रतिमायें मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा में कई प्राप्त हुई हैं परन्तु इनमें दो तीन विशेष उल्लेख के योग्य हैं। एक छोटी तथा सुन्दर प्रतिमा में पीपल का वृक्ष दिखाया है। इसके नीचे एक देवी है जिसके सिर पर दो सींग हैं और सींगों के बीच मस्तक से एक पुष्पित या फलवती शाखा निकलती हुई बनी है। इसके हाथ में कई चूड़ियाँ हैं। सामने ठीक इसी प्रकार की दूसरी प्रतिमा है। यह पहली प्रतिमा को नमस्कार कर रही है या उसकी पूजा कर रही है। दूसरी प्रतिमा के पीछे समीप ही एक बकरा खड़ा हुआ है जिसका चेहरा मनुष्य का सा बना हुआ है। इन सब के नीचे सात प्रतिमायें और बनी हुई हैं। इनके सींग नहीं हैं, परन्तु सिर पर डाली बनी हुई है। सातों प्रतिमायें उपरोक्त दोनों प्रतिमाओं के विमुख देख रही हैं। यह दृश्य सब शाक्त सम्प्रदाय का है। इसका भाव यह प्रतीत होता है कि एक उपासिका देवी की पूजा कर रही है। देवी का निवास पीपल के वृक्ष में है। पीपल के वृक्ष को देव निवास और पवित्र मानने की परम्परा भारत में अब तक प्रचलित है और इस प्रतिमा से प्रकट होता है कि यह अति प्राचीन परम्परा है। बकरा वध के लिये खड़ा है। अज की बलि भी देवी को अति प्राचीन काल से प्रिय है। उपासकों को भी अजबलि देने में सुविधा रहती है। पह विधि भी भारत में अति प्रचलित है। सात प्रतिमायें सप्तमातृकाओं की हो सकती हैं। देवी के मस्तक पर जो एक डाली बनी हुई है वह प्रकट करती है कि देवी सद्यफलप्रदा है। सींग तत्कालीन विशेष विश्वास के द्योतक माने जा सकते हैं। इन प्रतिमाओं में नीम वृक्ष की प्रतिमायें भी बहुत मिलती हैं। इसके अतिरिक्त अन्य वृक्ष भी पवित्र माने जाते होंगे। वर्तमान भारत में वट वृक्ष, शमी वृक्ष, तुलसी का पौधा और राजस्थान में एक झाड़ी जिसको "सेंह खेंजड़ी" कहते हैं, पवित्र माने जाते हैं। आमले के पेड़ को भी इसी कोटि में मानना चाहिये। मोहिंजोदाड़ो के निवासी इन वृक्षों को या अन्य इनसे मिलते जुलते वृक्षों को पवित्र मानते होंगे। नीम के वृक्ष के नीचे भी प्रधान प्रतिमा के साथ उपरोक्त सप्तमातृकाओं की प्रतिमायें मिलती हैं।

यम की प्रतिमा : एक और प्रतिमा रोचक और विशेष उल्लेख के योग्य है। इसमें कोई वृक्ष बना हुआ है। यह पता नहीं लगता कि यह क्या वृक्ष है। इसके नीचे एक सुर प्रतिमा है जिसके माथे पर दो सींग और उनके मध्य में एक पुष्पवती डाली बनी हुई है। वृक्ष के चारों ओर एक ऊँचा गोल चबूतरा बना हुआ है। उपास्य वृक्ष

के तने के चतुर्दिक इस प्रकार का चबूतरा बनाने की प्रथा हमारे यहाँ अब भी यत्र तत्र प्रचलित है। इस प्रकार के चबूतरों पर शाक्त देवी देवों की प्रतिमायें स्थापित की जाती हैं। मोहिंजोदाड़ो की इस प्रतिमा से प्रकट होता है कि पाँच सहस्र वर्ष पूर्व भी हमारे देश में यह विधि प्रचलित थी। यह प्रतिमा एक भैंसे की है जो अपने सींगों पर किसी मनुष्य को उछाल रहा है। पुराणों में महिष यम का वाहन माना जाता है। इस प्रतिमा में या तो यह यम का वाहन है या स्वयं यम है।यह मनुष्य के जीवन से खेल करता हुआ दिखाया गया है। इसी से प्रकट है कि यह मृत्यु का प्रतीक है। इसी प्रकार की अन्य छोटी-छोटी अनेक प्रतिमाओं पर वृष, पशु, देव और देवियाँ विभिन्न मुद्राओं में बने हुए हैं। एक प्रतिमा विचित्र है। यह देवी की प्रतिमा है जिसके माथे पर सींग हैं परन्तु शरीर, पीछे के पैर और पूंछ शेर की सी हैं। हनुमान, गरुड़, कागभुसंड और कच्छपावतार, मत्स्यावतार, नृसिंहावतार आदि की प्रतिमाओं से इनकी तुलना करने पर विदित होता है कि मानव और पशु को मिलाने की तथा उनमें अलौकिक शक्ति की कल्पना करके उनको पूजने की प्रवृत्ति संसार के इतिहास में अति प्राचीन है। यह प्रत्यक्ष ही है कि उपरोक्त देवी पार्वती या उमा का आदि रूप है। शनैः शनैः देवी का स्वरूप बदलते बदलते वह उमा बन गई और सिंह उसका वाहन मात्र रह गया। मोहिंजोदाड़ो की प्रतिमा में स्त्री और सिंह दोनों को ओतप्रोत कर रखा है। इससे भी अधिक प्रारम्भिक स्वरूप कुछ और ही होगा। सम्भवतः यह देवी आरम्भ में केवल सिंह ही होगी। पशु और मानव को सम्मिश्रित करके पूजने का कारण भी स्पष्ट ही है। देव विभूति की कल्पना करते समय समझता है कि देव में बुद्धि तो मनुष्य से अधिक है ही परन्तु उसमें शारीरिक शक्ति भी अपार है। वह जानता है कि सिंह, हाथी, बैल, मैंढा आदि पशुओं में मनुष्य की अपेक्षा अपार बल है। इसलिये यह पशु शक्ति को देवशक्ति का प्रतीक मानने लगता है और बुद्धि तथा बल दोनों को एक करने के वास्ते वह मानव और पशु को घुला मिला देता है।

घड़ियाल की प्रतिमा : जल-जन्तुओं में घड़ियाल भी पवित्र माना जाता था। इसकी अनेक छोटी प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं। पुरातत्व के पंडितों का मन्तव्य है कियह नदी का अधिष्ठाता देव माना जाता होगा। यह बात कोई कल्पनातीत या निराधार नहीं है। मिश्र में इस्लाम के प्रचार से पहिले घड़ियाल पवित्र माना जाता था। हमारे यहाँ मकर एक राशि का नाम है और उसकी आकृति घड़ियाल की ही बनाई गई है। सिन्धु प्रदेश में सिन्धु नदी पर ही जीवन निर्भर था। इसलिये इसको पवित्र मानने में कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आर्य लोग भी नदियों को पवित्र मानते थे जो सरस्वती नदी के सूक्तों से प्रकट होता है। मकर या घड़ियाल मोहिं-जोदाड़ो में नदी का प्रतीक या अधिष्ठाता माना जाता होगा। कालान्तर में नदी शायद

एक देवी मानी जाने लगी होगी और मगर उसका वाहन बन गया होगा। इस समय हम मगर को गंगा का वाहन मानते हैं। देवियों में गंगा को पहिचानने की विधि ही यही है कि वह प्रतिमा में मकर पर खड़ी हुई दिखाई जाती है या मकर उसके पैरों के निकट बना दिया जाता है।

सर्प प्रतिमायें : मोहिंजोदाड़ो के लोग सांप को भी शायद पूज्य या कम से कम पवित्र मानते थे। एक देवी की प्रतिमा में उपासकों के पीछे सांपों की भी प्रतिमायें बनी हुई हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो ये भी उपासकों की भाँति देवी से प्रार्थना कर रहे हों। एक मिट्टी की मूर्ति में सांप को एक मनुष्य दूध पिलाता हुआ सा दिखाया है। मिट्टी के बर्तनों के ऊपर भी साँपों के चित्र बने हुए हैं। सांपों की पूजा हमारे देश में इस समय भी होती है।

सिंधु और मेसोपोटामिया में समानतायें : कुछ ऐसे दृष्टान्त भी उल्लेख के योग्य हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि सिन्धु प्रदेश के धर्म में और मेसोपोटामिया के धर्म में अनेक समानातायें थीं। एक प्रतिमा में एक सींगवाला आदमी जिसका आधा शरीर बैल का है एक सिंह से लड़ रहा है। यह दृश्य मेसोपोटामिया के धार्मिक विचारों में भी मिलता है। दूसरी प्रतिमा में एक आदमी दो सिंहों से लड़ रहा है और तीसरी में एक पुरुष किसी वृक्ष पर बैठा हुआ है और नीचे एक सिंह खड़ा हुआ उस पुरुष की ओर ऐसे देख रहा है मानो उसके नीचे उतरने की प्रतीक्षा कर रहा हो। ऐसी और इनसे मिलती जुलती प्रतिमायें मेसोपोटामिया में भी उपलब्ध हुई हैं जिससे विदित होता है कि मोहिंजोदाड़ो और मेसोपोटामिया के निवासियों के अनेक धार्मिक विचार में तथा पूजा विधि में कई समानतायें थीं। विद्वानों का यह मत है कि ये समानतायें पारस्परिक सम्पर्कजन्य नहीं थी। इनका कारण यह था कि दोनों प्रदेशों के निवासी किसी एक स्थान से आये होंगे और इनके पूर्वजों के एक ही धार्मिक विचार होंगे। जब वे लोग अपना आदि निवासस्थान छोड़कर चले तो इनमें कुछ मेसोपोटामियां में जा बसे और कुछ भारत में आ गये।

देवों के जलूस : कुछ प्रतिमाओं से जो मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा दोनों स्थानों से प्राप्त हुई हैं ऐसा प्रकट होता है कि पशुदेवों के जलूस निकाले जाते थे। प्रतिमाओं में पुरुष किसी पशु को अपने माथे पर ले जाता हुआ या कन्धे पर ले जाता हुआ बना हुआ है। मनुष्य जिस पर मुग्ध होता है उसको उठाना चाहता है और उसे सबको दिखाना चाहता है। यह उसकी सहज प्रकृति है। जब पशु देव माने जाते थे तो उनके जलूस निकालना भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जलूस इस समय भी निकालते हैं और मध्यकाल तथा प्राचीन काल में भी निकाले जाते थे। बौद्ध काल में जलूस निकालने का बहुत प्रचार हो गया था। जब फाहियान चीनी यात्री चौथी शताब्दी में बौद्ध धर्म का अध्ययन करने के लिये तथा बुद्ध भगवान के जीवन से सम्बन्ध रखने

वाके पवित्र स्थानों को यात्रा करने आया तो मध्य एशिया से दक्षिण भारत तक प्रतिमा के कई जलूस देखे। इस समय जगदीशपुरी में रथ यात्रा का बहुत बड़ा जलूस निकाला जाता है। कालान्तर में भेद केवल देवों के स्वरूपों में हुआ है। शेष विधि तद्वत है।

सूर्योपासना : कुछ प्रतिमायें ऐसी भी प्राप्त हुई हैं जो सूर्य की मालूम होती हैं। बीच में कुछ चक्र सा है और एक प्रतिमा में उसके चारों ओर छः पशुदेवों की मूर्तियां इस शैली और चतुरता से बनाई हैं कि किरणें प्रतीत हों। यह भी खयाल रक्खा गया है कि छः देवों में कोई छोटा बड़ा नहीं दीखे और सब मिलकर किरणें मालूम हों। अन्य प्रतिमाओं में देवों की संख्या कम है। एक प्रतिमा में चक्र के चारों ओर शुद्ध किरणें ही बनी हुई हैं और देव केवल एक। भाव यह प्रकट होता है कि सूर्य महादेव है और अन्य देव सब उसकी अपेक्षा छोटे हैं तथा सब देवों का उसमें समावेश हो जाता है। ऋग्वेद के कई सूक्तों में सूर्य की स्तुति की गई है और उसकी किरणों का वर्णन किया गया है। सूर्य की उपासना तत्कालीन समस्त जगत में की जाती थी और भारत में तो मोहिंजोदाड़ो के काल से अब तक की जाती है।

प्रतिमाओं के स्थान : मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा में मन्दिरों के भग्नावशेष प्राप्त नहीं हुए हैं परन्तु जब प्रतिमायें बनती थीं तो मन्दिर भी अवश्य बनाये जाते होंगे। छोटी-छोटी सैकड़ों प्रतिमायें नौ दस इञ्च तक ऊँची हैं और ये मन्दिरों में स्थापित किये जाने योग्य हैं। बहुत सी प्रतिमायें एक ही स्थान पर अति खण्डित की हुई पड़ी मिली हैं। ये किसी आक्रमणकारी ने तोड़कर डाली होंगी। शायद निकट ही कोई मन्दिर होगा जिसका रूपान्तर हो गया है और इसलिये वह पहचाना नहीं जा सकता। परन्तु छोटी-छोटी मूर्तियाँ तो लोग अपने अपने घरों में ही रखते होंगे। इन मूर्तियों के पृष्ठ भाग चिकने नहीं हैं। योंही अनघड़ छोड़े हुए हैं, जिससे पता चलता है कि निवास स्थानों में ये प्रतिमायें ताकों या अलमारियों में रखी जाती होंगी। वर्तमान भारत में भी सुर प्रतिमायें घरों में रखने का प्रचार है और जो प्रतिमायें इस प्रकार घरों में रखी जाती हैं उनका आकार प्रकार अन्य प्रतिमाओं की अपेक्षा अति छोटा होता है। इनको या तो ताक में स्थापित किया जाता है या इसी काम के लिये बने हुए सुरसिंहासन में रखा जाता है। यह विधि भी मोहिंजोदाड़ो काल की और सम्भवतः उससे भी पहिले की आयी हुई प्रतीत होती है।

शिवलिंग और योनिपट्ट : हरप्पा और मोहिंजोदाड़ो में अगणित शिवलिंग और छोटे छोटे योनिपट्ट भी मिले हैं। इनके विषय में अधिक विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है। पिछली पंक्तियों से स्पष्ट है कि मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा के निवासी शाक्त धर्म को मानते थे और शिव तथा भवानी की पूजा करते थे। शिव की सूक्ष्म और साधारण प्रतिमा लिंग रूप में बनाई जाती है

और इसको योनीपट्ट में स्थापित किया जाता है। पश्चिमी विद्वानों ने इन दोनों शब्दों के आधार पर एक शास्त्र खड़ा कर दिया है और इस पूजा विधि का न जाने क्या क्या अर्थ करते हैं और आकाश पाताल एक कर देते हैं।

ताबीजों का उपयोग : सिन्धु देश में ताबीजों के प्रयोग का भी प्रचार था। ऋग्वेद युग में ताबीज बनाये जाते थे और अनेक रोगों तथा विपत्तियों के निवारणार्थ इनको शरीर के किसी भाग पर, विशेषतः कलाई या गले में, बाँधा जाता था। अथर्ववेद के काल में इनका प्रचार बहुत बढ़ गया था। वास्तव में मध्यकाल तक इनका उपयोग समस्त संसार में किया जाता था। अथर्ववेद में ताबीज का नाम मणि है। मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा में भी ये ताबीज इसी काम में आते होंगे। मिट्टी, ताँबा, घोंघा और अन्य अनेक मिश्रित चीजों के ताबीज यहाँ मिले हैं। उन पर देव, देवियाँ तथा पशुओं की और वृक्षों की प्रतिमायें हैं। कुछ दो चार अक्षर भी लिखे हुए होते हैं। प्रत्यक्षतः ये अक्षर मन्त्र तन्त्र होंगे। यदि ये निर्विवाद रूपेण पढ़े और समझे जा सकें तो तत्कालीन विचार और भावनाओं का पता लग सकता है। एक भाग में प्रायः एक ही प्रकार के ताबीज मिलते हैं और दूसरे भाग में दूसरी प्रकार के। इससे प्रकट होता है कि विभिन्न भागों में अलग अलग प्रकार के ताबीज बनाये जाते थे और मोहल्ले के निवासी उनका ही प्रयोग करते थे।

धार्मिक नृत्य : कुछ प्रतिमाओं से यह भी विदित होता है कि देवी देवों के सामने या विशेष धार्मिक कृत्यों के अवसरों पर उस समय आदमी नाचा करते थे। एक प्रतिमा में एक पुरुष ढोल बजा रहा है और उसके सामने कुछ पुरुष ढोल की ताल पर नाच रहे हैं। यह नाच धार्मिक नाच मालूम होता है। दूसरी प्रतिमा में एक पुरुष एक व्याघ्र के सामने ढोल बजाता हुआ नाच रहा है और तीसरी प्रतिमा में किसी देव के सामने एक महिला नृत्य कर रही है। यह भी संभव है कि प्रथम दो प्रतिमाएँ केवल लोक नृत्य की हों परन्तु तीसरी प्रतिमा तो अवश्य ही धार्मिक नृत्य की है। इसमें कोई विचित्र बात भी नहीं है। पुराणों में और प्राचीन प्रतिमाओं में स्पष्टतया शिव ताँडव बतलाया गया है। कुछ शाक्त देवियाँ भी विशेष प्रकार का नृत्य करतीं थीं। सारे संसार में एक समय धार्मिक नृत्य प्रचलित था। शाक्त लोग सदा से ही धार्मिक नृत्य करते आये हैं।

सिंधुकाल की परम्परायें : हरप्पा और मोहिंजोदाड़ो के धर्म की प्रायः सब बातें वर्तमान भारत में विद्यमान हैं। शिव और पार्वती की इस समय पूजा होती है। बकरे की बलि दी जाती है। सिंह दुर्गा का वाहन हो गया है। गणेश हाथी के रूप में पूजा जाता है। सूर्य का तो पुराण ही बन गया है और उसकी प्रतिमा भी किरणों से ज्वाजल्यमान और प्रकाशमान बनाई जाती है। वैसे रथ में स्थित सूर्य की भी प्रतिमा बनती है। प्रतिमाओं को मन्दिरों में रखा जाता है और छोटी प्रतिमाओं को

घर में स्थापित कर दिया जाता है। ये सब विचार धारायें और प्रवृत्तियाँ सिंधु-संस्कृति काल से आई हुई हैं परन्तु तत्कालीन कुछ धार्मिक विशेषतायें विलुप्त भी हो गई हैं। अब किसी देव या देवी के सींग नहीं होते। अब पशुओं की सर्प के अतिरिक्त शुद्ध देवों के रूप में पूजा नहीं होती। जो पशु पहिले देव या देवियाँ थे वे सब अब देव देवियों के वाहन बन गये हैं। परन्तु यह भी क्या कम आश्चर्य की बात है कि पाँच हज़ार वर्ष पुराने विचार कुछ संस्कृत रूप में अब भी हम लोगों में प्रचलित हैं।

पुरुष और स्त्रियों के वस्त्र : उस युग के लोग वस्त्र बहुत कम पहिनते थे। स्त्रियाँ एक प्रकार का लहंगा पहिनती थीं जो घुटनों से ऊपर रहता था। सिर पर एक पंखा जैसी कोई चीज़ रखतीं थीं। यह या तो सिर ढकने के लिये या अलंकार के लिये होती होगी और कपड़े की बनाई जाती होगी। सिर के बाल इस चीज़ से ढके होते थे। इसलिये प्रतिमाओं से पता नहीं चलता कि स्त्रियाँ बाल किस भाँति और कितने प्रकार से संवारती थीं। पुरुषों की प्रतिमायें बिलकुल नग्न बनी हुई हैं परन्तु ये सब देव प्रतिमायें हैं। दिगम्बर जैन प्रतिमाओं को देखकर यह अनुमान करना कि तीर्थंकरों के अनुयायी भी नंगे रहते होंगे, असंगत धारणा होगी। अतः तत्कालीन पुरुष कुछ कपड़ा अवश्य पहनते होंगे। दो प्रतिमायें ऐसी मिली हैं जिनमें पुरुष कुछ चिपका हुआ कपड़ा पहिने हुए हैं। यह या तो एक प्रकार की बिरजिस है या विशेष प्रकार से बंधी हुई धोती। सिंधु प्रदेश में उस समय रुई पुष्कलता से उत्पन्न होती थी। अतः बहुत करके लोग धोतियाँ ही पहिनते होंगे। यह आश्चर्य की बात है कि वे लोग ऊन क्यों नहीं बनाते थे। शायद यह कारण होगा कि उस समय मेसोपोटामिया तथा एमन में ऊन के कपड़े बहुत बनते थे। इसलिये सिन्धु घाटी में भी ऊनी कपड़े वहाँ से मंगवा लिये जाते होंगे।

केश विन्यास : यहाँ देवियों के सिर पर पंखे के आकार की जो एक पोशाक होती थी वैसी ही पोशाक मंगोलिया की महिलायें उस युग से बहुत काल बाद तक पहिना करती थीं। यह वहाँ की प्राचीन मूर्तियों से मालूम होता है। सिन्धु प्रदेश के पुरुष सिर पर कुछ नहीं पहिनते थे। इससे उनके बाल संवारने के विविध ढंगों का पता लग सकता है परन्तु स्त्रियों का केस विन्यास किस प्रकार होता था इसका पता नहीं लगता। सिन्धु प्रदेश में पुरुष अपने बालों को कई प्रकार से संवारा करते थे। आजकल की भाँति बालों के मध्य सीधी माँग बनाई जाती थी। बाल कटवाये तो जाते थे परन्तु लम्बे इतने रखे जाते थे कि उनको विशेष प्रकार से संभालना पड़ता था। माथे के पीछे चोटी गूंथी जाती थी या जूड़ा बना लिया जाता था। कोई लोग बालों की चोटी बना कर उसका जूड़ा पीछे न रखकर माथे के ऊपर रखा करते थे। एक तरीका यह भी था कि माँग के दोनों तरफ़ के बाल दोनों कानों तक लटका कर हरेक कान के पास उनकी कुंडली अंगूठी के आकार की सी बनादी जाती थी।

इससे दोनों कान ढक जाते थे और बाल दोनों ओर लटके रहते थे। बालों को कोई कोई घुंघर वाले भी बनाते थे। इस समय पीछे या ऊपर जूड़ा बाँधने की विधियाँ तो कुछ साधुओं में प्रचलित हैं परन्तु पीछे चोटी रखने की या दोनों कानों पर बालों के लटकाने की शैलियाँ लुप्त हो गई हैं। उस समय अन्तिम दोनों विधियाँ सुमेरिया में प्रचलित थीं।

दाढ़ी की शैलियाँ : मोहिंजोदाड़ो के लोग मूछें नहीं रखते थे। प्रतिमाओं में मूछें सब की साफ हैं। परन्तु उस युग में दाढ़ी बढ़ाने का शौक था। यह भी बहुत लम्बी नहीं रखी जाती थी। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार दाढ़ी बनवाने का रिवाज था। सुमेरिया के लोग दाढ़ी खूब लम्बी रखते थे परन्तु सिन्धु प्रदेश में दाढ़ी बहुत नहीं बढ़ने दी जाती थी। तो भी कोई लम्बी दाढ़ी रखता था और कोई छोटी। इसको संवारने की भी दो तीन शैलियाँ थीं। कोई इसको पीछे घुसा लेता था और कोई आगे लटका लेता था और कोई मामूली छोटी सी रखता था और बाकी कटवा देता था। केवल ठोढ़ी के ऊपर कुछ थोड़े से बाल रखने का और शेष बाल उस्तरे से साफ करवा देने का भी रिवाज़ था।

स्त्रियों के अलंकार : महिलाओं के अलंकार कई प्रकार के बनते थे। गले के अलंकार कई भाँति के थे। एक अलंकार विशेष उल्लेख के योग्य है। यह एक प्रकार का तंग चिपका हुआ कालर सा मालूम होता है जिससे नीचे से ऊपर तक सब गर्दन ढकी रहती थी। यह कालर वास्तव में अनेक हंसलियों या चूड़ियों को परस्पर एक के ऊपर दूसरी को जोड़कर बनाया जाता था। इस प्रकार का ज़ेवर इस समय भी दक्षिण पंजाब के गाँवों में स्त्रियाँ पहनती हैं लेकिन वे सब एक ही चद्दर का बना हुआ होता है जो चौड़ा करके गले में पहन लिया जाता है। वह अनेक हंसलियाँ या चूड़ियाँ मिलाकर नहीं बनाया जाता। मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा में अलंकारों से भरे हुए दो तीन चाँदी के घड़े मिले हैं। कुछ ज़ेवर ऐसे ही भूमि में गड़े हुए प्राप्त हुए हैं। वे ज़ेवरात, सोने के, चाँदी के, सोना चाँदी के मिश्रण के, ताँबे के और राँगे के बने हुए हैं। सोने के सिवाय इन्हीं धातुओं के बर्तन भी बनते थे। अलंकार कई प्रकार के हैं, जैसे करधनी, हार, माला, ब्रेसलेट, चूड़ी, बालों के पिन, कानों की बालियाँ, नाक की बुलाक, अंगूठी, पैर के ज़ेवर आदि। इन अलंकारों में करधनी बड़ी कला और कारीगरी से बनी हुई है। हार और मालायें भी कई प्रकार की और उत्तम हैं। अन्य अलंकार भी तत्कालीन कला-प्रेम के सुन्दर उदाहरण हैं। वास्तव में इनमें अनेक ज़ेवर आधुनिक जेवरों की तुलना में भी उत्तम माने जा सकते हैं। केवल ज़ेवरों से भी तत्कालीन संस्कृति की उन्नति का हम अनुमान कर सकते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि हिन्दू युग की मूर्तियों में स्त्रियों के नाक में कोई ज़ेवर नहीं है। दशवीं शताब्दी तक की प्रतिमाओं में यह ज़ेवर नहीं दिखाई देता है और न किसी की नाक ही छिदी हुई प्रतीत

होती है। उसके पश्चात् स्त्रियाँ नाक में कई प्रकार की नथें, बुलाकें और लौंग आदि पहनने लगी हैं। जान पड़ता है कि नाक के ज़ेवर का रिवाज भारत के पश्चिम भाग में ही रहा हो। अन्दर के भाग में यह नहीं घुसा और जब मुसलमान अधिक संख्या में भारत में आये तब इस ज़ेवर का रिवाज़ उनकी औरतों को देखकर यहाँ भी जारी हो गया।

बटन, दर्पण और काजल : मोहिंजोदाड़ो में जैसे पैर के ज़ेवर मिले हैं या जैसे वहाँ उपलब्ध होने वाली प्रतिमाओं में बतलाये हुए हैं वैसे ज़ेवर शिमला की तरफ पहाड़ी स्त्रियाँ इस समय भी पहिनती हैं। इन्हीं के सदृश ज़ेवर क्रीट और यूनान में भी पहिने जाते थे। कंघे कई प्रकार के बनाये जाते थे और इनको बालों में लगाने की प्रथा थी। यह प्रथा पंजाब में अब तक प्रचलित है। हाथी दांत के भी सुन्दर कंघे बनाये जाते थे जिनके दोनों तरफ दांते होते थे। इनके दोनों छोरों पर एक प्रकार का अलंकरण होता था और मध्य भी सुन्दरता के लिये कलात्मक वृत्त बनाये जाते थे। कंघे लम्बे, चौकोर और तिकोने आकारों के बनाये जाते थे। बटन भी कई प्रकार के होते थे और तांबा, राँगा आदि कई चीज़ों के बनाये जाते थे। इनमें पीछे की तरफ आर पार दो सुराख़ बने हुए होते हैं जिनमें तागा डालकर ये कपड़े से सीं दिये जाते होंगे। जिस प्रकार के बटन सर्वाधिक संख्या में यहाँ मिले हैं ठीक वैसे ही बटन, प्राचीन समय में माल्टा द्वीप और पुर्तगाल तथा दक्षिण फ्रान्स में भी बनाये जाते थे। इन समानताओं से पता चलता है कि संसार सदा से ही एक है और मानव संस्कृति के विकास में विभिन्न केन्द्रों में कोई विशेष विषमतायें नहीं रही हैं। सिन्धु प्रदेश में दर्पणों का भी प्रयोग होता था। मोहिंजोदाड़ो में तीन दर्पण प्राप्त हुए हैं। उनमें एक बिलकुल छोटा और दो बड़े आकार के हैं। ये राँगे के चौखटों में जड़े हुए हैं और इनमें लकड़ी के हेंडल लगे हुए थे जो नष्ट हो गये हैं। चौखटे ऊँचे उठे हुए हैं जिससे दर्पण पर रगड़े न लग सकें। उस समय दर्पणों का आम तौर पर उपयोग किया जाता होगा। इनके बिना न तो पुरुष सुन्दर बाल संवार सकते थे, न स्त्रियाँ ही नाना प्रकार के आभूषण धारण कर सकती थीं और न कई प्रकार के उबटन चेहरे पर लगा सकतीं थीं। कितनी ही काजल की डिब्बियाँ और सलाइयाँ उपलब्ध हुई हैं। मालूम होता है कि स्त्रियाँ ही नहीं बल्कि पुरुष भी अपने नेत्रों में काजल डाला करते थे। इसी प्रकार की डिब्बियाँ सुमेरिया में भी प्राप्त हुई हैं। वहाँ इनमें उबटन रखा जाता था। शीशे का कारबोनेट हरप्पा और मोहिंजोदाड़ो दोनों स्थानों में मिला है। यह गौरवर्ण करने के वास्ते चेहरों पर लगाया जाता होगा और शायद बालों को धोते समय भी इसका उपयोग किया जाता होगा। सम्भव है कि यह आँख के मरहम के लिये भी काम में लिया जाता हो। इस कारबोनेट का उपयोग उस समय यूनान और चीन में भी किया जाता था। मोहिंजोदाड़ो में सीनेवार नामक पदार्थ का भी

उपयोग चेहरे के उबटन के लिये किया जाता था। यह एक हरा पदार्थ था जो यत्र तत्र किंचित मात्रा में मिलता है शायद उस युग में काजल के काम में आता था। इस प्रकार के हरे पदार्थ से मिश्र में भी काजल बनाया जाता था। हरी चीज़ स्वभावतः आँखों को अच्छी लगती है। शायद इसीलिये हरा काजल बनाने की प्रथा चली हो।

चित्र कला : कला और कारीगरी में सिन्धु प्रदेश के निवासियों ने बहुत उन्नति की थी। इस विषय में मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा दोनों समोन्नत थे। जैसे नमूने मोहिंजोदाड़ो में मिलते हैं वैसे ही हरप्पा में भी उपलब्ध हुए हैं। दोनों स्थानों पर पत्थर और मृत्तिका का काम बनता था परन्तु पत्थर के काम में इन लोगों ने कोई उल्लेखनीय उन्नति नहीं की थी। मिट्टी के काम में और उसको ऊपर से अलंकृत करने में इन्होंने बड़ी दक्षता प्राप्त करली थी। इस काम के लिए सिन्धु नदी की मृत्तिका काम में ली जाती थी। इसमें अन्य नदियों की मिट्टी की भाँति कुछ रेत और कुछ चूने के टुकड़े मिले रहते थे। कुछ भाग भोडल का भी होता था जिसके कारण मिट्टी में सुन्दर चमक आ जाती थी। मिट्टी के बर्तन चाक पर उतारे जाते थे जो काष्ट-निर्मित होता था। उतार कर इन बर्तनों को भट्टी में पकाया जाता था। भट्टियाँ भी गोलाकार सुन्दर और वैज्ञानिक ढंग की बनी हुई होतीं थीं। बर्तनों को रेखा, वृत्त और अन्य चित्रों तथा बेलबूटों से विभूषित किया जाता था। इन पर पहिले लाल हिरमिच लगाई जाती थी जो या तो इसी प्रान्त में प्राप्त होती होगी या ईरान की खाड़ी के पास से मंगवाई जाती होगी। हिरमिच लगाने के बाद बर्तन चिकनी हड्डी या गोगची से साफ और चमकीले किए जाते थे। पकाने के बाद ये पात्र लाल चीनी के बने हुये पात्रों की भाँति चमकने लगते थे। भट्टी में डालने से पहले ही इन पर चित्रकारी करदी जाती थी। इसके लिये तूलिका का उपयोग किया जाता था। रंग काला या हल्का काला होता था। इस प्रकार के और इस रंग के रेखा चित्र आदि इस प्रकार के पात्रों पर अन्य देशों में भी उस युग में बनाये जाते थे।

विविध प्रकार के पात्र : पात्र कई प्रकार के बनते थे। इनमें मुख्य छोटे-बड़े घड़े हैं, जो कई काम में लिए जाते थे। इसमें पानी भरा जाता था, आभूषण रखे जाते थे, इन्हीं की हौज़ बनाई जाती थी, इनको रँहट बनाने के काम में लिया जाता था और इसके अतिरिक्त इनके अनेक अन्य उपयोग किए जाते थे। उस समय पानी पीने के सुन्दर सकोरे भी बनाये जाते थे जो पानी पीकर फोड़ दिए जाते थे। यह प्रथा अब भी उत्तर प्रदेश में प्रचलित है। मिट्टी के पिंजरे चूहे पकड़ने के लिए बनाये जाते थे। पालतू पक्षियों को रखने के वास्ते भी ये काम में आते थे। दवातें भी मिट्टी की बनाई जाती थीं। कुछ ऐसे अति लघु रूप के पात्र प्राप्त हुए हैं जिनमें सुगन्धित द्रव्य रखा जाता होगा। ऐसी तश्तरियाँ भी मिट्टी की बनी हुई मिली हैं जिनमें कई खाने बने हुए हैं। इस समय भी ऐसे बर्तन मसाले रखने के वास्ते भारत में बनते हैं।

शायद ये तश्तरियाँ भी इसी प्रयोजन के हेतु बनाई गई हों। सबसे अनोखा एक पात्र मिलता है जो ऊपर नीचे चपटा है और शेष समगोल है। यह पोला होता है और गोलाई में इसमें कई छिद्र होते हैं। ऊपर इसमें बड़ा छिद्र होता है। शायद इसमें कुछ अग्नि भरी जाती होगी और यह कमरों में 'हीटर' के काम में लाया जाता होगा, या वैसे ही लोग इससे हाथ पैर गर्म किया करते होंगे। यह छोटे से छोटा तीन इंच लम्बा और बड़े से बड़ा १० इंच लम्बा बनाया जाता था। मध्य भाग की परिधि लम्बाई के अनुपात से होती थी।

पात्रों के हत्थे और रंग : बर्तनों के पेंदे चपटे या गोल घेरेदार बनाये जाते थे जिससे वे फर्श पर अच्छी तरह टिक और ठहर सकें तथा ढुलकें नहीं। पात्र टूँटीदार भी बनाये जाते थे और टूँटियाँ कई प्रकार की होती थी। परन्तु न जाने क्यों उस समय बर्तनों में हेंडल नहीं लगाये जाते थे। जैसे कमण्डल में ऊपर गोल हत्था होता है वैसा हत्था किसी-किसी पात्र में लगाया जाता था। इसकी भी कई शैलियाँ थीं। इस पर कई प्रकार की कलात्मक रेखायें बनाई जाती थीं। कई घड़े ऐसे मिले हैं जो अन्दर और बाहर चिकने बनाए गए हैं। ये विशेष काम में लिए जाते होंगे। कुछ बर्तन ऐसे भी हैं जो बिलकुल 'वाटर प्रूफ' कहे जा सकते हैं। पात्रों के ऊपर प्रायः हिरमिच का लाल रंग लगाया जाता था परन्तु इसके सिवाय काले, हरे, पीले और गुलाबी रंग का भी प्रयोग किया जाता था। हरे रंग के काजल का पहिले ही उल्लेख किया जा चुका है।

पात्रों पर बेल-बूँटे आदि : घड़ों पर तथा दूसरे मिट्टी के पात्रों पर कई प्रकार की कलात्मक रेखायें बनाई जाती थीं। सबसे अधिक प्रचार था वृत्त बनाने का। ये वृत्त प्रायः नाप कर बनाये जाते थे और बड़े सुन्दर मालूम होते थे। ये एक दूसरे को काटते हुए खींचे जाते थे। ज्यों-ज्यों मोहिंजोदाड़ो का वैभव शनैः शनैः क्षीण होने लगा त्यों-त्यों इस मनोहर कला का भी ह्रास होने लगा। इनके अतिरिक्त त्रिकोण, षटकोण और सूर्याकृति के वृत्त भी बनाये जाते थे। इस प्रकार के वृत्त एक दूसरे को नहीं काटते थे। पशु, पक्षी, सर्प आदि के चित्रों से भी पात्रों को अलंकृत किया जाता था। ये चित्र पात्र के चतुर्दिक पंक्तिबद्ध बनाये जाते थे। पत्तों, पुष्पों और टहनियों के बेल-बूँटे भी प्रायः बनाये जाते थे।

पाषाण के पात्र और प्रतिमायें : मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा के निवासियों ने जितनी दक्षता मिट्टी के काम में प्राप्त की थी उतनी वे पत्थर के काम में नहीं प्राप्त कर सके। इस प्रदेश में पत्थर दुर्लभ था। इसलिये उसका उपयोग करने का अवसर भी उनको कम मिलता था। पत्थर के बने हुए कुछ प्याले मोहिंजोदाड़ो में मिले हैं। परन्तु इनसे कोई कला या कारीगरी नहीं प्रकट होती। उनकी बनावट में न नाप है, न सफाई

है, न चिकनाई है और न कला। उन पर टांकी के चिन्ह लगे हुए हैं और अन्दर का भाग भी खुरदरा है। एक ग्लास अत्यन्त दुर्लभ पत्थर का बना हुआ है। इसकी बनावट से पता चलता है कि यह मोहिंजोदाड़ो के कारीगरों की कारगुज़ारी है परन्तु यह पत्थर इस नगर में क्यों और कैसे आया यह विचारणीय है। ऐसा सुन्दर और प्याले के लिये उपयुक्त पत्थर मोहिंजोदाड़ो के आस पास नहीं निकलता। यहां से निकट से निकट यह मैसूर में प्राप्त हो सकता है। ऐसे दुर्लभ पत्थर का प्याला बनाते समय भी यहां के शिल्पी ने इस बात की चिन्ता नहीं की कि इसमें कला और चतुराई दिखाई जावे। यदि वह प्रयास करता तो भी वह अभीष्ट फल प्राप्त नहीं कर सकता था। उसका हाथ मिट्टी पर जमा हुआ होगा। वह पत्थर पर अपनी कला नहीं दिखा सकता था। परन्तु यह बात पत्थर की प्रतिमाओं के विषय में नहीं कही जा सकती। इसका कारण यह भी हो सकता है कि जिस प्रकार के पत्थर की मूर्तियां मिली हैं वह अति कोमल है। उस पर टांकी बड़ी हलकी चल सकती थी और चाकू से भी उसको छीला जा सकता था। यही कारण है कि इस पत्थर की प्रतिमायें बनाने में यहां के शिल्पियों को यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई। तीन देव प्रतिमाओं का पहिले ही उल्लेख हो चुका है। अनुपात, निर्माण, कोमलता, सजीवता और स्वच्छता में ये प्रतिमायें उत्कृष्ट हैं और तत्कालीन पुष्ट कला को द्योतित करती हैं। इनमें तीन विशेषतायें हैं। सिन्धु प्रदेश के शिल्पी प्रतिमाओं में ही आँखें नहीं बना सकते थे। इसलिये वे लोग प्रतिमाओं में आँखों के वास्ते खाँचे रख छोड़ते थे। फिर अलग पत्थर की आँखें बना कर इनमें बिठा देते थे। यह विधि वास्तव में और भी कठिन थी परन्तु उन शिल्पियों को इसका ही अभ्यास हो गया था। दूसरी शताब्दी के भारतीय शिल्पियों ने प्रतिमाओं की आँखें बनाने में निपुणता प्राप्त करली थी और शिल्प शास्त्रीय ग्रन्थों में इनको बनाने की विधि का भी वर्णन किया था। मोहिंजोदाड़ो के शिल्पी पाषाण प्रतिमाओं की नाक भी अच्छी नहीं बना सकते थे। मिट्टी की प्रतिमाओं में ये लोग बड़ी उत्तम और सुन्दर नाक बनाते थे। कान बनाते हुए इनको और भी अधिक कठिनाई का अनुभव होता था। कान तो अच्छा बनाना भारतीय शिल्पियों को कभी आया ही नहीं। सिन्धु शिल्पियों ने पशुओं की पाषाण प्रतिमायें बनाने में अच्छी निपुणता प्राप्त की थी। जो कुछ प्रतिमायें मिली हैं उनसे प्रकट होता है कि उनमें तद्रूपता, सजीवता और कला है। जब ये लोग मिट्टी की पशु प्रतिमायें बनाते थे तब तो कमाल कर दिखाते थे। कई प्रतिमायें ऐसी मिली हैं जिनमें पशुओं की मांस पेशियां खाल के नीचे फड़कती और फुदकती सी प्रतीत होती हैं। इनमें एक बैल की और दूसरी शिकारी कुत्ते की प्रतिमा तो उत्कृष्ट मूर्तिकला की उदाहरण हैं।

तावीज़ों की उत्तमता : तावीज़ बनाने की कला मोहिंजोदाड़ो में पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। ऐसा मालूम होता है कि प्रायः प्रत्येक व्यक्ति तावीज़ पहना करता

था। इसलिये ताबीज़ वहां सहस्त्रों की संख्या में मिले हैं। ये मिट्टी के बने हुए हैं। हर एक में दो छिद्र होते हैं जिनमें सूत्र बांध कर शायद यह गले में लटकाया जाता था। ताबीज़ कला और चतुराई से बनाये जाते थे। इनका आकार १ इंच से दो ढाई इंच तक होता था। ये प्रायः चौकोर या आयताकार बनते थे। इन पर देव-देवियों या पशुओं की आकृतियां बनाई जाती थीं। आकृति के निकट छोटा सा लेख होता था, इस लेख में देव-देवी या पशु का नाम नहीं होता था परन्तु क्या लिखा हुआ है सो भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि किसी-किसी ताबीज़ पर कोई आकृति नहीं, केवल एक संक्षिप्त लेख एक या दो शब्द मात्र हुआ करते थे।

बन्दरों की उत्कृष्ट प्रतिमायें : दो बन्दरों की प्रतिमायें मिली हैं जो विशेष उल्लेख के योग्य हैं। ये दोनों एक प्रकार की लुब्दी की बनी हुई हैं। एक प्रतिमा में बन्दर भूमि पर बैठा हुआ है और उसके हाथ अपने घुटनों पर रखे हुए हैं। इसकी रचना और सफ़ाई चीनी जैसी है। दूसरी प्रतिमा में बन्दर ने अपना बच्चा गोद में ले रखा है। कला की दृष्टि से दोनों प्रतिमायें अनुपम हैं। इस समय भी ऐसी प्रतिमायें बनाना कलाकार का चत्मकार समझा जा सकता है।

हाथी और उसके दांत का उपयोग : मोहिंजोदाड़ो में हाथी दांत का भी काम बनाया जाता था। खुदाई में हाथी दांत मिले हैं। हाथी की सूंड भी एक प्रतिमा में बनी हुई है। इससे स्पष्ट है कि यहां के शासक या अति धनाढ्य लोग हाथी रखते थे। सिन्धु प्रदेश में तो हाथी होते ही नहीं। इसलिये ये नेपाल की तराई से मंगवाये जाते होंगे। हाथी दांत की बड़ी चीजें बनी हुई नहीं मिलीं। बालों के पिन, चौपड़ की सारें और अन्य ऐसी ही छोटी छोटी चीज़ें हाथी दांत की बनाई जाती थीं।

सुइयां और सिलाई : रूई सिन्धु प्रदेश में उत्पन्न होती थी। उसके कपड़े बनते थे और ये काटे और सिंये जाते थे। इस बात का इससे पता लगता है कि कई प्रकार की सुइयां वहां प्राप्त हो चुकी हैं। ये प्रायः ताँबे और रांगे की बनाई जाती थी और इनमें नाका बना हुआ होता था। किसी का नाका चीर कर बना हुआ होता था और किसी का मोड़ कर। एक अनोखी बात यह है कि सोने की भी सुइयां बनाई जाती थीं। कला और कुशलता की दृष्टि से ये सुइयां आधुनिक सुइयों की बराबरी नहीं कर सकतीं।

बैलगाड़ी, रथ और खिलौने : इस प्रदेश के निवासियों के अमोद-प्रमोद, खेल-कूद और रीति रिवाज भी उनकी प्रौढ़ और उन्नत संस्कृति के अनुकूल थे। खुदाई से जो अनेक खिलौने आदि प्राप्त हुए हैं उनसे इस पक्ष पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है और उनकी संस्कृति के विविध अंगों के विषय में भी हमको ज्ञान प्राप्त होता

है। खिलौने या तो मिट्टी के बनाये जाते थे, या घोंघों के या हाथी दाँत के। खिलौने में सर्वाधिक प्रचार बैल गाड़ियों का था। छोटी-छोटी टूटी बैल गाड़ियाँ मिट्टी की बनी हुई सहस्त्रों की संख्या में मिली हैं। इससे स्पष्ट है कि बच्चों को यह खिलौना अति प्रिय होगा। बैलगाड़ी नगर और गाँवों में प्रायः यत्र तत्र बालक देखा करते होंगे, इसलिये इसी को खिलौने का रूप दिया गया। अन्य प्रकार का पहियेदार वाहन उस समय प्रचलित नहीं होगा। दूसरा चक्रवाहन यदि होगा तो वह केवल रथ होगा। ऋग्वेद में इसका प्रायः उल्लेख है। यह प्रायः युद्ध के काम में आता था और इसमें घोड़े जोते जाते थे। यह वाहन लोक प्रचलित नहीं होगा क्योंकि केवल युद्ध के समय यह देखा जाता होगा। दैनिक वाहन के रूप में भी शायद राजा और अति धनाढ्य व्यक्ति इसका उपयोग करते हों परन्तु यह ऐसी चीज़ नहीं थी जो प्रायः बालकगण देखा करते हो। खिलौने में केवल गाड़ियों का मिलना और रथों का अभाव होना इस बात का भी प्रमाण नहीं मानना चाहिये कि सिन्धु प्रदेश के निवासी लड़ाकू जाति के नहीं थे। ऋग्वेद में भी अधिकांश भाग प्रार्थनाओं का है, युद्ध गीतों का नहीं है। प्राचीन काल में युद्ध किसी जाति की दैनिकचर्या नहीं थी। यह तो आधुनिक उन्नत युग का परम लक्षण हो गया है। उस काल में तो युद्ध यदा-कदा होता था, अतः समर या समर के उपकरण बालकों की क्रीड़ाओं के साधन नहीं बन सकते थे। मिट्टी के बैलों के खिलौने भी बहुत संख्या में प्राप्त हुए हैं। यह स्वाभाविक बात है। गाड़ी और बैल ही तो दैनिक दृश्य के विषय थे।

विविध प्रकार के खिलौने : खिलौनों के वास्ते मिट्टी के घर और पक्षी भी बनाये जाते थे। पक्षियों की टाँगें लकड़ी की बनती थीं। कुछ पक्षी ऐसे भी बनाये जाते थे जिनकी चोंच खुली हो अर्थात् ये गाते हुए दिखाये जाते थे। पक्षियों के पिंजरे भी मिट्टी के बने हुए मिले हैं। ये उपयोग के लिये भी बनाये जाते थे और बालकों के क्रीड़ार्थ भी। इससे पता चलता है कि मधुर कंठ वाले और मधुर बोलने वाले पक्षी, तोता मैना आदि पाले जाते थे और उनको बालक प्रायः खिलाया पिलाया करते थे। पक्षियों के ऐसे खिलौने भी बनाये जाते थे जिनको बजाने के वास्ते उनमें तूती लगी हुई हो। इन तूतियों से सीटी बजती थी। इस प्रकार के मिट्टी के सस्ते खिलौने इस समय भारत में यत्र-तत्र बनते हैं और विशेषकर गाँव के हाट बाज़ार और मेलों में बहुत बिका करते हैं। एक खिलौना ऐसा भी मिला है जिसके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि यह क्या है। कोई जन्तु एक लकड़ी पर चढ़ता हुआ बनाया गया है। यह कौनसा पशु है यह पहचाना नहीं जा सकता। सम्भव है यह पशु उस समय पाया जाता हो जो बन्दर या गिलहरी की भाँति या बिल्ली की भाँति पेड़ या लकड़ी पर चढ़ सकता हो और अब नष्ट हो गया हो। यह भी सम्भव है कि निर्माता के कौशल में कमी होने के कारण जन्तु की आकृति तद्रूप नहीं बन सकी हो।

दैनिक प्रयोग की वस्तुओं के भी खिलौने बनाये जाते थे। पुरुष और स्त्रियाँ भी मिट्टी की बनाई जाती थीं। कुछ हिलने और दौड़ने वाले खिलौने भी बनाये जाते थे। एक मिट्टी का बैल ऐसा बना हुआ मिला है जिसका सिर नीचा हो सकता है और ऊपर उठ सकता है। इसी प्रकार एक मिट्टी के बन्दर के हाथ भी हिल सकते हैं। एक खिलौना ऐसा भी है जो डोरी में लटका कर हाथ से इधर उधर डोरी पर घुमाया जा सकता है।

तोलने के बाट और तुला : खिलौनों में मिट्टी की तराज़ू भी बनाई जाती थीं। इसके पलड़े खिलौने में प्राप्त हुए हैं। प्रति पलड़े में तीन छेद हैं। इनमें रस्सी पिरोकर डण्डों से बाँधी जाती थी। यह तो खिलौना है परन्तु तौलने की तराज़ू भी इसी शैली की बनती थी। तौलने के बाँट भी प्राप्त हो चुके हैं। ये दशमलव विधि से बढ़ते हैं। हमारे वर्तमान तौल प्रति प्रान्त में भिन्न हैं और इनके विभाग में भी बड़ी अव्यवस्था है। अंग्रेजी तौल भी अव्यवस्थित है। मोहिंजोदाड़ो के तौल पूर्ण रूपेण दशमलव विधि से घटते बढ़ते नहीं हैं परन्तु इनकी व्यवस्था में दशमलव विधि का काफ़ी प्रयोग किया गया है। पाँच हज़ार वर्ष पूर्व इस वैज्ञानिक विधि का प्रयोग वास्तव में प्रशंसा का विषय है।

शतरंज, चौपड़ और उनकी सारें : मिट्टी के और हाथी दाँत के पांसे और मोहरें तथा गोटें भी मिली हैं। ये खिलौने नहीं मालूम होते परन्तु विनोद और समय काटने के लिये स्त्री-पुरुष जो खेल खेलते होंगे उनमें इनका प्रयोग किया जाता होगा। इनमें कोई घनाकार हैं, कोई आयताकार और कोई त्रिकोण। चतुष्कोणों के तीन पार्श्वों पर संख्यायें खुदी हुई हैं और एक पार्श्व पर कुछ कलात्मक चित्र बने हुए हैं। उस समय क्या-क्या खेल खेले जाते थे, इसका तो पता नहीं चलता परन्तु दो ईंटें ऐसी मिली हैं जिन पर कुछ कोष्ठ बने हुए हैं। शायद यह प्रत्येक ईंट किसी बड़े बोर्ड की एक अंश मात्र है। इन बड़े बोर्डों पर गोटें और मोहरे रखे जाते होंगे और चलाये जाते होंगे। वर्तमान चौपड़ और शतरंज इन प्राचीन खेलों के ही विकसित या विकृत रूपान्तर प्रतीत होते हैं। मिश्र और मेसोपोटामिया में ऐसे बोर्डों का प्रयोग होता था और ऐसे ही गोट या मोहरे भी वहाँ काम में आते होंगे। ऋग्वेद कालीन आर्य लोग द्यूतक्रीडा के बड़े शौकीन थे। महाभारत की विपत्ति द्यूतव्यसन से ही आरम्भ होती है।

शिकार और उसके शस्त्रास्त्र : खिलौनों से यह भी प्रतीत होता है कि मोहिंजोदाड़ो के लोग शिकार किया करते थे। कुछ खिलौनों में एक पुरुष तीर द्वारा हिरण को मारता हुआ दिखाया है। इससे यह भी स्पष्ट है कि उस समय धनुष-बाण प्रचलित अस्त्र था। मछली पकड़ने के कांटे भी बड़ी संख्या में मिले हैं। लोग मछलियों का शिकार ही नहीं वरन् इनका व्यापार भी करते थे। सिन्धु नदी में और

निकटवर्ती जलाशयों में मछलियाँ बहुत मिलती थीं। ऐसे स्थानों के निवासी मत्स्य भोजी होते ही हैं। अतः मछलियों का व्यापार भी इन स्थानों में होने लगता है। मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा के रहने वाले गेहूँ, जौ आदि अन्न खाते थे। परन्तु ये मांस भोजी भी थे। घरों में प्राप्त हुई हड्डियों से विदित होता है कि हिरण, सूअर, भैंसा, बकरा, कछुआ आदि जानवरों का तथा अनेक प्रकार के पक्षियों का मांस खाने का वहाँ प्रचार था। शिकार में बड़े जानवरों को मारने के वास्ते तो बाण का उपयोग किया जाता था परन्तु पक्षियों के मारने के वास्ते स्लिग (Sling) से काम लिया जाता था। बाण का उपयोग तो अब लुप्त हो गया है परन्तु स्लिग का उपयोग अब तक किया जाता है।

ढोल गुरगुड़ी आदि वाद्य : वाद्य में शायद सर्वाधिक प्रचार ढोल का था। अथर्ववेद काल तक यही लोकप्रिय और अति प्रचिलित वाद्य था। गुरगुड़ी के भी चिन्ह और खिलौने प्राप्त हुए हैं। यह भी एक प्रकार का छोटा ढोल है। उस समय यह गर्दन से लटकाया जाता था और बजाने वाला चलता हुआ इसको बजाया करता था। यह वाद्य इस समय में भी किसी-किसी अवसर पर काम में आया करता है। राजस्थान में शीतला की पूजा करते समय यह वाद्य बजता है और काशी प्रयाग में खटीक जाति के विवाह आदि के अवसरों पर यह बजाया जाता है। ऐसा अनुमान होता है कि मोहिंजोदाड़ो में ताशों का भी प्रचार था। राजस्थान में लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व तक यह वाद्य काम में लिया जाता था। अब नगरों में यह लुप्त हो गया है परन्तु कस्बों और गाँवों में कहीं-कहीं अभी चलता है। यहाँ यह अरबी ताशा कहलाता है। इस समय भी अरब लोग इसका प्रयोग करते हैं।

कुर्सी, टेबिल और फर्श आदि : सिन्धु प्रदेश के लोग आधुनिक भारतीयों की भाँति फर्श पर बैठ कर भोजन करते थे। शायद बड़े-बड़े भोजों में पत्तल-दोनों का भी उपयोग किया जाता हो। दैनिक भोजन में मिट्टी के पात्र काम में आते थे। पानी पीने के पात्र भी मिट्टी के बनाये जाते थे। खास ही खाद्य पदार्थों को जमा कर रख लेने के लिये भी विशेष प्रकार के मिट्टी के पात्र बनाये जाते थे। विशेष अवसरों पर और ख़ास कर धनाढ्यों के यहाँ कुर्सी, मेज़ का भी उपयोग किया जाता था। बच्चों के खिलौनों में कुर्सी मेज़ मिली है जिससे यह तो स्पष्ट है कि इनका उपयोग होता था परन्तु निश्चित रूपेण यह पता नहीं है कि इनको किन अवसरों पर काम में लिया जाता था। सम्भव है कि इनको लिखने पढ़ने आदि के ही काम में लिया जाता हो और भोजन करने के लिये नहीं। अंग्रेज़ों के आने से पूर्व भारतवर्ष में कोई भी लोग कुर्सी मेज़ पर खाना नहीं खाया करते थे। उनके दो सौ वर्ष के राज्य के बाद भी कुर्सी मेज़ पर खाने का प्रचार देश व्यापी नहीं हुआ। इस समय भी केवल नगरों में और वहाँ भी केवल सम्पन्न शिक्षित वर्ग में इसका रिवाज चला है, अन्यत्र नहीं।

चिकित्सा और औषध : यहाँ के लोगों का औषध ज्ञान और चिकित्सा ज्ञान कितना था, इसका तो पता अभी तक नहीं लगा है और शायद लग भी नहीं सकता है परन्तु कुछ दवाइयों का अनुमान किया जा सकता है। प्रायः प्रत्येक घर में सांभर के सींग मिले हैं। इससे यह अनुमान करना असंगत न होगा कि प्रत्येक गृहस्थ सांभर का शिकार करता था या इसका मांस खाता था। पुरातत्व के पंडितों ने यह धारणा बाँधी है कि सांभर के सींग औषध के काम में आते होंगे। यह अनुमान ठीक है। सांभर के सींग रखने का राजस्थान के कुछ भागों में कुछ वर्ष पहले तक रिवाज था और ये प्रायः गाँवों में दरवाले के ऊपर ही अन्दर की तरफ लटकाये जाते थे ताकि माँगने वाले को तुरन्त दिये जा सकें। सांभर के सींग को घिसकर पसली के दर्द पर लगाया जाता है। और भी रोगों पर यह काम में आता है। मोहिंजोदाड़ो में शिलाजित के भी चिन्ह मिले हैं। यह प्रसिद्ध आयुर्वेदिक औषधि है जो अनेक रोगों पर काम में ली जाती है। एक पशु की अनेक हड्डियों का संग्रह एक घर में मिला है। विशेषज्ञों का कहना है कि ये हड्डियाँ पाचक औषध बनाने के काम मे लीं जाती हैं और आयुर्वेद में इनका विधान हैं। ये आँख, कान, कंठ और खाल के रोगों पर भी लगाई जाती है। इसके अतिरिक्त अन्य कई औषधियों के गुण और प्रयोगों का भी उस समय ज्ञान होगा परन्तु उनका पता नहीं चला है।

तृतीय अध्याय

ऋग्वेद से उपनिषत् तक

सिन्धु सभ्यता और ऋग्वेदिक सभ्यता का सम्बन्ध : मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा के निवासी आर्य थे या अन्य जाति के, इसका अन्तिम निर्णय अभी नहीं हो सका है। इस बात का भी कोई निर्णय नहीं है कि ऋग्वेद का काल क्या है, यह सिन्धु संस्कृति से अधिक प्राचीन ग्रन्थ है, या समकालीन या पीछे का ? लेकिन ऋग्वेद को ईसा से तीन सहस्र वर्ष पूर्व का ग्रन्थ मानने में और सिन्धु प्रदेश के निवासियों को आर्य मानने में कोई विशेष ऐतिहासिक आक्षेप नहीं मालूम होता। इनकी संस्कृति ऋग्वेदिक संस्कृति से नितान्त भिन्न हो, ऐसा प्रमाण तो कोई नहीं है, परन्तु इनकी और सुमेरिया की संस्कृति में जो कुछ समानतायें हैं वे अवश्य विचारणीय हैं। इसका कारण यह जान पड़ता है कि सिन्धु प्रदेश के आर्य पंजाब से बहुत दूर जा बसे थे। व्यापार के लिये इनका सम्पर्क सुमेरिया से था। सुमेरिया के लोग भी सम्भवत: आर्य ही थे। इस परस्पर के सम्पर्क से कुछ सुमेरिया की शैलियाँ और विधियाँ सिन्धु प्रदेश में अपनाली गई हों और ऋग्वेद्कालीन कुछ विशेषतायें जिनका प्रचार पंजाब में चलता रहा हो, वे शायद छोड़ दी हों। सिन्धु प्रदेश के निवासियों का क्षितिज पंजाब के आर्यों से जुदा भी हो गया होगा। इनका व्यापार संबंध स्थल मार्ग से तथा जल मार्ग से सुमेरिया, बलूचिस्तान, दक्षिण भारत तट और वर्तमान मैसूर राज्य से स्थापित हो गया था। पंजाब के आर्य पूर्व की ओर अर्थात् गंगा यमुना के मैदान की ओर देखते थे। विभिन्न प्रदेशों में दृष्टि, भावना और विकास का भेद अवश्य होगा परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि मेसोपोटामिया से गंगा तक और काश्मीर से दक्षिण तट तक एक उन्नत और परिपुष्ट संस्कृति जो मूलतः आर्य संस्कृति थी प्रचलित होती जाती थी। मोहिंजोदाड़ो की खुदाई में जो मनुष्यों की खोपड़ियाँ और हड्डियाँ प्राप्त हुई हैं उनके आधार पर विशेषज्ञों का मत है कि वहाँ के निवासियों की ऊँचाई लगभग साढ़े पाँच फीट होगी और उनका ललाट प्रशस्त और उन्नत होगा। ये भी आर्य जाति के लक्षण हैं। पाषाण प्रतिमाओं में जो छोटे और दबे या पिचके हुए ललाट बने हुए हैं उनका कारण यह है कि शिल्पकार की कला अभी उन्नत नहीं हुई थी। उसको नाक, कान और ललाट बनाने में कठिनाई मालूम होती थी। यों तो सिन्धु प्रदेश में कुछ खोपड़ियाँ ऐसी प्राप्त हुई हैं जो मंगोल जाति के लोगों की हैं। यह व्यापार और कला में समुन्नत प्रदेश था। अत: दूर-दूर के निवासियों का यहाँ आना-जाना होता था, और दूर के देशों के लोगों में से कुछ का यहाँ देहान्त हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं

है। हम देख चुके हैं कि सिन्धु प्रदेश में हाथी पहुँचता था और हाथी दाँत का काम बनता था तथा हाथी नैपाल की तराई से मंगवाया जाता था। इन बातों से अन्य जातियों के लोगों का सम्पर्क स्पष्ट प्रकट होता है। संस्कृति के प्रसिद्ध और प्रधान केन्द्र वास्तव में कई प्रकार के लोगों के सम्मेलन के स्थान बन जाया करते हैं। इस समय सम्मेलन अधिक और आसान है, उस समय कम और कठिन था। अतः हम यह मान सकते हैं कि ऋग्वेदकाल में और सिन्धुकाल में कोई विशेष अन्तर नहीं है और न संस्कृतियों में कोई महाभेद है। केवल फासले के कारण तथा अन्य देशों के सम्पर्क के कारण कतिपय विशेषताओं का विकास सिन्धु प्रदेश में हो गया है।

श्रुति और संहिता : पंजाब स्थिति आर्यों के इतिहास के लिये हमारे पास ऋग्वेद के अतिरिक्त कोई अन्य साधन नहीं है। वास्तव में ऋग्वेद से उपनिषद् काल तक या गौतम बुद्ध के जन्म तक तत्कालीन इतिहास के लिए हमारा एक मात्र साधन तत्कालीन साहित्य ही है। बुद्ध से कुछ काल पूर्व की एक जैन प्रतिमा मिली है परन्तु इससे तत्कालीन इतिहास पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। ऋग्वेदकाल से उपनिषद् काल तक के साहित्य को प्रायः चार भागों में विभक्त किया जाता है—वेद, ब्राह्मण, अरण्यक और उपनिषद्। यह सब वैदिक साहित्य है। परम्परा से इस सबको वेद माना जाता है। इसी को श्रुति कहते हैं। इस समय आर्य समाजी लोग इस सब साहित्य को वेद नहीं मानते। ये लोग केवल संहिता या मन्त्र भाग को ही वेद मानते हैं। संहिता के चार भाग हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इनमें ऋग्वेद संसार में सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है और अथर्ववेद को संहिताओं में सब से पीछे का मानते हैं। परम्परा से ऋग्वेदादिक संहिताओं को अपौरुषेय, ईश्वरकृत या अनादि माना जाता है। परन्तु आधुनिक विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते। वेद की अपौरुषेयता नहीं तो अतीव प्राचीनता तो सब आधुनिक विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। परन्तु भारतीय पंडित भी परम्परा से चारों वेदों को या संहिताओं को समश्रद्धेय नहीं मानते। अथर्ववेद की गणना वास्तव में संहिताओं में की ही नहीं जाती है। प्राय: वेदों का उल्लेख करते समय वेदत्रयी या केवल त्रयी का उल्लेख करते हैं। वेदत्रयी का अभिप्राय है ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद। अथर्ववेद को परम श्रद्धेय न मानने का कारण यह है कि इसमें तन्त्र भाग बहुत हैं और भूत, प्रेत, पिशाच आदि के निवारण का वर्णन तथा वशीकरण, मारण, उच्चाटन आदि प्रयोगों का उल्लेख है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि यह अन्य तीन संहिताओं की अपेक्षा अर्वाचीन ग्रन्थ है।

वेद परिचय : संहिताओं में ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन, श्रद्धेय और उपयोगी ग्रन्थ है। आकार में भी वह सबसे बड़ा है। यजुर्वेद और सामवेद दोनों छोटे और समाकार

ग्रन्थ हैं। अथर्ववेद इन दोनों से बड़ा किन्तु ऋग्वेद से छोटा है। ऋग्वेद दश मंडलों में विभक्त है। प्रति मंडल अध्यायों में विभक्त है। किसी में कम अध्याय हैं और किसी में अधिक। प्रत्येक अध्याय सूक्तों में और प्रत्येक सूक्त ऋचाओं मे विभक्त किया गया है। एक ऋचा मे दो पंक्तियाँ होती हैं। एक सूक्त मे ६ से ५२ तक ऋचायें हैं। प्राय: एक सूक्त में दस बारह ऋचायें होती हैं। सूक्त एक अध्याय में कम से कम इकतालीस हैं और अधिक से अधिक एक सौ इक्यानवे। सब अध्याय ८५ हैं। दूसरी संहिताओं की भी इसी प्रकार की व्यवस्था है। संहितायें चारों पद्य में हैं। ब्राह्मण संहिताओं से पीछे बने हुए माने जाते हैं। इनका सम्बन्ध संहिताओं से है। प्रत्येक संहिता का कोई ब्राह्मण है। ब्राह्मणों में ऋचाओं की व्याख्या की गई है और क्रियायें समझाई गई हैं। वेद में जो बात सिद्धान्ततः कही गई है, ब्राह्मण में उसकी क्रियायें बतलाई गई हैं। इसी प्रकार अरण्यक ग्रन्थों का भी सम्बन्ध संहिताओं से है। अरण्यकों में वैदिक सिद्धान्तों का विशद वर्णन और क्रिया भाग का विवेचन है। ये ग्रन्थ भी सब गद्य में हैं। ब्राह्मणों में शतपथ ब्राह्मण सर्वाधिक प्रसिद्ध और महत्व का ग्रन्थ है। उपनिषदों का सम्बन्ध भी संहिताओं से ही है। प्रत्येक उपनिषद् किसी न किसी संहिता का ही भाग माना जाता है। प्रत्येक संहिता के साथ ब्राह्मण, अरण्यक और उपनिषद् जोड़े जाते हैं। इस प्रकार समस्त वैदिक साहित्य को चार भागों में विभक्त किया गया है। स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में अग्नि, वायु, सूर्य, इन्द्र आदि देवों की प्रार्थनायें हैं, यजुर्वेद में यज्ञों का वर्णन है, सामवेद में गायन है और अथर्ववेद में मन्त्र तन्त्र, औषधोपचार आदि विषयों का कथन है। परन्तु प्रसंगवश अन्य अनेक विषयों के उल्लेख और संकेत यत्र तत्र आते हैं जिनसे तत्कालीन संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश पड़ता है। इन उल्लेखों और संकेतों के आधार पर ही वैदिक काल की स्थिति का चित्र बनाया गया है।

वेदों का ऐतिहासिक महत्व और वैदिक युग : ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्व ऋग्वेद का है और उसके बाद अथर्ववेद का। ऋग्वेद से हमको उस समय की आर्य संस्कृति का ज्ञान होता है जब आर्य लोग समस्त पंजाब में बस चुके थे परन्तु अम्बाला से पूर्व की ओर अभी नहीं बढ़े थे। अथर्ववेद के अध्ययन से उस काल की संस्कृति का पता चलता है जब आर्य लोग वर्तमान उत्तर प्रदेश और कुछ बिहार तथा बंगाल में भी फैल चुके थे तथा आदि निवासियों के साथ उनका सम्पर्क बढ़ने लगा था और आर्य तथा द्रविड़ लोग परस्पर किंचित घुलने-मिलने लगे थे। ब्राह्मण और अरण्यक ग्रन्थों से अनेक धारणाओं की पुष्टि होती है परन्तु ये संहिताओं से बहुत पीछे के रचे हुए ग्रन्थ हैं। उपनिषद् इनके सैकड़ों वर्ष बाद के लिखे हुए ग्रन्थ माने जाते हैं। उपनिषदों में भी दो उपनिषद् छान्दोग्य और बृहदारण्यक प्राचीन माने जाते हैं, कुछ उनके बाद के और शेष उनके भी बाद के। समस्त वैदिक साहित्य

काल अनुमानतः ईसा से ३००० वर्ष पूर्व से ६०० वर्ष पूर्व तक का माना जा सकता है। यह भी निर्विवाद नहीं है परन्तु इसमें ६०० वर्ष पूर्व वाली अवधि में अधिक मत भेद के लिये गुंजायश नहीं है। हाँ ३००० वर्ष पूर्व वाली अवधि में अधिक मत भेद के लिये गुंजायश है परन्तु वह भी ३००० वर्ष से इधर कम आ सकती है, उधर वह बहुत ले जाई जा सकती है। इस अध्याय में इस पूरे काल की संस्कृति का वर्णन किया जायगा। संहिता काल, ब्राह्मण काल आदि के विभाजन भी हो सकते हैं परन्तु विस्तार भय से यहाँ इस पूरे काल को वैदिक काल मानकर तत्कालीन संस्कृति का वर्णन किया गया है।

आर्य संस्कृति का प्रसार: ऋग्वेदिक काल में आर्य लोग पंजाब में निवास करते थे। ऋग्वेद संहिता में गंगा और यमुना का केवल एक दो बार उल्लेख हुआ है और उत्तर भारत की अन्य नदियों का तथा पांचाल, कौशल, मगध, अंग और बंग देश का कहीं कोई जिक्र नहीं है। इससे स्पष्ट है कि उस काल में आर्य लोग इस भू-भाग में नहीं पहुँचे थे। पंजाब की सब नदियों का यत्र-तत्र उल्लेख है। समस्त देश को उस समय सप्तसिंधव देश कहा जाता होगा। सात नदियों में सिंधु नदी की पश्चिमी तथा पूर्वी सहायक नदियों का समावेश होता है। इस प्रदेश में सरस्वती और दृषद्वती नदियों के मध्यस्थित भाग को विशेष महत्ता दी जाती थी। इस भाग को ब्रह्मावर्त देश कहते थे। इससे उत्तर के भाग को ब्रह्मर्षि देश कहा जाता था। जब आर्य लोग पूर्व की ओर बढ़ने लगे तो गंगा और यमुना के मध्यस्थित देश को मध्यदेश कहने लगे और जब ये लोग उत्तर भारत में सर्वत्र फैल गये तो विन्ध्याचल और हिमालय, तथा पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के मध्य भाग को आर्यावर्त कहने लगे। विन्ध्याचल से दक्षिण का भाग जम्बुद्वीप कहलाने लगा। आर्य संस्कृति का मुख्य केन्द्र उत्तर भारत ही बना रहा परन्तु ईसा से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व इनकी संस्कृति की महत्ता और प्रौढ़ता जम्बुद्वीप में भी मानी जाने लगी। ईसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य ने दक्षिण भारत को भी जीत कर अपने राज्य में मिला लिया और वर्तमान मैसूर राज्य के दक्षिण में श्रवण बेलगोला स्थान पर उन्होंने व्रत और उपवास के द्वारा अपने शरीर का त्याग किया। इस प्रकार सारे भारत देश में आर्य संस्कृति की प्रधानता स्थापित हो गई। प्रान्त भेद से भाषा-भेद, वर्णभेद, प्रथाभेद तो किंचित्रूपेण या अधिकरूपेण बना रहा और चलता रहा परन्तु मूलतः समस्त देश की संस्कृति एक मानी जाने लगी। ईसा से १०० वर्ष पूर्व सबकी दृष्टि सार्वदेशिक बन गई।

आर्य लोग भारत में सब एक साथ नहीं आये थे। समय-समय पर एक समूह के बाद दूसरे समूह ने पंजाब में प्रवेश किया और इसी विधि से ये लोग फिर गंगा यमुना के मैदान में घुसने लगे। जो समूह घुसा उसी ने आदि निवासियों को दबा

कर कुछ प्रदेश पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और अपना राज्य कायम करके रहने लगा। ऐसे समूहों ने कालान्तर में कई आर्य राज्य खैबर घाटी से बंगाल तक और हिमालय से विन्ध्याचल तक तथा फिर विन्ध्यगिरि से दक्षिण की तरफ भी स्थापित कर लिये।

ऋग्वेद कालीन राज्य : ऐसे प्रत्येक राज्य में एक राजा होता था। जो राज्य जिसके नेतृत्व में कायम किया गया होगा वही वहाँ का राजा बन गया होगा। इस प्रकार आरम्भ में सैनिक नेता प्रत्येक राज्य का राजा बना होगा। अपने शौर्य, वीरत्व, और योग्यता के कारण उसके सब साथियों ने उसको आसानी से बल्कि हर्ष से अपना स्वामी स्वीकार कर लिया होगा। अतः ऐसा राजा अपने बाहुबल तथा लोक निर्वाचन, दोनों ही विधियों से बना हुआ माना जा सकता है। आरम्भ इस प्रकार होने पर फिर प्रायः राजा कुलाक्रमानुगत होता होगा और मौका या आवश्यकता होने पर निर्वाचित भी किया जाता होगा। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि लोकानुमति के बिना उस संघर्ष के और प्रारम्भिक युग में कोई राज्य नहीं कर सकता था। आरम्भ में ये राज्य बहुत छोटे-छोटे होंगे। आर्यों का एक समूह यहाँ बस जाने के पश्चात् छोटे-छोटे उप समूहों में विभक्त हो जाया करता होगा। एवं एक उप समूह का एक गाँव बस जाता होगा। यह भी होता होगा कि एक गाँव में निवास करने वाले सब आर्य प्रायः एक ही कुल के लोग हों। उस कुल का सर्वातियोग्य पुरुष उस गाँव का मुख्य पुरुष या राजा माना जाता होगा। फिर धीरे-धीरे ऐसे अनेक गाँव मिलकर एक राज्य बन गया होगा। इस प्रकार राज्य का आकार और विस्तार बढ़ता रहा होगा। ऋग्वेद के समय गाँव को ग्राम, गाँवों के समूह को विश और विशों के समूह को जन कहते थे। जो विश का स्वामी होता था वह विशपति और जन का स्वामी होता था वह जनपति कहलाता था। जब आर्य लोग पूर्व की ओर बढ़ने लगे तो और अधिक बड़े-बड़े राज्य स्थापित होने लगे। अथर्ववेद में राष्ट्र का उल्लेख है जिससे स्पष्ट है कि उस काल में राष्ट्र का अर्थात् कुल दृष्टि से नहीं बल्कि शुद्ध राजनैतिक और भूमिदृष्टि से संघटित राष्ट्र का भाव विकसित हो चुका था। ब्राह्मणों में सागरपर्यन्त भूमि पर राज्य स्थापित करने के लिए यज्ञ करने का वर्णन है। इस प्रकार वैदिक काल में गाँव के मुखिया से या विशपति से राज्य का विचार शुरू होकर चक्रवर्ती राज्य तक पहुँच गया था।

सभा और समिति : अनेक शताब्दियाँ व्यतीत हो जाने पर आर्यों के वंशज इस बात को भूल गये कि आदि काल में राजा कैसे बना था या कैसे बनाया गया था। कुछ धुंधली सी स्मृति परंपरा से यह बनी रही कि राजा अनादि काल से चला आया है और वह लोकानुमोदित होता है। जब आर्य लोग पंजाब में निष्कंटक रूपेण बस गये तो उनकी राजसंस्था भी व्यवस्थित हो गई। राजा को शासन कार्य में परामर्श या सहायता देने के लिए तथा अपने राज्य की आवश्यकताओं और समस्याओं पर विचार करने के लिए दो प्रकार की संसदों का विकास हुआ। इनमें एक सभा कहलाती थी

और दूसरी समिति। दोनों संस्थायें अथर्ववेद काल में अनादि मानी जाने लगी थीं। लोग इस बात को भूल गये थे कि इनका आरम्भ और विकास किस भाँति हुआ। अथर्ववेद काल के लोग मानते थे कि ये संस्थायें प्रजापति भगवान् ने बनाई हैं और उसकी पुत्रियाँ हैं। यह परम्परा भी पुष्ट हो गई थी कि राजा ऐसा होना चाहिये जिसको 'विश' अर्थात् कितने ही गांव का मण्डल चाहे। वास्तव में उनकी इच्छा से वह राजा बने। वह समिति का प्रधान होता था और उसकी आज्ञा सब लोग मानते थे। उसकी शक्ति अदम्य तथा दुस्तर मानी जाती थी। समिति के सदस्यों की अभिलाषा रहती थी कि वे समिति में अच्छी तरह बोल सकें, लोगों को उनका कथन अच्छा लगे और उनकी बात मानी जावे। व्यवहारतः तो राजा कुलाक्रमानुगत होता था और समिति तथा सभा उसको अनुमोदित कर दिया करती थी परन्तु सिद्धान्ततः समिति और 'विश' की इच्छा प्रधान थी। जो राजा अपने कर्तव्य से च्युत हो जाता था उसको लोग राजसिंहासन से उतार भी देते थे। कुछ ऋचाओं से पता चलता है कि उसको अपने राज्य से निर्वासित भी कर दिया जाता था। जब राजा अपने कर्मों पर पश्चात्ताप कर लेता था और लोक मत उसके पुनः अनुकूल हो जाता था तो उसको फिर अपने राज्य में बुला लिया जाता था और राजसिंहासन पर पुनः स्थापित कर दिया जाता था। यह सब विश की इच्छा से होता था। विश की इच्छा कार्य रूप में परिणत करने का काम समिति और सभा का होगा परन्तु यह अनुमान की बात है। सभा के कर्तव्य या अधिकार का वर्णन नहीं मिलता है। प्रसंगवश जो वचन मिलते हैं उनको जोड़कर तथा उनके आधार पर ऐसा कहा जा सकता है। सभा और समिति के अलग-अलग कार्य या कर्तव्य क्षेत्र का तो पता नहीं चलता परन्तु जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे मालूम होता है कि समिति में राजा के कर्तव्याकर्तव्य पर विचार होता था तथा शासन और प्रबन्ध पर परामर्श किया जाता था। सभा शायद एक प्रकार की अदालत थी जहाँ जाते हुए लोग काँपते थे और निर्दोष सिद्ध होने पर हर्ष मानते थे।

राज संस्था की उत्पत्ति : राजा और राज्य के विकास को भूल जाने पर लोग अनुमान लगाने लगे कि राजा कैसे बना होगा। महाभारत में लिखा है कि एक समय ऐसा था जब न राष्ट्र था न राजा था। न उस समय दंड था न कोई दंड देने वाला ही था। लोग धर्मपूर्वक सब परस्पर अपनी रक्षा करते थे। इस प्रकार एक दूसरे का पालन करते हुए मनुष्य सुखपूर्वक अपने दिन बिताया करते थे। परन्तु समय के फेर से उनमें मोह और अज्ञान ने प्रवेश किया और धर्म नष्ट होगया। तब देवगण ब्रह्मदेव के पास गये और प्रार्थना की कि हमारी स्थिति सुधारी जावे। तब भगवान् ने अपने मन से विराजस् को उत्पन्न किया और लोक कल्याणार्थ उसको राजा बनाया। यह कहानी ऐतिहासिक नहीं है परन्तु इससे यह तो अवश्य प्रकट होता है कि आर्य लोग राजा के कर्तव्याकर्तव्य पर बड़ा ज़ोर देते थे। प्रजा पालन और लोक रक्षा उसका प्रथम और मुख्य कर्तव्य माना जाता था।

राज्याभिषेक और शपथ : वैदिक काल में राज्याभिषेक की विधि प्रचलित हो चुकी थी। ऐसी परम्परा बन गई थी कि राज्याभिषेक हुए बिना कोई राजा नहीं माना जा सकता। राज्याभिषेक में अनेक महत्त्वपूर्ण क्रियायें होती थीं परन्तु उनमें सर्वाधिक महत्व की क्रिया थी राजशपथ। राज्यसिंहासन पर बिठाकर पुरोहित राजा को शपथ दिलाता था। राजा कहता था, "जिस रात्रि को मैं उत्पन्न हुआ और जिस रात्रि को मेरा देहान्त होगा इसके मध्य के मेरे श्रम, प्रयास, सुकृत, आयु, सन्तान सब नष्ट हों यदि मैं अपने वचन का पालन न करूँ। मैं दण्डनीतियुक्त धर्म का निःशंक पालन करूंगा और कभी स्वच्छन्द होकर आचरण नहीं करूंगा।" यह हो चुकने के पश्चात् पुरोहित राजा की पीठ पर हल्के से डण्डा मारता था। यह प्रथा इस बातको प्रकट करती थी कि दंड राजा से भी ऊपर है। काम पड़ने पर इसका उस पर भी प्रयोग किया जा सकता है।

आर्यों की राजनीति : वैदिक परम्परा को छोड़ कर फिर लोग राजा को ईश्वर का अंश मानने लगे। मनु ने लिखा है, "राजा महा देवता है, चाहे वह बालक ही क्यों न हो, उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। भगवान् ने उसको आठों दिग्पालों के अंश से बनाया है। अतः उसके प्रसाद में लक्ष्मी का निवास है और कोप में मृत्यु का। अग्नि तो केवल एक कुल को ही नष्ट करती है किन्तु राजा का कोप पीढ़ियों को मिटियामेट कर देता है।" परन्तु यह सब शायद इसलिये कहा था कि लोग राजाज्ञा मानें और लोक मर्यादा को भंग न करें। यह केवल एक पक्ष है और इसका प्रतिपादन बड़े उत्तम ढंग से कियो गया है। दूसरी ओर राजा के कर्तव्य का विवेचन करते हुए शुक्राचार्य ने यह कहा है कि जनरक्षा करने की प्रतिज्ञा धारण करके जो नरेश अपने वचन को नहीं निभाता बल्कि प्रजा को कष्ट देता है तो प्रजा को चाहिए कि परस्पर संगठित होकर ऐसे कलि के अवतार को पागल कुत्ते की भाँति मार डालें। आर्यों ने यह भी व्यवस्था की है कि राजा स्वच्छन्द होकर अपनी तरंग से शासन न करें। वह लोकमत का आदर करे, शास्त्र-विधि पर चले, मन्त्री परिषद् नियुक्त करे, उसकी सलाह से शासन करें और धर्म मर्यादा या लोक मर्यादा का कभी उल्लंघन न करे। राजा धर्म और अर्थ की तथा धनुर्वेद और पशु पालन तथा कृषि की शिक्षा ग्रहण करे और निरन्तर लोक कल्याण में व्यस्त रहे। प्रजा की आय पर तथा राज्य की आवश्यकताओं पर विचार करके वह कर ग्रहण करे; जब कर बढ़ाने की जरूरत हो तो शनैः शनैः बढ़ावे; सब प्रजा को धर्म और नीति मार्ग पर चलावे तथा धन और धान्य की वृद्धि करे। इस प्रकार आर्य लोगों ने अपनी राजनीति निश्चित की थी। इतने प्राचीन काल में राजनीति का इतना उत्तम विकास अन्य किसी देश में नहीं हुआ था।

वर्ण व्यवस्था : जब आर्य लोगों ने भारतवर्ष में प्रवेश किया तो उनमें कोई जाति-भेद नहीं था। परन्तु द्रविड़ों से सम्पर्क होने पर तथा कृषि आदि व्यवसायों में

लग जाने पर उनमें जाति-भेद होने लगा। ऋग्वेद में जाति-भेद का मूल इस प्रकार बतलाया गया है "ब्राह्मण ईश्वर का मुख है, राजपूत उसकी भुजा है, वैश्य उसका पेट है और शूद्र उसके पैरों से उत्पन्न हुआ है।" यह कथन प्रत्येक वर्ण का समाज में स्थान तथा महत्व प्रकट करने के लिए है। वास्तव में इससे वर्णभेद का इतिहास नहीं ज्ञात होता। वर्णभेद की उत्पत्ति के विषय में केवल अनुमान ही किया जा सकता है, इसके यथार्थ इतिहास के लिये हमारे पास कोई सामग्री नहीं है। वर्ण का अर्थ है रंग। आर्य लोग गोरे थे और द्रविड़ काले, शायद यहाँ से ही वर्णभेद आरंभ हुआ होगा। आर्य स्वभावतः अपने वर्ण की रक्षा के हेतु इन लोगों से अधिक मेल जोल रखना पसन्द नहीं करते होंगे। आर्यों का मुख्य पेशा कृषि था। अधिकांश लोग कृषि करते थे। शेष लोग सैनिक सेवा या अध्ययन-अध्यापन करते थे। जो आर्य कृषि कर्म में लगे हुए थे वे द्रविड़ों के सम्पर्क से कैसे बच सकते थे ? खेत जोतने में, पशु पालने में, फसल काटने में तथा अन्य नाना प्रकार के कृषि कार्यों में उनको द्रविड़ों से काम लेना पड़ता था। इसलिए संभव नहीं था कि द्रविड़ों से आर्य बिल्कुल ही पृथक रहते। द्रविड़ भी इतनी अधिक संख्या में थे कि वे निकाल कर भगाये नहीं जा सकते थे। और न यह संभव था कि एक ही प्रदेश में आर्यों के और द्रविड़ों के गाँव या बस्तियाँ अलग-अलग हों। अतः कृषिनिरत आर्यों का और आदि निवासियों का निकट सम्पर्क होना अनिवार्य था। यह सम्पर्क अन्य आर्यों को अवश्य ही अच्छा नहीं लगता होगा। अतः वैश्यों का अलग वर्ण माना जाने लगा। इस प्रकार तीन वर्ण बन गये— शूद्र, वैश्य और शेष आर्य। ब्राह्मण और क्षत्रियों में बहुत समय तक कोई विशेष भेद नहीं था। प्रायः दोनों एक ही माने जाते थे तथा ब्रह्मक्षत्र कहलाते थे। परन्तु भेद-प्रवृत्ति का आरम्भ हो चुका था, अतः अब यह रुक नहीं सकती थी। कुछ काल के बाद ब्राह्मण और क्षत्री भी अलग-अलग वर्ण माने जाने लगे और इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र, ये चार वर्ण बन गए। वेद में इनकी उत्पत्ति ईश्वर के शरीर से बतलाई गई है और गीता में भी लिखा है कि चारों वर्ण परमात्मा ने गुण कर्म के अनुसार बनाये हैं। मनुस्मृति में तथा अन्य धर्म ग्रन्थों में चारों वर्णों के धर्मों का विवेचन है। ब्राह्मण का धर्म है यज्ञ करना-कराना, विद्या पढ़ना पढ़ाना, दान लेना और देना। क्षत्री का धर्म है यज्ञ करना, विद्या पढ़ना; और दान देना। इसके सिवाय प्रजा पालन तथा देशरक्षा और युद्ध में वीरत्व भी उसका धर्म है। वैश्य का धर्म कृषि, गौ रक्षा और वाणिज्य बतलाया है। और शूद्रों का धर्म तीनों वर्णों की सेवा है। यह समाज की आदर्श व्यवस्था थी। इस प्रकार के समाज की ऋषियों ने कल्पना की थी। परन्तु समाज ठीक ऐसा नहीं था। कहने को वर्ण चार ही थे परन्तु वास्तव में जातियाँ अनेक थीं। वैदिक युग में ही व्यवसाय भेद से कितने ही जाति भेद हो गये थे। वैदिक साहित्य में अनेक जातियों के नामों का उल्लेख है।

वर्ण व्यवस्था का स्वरूप : परन्तु उस समय यह वर्ण-भेद या जाति-भेद उस रूप में नहीं था जिसमें यह फिर प्रकट होने लगा। उस समय सब वर्णों में परस्पर विवाह हो जाया करते थे, और खान-पान या स्पर्शास्पर्श का भेद भाव उत्पन्न नहीं हुआ था। बाद में विवाह के सम्बन्ध में इतना भेद हो गया था कि वर्णान्तर विवाहों में एक प्रकार के विवाह अनुलोम और दूसरी प्रकार के प्रतिलोम माने जाने लगे। यदि ब्राह्मण पुरुष का विवाह क्षत्री, वैश्य या शूद्र कन्या से या क्षत्री का विवाह वैश्य और शूद्र कन्या से या वैश्य का शूद्र कन्या से हो तो वह अनुलोम कहलाता था तथा इसके विपरीत शूद्र, वैश्य या क्षत्री पुरुष का उच्च वर्ण की कन्या से हो तो वह प्रतिलोम कहलाता था। तत्कालीन साहित्य में तथा पुराणों में अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के अनेक उल्लेख मिलते हैं। परन्तु इससे यह अवश्य जान पड़ता है कि वर्ण-भेद काफी निश्चित हो गया था। वर्णान्तर विवाह हेय या हीन नहीं माने जाते थे परन्तु वे अधिक प्रचलित भी नहीं थे। प्राय: ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र जन्म से ही माने जाते थे परन्तु सिद्धान्तत: गुण, शिक्षा, संस्कार और कर्म पर जोर दिया जाता था। मनु ने कहा है कि जन्म से सब शूद्र उत्पन्न होते हैं। बालक चाहे ब्राह्मण का हो, क्षत्री का हो, वैश्य का हो या शूद्र का हो, वह शूद्र है। जब वह शिक्षा प्राप्त कर लेता है तब वास्तव में उसका दूसरा जन्म होता है और वह द्विज बनता है। तदनन्तर वह अपने गुण कर्म से क्षत्री या ब्राह्मण बनता है। उन्होंने वर्णों का प्रतिपादन भी किया है और साथ ही इस बात पर अधिक जोर दिया गया है कि कर्म प्रधान है, जन्म प्रधान नहीं है। अपने कर्म के अनुसार शूद्र भी ब्राह्मण बन जाता है और ब्राह्मण शूद्र। यह सिद्धान्त परम्परा आठवीं तथा नवीं शताब्दी तक चलती रही। उस समय तक वर्णान्तर विवाह भी होते रहे और रुचि तथा योग्यता के अनुसार लोग कर्म करते रहे।

विवाह-प्रथा : उस युग में बाल-विवाह नहीं हुआ करता था। प्राय: चौबीस वर्ष से पूर्व लड़के का और सोलह वर्ष से पूर्व लड़की का विवाह नहीं होता था। इसके बाद तो हो सकता था किन्तु इससे पूर्व नहीं। इसलिए उस समय सगाई या गौने की प्रथा भी नहीं थी। विवाह परस्पर रुचि और इच्छा से होता था। माता-पिता वर या कन्या की तलाश नहीं किया करते थे। संस्कार कन्या के पिता के घर पर होता था परन्तु आजकल का सा आडम्बर नहीं रचा जाता था। दहेज प्रथा का भी कहीं उल्लेख नहीं है। वास्तव में विवाह-सम्बन्ध या विवाह-संस्कार के विषय में कोई झंझट या कोई समस्या उस समय थी ही नहीं। राजवंशों में विवाह स्वयंवर विधि से हुआ करते थे। कन्या का पिता युवक राजकुमारों को निमन्त्रित करता था। सब सभा मंडप में सादर बिठा दिए जाते थे। कन्या अपने हाथ में माला लेकर वहाँ उपस्थित होती थी। फिर सबका उससे परिचय करवाया जाता था। तदन्तर वह जिसको पसंद करती थी उसके गले में माला डाल दिया करती थी। इसके बाद विवाह संस्कार

हुआ करता था। स्वयंवर विधि में प्रायः ऐसा भी होता था कि वर पहिले ही कन्या द्वारा और उसके पिता के द्वारा निश्चित कर लिया जाता था और फिर सभा में इस विधि से उसका सब समाज के सामने वरण किया जाता था। एक दृष्टि से यह प्रथा अब भी चली आती है।

आठ प्रकार के विवाह : वर और कन्या की परस्पर अनुकूलता विवाह में प्रधान थी। दोनों पक्ष के लोग विशेषकर कन्या के माता पिता इसकी चिन्ता किए बिना नहीं रह सकते थे। विवाह कई प्रकार से हुआ करते थे। सर्वोत्तम विवाह तो वही माना जाता था जिसमें वर कन्या के घर आता था और कन्या का पिता उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह करता था। कन्या का पिता न कुछ लेता था और न कुछ देता था। जो कुछ वर-पक्ष से आता था वह कन्या को दे दिया जाता था। इस प्रकार के विवाह को ब्राह्म विवाह, देव विवाह, प्राजापत्य विवाह और आर्ष विवाह कहते थे। ऐसे विवाह प्रायः ब्राह्मणों में हुआ करते थे। ब्राह्मण का जीवन उस समय त्याग, व्रत और तपस्या का जीवन था। इसलिए विवाह में आडम्बर भी असम्भव था। अनुकूलता को लक्ष्य में रखकर यदि पिता वर ढूंढ़ लेता था तो कन्या उसको स्वीकार कर लेती थी और यदि किसी को अपने अनुरूप और उपयुक्त समझती थी तो पिता उसके साथ उसका विवाह कर देता था। कभी ऐसा भी होता था कि वर-कन्या दोनों परस्पर मिलकर ही विवाह का निश्चय कर लिया करते थे। वास्तव में तो इनका विवाह हो ही जाता था, फिर तो केवल संस्कार मात्र किया जाता था। यह गांधर्व विवाह कहलाता था। कभी-कभी कन्या को छीन कर भी लोग ले जाते थे। यह राक्षस विवाह कहलाता था। यदि कन्या के पिता को धन देकर विवाह किया जाता था तो वह असुर विवाह कहलाता था। सुप्ता या मत्ता कन्या के साथ गमन कर जो विवाह होता था वह पैशाच विवाह कहा जाता था। इस प्रकार आर्य सब प्रकार के विवाहों को स्वीकार करते थे। परन्तु प्रथम चार उत्तम और अन्तिम चार अधम माने जाते थे। ब्राह्मणों के लिए तो प्रथम चार प्रकार के विवाहों का ही विधान था। शेष वर्णों में परस्पर कामना से भी विवाह हो सकते थे। इसको तत्कालीन समाज शिष्टानुमत समझता था। फिर जैसे भी विवाह हो जाय वही मान लिया जाता था।

स्त्रियों का आदर : समाज में और घर में स्त्रियों का आदर था। मनु ने कहा है कि जहाँ स्त्रियों का आदर होता है उस घर में देवता रमण करते हैं तथा जहाँ उनका आदर नहीं होता वहाँ सब काम असफल होते हैं। गृहस्थ में पति और देवर सती का सत्कार और पालन करें, और विवाह के पश्चात् भी उसके पिता तथा भाई, वस्त्र, अलंकार और भोजनादि से उसका आदर करते रहें। जिस कुल में स्त्रियाँ दुखी रहती हैं वह कुल शीघ्र नष्ट हो जाता है, परन्तु जहाँ वे सुखी रहती हैं वह कुल वृद्धि और उन्नति प्राप्त करता है। जहाँ स्त्री से पति और पति से स्त्री सन्तुष्ट है उस कुल में नित्य कल्याण का निवास होता है।

विवाह पद्धति : विवाह के समय वर कन्या से कहता था, "तू मेरी स्वामिनी है और मैं तेरा स्वामी हूँ। तू मेरे घर पर चल कर श्वसुर और देवर पर शासन कर और घर की मालिकिन बन।" यह विवाह प्रतिज्ञा अग्नि को साक्षी करके की जाती थी। वधू एक पत्थर पर पैर रखती थी जिसका सांकेतिक अर्थ यह था कि पति के प्रति उसका प्रेम पत्थर के समान दृढ़ रहेगा। वह ध्रुव दर्शन करती थी, जिसका आशय यह था कि वह ध्रुव के सदृश अपने व्रत में अचल रहेगी। आर्य विवाह धर्म सम्बद्ध माना जाता था। यह कभी टूट नहीं सकता था। ब्राह्मणों में इस पर बहुत ही ज़ोर दिया जाता था। शेष वर्णों में भी पति त्याग या पत्नी त्याग की कल्पना नहीं की गई थी। ब्राह्मणों में प्रायः एक ही स्त्री से विवाह होता था। एक स्त्री के मर जाने पर ही दूसरी स्त्री से विवाह होता था। क्षत्रियों में एक से अधिक पत्नियाँ हुआ करती थीं और शेष वर्णों में भी यही प्रथा थी। वैसे ब्राह्मणों में भी एक साथ यदि दो पत्नियाँ हों तो कोई निषेध नहीं था, परन्तु ऐसे दृष्टान्त बहुत कम होते थे। ब्राह्मणेतर वर्णों में बहु पत्नी विवाह साधारण सी बात थी। विशेषकर क्षत्रियों में तो एक से अधिक पत्नियाँ हुआ ही करती थीं।

विधवा विवाह : प्रथम पत्नी की विद्यमानता में भी सब वर्णों के पुरुष दूसरा विवाह कर सकते थे। परन्तु प्रथम पत्नी के मरने पर दूसरा विवाह करने में न शास्त्रनिषेध था और न लोकनिषेध। इस प्रकार विधुर विवाह तो प्रचलित था परन्तु विधवा विवाह का प्रचार नहीं था। सम्भव है कि कोई-कोई विधवा विवाह कर लेती हो। जैसे राक्षस और पैशाच विवाह होते थे और उनको सहन किया जाता था उसी प्रकार विधवा विवाह भी कभी-कभी हो जाता होगा और समाज उसको सहन कर लेता होगा। उसको हीन अवश्य माना जाता था, परन्तु मानव दुर्बलता भी अपना मार्ग ढूंढ़े बिना कैसे रह सकती थी।

नियोग प्रथा : वैदिक काल में नियोग भी प्रचलित था। केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये पति या सास की आज्ञा से पत्नी दूसरे पुरुष से अस्थायी सम्बन्ध कर सकती थी। नियोग प्रायः अपने देवर या अपने पतिकुल के अन्य पुरुष के साथ किया जाता था परन्तु विवशता में अन्य कुल के पुरुष के साथ भी किया जा सकता था। वैदिक काल का समाज बहुत उदार और स्वतन्त्र था। शायद आर्यों के प्रारम्भिक संघर्ष, अस्थिरता और निरन्तर श्रम ने उनको उदार और स्वतंत्र बनाया होगा। जब आर्यों के बड़े-बड़े राज्य स्थापित हो गये और धन-धान्य की वृद्धि तथा सुलभता हो गई और संघर्ष की निरन्तर आवश्यकता नहीं रही तो सामाजिक बंधन और अनुदारतायें बढ़ने लगीं। नियोग प्रथा वैदिक काल में प्रचलित थी। पाण्डवों के पिता नियोग से उत्पन्न हुए थे जिसका महाभारत में वर्णन है। परन्तु उपनिषद् काल के बाद नियोग प्रथा लुप्त हो गई और धर्मशास्त्र में धीरे-धीरे इसका निषेध होने लगा।

स्त्रियों का रक्षण और आदर : स्त्रियों का पोषण और रक्षण पुरुषों का कर्तव्य था। पिता कुमारावस्था में उनके चरित्र की रक्षा करता था। उनके लिये योग्य वर तलाश करना उसका कर्तव्य था। चाहे कन्या आजन्म कुमारी रह कर पिता के घर में रहे परन्तु अयोग्य वर के साथ विवाह करना निन्दनीय माना जाता था। यदि वह स्वयं अपने लिये वर ढूंढ ले और गान्धर्व विवाह करले तो यह दूसरी बात थी। विवाहितावस्था में पति का कर्तव्य था कि उसका भरण-पोषण करे। वैधव्यावस्था में तथा वृद्धावस्था में पुत्र उसका भरण-पोषण करता था। जो विधवा अनाश्रिता होती थी उसका पालन करना राजा का कर्तव्य था। इस प्रकार स्त्रियों की रक्षा करना कुटुम्ब और राज्य का दायित्व माना जाता था। इसका कारण यह था कि स्त्रियों की सच्चरित्रता को बहुत महत्त्व दिया जाता था। आर्यों को अपने वर्ण की तथा अपने कुल की शुद्धता की रक्षा करने की बड़ी चिन्ता थी। इसलिये स्त्रियों की रक्षा करना अत्यावश्यक था। इस प्रकार समाज में स्त्रियों का आदर तो था परन्तु उनका स्थान सब बातों में पुरुषों के समान नहीं माना जाता था। पुत्र जन्म के वास्ते गृहस्थ लालायित रहते थे। माता पिता अपनी पुत्रियों को आशीर्वाद देते थे कि तू वीरप्रसवा हो। यह कामना कोई नहीं करता था कि कन्या उत्पन्न हो। पुत्र प्रकाशवत् माना जाता था और पुत्री अन्धकार के समान।

घर और समाज में स्त्री का स्थान : जब आर्यों ने भारत में प्रवेश किया तो उनकी स्त्रियाँ पुरुषों के समान सब काम करती थीं। यात्रा में वे साथ थीं और संघर्ष में उन्होंने साथ दिया था। नई परिस्थितियों में घर जमाने में उनकी सहायता की आवश्यकता थी। उस काल में स्त्रियों का स्थान पुरुषों के बराबर सा ही था। जब आर्य पंजाब तथा पूर्वी प्रदेशों में बस गये तब स्थिति में परिवर्तन आने लगा। अब आर्यों के जीवन में संघर्ष नहीं रहा। उनमें से कुछ कृषि करने लगे, कुछ राष्ट्र-रक्षा में लग गये और कुछ पठन-पाठन में व्यस्त हो गये। कालान्तर में यज्ञ उनके जीवन की मुख्य विशेषता हो गई और यज्ञ करना ब्राह्मणों का मुख्य व्यवसाय बन गया। अपने घर में यज्ञाग्नि को सदैव जागृत रखना ब्राह्मण गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य माना जाने लगा। इस काल में ब्राह्मण पत्नी का यह कर्तव्य बन गया कि वह अपने घर की यज्ञाग्नि को सदैव जागृत रक्खे और अपने पति के साथ यज्ञादि में सम्मिलित हो। द्विज पत्नियों के बिना, विशेषकर ब्राह्मण और क्षत्रियों की पत्नियों के बिना कोई यज्ञ कर्म पूरा नहीं हो सकता था। ब्राह्मण पत्नी नित्य अपने पति के साथ यज्ञवेदी पर बैठ कर साथ-साथ यज्ञ करती थीं। जहाँ ब्राह्मण यज्ञ करवाने जाते थे वहाँ भी यजमान के साथ उसकी पत्नी को बिठाते थे। वैश्य और शूद्रों की स्त्रियाँ कृषि, गौ रक्षा, वाणिज्य तथा शिल्प आदि कार्य में अपने पतियों के साथ काम करती थीं, इसलिए उनका पद पुरुषों के बराबर ही था।

स्त्रियों की शिक्षा : वैदिक युग में स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान शिक्षा प्राप्त

करती थीं। यह मत हमारे अन्धकार युग में बना था कि स्त्रियों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। वैदिक काल में कई स्त्रियाँ मन्त्रद्रष्टा ऋषि मानी जाती थीं। ऋषि-पत्नियाँ भी अपने पतियों के समान विदुषियाँ हुआ करती थीं। शायद उनकी शिक्षा को इतना महत्व तो नहीं दिया जाता था जितना पुरुषों की शिक्षा को, परन्तु स्त्री को शिक्षा की अनधिकारिणी नहीं माना जाता था। उपनिषद् काल तक स्त्रियां बड़ी पण्डितायें हुआ करती थीं। बृहदारण्यक उपनिषद् में गार्गी के विद्वत्व का उल्लेख इस बात का प्रमाण है कि तत्कालीन स्त्रियाँ उस समय के ऊँचे से ऊँचे विद्वान की समानता कर सकती थीं। वह परम्परा मुसलमानों के आक्रमणों से पहिले तक हमारे देश में चली आ रही थी। स्वामी शंकराचार्य का मण्डन मिश्र की विदुषी पत्नी के साथ शास्त्रार्थ इसका दृष्टान्त है। लीलावती और भानुमती भी हमारे देश की प्रसिद्ध विदुषियाँ है। क्षत्रियों की पत्नियाँ अपने पतियों का साथ देती थीं। राजसभा में राजमहिषी सम्मिलित हुआ करती थीं। उसकी गणना राष्ट्र के उच्चतम अधिकारियों में होती थी। यदि राजा के कोई पुत्र न हो तो राजपुत्री अपने पिता के राजसिंहासन पर अभिषिक्त की जा सकती थी। ऐसी स्थितियाँ बहुत कम उपस्थित होती थीं परन्तु विशेषावस्था में शासन करने का अधिकार भी स्त्रियों का माना जाता था। यह परम्परा भी हमारे यहाँ अब तक बनी हुई थी। समय के फेर से यह माना जाने लगा कि स्त्रियों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है परन्तु इससे स्त्रियों के मान में कोई अन्तर नहीं आया। वेद तो प्रायः केवल ब्राह्मण ही पढ़ते थे। क्षत्रिय को अधिकार तो था परन्तु न सैनिक वेद पढ़ते थे और न राजकुमार, और यदि पढ़ते भी थे तो केवल नाम मात्र के लिये। अत: स्त्रियों का वेद पढ़ने का अधिकार लुप्त हो जाने पर उनकी शिक्षा में विशेष कमी नहीं आई। वे काव्य, साहित्य, चित्र कला, संगीत और नृत्य आदि की शिक्षा प्राप्त करती रहीं।

समाज में ब्राह्मण का स्थान: चारों वर्णों में ब्राह्मण का स्थान सर्वोच्च था। अध्ययन और अध्यापन मुख्यतः उसका ही कर्तव्य था। इसलिये वह ज्ञान का घर माना जाता था। ज्ञान-पक्ष में लगे रहने के कारण वह प्रायः निर्धन और दरिद्र रहता था। एक दो गौ और व्रत, तप, तथा विद्या ही उसकी सम्पत्ति थी। वह दूसरा धन्धा भी प्रायः नहीं करता था। शिल्प कला द्वारा अपनी वृत्ति कमाना उसके लिए निषिद्ध था। गौ का क्रय विक्रय करना या घोड़ों का व्यापार करना या रथ आदि बनाना और बेचना उसके लिए हीन कर्म माने जाते थे। कृषि तो उसका कार्य था ही नहीं। यह केवल वैश्यों का काम था। इसलिए ब्राह्मणों के लिए निर्धन या दरिद्र रहना स्वाभाविक था। वह ज्ञानपुञ्ज होकर भी दरिद्र रहता था, इसलिये समाज में उसका विशेष आदर था। राज सेवा से वृत्ति कमाना भी ब्राह्मण के लिए अच्छा नहीं माना जाता था। जो ब्राह्मण राज-मन्त्री बनाये जाते थे वे शायद वृत्ति नहीं लेते होंगे। परन्तु यह आदर्श मात्र था।

प्रत्येक ब्राह्मण के लिए यह असम्भव था कि वह इस आदर्श को प्राप्त कर सके। न प्रत्येक ब्राह्मण बालक वेदपाठी बन सकता था और न तपस्वी तथा त्यागी। व्यवहारत: कितने ही ब्राह्मण क्षत्रियों का या वैश्यों का कर्म करते थे और कितने ही शूद्र कर्म भी करते होंगे। ऐसे लोग नाम मात्र के ब्राह्मण थे। यह असम्भव था कि उनका वेदपाठी ब्राह्मणों के समान आदर हो।

अन्य वर्णों का कार्य: इसी प्रकार क्षत्री, वैश्य और शूद्र भी अपने-अपने निर्दिष्ट कर्म में ही निरत नहीं रहते थे। क्षत्री वैश्य कर्म भी करते थे और वैश्य क्षत्री कर्म भी। यद्यपि क्षत्रियों के लिए वैश्य कर्म करना शोभा की बात नहीं थी परन्तु फिर भी वे करते थे। यह असम्भव बात थी कि सब क्षत्री सैनिक बन सकें या बनने के योग्य हों। जीवन निर्वाह के हेतु कृषि-प्रधान देश में कृषि कार्य या पशु पालन ही एक मुख्य व्यवसाय था इसलिये उच्च वर्ण के लोग भी इसमें घुस जाया करते थे।

वर्ण व्यवस्था की अटलता: आर्य लोग सब प्रकार के वैध और अवैध विवाहों को स्वीकार करते थे और यदि कोई व्यक्ति वर्ण धर्म को छोड़ कर दूसरा कार्य करता था तो उसको निन्दनीय मानते हुए भी सहन करते थे। कारण यह था कि आर्य लोग व्यवस्था की रक्षा करना बहुत आवश्यक मानते थे। जो कुछ गड़बड़ विवाह में या कर्म में हो जाती थी उनको सहन कर जाते थे और ध्येय यह रखते थे कि वर्ण-व्यवस्था बनी रहे और मानव दुर्बलतायें या वर्ण व्यवस्था में अनियमिततायें यदि हो जायें तो वे भी चाहे होती रहें। आर्य लोगों का समाज संगठन कई हज़ार वर्षों से इस वर्ण व्यवस्था की दृढ़ नींव पर स्थित है। इतिहास में इसको कई भारी धक्के लग चुके हैं परन्तु उनसे यह गिरा नहीं। यह उठता है, पड़ता है परन्तु पुन: सम्भल कर खड़ा हो जाता है। समयानुसार यह अपना स्वरूप बदल लेता है। बाहर के लोगों को मिला लेता है, आवश्यकता होने पर अपनी कट्टरता को भी शिथिल कर देता है परन्तु नष्ट नहीं होता। इसमें शायद कोई अनिर्वचनीय और अज्ञेय शक्ति है।

आश्रम व्यवस्था: वर्ण-व्यवस्था के समान ही आर्य संस्कृति में आश्रम व्यवस्था का महत्व है। जीवन का ध्येय यह था कि पुरुष पचीस वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य धारण कर विद्याध्ययन करे, फिर विवाह करके गृहस्थ का कर्त्तव्य पूरा करे, वृद्ध होने पर वान-प्रस्थ बनकर सन्यास की तैयारी करे और जीवन के अन्तिम वर्ष सन्यास धारण कर भगवच्चिन्तन और लोक सेवा में व्यतीत करे। यह व्यवस्था एक आदर्श मात्र थी और यह आदर्श मुख्यत: ब्राह्मण वर्ण के लिये था। अन्य वर्ण के लोग भी इसका पालन करते थे परन्तु सब नहीं। जो अपने जीवन को आदर्श बनाना चाहते थे वे ही इसकी चिन्ता करते थे। इसका सर्वाधिक महत्व ब्राह्मणों में था। क्षत्रियों में कोई-

कोई इस आदर्श को मानते थे। शेष दो वर्णों ने इसको नहीं अपनाया। वैदिक काल में आश्रम-व्यवस्था व्यवस्थित नहीं हुई थी। ऐसा जान पड़ता है कि यह उपनिषद् काल में अर्थात् ईसा से लगभग १००० वर्ष पूर्व पूर्ण-रूपेण विकसित हुई। परन्तु वेद में भी कहीं-कहीं इसका उल्लेख मिलता है। उस समय इसका व्यवहार तो आरम्भ हो गया होगा परन्तु इसकी व्यवस्था के नियमों का शायद निर्माण नहीं हुआ होगा। इसका व्यवस्थित वर्णन स्मृतियों में मिलता है। वास्तव में स्मृतियों में प्राचीन प्रथाओं और परम्पराओं को भाषाबद्ध किया गया है। अतः यह माना जा सकता है कि यह अति प्राचीन प्रथा थी। परन्तु स्मृतियों ने इसको नियम-बद्ध कर इसे एक व्यवस्थित संस्था का रूप दे दिया।

ब्रह्मचर्याश्रम : वैदिक काल में ब्राह्मण बालकों का ध्येय वेदों का अध्ययन था। इसी से समस्त वैदिक साहित्य काल की इतनी गतियों को पार कर के अब तक जीवित है! उस समय वेद कंठाग्र करा दिया जाता था और प्राचीन भारत में इस प्रकार ब्राह्मण बालक एक प्रकार जंगम-पुस्तकालय बन जाया करते थे। बालक गुरू के घर में जाकर रहता था। उस समय विद्यालय आदि की व्यवस्था नहीं थी। दो-चार या दस-पाँच बालक एक गुरू के पास रह कर पढ़ा करते थे। कालान्तर में शिष्यों की संख्या बढ़ने लगी और वैदिक युग के अन्त में हमारे यहाँ बड़ी-बड़ी शिक्षा-संस्थायें बन गईं। वेद में उल्लेख है कि बालक का उपनयन संस्कार होता था और तदुपरान्त एक प्रकार से वह गुरू के गृह में निवास करने लगता था। शिष्य गुरू के पास कैसे रहता था, उस समय क्या शिष्टाचार था, उसको क्या क्या पढ़ना पड़ता था और कितने समय तक पढ़ना पड़ता था, इसका पूरा पता नहीं लगता। लेकिन स्मृतियों से अनुमान होता है कि वैदिक काल में भी इससे मिलती जुलती ही प्रथा प्रचलित होगी। विद्यार्थी का मुख्य विषय वेद था। इसकी प्राप्ति गुरू के अनुग्रह पर ही निर्भर थी। उस काल में छपे हुए ग्रन्थ और उनकी कुंजियां नहीं मिलती थीं। अतः सब कुछ गुरू के मुख से ही सुनना पड़ता था। इसलिये गुरू का स्थान स्वभावतः बहुत ऊंचा था। मनुष्य के जीवन निर्माण में प्रथम स्थान माता का, दूसरा पिता का और तीसरा गुरू का माना जाता था। गुरू का माता पिता के समान आदर किया जाता था और उन्हीं के समान उसकी सेवा की जाती थी। गुरू-पत्नी और गुरू-सन्तान का भी शिष्य आदर करता था। गुरू के देहान्त के पश्चात् भी उसके कुल से शिष्य का सम्बन्ध रहता था। ऐसा माना जाता था कि जिस प्रकार माता नव मास तक पुत्र को अपने गर्भ में धारण करती है उसी प्रकार आचार्य भी शिष्य को मानों अपने गर्भ में धारण करता है। माता बालक के शरीर को पुष्ट करती है और गुरू उसके मस्तिष्क अर्थात् ज्ञान की पुष्टि करता है। उपनयन के बाद आचार्य के घर में मानों बालक का दूसरा जन्म होता है। इसलिये उसको द्विज कहा जाता है। शिष्य प्रायः भिक्षा द्वारा अपना निर्वाह करता था। जो कुछ उसको मिलता था वह गुरू के भेंट कर दिया करता था और गुरू

उसको खिलाता था। इस प्रकार शिष्य को प्रतिदिन यह अनुभव होता था कि समाज उसका पोषण कर रहा है और वह समाज का अंग है। वैदिक काल में वेद ही अध्ययन का मुख्य विषय था। वैदिक साहित्य भी उपनिषद् काल तक प्रचुर और जटिल हो गया था। चारों वेद और ब्राह्मण, अरण्यक तथा उपनिषद् पढ़ लेना साधारण व्यक्ति की सामर्थ्य नहीं थी, विशेषतः उस युग में जब सब विद्या कंठाग्र करनी पड़ती थी। अतः प्रायः एक व्यक्ति एक संहिता और तत्सम्बंधित ब्राह्मण, अरण्यक और उपनिषद् पढ़ा करता था। यदि ब्राह्मण वेद न पढ़े और अन्य विषय का ज्ञान प्राप्त करने में श्रम करे तो यह उसके लिये निन्दनीय बात थी। क्षत्री के लिये ऐसा विधान नहीं था। वह वेद भी पढ़ता था परन्तु दंडनीति, अर्थशास्त्र, कृषि, वाणिज्य, पशु पालन आदि विषयों का ज्ञान उसके लिए आवश्यक माना जाता था। यह नियम केवल क्षत्रिय राजकुमार के लिये ही था, क्षत्रिय जाति के प्रत्येक व्यक्ति के लिये नहीं। जो लोग केवल सैनिक बनते थे उनके लिये यह नियम नहीं था और न वे इसका पालन करते थे। जब आर्य साहित्य बहुत बढ़ गया और प्रत्येक व्यक्ति के लिये उसका अध्ययन कठिन एवं असंभव सा हो गया तब ब्राह्मण के लिये सांगोपांग एक ही वेद का अध्ययन पर्याप्त माना जाने लगा। वेद के अंग और उपांग भी इतने हो गये कि उनको समझने और याद रखने के लिए भी सूत्र साहित्य की रचना होने लगी। ऐसी अवस्था में राजकुमार के लिये वेदाध्ययन पर कम ज़ोर दिया जाने लगा। कुछ आचार्य तो यह भी मानने लगे कि क्षत्रिय के लिये केवल राज धर्म अर्थात् दंडनीति, अर्थ-शास्त्र वार्ता आदि विषयों का ज्ञान ही काफी है क्योंकि राज धर्म में सब विद्याओं का समावेश हो जाता है। वास्तव में राज धर्म ही सब विद्याओं का आश्रय है। महा-भारत में लिखा है कि दंडनीति के नष्ट होने पर वेद, आश्रम-धर्म तथा वर्ण-धर्म सब नष्ट हो जाते हैं, इसलिये दंडनीति मुख्य है। एक प्राचीन लेखक ने यह भी मत प्रकट किया है कि उपयोगी और आवश्यक पाठ्य विषय तो केवल राजधर्म ही हैं, क्षत्रियों के लिये ही नहीं बल्कि सब के लिये वेदादि विषय केवल जंजाल है।

समापवर्तन संस्कार : अध्ययन समाप्त करने पर शिष्य गुरु से आज्ञा माँग कर अपने घर जाता था। इस अवसर पर शिष्य अपने सामर्थ्यानुसार गुरु को दक्षिणा देता था और गुरु शिष्य को अपना अन्तिम उपदेश दिया करता था। परम्परा से इस उपदेश ने यह रूप धारण कर लिया था—"सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय में प्रमाद न करो। माता, पिता, आचार्य और अतिथि को देवतुल्य मानो। जब कर्तव्याकर्तव्य के विषय में शंका हो तो उत्तम आचरण वाले शिष्ट जनों से पूछो। गृहस्थ धर्म का पालन करो। सन्तान परम्परा बन्द न होने दो।" विद्याध्ययन करते समय बालक ब्रह्मचर्य का पालन करता था। इसके अतिरिक्त उसका अध्ययन भी सब ब्रह्म विषयक होता था। अतः वह सर्वांश में ब्रह्मचारी होता था। अध्ययन समाप्त करने पर वह स्नातक बन

कर अपने घर जाता था। और इसके पश्चात् विवाह करता था। क्षत्रिय बालक भी स्नातक हुए बिना राज्याभिषेक का अधिकारी नहीं समझा जाता था।

संयुक्त परिवार : विवाह करने के पश्चात् आर्य युवक गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। आर्य कुल संयुक्त परिवार था। परिवार के सब लोगों को अपने वृद्धजन के शासन में रहना पड़ता था। परिवार का सब से बड़ा पुरुष उसका मुखिया माना जाता था। आर्य अधिकांश कृषि कार्य करते थे। इसलिये संयुक्त परिवार इस व्यवसाय के लिए अति उपयुक्त था। पुरुष खेत जोतते थे, स्त्रियाँ रखवाली करती थीं, बच्चे गाय बैल चराते थे और वृद्ध घर की देख-रेख करते थे। इस प्रकार समस्त परिवार अपने एक ही व्यवसाय में लगा रहता था। कृषि से जो मिलता था वह सब के संयुक्त श्रम का फल था और सबका ही उससे निर्वाह होता था। यह शैली अब तक भारत के गाँवों में चली आती है। कृषि कर्म प्रधानतः वैश्यों का था। इसके लिये उनको आदि निवासियों की भी आवश्यकता होती थी। परन्तु वे लोग स्वयं भी यह काम करते थे। वास्तव में आर्यों का मुख्य व्यवसाय कृषि कर्म ही था। बहुत से विद्वानों का कहना है कि आर्य शब्द का अर्थ ही कृषक है। यह शब्द ही 'ऋ' धातु से बना है जिसका अर्थ खेत जोतना भी है, परन्तु उसका यही अर्थ नहीं है, अन्य अर्थ भी है। आर्य का दूसरा अर्थ गतिशील और उन्नतिशील भी है।

गृहस्थ धर्म : ब्राह्मण गृहस्थ नित्य यज्ञ करता था। इसमें उसकी पत्नी साथ होती थी और परिवार के अन्य लोग शामिल होते थे। उसका अतिथि भी सम्मिलित हुआ करता था। उसकी वेदी की अग्नि बुझने नहीं दी जाती थी। यह अग्नि ब्राह्मणों के अध्ययन, ज्ञान, और तप की प्रतीक मानी जाती थी। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जो ब्राह्मण के यहाँ मिलने जुलने आते थे, वे उसके घर पर भोजन नहीं किया करते थे। ब्राह्मण वास्तव में निर्धन या अकिंचन होता है। अतः अतिथि का यह कर्त्तव्य माना जाता था कि वह उसके घर भोजन करके उसको परेशान न करे। अतिथि-सेवा गृहस्थ का मुख्य कर्त्तव्य समझा जाता था परन्तु ब्राह्मण का अतिथि प्रायः ब्राह्मण ही हुआ करता था। क्षत्रिय के यहाँ और इसी प्रकार वैश्य के यहाँ भी सब लोग अतिथि होते थे। सब आश्रमों में गृहस्थाश्रम ही मुख्य समझा जाता था। इसका कारण प्रत्यक्ष ही है। समाज को धारण करने वाला और ब्रह्मचारियों तथा सन्यासियों का पालन करने वाला गृहस्थ ही था। इसी का सबको आश्रय था। प्रत्यक्षतः यह कर्त्तव्य मुख्यतया क्षत्रिय और वैश्यों का था।

सन्यास धर्म : वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम में कोई विशेष भेद नहीं है। वैदिक काल में विशेषकर ऋग्वेदिक काल में इनका भेद स्पष्ट भी नहीं हुआ था। शनैः शनैः जब आश्रम विधि व्यवस्थित होने लगी तो यह भेद स्पष्ट होने लगा। दोनों आश्रमों में व्यक्ति त्याग और तप के साथ जीवन व्यतीत करता था। भेद इतना ही

था कि वानप्रस्थाश्रम में पत्नी साथ रहती थी और सन्यासाश्रम में पुरुष उससे अलग हो केवल तपश्चर्या और लोकोपदेश में लग जाता था। सन्यासाश्रम में उसको यज्ञ, हवन, शिखा, सूत्र आदि किसी की आवश्यकता नहीं रहती थी। वह सब विधानों और नियमों से पार होकर केवल ईश्वर चिन्तन में लग जाता था। सन्यासी नगर या गाँव में नहीं रहता था। वह संसार के कोलाहल से विनिर्मुक्त होकर जंगल में निवास करता था और फल पत्ते खाकर जीवन निर्वाह करता था। जब वह नगर या गाँव में आता था तो एक स्थान पर तीन दिन से अधिक नहीं ठहरा करता था। वह अपने पास द्रव्य, विशेषकर स्वर्ण नहीं रखता था। सन्यासाश्रम में त्याग और तपस्या की पराकाष्ठा थी। यह आर्यों ने मानव जीवन और विशेषतः ब्राह्मण जीवन का आदर्श या ध्येय बनाया था। ब्राह्मणों में अनेक लोग और क्षत्रियों में कोई कोई इस उच्च आदर्श को प्राप्त करने का यत्न करते थे। परन्तु यह असम्भव था कि सब ही इस उच्च लक्ष्य को प्राप्त कर सकें। वैश्यों और शूद्रों में तो यह आदर्श था भी नहीं और यदि उनमें सन्यासी होते भी होंगे तो कोई-कोई और कभी-कभी। मनुष्य जीवन में योग्यता, संतुलन और और सन्तोष सम्पादन करने के लिए भारतीय आर्यों ने आश्रम-धर्म की अद्भुत व्यवस्था की थी। हमारा समाज कितनी ही शताब्दियों तक इस व्यवस्था के ही कारण संतुष्ट और सुन्दर बना रहा। याज्ञवल्क्य, बुद्ध, महावीर, शंकर और दयानन्द इसी वृक्ष के सुन्दर पुष्प थे।

आर्यों का मुख्य व्यवसाय, कृषि : आर्यों का मुख्य व्यवसाय कृषि था। शास्त्रानुसार यह वैश्यों का ही कर्म था परन्तु इसको अधिकतर शूद्र करते थे। क्षत्रिय भी सब सैनिक नहीं बन सकते थे और न ब्राह्मण वेदों का अध्ययन या अध्यापन कर सकते थे। कृषि ही एक ऐसा व्यवसाय था जिसके द्वारा सबका निर्वाह हो सकता था। कृषि से सम्बन्धित व्यवसाय था पशुपालन। प्रायः प्रत्येक कृषक यह कार्य भी करता था। पशुपालन एक स्वतन्त्र व्यवसाय नहीं था। लेकिन भेड़ों और बकरियों का पालन स्वतंत्र व्यवसाय रहा होगा। यह प्रथा अब तक चली आ रही है। उस समय खेत बड़े-बड़े नहीं थे। उत्तर प्रदेश में अब तक खेत छोटे छोटे ही हैं। खेती बैलों के द्वारा की जाती थी। हल और गाड़ी दोनों में बैल ही जोते जाते थे। मुख्य खेती आरम्भ में जौ की थी और फिर गेहूँ की तथा कपास की होने लगी। इनके साथ शाक, फल, तिल आदि भी बोये जाते थे। गन्ने की खेती भी बहुत पुरानी है। कृषि से सम्बन्ध रखने वाले व्यवसाय गाँवों में चलते थे परन्तु इनको करने वालों की संख्या बहुत कम थी। प्रायः प्रत्येक गाँव में खाती और लुहार तो आवश्यक था ही। हल कृषक नहीं बना सकता था और न वह गाड़ी बना सकता था। दोनों कृषि कार्य के लिए अत्यन्त आवश्यक थे। अतः गाँव की जनसंख्या के अनुसार एक दो खाती और लुहार वहाँ रहा करते थे। गौ पालन प्रत्येक कृषक करता था। किसी के पास कम गौ

होती थीं और किसी के पास अधिक। गौओं से कृषक को दूध, घी, दही आदि मिलते थे। ये पदार्थ आर्यों के भोजन के प्रधान अंश थे। इसके सिवाय गौओं से कृषकों को बैल मिलते थे जो उनके हलों और शकटों में काम आते थे। ब्राह्मण भी गौ पालते थे। परन्तु यह उनका व्यवसाय नहीं था और गौ या बैल का व्यापार करना ब्राह्मणों के लिये निषेध था। ब्राह्मण गौ को केवल दुग्ध, घृत और दधि तथा नवनीत के लिए रखते थे। कृषि प्रधान देश में गौ की महत्ता स्वाभाविक बात थी। आर्यों का जीवन तप और त्याग का जीवन था। अतः उनमें दया और स्नेह का विशेष विकास होना ही चाहिए था। इन कारणों से आर्य गौ को पवित्र मानने लगे थे। परन्तु उस समय गौ इतनी पूज्य और पवित्र नहीं मानी जाती थी जितनी वह गुप्त काल के आस पास मानी जाने लगी। तो भी गौ का महत्त्व वैदिक काल में सब समझते थे। इसका रक्षण और पोषण धर्म माना जाता था।

अन्य व्यवसाय—रथ, धनुष, बाण आदि का निर्माण : कृषि के अतिरिक्त अन्य कई व्यवसाय थे। उस समय युद्ध में रथों का उपयोग होता था। रथ बनाने वाले रथकार कहलाते थे। इनके निर्माण में विशेष निपुणता और चतुरता की आवश्यकता हुआ करती थी। जो खाती कृषिकारों के वास्ते शकट या गाड़ियां बनाते थे वे रथ नहीं बना सकते थे। रथों के पहिये, धुरी और जुए आदि विशेष रूप से दृढ़ और युद्धस्थल के उपयुक्त बनाये जाते थे। इसी प्रकार धनुष और बाण बनाने का भी एक विशेष व्यवसाय था। यह उस समय के विशेष अस्त्र थे। इसलिए इनके निर्माता भी विशेषज्ञ ही हुआ करते होंगे। धनुष भी कई प्रकार के बनते थे। शिकार के लिए और युद्ध के लिए अलग-अलग प्रकार के धनुष बनाये जाते होंगे। युद्ध में नायकगण रथों में बैठे हुए बाण चलाते थे। प्रमुख योद्धाओं के और साधारण सैनिकों के धनुष भी अलग-अलग तरह के होते होंगे। बाण तो कई प्रकार के होते ही थे। बाण के आगे का भाग लोहे का बनता था जो आगे से तीक्ष्ण और नोंकदार होता था और पीछे से कुछ चौड़ा होता था। बाण का पृष्ठ भाग पुंखयुक्त होता था। पुंख सब पीछे की ओर मुड़े रहते थे। बाण का अग्र भाग इस प्रकार का इसलिये बनाया जाता था कि यह घुस तो आसानी से जावे लेकिन निकाला न जा सके। बाणों के आकार-प्रकार भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते थे। बाण तूणीर में रखे जाते थे। सैनिक और शिकारी दोनों तूणीर का ही उपयोग किया करते थे, परन्तु यह भी एक प्रकार का नहीं बनता था। इन विभिन्न प्रकार के धनुष और बाणों को बनाने वाले तथा बाणों के अग्रभागों को और पृष्ठ भागों को बनाने वाले भी विशेषज्ञ ही होने चाहिए। उत्तर वैदिक काल में विषाक्त बाणों का प्रयोग होने लगा था। इसलिए इनके वास्ते उपयुक्त विष तैयार करने तथा उनको विषाक्त करने का भी व्यवसाय था।

अश्व-पालन और अश्व-साधन आदि व्यवसाय : रथों में घोड़े जोते जाते

थे, और ये सवारी के भी काम में आते थे। अतः अश्वपालन तथा इनके क्रय और विक्रय का भी एक व्यवसाय था। ब्राह्मणों के लिये इस धन्धे का निषेध था। अतः इस काम को क्षत्री और वैश्य ही करते थे। कुछ शूद्र भी शायद इसमें लगे हुए होंगे। समर भूमि में प्रत्येक घोड़ा काम नहीं दे सकता और न रथ में आसानी से घोड़ा जोता जा सकता है। इसलिए घोड़ों को साधने और विभिन्न कामों के योग्य बनाने का भी एक व्यवसाय था। खेती के वास्ते, युद्ध में रथों के घोड़ों के वास्ते तथा अन्य कई कामों में नाना प्रकार के रस्सों और रस्सियों की आवश्यकता होती थी। अतः रस्से बनाने का भी एक व्यवसाय था। इसी प्रकार कोई टोकरियाँ बनाते थे, कोई घोड़ों की लगामें बनाते थे, कोई परसे आदि अस्त्र बनातें थे और कोई समर भूमि में काम आने वाली अन्य वस्तुएँ बनाते थे।

रुई, ऊन और धातुओं का व्यवसाय : आर्य रुई और ऊन दोनों का प्रयोग करते थे। शायद रेशम का प्रयोग उस समय नहीं किया जाता था। कपास लोढ़ना, चर्खा कातना, कपड़े बुनना और कपड़े का व्यापार करना भी अलग-अलग व्यवसाय थे। इसी प्रकार ऊन के भी व्यवसाय थे। उस समय अत्यधिक कपड़े पहनने का व्यसन नहीं चला था परन्तु तो भी कपड़े की मांग साधारण नहीं होगी। अतः सूत और कपड़े का बड़ा व्यवसाय होगा। छोटे और बड़े यज्ञों में काम आने वाले अनेक प्रकार के यज्ञ पात्र बनाने का भी सम्भवतः अलग व्यवसाय हो; क्योंकि यज्ञ आदि का आर्यों के जीवन में विशेष स्थान था। रात-दिन गृहस्थी में भी कई प्रकार के बर्तन काम में आते थे। सोना, चाँदी और लोहा आदि कई धातुओं का उस काल में खूब प्रयोग होता था। सोने चाँदी के अलङ्कार ही नहीं, बर्तन भी बनाये जाते थे।

छोटे-छोटे अन्य व्यवसाय : कृषि से उत्पन्न होने वाले पदार्थों का भी मुख्य व्यवसाय था। अन्न, कपास, शाक आदि का व्यापार वैश्य लोग करते थे। कुछ शूद्र भी उनके साथ रहते होंगे। मालायें बनाने का भी एक व्यवसाय था। यह लोग मालाकार कहलाते थे। आर्य अधिकांशतः गाँवों में निवास करते थे परन्तु उत्तर वैदिक काल में नगर भी बस गये थे। अतः गृह निर्माण भी कुछ लोगों का धन्धा बन गया था। लोग घर ही नहीं दुर्ग बनाना भी जानते थे। कुछ लोग शिकार करके अपना निर्वाह करते थे। पशु और पक्षियों को मारकर स्वयं खाते थे और बेचते भी थे। यह व्यवसाय शूद्र ही करते थे। आर्य समुद्र से तो भलीभाँति परिचित नहीं थे परन्तु बड़ी-बड़ी नदियों से उनका काम पड़ता था। अतः नावों से काम लेना अनिवार्य था। इसलिए नावें बनाने का और उनको खेने का भी अलग व्यवसाय था।

आर्यों का व्यापार : आर्य लोग उत्तर भारत में सर्वत्र और दक्षिण भारत में यत्र-तत्र फैल गये थे और बस गये थे। इतने विस्तृत देश में बसे हुए लोगों का व्यापार भी विस्तृत होना ही चाहिए। मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा के निवासियों का

व्यापार सुमेरिया, दक्षिण भारत, नेपाल और पंजाब से होता था। आर्यों का व्यापार भी अवश्य दूर-दूर से होता होगा परन्तु इसका उल्लेख ऋग्वेद में या शेष वैदिक साहित्य में नहीं मिलता है। ये समस्त साहित्य धार्मिक साहित्य है। अतः इसमें संस्कृति के सम्पूर्ण अंगों के उल्लेख की आशा नहीं करनी चाहिये, परन्तु उल्लेख न मिलने से यह भी निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि आर्यों का कोई व्यापार ही नहीं था। वैश्यों का मुख्य कर्म व्यवसाय था। इनमें एक वर्ग ऐसा था जो व्यापार में विशेष निपुण था। लाभ के लिए ये लोग दूर-दूर जाया करते थे। इनके एक प्रकार के संघ बने हुए थे। ऐसा भी अनुमान होता है कि शायद ये लोग छोटी बड़ी नौकाओं के द्वारा समुद्र के किनारे-किनारे सुमेरिया, ईरान, अरब तथा मिश्र में जा पहुँचते हों। ये वास्तव में वैदिक काल के मारवाड़ी थे। इनसे उस समय लोग घृणा और ईर्षा करते थे, यह स्वाभाविक बात थी। जिसके पास लक्ष्मी या शक्ति होती है उससे लोग घृणा या ईर्षा करने लगते हैं। उस समय विनिमय विधि से व्यापार होता होगा और यदि कोई सिक्का चलता होगा तो उसका पता नहीं चलता है। परन्तु यह सम्भव है कि 'पंच मार्क' सिक्कों जैसा कोई सिक्का चलता हो। शायद गौयें एक प्रकार के सिक्के का काम देती हों। इनको विशेष धन माना जाता था। आदिम और प्राचीन समाज में भी पशु ही प्रधान धन था।

व्यापार के लिये सिक्के, मार्ग और पदार्थ : सोने और चांदी का उपयोग वैदिक काल में खूब होता था। आर्य लोग इनको मूल्यवान धातु मानते थे। इनके आकर्षण और चकाचौंध का वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र उल्लेख है। इसलिये यह भी सम्भव है कि स्वर्ण तथा चाँदी के छोटे छोटे टुकड़ों से सिक्कों का काम लिया जाता हो। ऐसी प्रथा प्राचीन काल में प्रचलित भी थी। सिक्के जारी करना राज्य का अधिकार या कार्य उस समय नहीं माना जाता था। इससे राजा को कोई लाभ भी नहीं था। सिक्के चलाने से राजा को लाभ उसी दशा में हो सकता है जब सोने चाँदी में कोई सस्ती धातु मिला कर सिक्के बनाये जावें। वरना सिक्के कोई भी जारी कर सकता है। प्राचीन भारत में श्रेणियां अर्थात् व्यापार संघ अपने-अपने सिक्के जारी किया करते थे। प्रसिद्ध व्यापार मार्गों का वेद में उल्लेख नहीं मिलता लेकिन छोटे छोटे मार्गों के अतिरिक्त बड़े मार्ग वे ही होने चाहिये जो महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में थे और जिनका वर्णन यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ ने ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व अपने 'इन्डिका' नामक ग्रन्थ में किया है। उसके समय में पाटलीपुत्र से पुष्पपुर (पेशावर) तक एक मार्ग बना हुआ था जिस पर प्रति एक कोस के अन्तर पर पत्थर गड़े हुए थे। ईसा से छः सौ वर्ष पूर्व के बौद्ध साहित्य में भी इस मार्ग का उल्लेख आता है। इस मार्ग से ही उत्तर भारत के विद्यार्थी तक्षशिला के विश्वविद्यालय में अध्ययन करने जाते थे। इसी प्रकार दक्षिण भारत अर्थात् जम्बुद्वीप को जाने के वास्ते भी एक मार्ग था जो

दक्षिणापथ कहलाता था। दूर देशों में व्यापारी सामान भेजने के लिए वैदिक काल में भी इन्हीं मार्गों का उपयोग किया जाता होगा। ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया था और वह व्यास नदी तक आ पहुँचा था। फिर वापस वह सतलज नदी तक पोरस के राज्य में गया और वहाँ से नावों के द्वारा वह समुद्र तक पहुँचा। ये नावें भारत निवासी शिल्पियों ने ही बनाई थीं। ऐसी नावों के द्वारा भी उस समय और उससे पूर्व व्यापार होता होगा। बड़ी बड़ी नावों का जिनको खेने के वास्ते अनेक नाविकों की आवश्यकता हुआ करती थी वेदों में उल्लेख है। व्यापार प्रायः अन्न, वस्त्र, आभूषण, सोना-चाँदी और पशु आदि का होता था।

वेद धर्म पर पश्चिमीयों का विचार : वेद कालीन धर्म के विषय में यूरोपीय विद्वानों का मत हमारी परम्परा के प्रतिकूल है। भारतीय विद्वान वेदों को सब धर्मों का अर्थात् वर्ण-धर्म तथा सब प्रकार के दर्शनों का और आचार-धर्म का मूल मानते हैं। परन्तु यूरोपीय विद्वान विकासवाद के सिद्धान्त से चलते हैं और अनुमान करते हैं कि उस समय आर्यों की सभ्यता उन्नत नहीं हुई होगी। आरम्भ में ईश्वर सम्बन्धी विचार भी साधारण होंगे। प्रकृति के विभिन्न और शक्तिशाली स्वरूपों की लोग पूजा करते होंगे।। सूर्य, वायु, अग्नि आदि को ईश्वर मानते होंगे। फिर शनैः शनैः ज्ञान विकसित हुआ होगा और एक ईश्वर का भाव विकसित हुआ होगा। ये विचार सब विकासवाद के सिद्धान्तों पर आश्रित हैं और यह बात मान कर चलते हैं कि वैदिक काल में आर्यों की सभ्यता प्राथमिक अवस्था में थी। वास्तव में ऐसी बात नहीं थी। मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा से प्रकट हो गया है कि ईसा से ३००० वर्ष पूर्व भी भारत में उन्नत संस्कृति विद्यमान थी।

वेद में ईश्वर के विभिन्न रूप : वैदिक आर्य सूर्य, वायु और अग्नि आदि की स्तुति करते थे। वे इन देवों को जगन्नियन्ता ईश्वर के विभिन्न स्वरूप मानते थे। इनकी स्तुतियों से ही यह बात प्रकट है। वे अग्नि से प्रार्थना करते हुए कहते हैं—"हे अग्नि! हमको सन्मार्ग पर ले चलो, हमको वैभव और कल्याण प्राप्त हो, तुम सम्पूर्ण मार्गों से परिचित हो। हमारे हृदय में छिपे हुए पापों को नष्ट कर दो। हम बारंबार तुमको नमस्कार करते है। हे अग्नि! जिस प्रकार पिता अपने पुत्र का पालन करता है, तुम भी हमारा रक्षण और पालन करो। तुम हमारे सब कार्मों में हमारा साथ दो, हमारे हृदयों को प्रकाशित और ज्ञानवान बनाओ। तुम तेज के आगार हो, हमको तेज प्रदान करो।" वायु, सूर्य, इन्द्र, वरुण आदि की स्तुतियाँ भी इससे मिलती जुलती हैं।

वेदों में विभिन्न देव : आर्य जड़ प्रकृति के उपासक नहीं थे। वे प्रकृति के प्रकाशवान् और शक्तिमान पदार्थों में ईश्वरीय सत्ता को देखते थे। ये पदार्थ पराशक्ति के मूर्त प्रतीक थे। एक ऋचा में कहा है कि अग्नि, वायु आदि स्रष्टा की केतु अर्थात्

ध्वजायें हैं। इनके द्वारा हमको उसका ज्ञान होता है और दर्शन होता है। एक सूक्त में वर्णन है कि ईश्वर से समस्त सचराचर जगत् और ब्रह्मांड किस प्रकार उत्पन्न हुआ। वेदों की ऋचाओं में ईश्वर की स्तुति कई प्रकार से की गई है। वेदों में जिन देवों की स्तुति की गई है उनको तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। आकाश के देव, वायु मंडल के देव और धरणीतल के देव। आकाश के देवों में सूर्य, चन्द्र, तारे, आदि हैं, वायु मंडल के देवों में इन्द्र, वायु, मरुत आदि और पृथ्वी तल के देवों में अग्नि, वरुण आदि हैं। वास्तव में आर्य उन सब पदार्थों को ईश्वरमय या ईश्वर के स्वरूप मानते थे जिनमें शक्ति और विभूति हो। नीचे के कुछ अंशों से प्रकट होगा कि वेदों में इन देवों की प्रार्थना किस प्रकार की जाती थी।

"हे अग्नि! प्राचीन ऋषियों ने तेरी स्तुति की है और वर्तमान ऋषि भी तेरी स्तुति करते हैं। तेरे अनुग्रह से ही पूर्वजों ने वैभव का तथा यज्ञ का उपभोग किया है। हे अग्नि! तू श्रोता है, तू कवि है, तू कल्याण कर है, तू ही यज्ञों का सम्पादन करने वाला और तू ही अमृत का रक्षक है। जिस प्रकार पिता पुत्र का पालन करता है उसी प्रकार तू हमारा पालन कर।

हे अग्नि! तू देवों का देव है, तू कल्याण करने वाला मित्र है। विद्वान लोग तेरा मार्ग ग्रहण करते हैं। तू सब देवों को प्रेरित करने वाला है। समस्त संसार में तू सर्वाधिक शक्तिमान है। तू मनुष्यों को अमृत प्रदान करता है। प्रतिदिन उनके प्रकाश की वृद्धि करता है। तू देवों और मनुष्यों पर सुख की वर्षा करता है। हे अग्नि! तू हमारे माता पिता की गोद के समान है। तू बुद्धिमानों में सदा जागृत रहता है। तू विश्व को कल्याण प्रदान करता है। तू हमारा संरक्षक है, तू हमारा पिता है, तू आयु का देने वाला है। हम सब तेरे बालक हैं। अगणित वैभवों का तू निकेतन है। तू वीरों का अधिपति है।"

"हे इन्द्र! गायक तेरा यश गाते हैं, कवि तेरी प्रशंसा करते हैं और ब्राह्मण तेरे महत्व का वर्णन करते हैं। हम तेरी मित्रता की अभिलाषा करते हैं। तुझ से वैभव और शौर्य चाहते हैं। तू हमको सहायता दे और सम्पत्ति प्रदान कर। हे इन्द्र तू हमारे लिये यश का द्वार खोलदे। हमारी गौओं की और सम्पत्ति की वृद्धि कर। तेरा क्रोध पृथ्वी और आकाश में नहीं समा सकता। हमारे ऊपर स्वर्गीय पानी बरसा और हमारे गोधन को बढ़ा। तेरे कानों में हमारी प्रार्थना तुरन्त पहुँचती है। मेरी वाणी तुझ तक शीघ्र पहुँचे। तू अपार शक्ति का केन्द्र है। समर भूमि में हमारे आह्वान को तुरन्त सुनता है। हम तेरा आह्वान करते हैं। तू सहस्र विधि से हम पर अनुग्रह करता है।

जो तेरे मार्ग और व्रत हैं उनका हम नित्य उल्लंघन करते हैं। परन्तु तू हम पर दया कर और हमको बचा। हम अपनी वाणी से तेरे मन को ऐसे बांधना चाहते

हैं जैसे रथी घोड़े को बांध देता है। तू पक्षियों के मार्ग को, समुद्र की नावों को, वर्ष के बारह मासों को, वायु की गति को, उसके विस्तार और बल को और सर्वोपरि देव को जानता है। तू व्रत धारण करके तथा महा कार्य करके जगत् के नियन्त्रण के लिये विराज रहा है।"

"सूर्य उदय हुआ है। यह देवों की सेना है। अग्नि, मित्र और वरुण नेत्र हैं। यह चल और अचल की आत्मा है। इसने ही, पृथ्वी और अन्तरिक्ष को अपने प्रकाश से भर दिया हैं। यह उषा देवी के पीछे ऐसे चलता है जैसे युवा युवती के पीछे चलता है। इससे मनुष्य युगों से कल्याण के लिये याचना करते आये हैं।"

वेद में एकेश्वरवाद : इसी प्रकार वेदों में अनेक देवों से प्रार्थना की गई है। प्रार्थना की भाषा और भावों से प्रकट होता है कि ये सब प्रार्थनायें ईश्वर के प्रति हैं जिसको ऋषियों ने विविध रूपोंमें देखा था। कई सूक्तोंमें दो देवों की साथ-साथ प्रार्थना की गई है। पृथ्वी और द्यौ, मित्र और वरुण, अग्नि और सोम, सूर्य और अग्नि की सम्मिलित स्तुति की गई है। इस प्रकार दो दो देवों को एक ही रूप में देखा है। अनेक सूक्तों में दो से अधिक देवों को भी सम्मिलित कर दिया है और कई सूक्तों में समस्त देवों की 'विश्वेदेवा' के नाम से स्तुति की गई है। पिछले अध्याय में बतलाया गया है कि मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा के लोगों में भी दो या दो से अधिक या समस्त देवों को शामिल करने की प्रवृत्ति थी। इन सम्मिलित देवों से प्रार्थना भी सम्मिलित ही की जाती होगी। वेदों में इन समस्त देवों के अधिपति की स्तुतियां हैं। उसको प्रजापति या ब्रम्हणस्पति के नाम से आह्वान किया गया है। वह देवातिदेव हैं। कई स्थानों पर प्रसंग से तथा एक स्थान पर बिल्कुल स्पष्ट कहा है कि अग्नि, वायु, इन्द्र, सूर्य आदि उस एक ही ईश्वर के नाम हैं। विद्वान लोग उसका भिन्न-भिन्न नामों से वर्णन करते हैं। वास्तव में वह सत् है और असत् भी। उसका पूरा वर्णन नहीं हो सकता। अतः अन्त में कहा गया है कि वह चल है और अचल है, वह निकट भी है और दूर भी, वह सब के अन्दर है और बाहर भी। वहाँ हमारी वाणी नहीं पहुँचती न वहाँ चक्षु पहुँच सकती है। वह न शास्त्रार्थ से प्राप्त होता है, न बुद्धि से और न बहुत कथा सुनने से। वह शुद्ध हृदय में स्वतः ही प्रकट होता है।

यज्ञ और यज्ञविरोध : वैदिक युग में धर्म का मुख्य अंग यज्ञ था। ब्राह्मण कुलों में तो नित्य अग्निहोत्र होता ही था, परन्तु कुछ ऐसे यज्ञ थे जिनमें समाज के हज़ारों व्यक्ति सम्मिलित हुआ करते थे और मेले लग जाया करते थे। ऐसे यज्ञ राजा लोग करवाते थे। इनमें राजसूय, अश्वमेध यज्ञ, वाजपेय यज्ञ आदि मुख्य यज्ञ थे। इनके लिये बड़े आयोजन किये जाते थे। यहाँ मंडप बनाये जाते थे, विशेषज्ञ यज्ञ वेदियाँ बनाते थे। विधि पूर्वक मन्त्रोच्चारण करने वाले ब्राह्मण बुलाये जाते थे।

उनके पीछे-पीछे ऋचाओं का पाठ करने वाले इकट्ठे होते थे। यज्ञाहुति भी निश्चित विधि से दी जाती थी। इसके विशेषज्ञ एकत्र होते थे। यज्ञ पात्र, यज्ञ समिधा तथा यज्ञसामग्री विशेष विधि से व्यवस्थित की जाती थी। निर्दिष्ट स्थानों पर यजमान और यजमान पत्नी बिठाये जाते थे। कई दिन और मास तक बल्कि एक वर्ष तक ऐसे यज्ञ चला करते थे। निमन्त्रित लोगों के अतिरिक्त अन्य लोग भी चहल-पहल और सम्मेलन को देखने के वास्ते एकत्र हो जाते थे। यज्ञ समाप्ति पर बहुत बड़े-बड़े भोज होते थे। ब्राह्मणों को पुष्कल दक्षिणा दी जाती थी। दक्षिणा में गोदान और स्वर्ण-दान प्रधान था। ऐसे बृहद् यज्ञ राज्यप्राप्ति, दिग्विजय, शत्रुदमन आदि विशेष अवसरों पर या किसी इष्ट की प्राप्ति जैसे पुत्रादि की प्राप्ति के हेतु करवाये जाते थे। शनैः शनैः यज्ञ बहुत प्रचलित हो गया और लोग ऐसा विश्वास करने लगे कि जिस इच्छा की पूर्ति चाहो यज्ञ के द्वारा हो सकती है। इससे अनेक प्रकार के यज्ञ होने लगे। यज्ञ करना इष्ट प्राप्ति का साधन हो गया और यज्ञ करवाना ब्राह्मणों का व्यवसाय बन गया। यज्ञ का आडम्बर इतना बढ़ गया कि इसके वास्तविक स्वरूप और अभिप्राय को लोग भूल गये और विधिकलाप में उलझने लगे। ब्राह्मण ग्रन्थों में विधि की जटिलताओं का वर्णन है और उपनिषदों में यज्ञ का दबा हुआ विरोध है। यह मनुष्य की प्रकृति है कि वह धर्म के असली तत्वों को और सत्य को छोड़कर उसके कलेवर को या प्रतीक को अधिक महत्व देने लगता है। इस प्रकार बाह्य क्रियायें विचारों को ढक लेती हैं। ब्राह्मण काल में यह स्थिति उत्पन्न हो गई थी। ईश्वर चिन्तन यज्ञ विधि से ढक गया था। तब तत्ववेत्ता लोग इसका विरोध करने लगे और तत्व का महत्व प्रकट करने लगे। कितने ही वर्षों के बाद यह प्रवृत्ति बदली और पुनः ध्यान, मनन और चिन्तन को महत्व दिया जाने लगा। उपनिषद् इस चिन्तन काल के ग्रन्थ माने जाते हैं। इनमें ईश्वर के स्वरूप का बड़ा सूक्ष्म वर्णन है और ध्यान तथा चिन्तन पर बड़ा जोर दिया गया है। ब्रह्म और आत्मा का विवेचन जितना उत्तम और मार्मिक इन ग्रन्थों में किया गया है उतना संसार की किसी अन्य भाषा में नहीं मिलता। गीता में उपनिषदों का सार है। वेदान्त दर्शन एक प्रकार का उपनिषद् ही है। भारतीय आचार्यों और सन्तों के मत सब उपनिषदों पर आश्रित हैं। मुसलमानों के सूफी मत पर उपनिषदों की गहरी छाप है। उपनिषद् को वेदान्त भी कहा जाता है।

अथर्ववेद के मन्त्र तन्त्र : अथर्ववेद का संसार एक निराला ही संसार है। इसके अध्ययन से पता चलता है कि आर्य और द्रविड़ उस काल में घुलने मिलने लग गये थे। अतः आर्य विचारों में द्रविड़ विचारों का प्रवेश होने लगा था। पहिले कुछ समय तक तो आर्यों ने प्रयत्न किया होगा कि उनके विचार पूर्ववत् विशुद्ध बने रहें। परन्तु यह असम्भव था। जब आर्य लोगों का द्रविड़ लोगों से सम्पर्क बढ़ने लगा तो उनके विचार, उनके रिवाज, उनका दृष्टिकोण और उनकी आदतें भी आर्यों में घुसे

विना कैसे रहती थीं ? आर्य लोग विवश होकर इनको अपनाने लगे और अपने विचारों में इनको स्थान देने लगे। तब आर्यदेवों और द्रविड़देवों का सम्मेलन होने लगा, दोनों की प्रार्थना विधि मिलने लगी, और दोनों का दृष्टिकोण एक बनने लगा। यह सब कुछ होते हुए भी आर्य लोगों ने द्रविड़ भाषा को नहीं अपनाया। और द्रविड़ों के विचारों को अपने विचारों में ऐसा मिलाया कि दोनों में कोई भेद ही नहीं रहा। निश्चित विचारों को आर्य रूप दिया गया, आर्य भाषा में इनको व्यक्त किया गया, और वास्तविक रूप का पूर्ण रूपान्तर कर दिया गया। अथर्ववेद में तन्त्र मन्त्र भरे हुए हैं। इनके विषय में विश्वास था कि इनके द्वारा इष्टप्राप्ति होती है, विपत्तियों का निवारण होता है, रोगों की चिकित्सा और निवृत्ति होती है, और शत्रुओं का दमन होता है। ऋग्वेद कालीन देवों के साथ-साथ अथर्ववेद में भूत-प्रेत, राक्षस, पिशाच आदि भी प्रकट होते हैं। रोगों को भी राक्षस और पिशाच माना गया है। इनके शमन के वास्ते मन्त्रों, मणियों, ताबीजों और अनेक विविध क्रियाओं का प्रयोग बतलाया गया है। देवों के साथ-साथ तारों, वृक्षों, बनस्पतियों, पर्वतों और गुप्त तथा प्रकट अन्य भूतों की भी प्रार्थनायें की गई हैं। रोगों के निवारण के वास्ते औषध प्रयोग भी किया जाता था और मन्त्र प्रयोग भी। राजा की शासन सफलता के लिये, युद्ध में विजय के लिये, शत्रुओं के विनाश के लिये और वैभवप्राप्ति के लिये मन्त्रों और मणियों का प्रयोग प्रचलित हो गया था। ये नये विचार द्रविड़ लोगों से आये थे। इनके सम्पर्क से आर्यों ने उत्तर प्रदेश में आने से पहिले ही ये विचार ग्रहण कर लिये होंगे। मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा के लोग मणियों का खूब प्रयोग करते थे, यह खुदाई से प्रकट हो गया है। उत्तर प्रदेश के निवासी किन-किन उद्देश्यों से इनका प्रयोग करते थे और किस प्रकार से प्रयोग करते थे, यह अथर्ववेद से प्रकट होता है। इस समय भी इनका प्रयोग बन्द नहीं हुआ है। मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा के लोग विचित्र प्रकार के पशुओं की पूजा करते थे। इनमें कोई एक सींग वाले थे, कोई आधे मनुष्य और आधे पशु थे और कोई एक से अधिक सिर वाले थे। इस प्रकार के प्राणियों का अथर्ववेद में भी उल्लेख है। इस दृष्टि से अथर्ववेद के विचार अति प्राचीन प्रतीत होते हैं, परन्तु अथर्ववेद शेष वेदों से पीछे का बना हुआ माना जाता है। दोनों ही बातें वास्तव में ठीक हैं। ये विचार और विश्वास तो अति प्राचीन हैं परन्तु शिष्टजन इनको स्वीकार नहीं करते होंगे। ये विश्वास अशिक्षित और असभ्य लोगों के विचार माने जाते होंगे। परन्तु स्वभावतः इनके मानने वालों की संख्या शिष्ट और सभ्यों की संख्या से बहुत अधिक होगी। अतः उनके विचार और विश्वास अनादृत होते हुए भी जीवित रहे और चलते रहे। जब देखा गया कि इनको अंगीकार किये बिना काम नहीं चल सकता और यह भी देखा गया कि सम्पर्क की वृद्धि के साथ साथ ये विचार भी परिमार्जित विचारों में घुलते मिलते जाते हैं तो इन विश्वासों को भी आर्य कलेवर

दिया गया और इस प्रकार अथर्ववेद का आविर्भाव हुआ। इसीलिये अथर्ववेद की गणना प्रायः शेष तीन वेदों के साथ नहीं होती। इस समय भी अथर्ववेद को वेद अवश्य कहते हैं परन्तु इसकी उनके समान प्रतिष्ठा नहीं है। सभ्य और शिक्षित लोग भी मन्त्र तन्त्र को कभी-कभी स्वीकार कर लेते हैं या इनका उल्लेख होता है तो कुछ हँस देते हैं परन्तु घोर विरोध बिरला ही करता है। ठीक ऐसी ही दृष्टि लोगों की अथर्ववेद के प्रति है।

उपनिषत् का महत्त्व : ऋग्वेद से उपनिषदों तक वैदिक साहित्य को देखने से ज्ञात होता है कि इन तीन हज़ार वर्ष के युग में अर्थात् ईसा से ४००० वर्ष पूर्व से १००० वर्ष पूर्व तक आर्यों ने एक उन्नत और सुन्दर संस्कृति की सृष्टि की थी। ब्रह्म और आत्मा के विषय में उनका चिन्तन और मनन तत्कालीन जगत में तो सर्वोच्च था ही परन्तु आधुनिक संसार में भी उसकी किसी अन्य जाति के या देश के दार्शनिक विचारों से समता नहीं हो सकती। उपनिषदों पर सम्पूर्ण भारतीय दर्शन और अध्यात्मवाद आश्रित है। दाराशिकोह जैसे मुसलमान दार्शनिकों ने इनके महत्व को स्वीकार किया था और इनका अध्ययन किया था। लगभग गत दो शताब्दियों से यूरोप के तत्वदर्शियों ने इनका अध्ययन शुरू किया है और सबने इनके गाम्भीर्य, गौरव और महत्व को स्वीकार किया है। वेद और उपनिषद् की भाषा बड़ी सजीव और परिमार्जित है। इनकी शैली सरस और आकर्षक है। इनके भाव सुन्दर तथा उदात्त हैं। उपनिषद् और वेदों के विषय में जर्मन पण्डितों ने बड़ी श्रद्धा प्रकट की है।

विविध विषयों के ज्ञान का विकास : वेद के अतिरिक्त अन्य कई उपयोगी विषयों के ज्ञान का आर्य लोग विकास कर चुके थे। ज्योतिष इन लोगों का प्रिय विषय था। ग्रह, उपग्रह और नक्षत्रों का इनको अच्छा ज्ञान था। ये लोग मास चन्द्रमा की गति से और वर्ष पृथ्वी की गति से मानते थे। इसलिये इनको अधिक मास मानने की आवश्यकता हुई। यदि ऐसा न करते तो ऋतु और मास साथ साथ नहीं चलते। ज्योतिष के साथ गणित का गहन और अभिन्न सम्बन्ध है। साधारण गणित से ज्योतिष का काम नहीं चल सकता। सूर्य ग्रहण और चन्द्र ग्रहण का समय आर्य लोग गणित द्वारा निकालते थे। इससे स्पष्ट है कि इनका गणित ज्ञान अच्छा विकसित और पुष्ट था। यज्ञ में वेदी की रचना आदि भी रेखागणित के ज्ञान से की जाती थी। कम से कम इनको रेखा, कोण, आयत, समानान्तर रेखा, वृत्त आदि का तो अच्छा ज्ञान था ही। आयुर्वेद में भी इन लोगों ने अच्छी उन्नति करली थी। इनमें वैद्य और चिकित्सकों का अच्छा मान था। ये लोग निदान और चिकित्सा करते थे तथा अनेक औषधियों और वनस्पतियों का इनको ज्ञान था। अनेक रोगों की उत्पत्ति के कारण और शमन की विधि का इनको पता था। परन्तु अभी आयुर्वेद प्रारम्भिक अवस्था में ही था। वैद्य लोगों को अधिकांश रोगों की उत्पत्ति का ठीक पता नहीं

था। इसलिये वे समझते थे कि इन रोगों को राक्षस और पिशाच उत्पन्न करते हैं और फैलाते हैं। कुछ रोग स्वयं एक प्रकार के राक्षस माने जाते थे। इसलिए रोगों का उपचार औषधियों द्वारा किया जाता था और मन्त्र तन्त्र द्वारा भी। इसके लिये मणियों, ताबीज़ों आदि का प्रयोग बहुत प्रचलित था। मणि कई चीज़ों की बनाई जाती थीं जिसमें स्वर्ण, मृत्तिका, औषध आदि पदार्थ मुख्य थे।

इतिहास से प्रेम : इतिहास से आर्यों को बड़ा प्रेम था। इसके नाराशंसी, इतिवृत और वंशानुचरित आदि नाम थे। इतिहास शब्द ईसा से १००० वर्ष पूर्व प्रचलित नहीं था। इस नाम का प्रयोग बाद में होने लगा है। इतिहास शब्द से ही पता चलता है कि आर्य लोग इस विषय को कितना महत्व देते थे और सत्य से उनको कितना उत्कट प्रेम था। यह शब्द "इति ह आस" इन तीनों शब्दों से बनता है। इसका अर्थ है—ऐसा ही था। इससे स्पष्ट है कि आर्य लोग अपना सच्चा इतिहास जानना चाहते थे। वे भूत काल के तद्वत् चित्र को पसन्द करते थे। इतिहास का तत्कालीन मुख्य स्वरूप यह था कि यज्ञ के समय यजमान के पूर्वजों की वंशावली और कीर्तिगाथायें सुनाई जाती थीं। बड़े बड़े यज्ञों के यजमान राजा ही होते थे। अतः उनके पूर्वजों की वंशावली उस राज्य का एक प्रकार का इतिहास हुआ करता था। इतिहास का पूर्व रूप सारे संसार में यही था। इन वंशावलियों का पाठ पढ़ने वाले बाद में सूत, मागध और बन्दीजन कहलाने लगे। पुराणों में जो इतिहास मिलता है वह वैदिक काल की परम्परा है। इसका सम्बन्ध वैदिक साहित्य से नहीं था, अतः उसमें इसका समावेश नहीं हो सकता था। पुराण इस विषय के लिए उपयुक्त ग्रन्थ हैं। पुराण का लक्षण ही यह है कि उसमें पांच विषय होने चाहिए—सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित। इनमें पाँचवां विषय इतिहास है। आधुनिक शैली के इतिहास की वैदिक युग में आशा करना असंगत बात है। परन्तु प्रशंसा की बात है कि उस प्राचीनतम युग में आर्य लोगों को इतिहास के विषय से प्रेम था।

तत्कालीन सेना, शस्त्रास्त्र आदि : धनुर्वेद या युद्ध कौशल में तत्कालीन मापदंड से आर्य लोग संसार में सर्वोच्च थे। आरम्भ में ये लोग द्रविड़ या दस्युओं से लड़ते थे और फिर परस्पर भी लड़ने लगे थे। दस्युओं पर इन लोगों ने विजय प्राप्त की इसका कारण यह था कि इनकी युद्धविधि अधिक व्यवस्थित और उन्नत थी। ख़ैबर की घाटी से जो भी लोग भारत में आये उन सबकी युद्ध शैली यहाँ के निवासियों से अधिक उन्नत थी। इस क्रम का आरम्भ आर्यों ने किया था जो अहमदशाह अब्दाली तक जारी रहा। आर्यों के अस्त्र-शस्त्र, धनुष, बाण और परसे आदि थे। शायद पत्थरों के अस्त्रों का भी ये लोग प्रयोग करते हों परन्तु मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा की खुदाईयों में इस बात के प्रमाण प्राप्त नहीं हुए। इससे प्रकट होता है कि आर्य लोग पत्थर युग से बहुत आगे थे और धातुओं का प्रयोग करते थे। लोहे के

अस्त्र-शस्त्र शायद कई प्रकार के बनाये जाते होंगे परन्तु उस काल के शस्त्रास्त्रों का कोई चिह्न अभी प्राप्त नहीं हुआ। अतः निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। प्राचीन ग्रन्थों में शतघ्नी का उल्लेख है। इसका अर्थ है सौ को मारने वाली। शायद इसके द्वारा सौ शत्रु एक बार में मारे जा सकते होंगे। परन्तु यह पता नहीं चलता कि यह शस्त्र था या अस्त्र और किस प्रकार का था। आर्य लोगों के सैनिक पंक्तिबद्ध होकर चलते थे और शायद एक ही प्रकार के वस्त्र पहिनते थे। कवच का भी कई स्थानों पर उल्लेख है। ये अवश्य ही लोहे के बनते होंगे। बहुत अंशों में ये हिन्दू काल के कवचों से मिलते जुलते होंगे। रिसाले का ज़िक्र शायद वेदों में नहीं है परन्तु युद्ध में घोड़ों का प्रयोग किया जाता था। उनको रथों में जोता जाता था। एक रथ में चार योद्धा तक बैठते थे। दो बाईं तरफ़ और दो दाईं तरफ़। सेना के चार अंग होते थे—हाथी, घोड़े, रथ और पैदल। ईसा से चार सौ वर्ष पूर्व तो इन चारों अंगों का उल्लेख मिलता है परन्तु वेदों में घुड़सवारों का प्रसंग नहीं है। सम्भव है उस युग में भी घुड़सवार सेना में होते हों। घोड़े सवारी के काम में तो आते ही थे परन्तु अधिकांश रथों में भी जोते जाते थे। युद्ध में बाजा बजता था और बाजे के साथ ही संग्राम का आरम्भ होता था। प्रचलित बाजा दुन्दुभि था। और भी कई प्रकार के युद्धवाद्य होते होंगे। अथर्ववेद में कई गीत हैं जो दुन्दुभि के साथ गाये जाते थे। काव्य और भाव की दृष्टि से ये गीत बड़े सुन्दर और सरस हैं। ये शूरवीरों को उत्साहित और प्रेरित करने के लिए गाये जाते थे। राजा प्राय: सेना का नायक होता था और पुरोहित उसके साथ जाता था। यह परम्परा दसवीं शताब्दी तक जारी थी। इसलिये पुरोहित के लिये यह आवश्यक था कि वह युद्धविद्याविशारद हो।

दिव्य युग का आत्मविश्वास : वेदों में कई प्रकार के छन्द हैं। सबकी रचना में सुन्दर व्यवस्था है। पदों में सरस प्रवाह है तथा काव्य अति मनोहर है। काव्य की प्रांजल भाषा और पद-व्यवस्था से विदित होता है कि वैदिक काल सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत और दिव्य युग था। वेदों में नैराश्य, आत्मग्लानि, संताप, दारिद्र्य और दुःख की कथा नहीं है। प्रत्येक पद से ओज, तेज, वीरत्व, साहस और सदभिलाषा टपकी पड़ती है। वेद काल के आर्यों में आत्म विश्वास, शौर्य और निर्भयता है। वे शत्रु से नहीं डरते और अखिल ब्रह्मांड में शान्ति और सुख चाहते हैं। वैदिक संस्कृति तत्कालीन आर्यों की मानव समाज को एक भव्य और दिव्य देन है।

अध्यात्म चिन्तन का महत्व : उत्तर वैदिक काल में उत्तर भारत में कई बड़े नगर थे। इनमें कई अलग अलग राज्यों की राजधानियां थी जो संस्कृतियों के केन्द्र थे। नदियों के तट पर और जंगलों में ऋषियों के आश्रम होते थे जहां गूढ़ विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये विद्यार्थी और गृहस्थ जाया करते थे। ऋषि मुनि भी अध्यात्म के रहस्यों की छान बीन करने के वास्ते एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाया करते थे और एक दूसरे से विचार विनिमय किया करते थे। तत्कालीन राजा ब्रह्म और

आत्मा की चर्चा तथा विवेचन करवाया करते थे और इस अभिप्राय से अपनी राजधानियों में पंडितों और विद्वानों को निमन्त्रित किया करते थे। नये स्नातक आश्रमों में, और पंडितों की सभाओं में अपने उपार्जित ज्ञान का परिचय देने के लिये जाया करते थे। इस समय तक जाति-पांति के बंधन कठोर नहीं हुए थे। गुणकर्मानुसार वर्ण व्यवस्था चल रही थी परन्तु कठोरता किसी प्रकार की नहीं थी। ब्रह्मचिन्तन सभी वर्णों के लोग किया करते थे।

तत्कालीन गृह-निर्माण : ईसा से तीसरी शताब्दी पूर्व अशोक के राज भवन ऐसे थे कि उनको छः सौ वर्ष बाद देखकर फ़ाहियान नामक चीनी यात्री चकित हो गया था और कह उठा था कि ये मनुष्यों के बनाये हुए नहीं हैं, देवों के बनाये हुए हैं। इन महलों से तीन सौ वर्ष पूर्व बनी हुई राजगृह नगरी थी जो बिहार की राजधानी थी। इसके कुछ खण्डहर मिलते हैं परन्तु इसके स्वरूप का कुछ पता नहीं चलता। परन्तु इसकी रचना और व्यवस्था अवश्य ही अच्छी होगी। इससे पूर्व वैदिक युग में भी अच्छे नगर बनते होंगे। यह नहीं हो सकता कि मोहिंजोदाड़ो और राजगृह के मध्य का युग विशाल, व्यवस्थित और सुन्दर नगरों से शून्य हो। वाल्मीकि रामायण में अयोध्या के वर्णन और महाभारत में हस्तिनापुर के वर्णन से विदित होता है कि तत्कालीन आर्यों की नगर व्यवस्था और गृह-निर्माण कला अत्युन्नत थी। मय दानव ने पांडवों के लिये ऐसे विचित्र भवन बनाये थे कि वहाँ जल में स्थल का और स्थल में जल का भ्रम होता था।

मनोविनोद और शान्तिमय जीवन : आर्य अपने अवकाश का समय अनेक प्रकार के विनोदों द्वारा व्यतीत किया करते थे। उस युग में मनुष्यों को फ़ुरसत भी बहुत मिला करती थी। इसलिये वह युग काव्य रचने, सुनने और सुनाने के लिये अति उपयुक्त था। यज्ञ भी एक प्रकार के उत्सव थे। इनमें सामवेद का मनोहर गायन हुआ करता था। रथों की दौड़ भी मनोविनाद का विषय था। शायद बैलों और घोड़ों की दौड़ भी हुआ करती होगी। आर्यों को जुआ खेलने का भारी व्यसन था। यह प्रचलित तो नहीं था परन्तु सम्पन्न लोगों को यह कुटेव लगी हुई थी। समझदार लोग इसको हानिकर और निन्दनीय मानते थे परन्तु व्यसन में आकर्षण होता है, इसलिये लोग इसको छोड़ते नहीं थे। यह व्यसन बहुत काल तक चलता रहा। कौरवों पांडवों का इसने ही विनाश किया था।

वैदिक युग आरम्भ में संघर्ष का युग रहा होगा परन्तु इसके शेष तीन चरण अर्थात् ब्राह्मण काल, आरण्यक काल और उपनिषद् काल सुख और शान्ति के युग थे। धन-धान्य से लोग सम्पन्न और संकुल थे। सम्पत्ति में भी त्याग का आदर्श रखते थे। ब्रह्म चिन्तन तथा आत्मदर्शन जीवन का लक्ष्य था।

चतुर्थ अध्याय

बौद्ध और जैन धर्म की देन

बुद्ध से पूर्व सोलह राज्य : बौद्ध धर्म और जैन धर्म के आविर्भाव से पहिले अर्थात् ईसा से ६०० वर्ष पूर्व का भारत सुखी और समृद्ध देश था। उत्तर भारत में कई छोटे-छोटे राज्य थे। इनमें कुछ गणतन्त्र थे और कुछ राजतन्त्र। तत्कालीन आर्यावर्त के साहित्य के आधार पर हमको उत्तर के गणतन्त्र और राजतन्त्र राष्ट्रों का तो ज्ञान है परन्तु दक्षिण के विषय में इतिहास अभी प्रायः धुंधला और अस्पष्ट है। आर्यावर्त के सोलह राज्यों का उल्लेख तत्कालीन साहित्य में बारम्बार आता है। ऐसा प्रकट होता है कि ये राज्य उस काल के पहिले से ही विद्यमान थे। इनमें कुछ उपनिषद् काल में और कुछ पहिले या पीछे स्थापित हुए। परन्तु सब ईसा से ६०० वर्ष पूर्व से पहिले ही स्थापित हो चुके थे। इनके नाम निम्नलिखित हैं।

अंग	वज्जी	कुरू	अंसक
मगध	मल्ल	पंचाल	अवन्ती
काशी	चेदी	मत्स्य	गान्धार
कौसल	वंश	सूरसेन	कंबोज

इन राज्यों का संक्षिप्त वर्णन : अंग राज्य मगध से पूर्व की ओर स्थित था और इसकी राजधानी चम्पा थी जो वर्तमान भागलपुर के निकट थी। यह राजतन्त्र राज्य था और बुद्ध के समय में मगध के अधीन था। मगध वर्तमान बिहार था। इसकी राजधानी राजगृह नगरी थी। इस राज्य में अस्सी सहस्र गाँव थे और इसका घेरा १२४० कोस का माना जाता था। इसमें अंग राज्य भी सम्मिलित समझा जाता था। काशी राज्य वर्तमान काशी के आस पास एक सहस्र कोस के घेरे में स्थित था परन्तु यह दो प्रबल राष्ट्रों के मध्य में फंसा हुआ था; पूर्व में मगध और उत्तर में कौसल। बौद्ध के समय यह कौसल राज्य में मिला लिया गया था और अंग की भांति यह केवल नाम मात्र का राष्ट्र था। कौसल राज्य मगध की भांति एक शक्तिशाली राष्ट्र था। दक्षिण में गंगा, पूर्व में गंडक और उत्तर में हिमालय इसकी सीमायें थीं। इसकी राजधानी श्रावस्ती गोरखपुर के उत्तर-पश्चिम कोण में लगभग सत्तर मील के अन्तर पर स्थित थी। कौसल और मगध दोनों काशी को अपने राज्य में मिलाना चाहते थे। कौसल के राजा इस हेतु काशी पर आक्रमण किया करते थे। अन्त में कौसल नरेश कंस ने इसको अपने राज्य में मिला लिया परन्तु भारत की परम्परागत राजनीति के अनुसार इसको पुनः स्थापित कर जीवित रक्खा, निःशेष नहीं किया। तो भी काशी फिर केवल नाम मात्र का राष्ट्र रह गया।

था। इसलिये वे समझते थे कि इन रोगों को राक्षस और पिशाच उत्पन्न करते हैं और फैलाते हैं। कुछ रोग स्वयं एक प्रकार के राक्षस माने जाते थे। इसलिए रोगों का उपचार औषधियों द्वारा किया जाता था और मन्त्र तन्त्र द्वारा भी। इसके लिये मणियों, ताबीज़ों आदि का प्रयोग बहुत प्रचलित था। मणि कई चीज़ों की बनाई जाती थीं जिसमें स्वर्ण, मृत्तिका, औषध आदि पदार्थ मुख्य थे।

इतिहास से प्रेम : इतिहास से आर्यों को बड़ा प्रेम था। इसके नाराशंसी, इतिवृत और वंशानुचरित आदि नाम थे। इतिहास शब्द ईसा से १००० वर्ष पूर्व प्रचलित नहीं था। इस नाम का प्रयोग बाद में होने लगा है। इतिहास शब्द से ही पता चलता है कि आर्य लोग इस विषय को कितना महत्व देते थे और सत्य से उनको कितना उत्कट प्रेम था। यह शब्द "इति ह आस" इन तीनों शब्दों से बनता है। इसका अर्थ है—ऐसा ही था। इससे स्पष्ट है कि आर्य लोग अपना सच्चा इतिहास जानना चाहते थे। वे भूत काल के तद्वत् चित्र को पसन्द करते थे। इतिहास का तत्कालीन मुख्य स्वरूप यह था कि यज्ञ के समय यजमान के पूर्वजों की वंशावली और कीर्तिगाथायें सुनाई जाती थीं। बड़े बड़े यज्ञों के यजमान राजा ही होते थे। अतः उनके पूर्वजों की वंशावली उस राज्य का एक प्रकार का इतिहास हुआ करता था। इतिहास का पूर्व रूप सारे संसार में यही था। इन वंशावलियों का पाठ पढ़ने वाले बाद में सूत, मागध और बन्दीजन कहलाने लगे। पुराणों में जो इतिहास मिलता है वह वैदिक काल की परम्परा है। इसका सम्बन्ध वैदिक साहित्य से नहीं था, अतः उसमें इसका समावेश नहीं हो सकता था। पुराण इस विषय के लिए उपयुक्त ग्रन्थ हैं। पुराण का लक्षण ही यह है कि उसमें पांच विषय होने चाहिए—सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित। इनमें पाँचवां विषय इतिहास है। आधुनिक शैली के इतिहास की वैदिक युग में आशा करना असंगत बात है। परन्तु प्रशंसा की बात है कि उस प्राचीनतम युग में आर्य लोगों को इतिहास के विषय से प्रेम था।

तत्कालीन सेना, शस्त्रास्त्र आदि : धनुर्वेद या युद्ध कौशल में तत्कालीन मापदंड से आर्य लोग संसार में सर्वोच्च थे। आरम्भ में ये लोग द्रविड़ या दस्युओं से लड़ते थे और फिर परस्पर भी लड़ने लगे थे। दस्युओं पर इन लोगों ने विजय प्राप्त की इसका कारण यह था कि इनकी युद्धविधि अधिक व्यवस्थित और उन्नत थी। ख़ैबर की घाटी से जो भी लोग भारत में आये उन सबकी युद्ध शैली यहाँ के निवासियों से अधिक उन्नत थी। इस क्रम का आरम्भ आर्यों ने किया था जो अहमदशाह अब्दाली तक जारी रहा। आर्यों के अस्त्र-शस्त्र, धनुष, बाण और परसे आदि थे। शायद पत्थरों के अस्त्रों का भी ये लोग प्रयोग करते हों परन्तु मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा की खुदाईयों में इस बात के प्रमाण प्राप्त नहीं हुए। इससे प्रकट होता है कि आर्य लोग पत्थर युग से बहुत आगे थे और धातुओं का प्रयोग करते थे। लोहे के

इसी प्रदेश की राजकुमारी थी। वह स्वयं तो भारतीय संस्कृति की अनन्य भक्त थीं और पतिव्रत धर्म को इतनी भावुकता से निभाती थीं कि उसके पति धृतराष्ट्र जन्मांध थे इसलिये वह स्वयं आँखों पर पट्टी बांधे रहती थीं परन्तु उसके सौ पुत्रों द्वारा जो भारतवर्ष का अनिष्ट हुआ उसको इतिहास जानता है।

विन्ध्याचल के दक्षिण में उस समय कौन कौन से और किस प्रकार के राज्य थे इसका पता नहीं चलता। जो कुछ भी उस समय का वृत्त विदित हुआ है उसका आधार केवल तत्कालीन बौद्ध साहित्य है जो पाली भाषा में है। संस्कृत साहित्य प्रायः सब धार्मिक या दार्शनिक है। उसमें विदेह, कंस, पांचाल, चेदी, अवन्ती का कहीं कहीं कुछ उल्लेख आ जाता है परन्तु उससे इतिहास को कोई सहायता नहीं मिलती। दक्षिण के विषय में तत्कालीन साहित्य से भी कोई सहायता नहीं मिलती।

पंजाब के गण राज्य : ईसा से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व पंजाब और सिन्ध में भी अनेक गण राज्य थे। उस भाग में एक तंत्र राज्य तो केवल तीन ही थे शेष पन्द्रह राज्य गणतन्त्र थे। जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया तो उसको इन सब राज्यों से लड़ना पड़ा था। केवल आंभी और छोटे पोरस ने आत्म समर्पण किया था शेष सब गणराज्य और महाराज पोरस बड़ी वीरता से लड़े थे। सिकन्दर के साथ कई यूनानी विद्वान लेखक भी थे; उन्होंने गण राज्यों का आंखों देखा वर्णन लिखा है।

गण राज्यों की शासन विधि : ईसा से ३२५ वर्ष पूर्व और इससे पहिले आर्यावर्त में सर्वत्र कितने ही गण राज्य विद्यमान थे। इनकी शासन शैली और कार्य प्रणाली या विधान का पूरा पता नहीं चलता। तत्कालीन साहित्य के अध्ययन और ऐतिहासिक खोज से कुछ बातें ज्ञात हो चुकी हैं जिनके आधार पर इनकी रूप रेखा हमारे सामने आ सकती है। गण राज्य में कहीं राष्ट्रपति होता था और कहीं नहीं होता था। राष्ट्रपति राजा कहलाता था। इसका निर्वाचन किस विधि से और कितने काल के लिये होता था इसका पता नहीं है। गणतन्त्र का राजा कुलक्रमानुगत नहीं हुआ करता था। राज्य का कार्य एक स्थान पर हुआ करता था जो सन्थागार कहलाता था। इस जगह मुख्य-मुख्य लोग एकत्र होकर परामर्श करते थे और निश्चय करते थे। यहाँ राज्य, समाज, धर्म, मुख्य घटनायें युद्ध आदि सब विषयों पर विचार होता था। सन्थागार में कौन लोग बैठ सकते थे, और कितने समय तक उनका यह अधिकार रहता था, इसका वर्णन नहीं मिलता है। उपस्थित लोगों को गिना जाता था और देखा जाता था कि जितनी उपस्थिति आवश्यक है उतनी हो गई या नहीं। इस प्रकार गिनती करने वाले को गणपूरक कहते थे। किसी विषय का निश्चय करते समय प्रत्येक उपस्थित सदस्य से मत लिया जाता था। मत को उस समय 'छन्द' कहते थे। आजकल यह शब्द इस अर्थ में 'स्वछन्द' में रह गया है। प्रत्येक सदस्य के पास एक शलाखा रहती थी। जो अनुकूल छन्द प्रकट करना चाहता था वह अपनी शलाखा गणपूरक

था। इसलिये वे समझते थे कि इन रोगों को राक्षस और पिशाच उत्पन्न करते हैं और फैलाते हैं। कुछ रोग स्वयं एक प्रकार के राक्षस माने जाते थे। इसलिए रोगों का उपचार औषधियों द्वारा किया जाता था और मन्त्र तन्त्र द्वारा भी। इसके लिये मणियों, ताबीज़ों आदि का प्रयोग बहुत प्रचलित था। मणि कई चीज़ों की बनाई जाती थीं जिसमें स्वर्ण, मृत्तिका, औषध आदि पदार्थ मुख्य थे।

इतिहास से प्रेम : इतिहास से आर्यों को बड़ा प्रेम था। इसके नाराशंसी, इतिवृत और वंशानुचरित आदि नाम थे। इतिहास शब्द ईसा से १००० वर्ष पूर्व प्रचलित नहीं था। इस नाम का प्रयोग बाद में होने लगा है। इतिहास शब्द से ही पता चलता है कि आर्य लोग इस विषय को कितना महत्व देते थे और सत्य से उनको कितना उत्कट प्रेम था। यह शब्द "इति ह आस" इन तीनों शब्दों से बनता है। इसका अर्थ है—ऐसा ही था। इससे स्पष्ट है कि आर्य लोग अपना सच्चा इतिहास जानना चाहते थे। वे भूत काल के तद्वत् चित्र को पसन्द करते थे। इतिहास का तत्कालीन मुख्य स्वरूप यह था कि यज्ञ के समय यजमान के पूर्वजों की वंशावली और कीर्तिगाथायें सुनाई जाती थीं। बड़े बड़े यज्ञों के यजमान राजा ही होते थे। अतः उनके पूर्वजों की वंशावली उस राज्य का एक प्रकार का इतिहास हुआ करता था। इतिहास का पूर्व रूप सारे संसार में यही था। इन वंशावलियों का पाठ पढ़ने वाले बाद में सूत, मागध और बन्दीजन कहलाने लगे। पुराणों में जो इतिहास मिलता है वह वैदिक काल की परम्परा है। इसका सम्बन्ध वैदिक साहित्य से नहीं था, अतः उसमें इसका समावेश नहीं हो सकता था। पुराण इस विषय के लिए उपयुक्त ग्रन्थ हैं। पुराण का लक्षण ही यह है कि उसमें पांच विषय होने चाहिए—सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित। इनमें पाँचवां विषय इतिहास है। आधुनिक शैली के इतिहास की वैदिक युग में आशा करना असंगत बात है। परन्तु प्रशंसा की बात है कि उस प्राचीनतम युग में आर्य लोगों को इतिहास के विषय से प्रेम था।

तत्कालीन सेना, शस्त्रास्त्र आदि : धनुर्वेद या युद्ध कौशल में तत्कालीन मापदंड से आर्य लोग संसार में सर्वोच्च थे। आरम्भ में ये लोग द्रविड़ या दस्युओं से लड़ते थे और फिर परस्पर भी लड़ने लगे थे। दस्युओं पर इन लोगों ने विजय प्राप्त की इसका कारण यह था कि इनकी युद्धविधि अधिक व्यवस्थित और उन्नत थी। ख़ैबर की घाटी से जो भी लोग भारत में आये उन सबकी युद्ध शैली यहाँ के निवासियों से अधिक उन्नत थी। इस क्रम का आरम्भ आर्यों ने किया था जो अहमदशाह अब्दाली तक जारी रहा। आर्यों के अस्त्र-शस्त्र, धनुष, बाण और परसे आदि थे। शायद पत्थरों के अस्त्रों का भी ये लोग प्रयोग करते हों परन्तु मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा की खुदाईयों में इस बात के प्रमाण प्राप्त नहीं हुए। इससे प्रकट होता है कि आर्य लोग पत्थर युग से बहुत आगे थे और धातुओं का प्रयोग करते थे। लोहे के

नागरिकों में विनय की भावना होती है, जहाँ नीति और विधान की चिन्ता की जाती है, जहां कोष सम्पन्न होता है, जहां राष्ट्र का पूरा हाल जानने की व्यवस्था होती है और जहां पंडितों, शूरवीरों, पुरुषार्थियों और महा साहसियों का मान होता है। ऐसे गण राज्य नष्ट हो जाते हैं जिनमें लोग परस्पर द्वेष करते हों, डरते हों, जहां अनेक प्रकार के भेद फैल गये हों और जहां लोगों को बहुत दंड दिया जाता हो। गण राज्यों में यह आवश्यक बात है कि गण मुख्यों का मान हो, मंत्र अर्थात नीति को गुप्त रखा जाता हो और गणमुख्य सब परस्पर मिल कर राज्य-रक्षा के लिये प्रयास करते हों। फूट और आन्तरिक भेद गणों को नष्ट कर देते हैं। गण राज्यों में कुल और जाति की दृष्टि से सब समान माने जाते हैं सो ठीक है, परन्तु उद्योग, बुद्धि, रूप और धन में भी सब को समान न समझना चाहिये अन्यथा गण राज्य नष्ट हो जाते हैं। गण राज्यों की महाशक्ति है पारस्परिक एकता।

रामायण और महाभारत : बुद्ध के जन्म से पहिले ही भारत का साहित्य और तत्वज्ञान बहुत उन्नत हो चुका था। महाभारत और रामायण की रचना इस काल में हो चुकी थी। महाभारत में समय समय पर अनेक स्थल बढ़ते रहे हैं, परन्तु इस काल में ही महाभारत ने प्रायः वर्तमान रूप धारण कर लिया था। यह ग्रन्थ भारतीय ज्ञान का विश्वकोष कहा जा सकता है। इसको परम्परा से पांचवां वेद भी मानते हैं। मूलतः यह इतिहास ग्रन्थ हैं परन्तु इसमें विविध विषयों के विवेचन इतने अधिक विस्तृत और रोचक हैं कि इतिहास भाग उनसे बिलकुल ढक गया है। यह काव्य, इतिहास, धर्म, नीति, ज्ञान और दर्शन आदि सब विषयों का भंडार है। इसी प्रकार रामायण भी एक अद्भुत कृति है। काव्य की दृष्टि से यह संसार के साहित्य में अमर ग्रन्थ है और भाव और विषय की दृष्टि से यह मनुष्य जाति को पवित्र और निर्मल करने वाला शास्त्र है। दोनों ग्रन्थ भारतवर्ष की अमूल्य निधि हैं। वाल्मीकि संसार के आदि कवि हैं। रामायण तथा महाभारत दोनों संसार के महाकाव्य हैं। गीता महाभारत का अंश है। इसमें सम्पूर्ण उपनिषदों का सार है।

इनके देव और देवियां : बुद्ध के जन्म के पास का समय मत मतान्तरों का युग था। वेद ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् तो शिष्ट लोगों के ग्रन्थ थे। इनके विचार भी उच्च लोगों तक ही सीमित थे। द्विजों में भी सब लोगों की इनमें गति नहीं थी। आम लोगों के विचार अथर्ववेद में थे। लोक-धर्म में वैदिक धर्म नहीं था, और न हो सकता था। साधारण लोग अनेक अवैदिक देवों में विश्वास करते थे और मंत्र तंत्र तथा भूत प्रेतादि को मानते थे। अथर्ववेद के विचारों की परम्परा वास्तव में मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा से भी पहिले की थी। महाभारत में दूसरे प्रकार के विचारों की प्रधानता थी। इसमें नये देव थे, नई पूजाविधि थी, नई प्रकार की प्रार्थनायें थीं और उपासकों में नई प्रकार की अभिलाषायें और आकांक्षाएँ थीं। ये नये देव और

था। इसलिये वे समझते थे कि इन रोगों को राक्षस और पिशाच उत्पन्न करते हैं और फैलाते हैं। कुछ रोग स्वयं एक प्रकार के राक्षस माने जाते थे। इसलिए रोगों का उपचार औषधियों द्वारा किया जाता था और मन्त्र तन्त्र द्वारा भी। इसके लिये मणियों, ताबीज़ों आदि का प्रयोग बहुत प्रचलित था। मणि कई चीज़ों की बनाई जाती थीं जिसमें स्वर्ण, मृत्तिका, औषध आदि पदार्थ मुख्य थे।

इतिहास से प्रेम : इतिहास से आर्यों को बड़ा प्रेम था। इसके नाराशंसी, इतिवृत और वंशानुचरित आदि नाम थे। इतिहास शब्द ईसा से १००० वर्ष पूर्व प्रचलित नहीं था। इस नाम का प्रयोग बाद में होने लगा है। इतिहास शब्द से ही पता चलता है कि आर्य लोग इस विषय को कितना महत्व देते थे और सत्य से उनको कितना उत्कट प्रेम था। यह शब्द "इति ह आस" इन तीनों शब्दों से बनता है। इसका अर्थ है—ऐसा ही था। इससे स्पष्ट है कि आर्य लोग अपना सच्चा इतिहास जानना चाहते थे। वे भूत काल के तद्वत् चित्र को पसन्द करते थे। इतिहास का तत्कालीन मुख्य स्वरूप यह था कि यज्ञ के समय यजमान के पूर्वजों की वंशावली और कीर्तिगाथायें सुनाई जाती थीं। बड़े बड़े यज्ञों के यजमान राजा ही होते थे। अतः उनके पूर्वजों की वंशावली उस राज्य का एक प्रकार का इतिहास हुआ करता था। इतिहास का पूर्व रूप सारे संसार में यही था। इन वंशावलियों का पाठ पढ़ने वाले बाद में सूत, मागध और बन्दीजन कहलाने लगे। पुराणों में जो इतिहास मिलता है वह वैदिक काल की परम्परा है। इसका सम्बन्ध वैदिक साहित्य से नहीं था, अतः उसमें इसका समावेश नहीं हो सकता था। पुराण इस विषय के लिए उपयुक्त ग्रन्थ हैं। पुराण का लक्षण ही यह है कि उसमें पांच विषय होने चाहिए—सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित। इनमें पाँचवां विषय इतिहास है। आधुनिक शैली के इतिहास की वैदिक युग में आशा करना असंगत बात है। परन्तु प्रशंसा की बात है कि उस प्राचीनतम युग में आर्य लोगों को इतिहास के विषय से प्रेम था।

तत्कालीन सेना, शस्त्रास्त्र आदि : धनुर्वेद या युद्ध कौशल में तत्कालीन मापदंड से आर्य लोग संसार में सर्वोच्च थे। आरम्भ में ये लोग द्रविड़ या दस्युओं से लड़ते थे और फिर परस्पर भी लड़ने लगे थे। दस्युओं पर इन लोगों ने विजय प्राप्त की इसका कारण यह था कि इनकी युद्धविधि अधिक व्यवस्थित और उन्नत थी। खैबर की घाटी से जो भी लोग भारत में आये उन सबकी युद्ध शैली यहाँ के निवासियों से अधिक उन्नत थी। इस क्रम का आरम्भ आर्यों ने किया था जो अहमदशाह अब्दाली तक जारी रहा। आर्यों के अस्त्र-शस्त्र, धनुष, बाण और परसे आदि थे। शायद पत्थरों के अस्त्रों का भी ये लोग प्रयोग करते हों परन्तु मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा की खुदाईयों में इस बात के प्रमाण प्राप्त नहीं हुए। इससे प्रकट होता है कि आर्य लोग पत्थर युग से बहुत आगे थे और धातुओं का प्रयोग करते थे। लोहे के

मीमांसा। ये षड्-दर्शन छः प्रकार की विचार धारायें हैं जिनका विकास वेदों के विचार सागर से हुआ है। महाराज अशोक से पूर्व इनमें से प्रत्येक ने सूत्रों का रूप धारण कर लिया था। उसके पश्चात् प्रत्येक दर्शन पर अनेक भाष्य और टीकायें लिखी गईं। इस समय प्रत्येक दर्शन पर काफी साहित्य है। इतिहास की दृष्टि से प्रत्येक दर्शन का साहित्य तीन-तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—सूत्रों से पहले का साहित्य, सूत्र साहित्य और भाष्य साहित्य। सूत्रों से पहले का साहित्य व्यवस्थित और निश्चित नहीं है। यह तत्कालीन प्रचुर साहित्य में यत्र-तत्र बिखरा पड़ा है। इसमें कहीं कोई प्रसंग दिया है, तो कहीं कोई विचार और कहीं कोई संवाद है, जिससे यह स्पष्ट पता चलता है कि एक विशेष विचार धारा बनती जाती थी। जब इस धारा ने एक निश्चित रूप धारण कर लिया तो इसको सूत्र शैली से एक ग्रन्थ के रूप में व्यवस्थित कर दिया। सूत्र गुरु शिष्य परम्परा के बिना समझे नहीं जा सकते थे। गुरु इन सूत्रों का भाष्य करता था तब शिष्य उनको समझते थे। कालान्तर में सुगमता और सरलता के लिए इन भाष्यों के भी अनेक ग्रन्थ बन गये। फिर अपनी-अपनी दृष्टि से भी लोग और दूसरे भाष्य लिखने लगे। इस प्रकार जब भाष्यों का जंजाल हो गया तो भाष्यों के भी भाष्य लिखे जाने लगे। फिर भाष्यों के सार और अन्त में सम्पूर्ण दर्शनों के भी सार लिखे गये।

षड्-दर्शन का सार : इन षड्दर्शनों का सार स्थानाभाव के कारण यहाँ नहीं दिया जा सकता। केवल दिग्दर्शन रूपेण इतना कह देना पर्याप्त होगा कि न्याय-दर्शन तर्क करने की विधि बतलाता है; वैशेषिक ब्रह्मान्ड की उत्पत्ति अणु और परमाणुओं से प्रतिपादन करता है; योग शरीर शुद्धि और मनोनिग्रह के उपाय सिखाता है; सांख्य में पुरुष और प्रकृति के संयोग से विकास का विवेचन है; पूर्व मीमांसा यज्ञ विधि समझाता है और उत्तर मीमांसा ब्रह्म और आत्मा के स्वरूप का वर्णन करता है। प्रत्यक्षतः ये षड्-दर्शन भिन्न हैं और इनके विषय, विवेचन विधि भी पूर्णतया भिन्न हैं। परन्तु इनके अन्तस्तल में सुन्दर सामान्य है और भाष्यकारों ने इनकी विभिन्न दृष्टियों का समन्वय भी किया है। कारण यह है कि जैसे पर्वतराज हिमालय से अनेक नदी-नद का निकास होता है उसी प्रकार वेद की मानस झील से ये षड्-दर्शन धारायें निकलती हैं। इनका उद्गम एक है, प्रवाह भिन्न है, और अन्त एक है।

बुद्ध का जन्म : चिन्तन और विवेचन के ऐसे तूफानी युग में बुद्ध का जन्म हुआ और उनके निर्मल मस्तिष्क से भी एक ऐसी विचारधारा और सद्धर्म नदी निकली जिसको पी पीकर तृष्णा से झुलसा हुआ संसार लगभग १,२०० वर्ष तक सन्तोष और सुख प्राप्ति करता रहा। बुद्ध का जन्म ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व कपिलवस्तु नगर के समीप लुम्बनी वन नामक स्थान पर हुआ था। कपिलवस्तु उत्तर

था। इसलिये वे समझते थे कि इन रोगों को राक्षस और पिशाच उत्पन्न करते हैं और फैलाते हैं। कुछ रोग स्वयं एक प्रकार के राक्षस माने जाते थे। इसलिए रोगों का उपचार औषधियों द्वारा किया जाता था और मन्त्र तन्त्र द्वारा भी। इसके लिये मणियों, ताबीज़ों आदि का प्रयोग बहुत प्रचलित था। मणि कई चीज़ों की बनाई जाती थीं जिसमें स्वर्ण, मृत्तिका, औषध आदि पदार्थ मुख्य थे।

इतिहास से प्रेम : इतिहास से आर्यों को बड़ा प्रेम था। इसके नाराशंसी, इतिवृत और वंशानुचरित आदि नाम थे। इतिहास शब्द ईसा से १००० वर्ष पूर्व प्रचलित नहीं था। इस नाम का प्रयोग बाद में होने लगा है। इतिहास शब्द से ही पता चलता है कि आर्य लोग इस विषय को कितना महत्व देते थे और सत्य से उनको कितना उत्कट प्रेम था। यह शब्द "इति ह आस" इन तीनों शब्दों से बनता है। इसका अर्थ है—ऐसा ही था। इससे स्पष्ट है कि आर्य लोग अपना सच्चा इतिहास जानना चाहते थे। वे भूत काल के तद्वत् चित्र को पसन्द करते थे। इतिहास का तत्कालीन मुख्य स्वरूप यह था कि यज्ञ के समय यजमान के पूर्वजों की वंशावली और कीर्तिगाथायें सुनाई जाती थीं। बड़े बड़े यज्ञों के यजमान राजा ही होते थे। अतः उनके पूर्वजों की वंशावली उस राज्य का एक प्रकार का इतिहास हुआ करता था। इतिहास का पूर्व रूप सारे संसार में यही था। इन वंशावलियों का पाठ पढ़ने वाले बाद में सूत, मागध और बन्दीजन कहलाने लगे। पुराणों में जो इतिहास मिलता है वह वैदिक काल की परम्परा है। इसका सम्बन्ध वैदिक साहित्य से नहीं था, अतः उसमें इसका समावेश नहीं हो सकता था। पुराण इस विषय के लिए उपयुक्त ग्रन्थ हैं। पुराण का लक्षण ही यह है कि उसमें पांच विषय होने चाहिए—सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित। इनमें पाँचवां विषय इतिहास है। आधुनिक शैली के इतिहास की वैदिक युग में आशा करना असंगत बात है। परन्तु प्रशंसा की बात है कि उस प्राचीनतम युग में आर्य लोगों को इतिहास के विषय से प्रेम था।

तत्कालीन सेना, शस्त्रास्त्र आदि : धनुर्वेद या युद्ध कौशल में तत्कालीन मापदंड से आर्य लोग संसार में सर्वोच्च थे। आरम्भ में ये लोग द्रविड़ या दस्युओं से लड़ते थे और फिर परस्पर भी लड़ने लगे थे। दस्युओं पर इन लोगों ने विजय प्राप्त की इसका कारण यह था कि इनकी युद्धविधि अधिक व्यवस्थित और उन्नत थी। ख़ैबर की घाटी से जो भी लोग भारत में आये उन सबकी युद्ध शैली यहाँ के निवासियों से अधिक उन्नत थी। इस क्रम का आरम्भ आर्यों ने किया था जो अहमदशाह अब्दाली तक जारी रहा। आर्यों के अस्त्र-शस्त्र, धनुष, बाण और परसे आदि थे। शायद पत्थरों के अस्त्रों का भी ये लोग प्रयोग करते हों परन्तु मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा की खुदाईयों में इस बात के प्रमाण प्राप्त नहीं हुए। इससे प्रकट होता है कि आर्य लोग पत्थर युग से बहुत आगे थे और धातुओं का प्रयोग करते थे। लोहे के

अनुभव हुआ कि उनको प्रकाश प्राप्त हो गया और जिस मार्ग की वे खोज में थे वह उनके सामने आलोकित हो गया।

सारनाथ में बुद्ध का प्रथम व्याख्यान : अब गौतम अपने को बुद्ध कहने लगे या लोग उनको बुद्ध अर्थात् ज्ञानी कहने लगे होंगे। गया से प्रस्थान कर वे काशी के निकट सारनाथ नामक जंगल में पहुँचे। यहाँ उन्होंने अपने चार शिष्यों को बतलाया कि उनको क्या ज्ञान प्राप्त हुआ है। बुद्ध ने अपने ज्ञान की व्याख्या की और चारों शिष्यों ने उनके व्याख्यान को श्रद्धापूर्वक सुना। सारनाथ में बोले हुए बुद्ध के ये वचन संसार में अमर हो गये। देश देशान्तरों में असंख्य नरनारी गत कितनी ही शताब्दियों में इनको पुनः-पुनः पढ़ चुके हैं और सुन चुके हैं और अपने तृष्णात्रस्त हृदय को शान्त कर चुके हैं। महाराज अशोक ने इसी पुण्य भूमि की यात्रा की थी और शायद ठीक उसी स्थान पर, जहाँ विराजमान होकर बुद्ध ने अपने मत की प्रथम व्याख्या की थी, एक शिला लेख स्थापित करवाया था जो अब तक विद्यमान है। सारनाथ उसी समय से बौद्धों का तीर्थ स्थान है। महाराज अशोक की लाट और स्तूप के अतिरिक्त यहाँ अन्य कई मठों और मन्दिरों के खंडहर हैं तथा बुद्ध और बौद्ध देव-देवियों की अगणित प्रतिमायें मिली हैं जिनसे तत्कालीन इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ता है।

बुद्ध का भ्रमण : इसके पश्चात् अपने धर्म का उपदेश देने के लिये बुद्ध ने यत्र तत्र बहुत भ्रमण किया। ये प्रायः मगध राज्य, कौसल राज्य और वज्जी संघ में घूमा करते थे। अन्य प्रदेशों में भी बुद्ध गये होंगे परन्तु बौद्ध साहित्य में पुनः पुनः बुद्ध के जीवन काल की घटनाओं और उनके धर्म प्रचार के सम्बन्ध में इन्हीं प्रदेशों का उल्लेख आता है। हज़ारों व्यक्ति बुद्ध के शिष्य बन गये थे। उनकी जीवितावस्था में ही बुद्ध महापुरुष माने जाने लगे थे। जहाँ वे जाते थे वहीं हज़ारों लोग उनका श्रद्धा से स्वागत करते थे और भक्तिपूर्वक उनके उपदेशों को सुनते थे। राजा महाराजा, सेठ साहूकार, पण्डित और विद्वान तथा चारों वर्णों के लोग उनके शिष्य थे।

बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्त : सारनाथ में बुद्ध ने जो अपने शिष्यों को प्रथम उपदेश दिया था उसको दो भागों में विभक्त किया जाता है— चत्वारि आर्य सत्यानि और आर्याष्टांग मार्ग। बुद्ध ने कहा—"मनुष्य जीवन में दुःख ही दुःख है, यह दुःख तृष्णा से उत्पन्न होता है, तृष्णा को त्यागने से दुःख का नाश होता है, तृष्णा त्याग का उपाय है आर्याष्टांग मार्ग का ग्रहण करना।" ये चत्वारि आर्य सत्यानि अर्थात् आर्यों के चार सिद्धान्त हैं। ये चार सिद्धान्त बौद्ध धर्म की आधार शिला हैं। आर्याष्टांग मार्ग के लिये बुद्ध ने कहा—"सद्वचन आर्य मार्ग है, सत्कर्म आर्य मार्ग है, सद्विचार आर्य मार्ग हैं, सद्व्यवसाय आर्य मार्ग है।"

बुद्ध की उपदेश विधि : बुद्ध ने वर्णाश्रम को आवश्यक नहीं समझा। वेदों को प्रमाणिक नहीं माना। ईश्वर के अस्तित्व या अनस्तित्व के विषय में कुछ नहीं कहा। यज्ञ के महत्व को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि आर्याष्टांग मार्ग पर चलने से और चत्वारि आर्य सत्यानि को समझने से मनुष्य मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति कर सकता है। बुद्ध के उपदेश सरल और सुबोध होते थे, उनके वर्णन या प्रतिपादन और विवेचन में कोई जटिलता नहीं होती थी। सीधे-सादे ढंग से सीधी बात कहते थे। बुद्ध ने संस्कृत भाषा का प्रयोग नहीं किया। उस समय संस्कृत काफी प्रचलित थी और पण्डितों की यही भाषा थी। अब तक सब ग्रन्थ इसी भाषा में लिखे गये थे और विद्वान इसी भाषा में बातचीत करते थे। फिर भी जन साधारण संस्कृत नहीं बोलते थे। उनकी भाषा पाली थी। इसलिये बुद्ध ने पाली भाषा का प्रयोग किया। इस प्रकार बुद्ध ने सरल भाषा में सरल उपदेश दिये। यही कारण है कि उनका धर्म वास्तव में एक लोक धर्म बन गया। अस्सी वर्ष की अवस्था में कुसीनारा नामक स्थान में बुद्ध ने देह त्याग किया। यह स्थान बौद्धों का तीर्थ है।

जैन धर्म की प्राचीनता : जैन धर्म अति प्राचीन माना जाता है। कहते हैं कि मानव संस्कृति के आदि काल से यह चला आ रहा है, और इसके अब तक चौबीस तीर्थङ्कर हो चुके हैं। प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभ देव माने जाते हैं। इन्होंने अपना राज्य अपने पुत्र भरत को देकर सर्व प्रथम जैन धर्म का प्रचार किया था। चौबीसवें और अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर स्वामी माने जाते हैं। आठवीं शताब्दी से पूर्व का इतिहास जो कुछ हमको मालूम है, वह केवल वेदों से विदित है। ऋग्वेद में 'ऋषभ' शब्द अवश्य आया है लेकिन केवल खींच-तान करके ही यह कहा जा सकता है कि यह प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभ देव के लिए आया है। अत: इतिहासज्ञों का कहना है कि जैन धर्म की यह अति प्राचीनता केवल विश्वास पर ही आश्रित है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि महावीर स्वामी से पूर्व जैन धर्म विद्यमान था, और तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ थे। छानबीन से यह निश्चय हो चुका है कि पार्श्वनाथ महावीर स्वामी से २५० वर्ष पूर्व हुए थे। पार्श्वनाथ जी की एक प्रतिमा भी उपलब्ध हो चुकी है।

पार्श्वनाथ और महावीर के मूल सिद्धान्त : ऐसा जान पड़ता है कि पार्श्वनाथ जी तत्कालीन धार्मिक जटिलताओं और विवादों से ऊब गये थे। वे ऐसे रास्ते की खोज में थे जो सरल और सुगम हो और मनुष्य को सुख और शान्ति दे सके। पार्श्वनाथ जी ने अपने धर्म के सिद्धान्त निश्चित किये थे—अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह। इन्हीं सिद्धान्तों को महावीर ने माना और इनका प्रचार किया। परन्तु उन्होंने ब्रह्मचर्य इनमें और बढ़ा दिया। इसके अतिरिक्त पार्श्वनाथ जी का उपदेश था कि पुरुष दो वस्त्र पहिन सकता है, एक नीचे और एक ऊपर अर्थात् अधोवस्त्र और उत्तरीय।

महावीर त्याग की पराकाष्ठा को पसन्द करते थे, इसलिये उनका उपदेश था कि मनुष्य को कोई भी वस्त्र नहीं पहनना चाहिये। यह उपदेश स्पष्टतः केवल साधुओं के वास्ते था, गृहस्थों के वास्ते नहीं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि श्वेताम्बर जैन पार्श्वनाथ के अनुयायी हैं और दिगंबर जैन महावीर के। परन्तु यह केवल इतिहास की बात है। जैन लोग इसको नहीं मानते और जैन साहित्य से तथा परम्परा से भी इसकी निर्विवाद पुष्टि नहीं होती। इस विषय का कुछ विवेचन आगे के पृष्ठों में किया जायगा।

महावीर का जन्म संवत् : महावीर का जन्म ईसा से लगभग ५५० वर्ष पूर्व हुआ होगा। ये ७२ वर्ष तक जीवित रहे। ये मगध के राजा अजातशत्रु और बुद्ध के समकालीन थे। इनके जन्म और देहान्त के सम्वत् के विषय में मतभेद है। जैन लोग मानते हैं कि इनका देहान्त महाराजा विक्रमादित्य के राज्याभिषेक से ४७० वर्ष पूर्व हुआ। यह ईसा से ५२७ या ५२८ वर्ष पूर्व होता है। इतिहास को यह संवत् स्वीकार करने में कुछ कठिनाई है। इसलिये प्रसिद्ध जैन लेखक हेमचन्द्र सूरी के अनुसार महावीर का निर्वाण सम्वत् इतिहास में ईसा से ४६८ वर्ष पूर्व माना जाता है। परन्तु वास्तव में बुद्ध और महावीर दोनों की जन्म तिथियाँ और विवरण तिथियाँ अभी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हैं। इतना ही कहा जा सकता है कि महावीर, बुद्ध और अजातशत्रु समकालीन थे। अतः इनका जीवनकाल और कार्यकाल ईसा से ६०० वर्ष पूर्व के निकट होना चाहिए।

पार्श्वनाथ और महावीर के माता-पिता : जैन ग्रन्थों में लिखा है कि पार्श्वनाथ महाराजा अश्वसेन के पुत्र थे। अश्वसेन काशी के राजा थे। काशी में इस नाम के राजा का पता नहीं है। इसका आर्य साहित्य में भी कहीं उल्लेख नहीं है। महाभारत में अश्वसेन का नाम है परन्तु वह नागों का राजा था। वह पार्श्वनाथ का पिता नहीं हो सकता। यह सम्भव है कि पार्श्वनाथ के पिता काशी नरेश के कोई सामन्त हों। पार्श्वनाथ की माता का नाम वामा था। महावीर का जन्म वैशाली नगर के समीपस्थ कुन्डग्राम में हुआ था। अब इस स्थान पर वसुकुण्ड नामक गाँव बसा हुआ है। यह नाम शायद कुन्डग्राम के नाम का ही रूपान्तर है। महावीर के पिता का नाम सिद्धार्थ था; यह ज्ञात्रिक वीर जाति के एक सम्पन्न सामन्त थे। महावीर की माता का नाम त्रिशला था। यह लिच्छवी राज्य के एक प्रसिद्ध सरदार की बहन थी। मगध नरेश बिम्बसार की स्त्री त्रिशला की बूआ थी।

महावीर के मूल सिद्धान्त : महावीर की जीवनी बुद्ध की जीवनी से बहुत मिलती जुलती है। तीस वर्ष की अवस्था में महावीर ने अपना घर त्यागा। सत्य और शान्ति की खोज में वे जंगलों में भटके, साधु सन्यासियों से मिले और उग्र तप तथा ध्यान किया। उनके सामने अनेक विघ्न आये परन्तु वे अपने निश्चय पर अटल

था। इसलिये वे समझते थे कि इन रोगों को राक्षस और पिशाच उत्पन्न करते हैं और फैलाते हैं। कुछ रोग स्वयं एक प्रकार के राक्षस माने जाते थे। इसलिए रोगों का उपचार औषधियों द्वारा किया जाता था और मन्त्र तन्त्र द्वारा भी। इसके लिये मणियों, ताबीज़ों आदि का प्रयोग बहुत प्रचलित था। मणि कई चीज़ों की बनाई जाती थीं जिसमें स्वर्ण, मृत्तिका, औषध आदि पदार्थ मुख्य थे।

इतिहास से प्रेम : इतिहास से आर्यों को बड़ा प्रेम था। इसके नाराशंसी, इतिवृत और वंशानुचरित आदि नाम थे। इतिहास शब्द ईसा से १००० वर्ष पूर्व प्रचलित नहीं था। इस नाम का प्रयोग बाद में होने लगा है। इतिहास शब्द से ही पता चलता है कि आर्य लोग इस विषय को कितना महत्व देते थे और सत्य से उनको कितना उत्कट प्रेम था। यह शब्द "इति ह आस" इन तीनों शब्दों से बनता है। इसका अर्थ है—ऐसा ही था। इससे स्पष्ट है कि आर्य लोग अपना सच्चा इतिहास जानना चाहते थे। वे भूत काल के तद्वत् चित्र को पसन्द करते थे। इतिहास का तत्कालीन मुख्य स्वरूप यह था कि यज्ञ के समय यजमान के पूर्वजों की वंशावली और कीर्तिगाथायें सुनाई जाती थीं। बड़े बड़े यज्ञों के यजमान राजा ही होते थे। अतः उनके पूर्वजों की वंशावली उस राज्य का एक प्रकार का इतिहास हुआ करता था। इतिहास का पूर्व रूप सारे संसार में यही था। इन वंशावलियों का पाठ पढ़ने वाले बाद में सूत, मागध और बन्दीजन कहलाने लगे। पुराणों में जो इतिहास मिलता है वह वैदिक काल की परम्परा है। इसका सम्बन्ध वैदिक साहित्य से नहीं था, अतः उसमें इसका समावेश नहीं हो सकता था। पुराण इस विषय के लिए उपयुक्त ग्रन्थ हैं। पुराण का लक्षण ही यह है कि उसमें पांच विषय होने चाहिए—सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित। इनमें पाँचवां विषय इतिहास है। आधुनिक शैली के इतिहास की वैदिक युग में आशा करना असंगत बात है। परन्तु प्रशंसा की बात है कि उस प्राचीनतम युग में आर्य लोगों को इतिहास के विषय से प्रेम था।

तत्कालीन सेना, शस्त्रास्त्र आदि : धनुर्वेद या युद्ध कौशल में तत्कालीन मापदंड से आर्य लोग संसार में सर्वोच्च थे। आरम्भ में ये लोग द्रविड़ या दस्युओं से लड़ते थे और फिर परस्पर भी लड़ने लगे थे। दस्युओं पर इन लोगों ने विजय प्राप्त की इसका कारण यह था कि इनकी युद्धविधि अधिक व्यवस्थित और उन्नत थी। ख़ैबर की घाटी से जो भी लोग भारत में आये उन सबकी युद्ध शैली यहाँ के निवासियों से अधिक उन्नत थी। इस क्रम का आरम्भ आर्यों ने किया था जो अहमदशाह अब्दाली तक जारी रहा। आर्यों के अस्त्र-शस्त्र, धनुष, बाण और परसे आदि थे। शायद पत्थरों के अस्त्रों का भी ये लोग प्रयोग करते हों परन्तु मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा की खुदाईयों में इस बात के प्रमाण प्राप्त नहीं हुए। इससे प्रकट होता है कि आर्य लोग पत्थर युग से बहुत आगे थे और धातुओं का प्रयोग करते थे। लोहे के

परन्तु तप और व्रत के द्वारा अपने शरीर को सुखाना भी उचित नहीं है। जीवन में सुन्दरता कठोरता के द्वारा प्राप्त नहीं होती, यह सत्कर्मों के द्वारा प्राप्त होती है। महावीर ने भी यज्ञ विधि को नहीं अपनाया परन्तु उन्होंने अहिंसा और शारीरिक तप को प्रधानता दी। इन दोनों धर्मों से आर्य धर्म अधिक सुन्दर बन गया। बहुत काल से सत्य यज्ञ की क्रिया ज्वाला और धूम्र में छिपा हुआ था। बुद्ध और महावीर ने इसको इस जंजाल में से बाहर निकाला। कठोर तप, अत्यधिक खाना या बिलकुल न खाना, ये योग के वास्ते उपयुक्त नहीं है। परन्तु कुछ लोग उग्र तप को ही मोक्ष का मार्ग समझते थे। स्वयं बुद्ध ने छः वर्ष तक और महावीर ने बारह वर्ष तक घोर तप किया था। इन दोनों परंपराओं को अब निश्चित और व्यवस्थित रूप प्राप्त हो गया। बुद्ध ने मध्यम मार्ग का उपदेश दिया और महावीर ने उग्र तप या कायाक्लेश का। बौद्ध और जैन दोनों सांख्य और न्याय दर्शन के सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं। जैन धर्मी योग दर्शन के भी मूल सिद्धान्तों को मानते हैं। दोनों धर्मों का साहित्य कई शताब्दियों तक लोक भाषा में बनता और विकसित होता रहा, परन्तु फिर विद्वानों ने अनुभव किया कि यह सम्भव नहीं है। लोक भाषा समय के प्रभाव से बदलती जाती थी और इतनी पुष्ट और सम्पन्न नहीं थी कि इसके द्वारा सूक्ष्म विषयों का विवेचन किया जा सके। इसलिये कुछ शताब्दियों के पश्चात् दोनों धर्मों में संस्कृत भाषा का प्रयोग होने लगा। दोनों धर्मों की सरलता और सुगमता भी कायम न रह सकी। कालान्तर में जटिलता और दुर्गमता का इनमें भी प्रवेश होने लगा और सरल, सुबोध सिद्धान्त पांडित्य में छिपने लगे। जैन धर्म का न्याय और कर्म सिद्धान्त, तथा बौद्धों का शून्यवाद और विज्ञानवाद स्वामी शंकराचार्य के अद्वैतवाद के समान ही दुर्गम और दुर्बोध हैं।

जैन धर्म के दो सम्प्रदाय : महावीर ने जैन धर्म का प्रचार मगध और वज्जि राज्य में किया था। वैशाली, श्रावस्ती, राजगृह आदि नगरों का उल्लेख उनके जीवन में अनेक बार आता है। वास्तव में यही प्रदेश उनके जीवन का कार्य-क्षेत्र था। उनका देहान्त राजगृह के निकट पावा नगर में हुआ था। यह स्थान जैनियों का तीर्थ है। प्रति वर्ष हजारों जैन इस स्थान की यात्रा करने जाते हैं। महावीर के देहान्त के पश्चात् उनके मुख्य शिष्य सुधर्मा ने जैन धर्म का २२ वर्ष तक प्रचार किया। तदनंतर जम्बू स्वामी ने इस धर्म का ४४ साल तक उपदेश दिया। फिर कई आचार्य हुए। जब मगध देश में नन्दवंश के अन्तिम राजा का शासन था तब जैन धर्म के प्रधान आचार्य स्थूल भद्र और भद्रबाहु थे। जैन लोगों में यह माना जाता है कि इन दोनों आचार्यों के समय तक गुरू शिष्य परम्परा से महावीर के उपदेश और सिद्धान्त सब कंठाग्र थे। परन्तु इनके बाद यह परम्परा लुप्त हो गई। इस प्रकार उस समय तक जो ग्रन्थ आचार्यों ने कंठस्थ कर रखे थे वे अंग कहलाते थे और इनकी संख्या चौदह

मानी जाती थी। इन दोनों आचार्यों के समय में उत्तर भारत में एक घोर दुर्भिक्ष हुआ। उसी समय स्थूल भद्र का देहान्त हो गया और भद्रबाहु अपने शिष्य समुदाय को साथ लेकर दक्षिण में कर्णाटक देश में चला गया और दक्षिण में उसने जैन धर्म का प्रचार किया। वहीं श्रवण वेलगोला के पास उपवासों द्वारा उसने देहत्याग किया। कुछ वर्ष बाद जब उसके शिष्य मगध में आये तो उन्होंने देखा कि जैन साधुओं के रहन सहन में बड़ा अन्तर हो गया है। पहिले ये लोग नग्न रहते थे, परन्तु अब ये कुछ वस्त्र पहिनने लगे थे। वह बात उनको बहुत बुरी लगी और उन्होंने अपना एक अलग ही समुदाय बना लिया। इस प्रकार जैन धर्म में दो सम्प्रदाय बन गये। कपड़े पहिनने वाले श्वेताम्बर और नग्न रहने वाले दिगम्बर कहलाने लगे। साधुओं के ही दो भेद नहीं हुए बल्कि सारा जैन समाज श्वेताम्बर और दिगम्बर दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। यों तो ये दोनों ढंग पहिले से चले आते थे, और स्वयं महावीर के समय में भी विद्यमान थे, परन्तु अब दोनों ने सम्प्रदाय का निश्चित और कट्टर रूप धारण कर लिया। मूलतः और सिद्धान्ततः दोनों में विशेष भेद नहीं है परन्तु व्यवहारतः दोनों में बड़ा भेद हो गया है। दोनों अहिंसा और तप के महत्व को मानते हैं और सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं। भेद यह है कि दिगम्बर अपरिग्रह को त्याग की पराकाष्ठा करके नग्न रहना आवश्यक समझते हैं और श्वेताम्बर वस्त्र धारण करने में हानि नहीं मानते। दिगम्बर कहते हैं कि स्त्री मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकती। श्वेताम्बर मानते हैं कि चौबीस तीर्थङ्करों में एक स्त्री भी हुई है। दिगम्बर इसको स्वीकार नहीं करते। श्वेताम्बरों की धारणा है कि महावीर के पश्चात् उनके शिष्यों और गणधरों ने गुरू शिष्य परंपरा से उनके उपदेश कंठस्थ रखे थे। उनमें से कुछ लुप्त हो गये और कुछ ग्रन्थों के रूपों में अभी विद्यमान हैं। दिगम्बर इन शास्त्रों को नहीं मानते और कहते हैं कि तत्कालीन ग्रन्थ सब लुप्त हो गये हैं।

उत्तर भारत में जैन धर्म : जैन लोग मानते हैं कि महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य जैन अनुयायी थे और अपने अन्तिम दिनों में उन्होंने उग्र तपस्या तथा उपवासों द्वारा देह त्याग किया था। इस बात की इतिहास से भी कुछ पुष्टि होती है। चन्द्रगुप्त मौर्य का देहान्त उपवास द्वारा दक्षिण में श्रवणवेलगोला स्थान पर हुआ है जो मैसूर राज्य के दक्षिण में स्थित है। यहाँ पर एक अति विशाल जैन प्रतिमा है जिसको शायद महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य ने ही प्रतिष्ठित किया हो। यहाँ अति प्राचीन काल से जैन धर्म प्रचलित है। चन्द्रगुप्त के पौत्र, परम प्रसिद्ध महाराज अशोक बौद्ध थे और उनके शासन में बौद्ध धर्म का बड़ा प्रचार हुआ था परन्तु दूसरे धर्म भी उस समय उदार दृष्टि से देखे जाते थे। स्वयं अशोक ने जैन साधुओं के वास्ते कई गुफाओं का निर्माण करवाया था। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये साधुगण श्वेताम्बर थे या दिगम्बर। अशोक के पौत्र महाराज सम्प्रति, जैन धर्म को मानते थे।

उनके शासन काल में जैन मत का अच्छा प्रचार हुआ। परन्तु सम्प्रति अशोक के समान शक्तिशाली सम्राट् नहीं थे और न उनका राज्य उतना विस्तृत ही था। परन्तु जैन लोग सम्प्रति को बहुत बड़ा सम्राट् मानते हैं। बौद्ध धर्म के प्रचार में जो महत्व अशोक का है, वैसा ही महत्व जैन धर्म के प्रचार में सम्प्रति का माना जाता है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य से सम्प्रति तक अर्थात् छ: पीढ़ी तक मगध में विशेषकर और दक्षिण भारत में तथा गुजरात और अन्यत्र भी जैन मत का प्रचार रहा। इससे पहिले उड़ीसा प्रदेश का शक्तिशाली राजा मेघवर्ण खारवेल भी जैन था। इसका शासन काल ईसा से १६० वर्ष पूर्व के करीब माना जाता है। इसने मगध के राजा पुष्यमित्र से और अन्ध्र राजवंश के तृतीय राजा शतकर्णी से युद्ध किया था। ऐसे बलवान और प्रभावशाली नरेश के समय में जैन धर्म का अच्छा प्रचार हुआ था। यह जैन धर्म का प्रबल पक्षपाती था। मगध के किसी नन्दवंशीय राजा ने कलिंग या उड़ीसा प्रान्त पर एक बार आक्रमण किया था और ऋषभदेव तीर्थङ्कर की प्रतिमा वह मगध में ले गया था। मेघवर्ण खारवेल उस प्रतिमा को पाटलिपुत्र से वापिस अपनी राजधानी में ले गया और वहाँ स्थापित किया। जैन ग्रन्थों में लिखा है कि सम्प्रति भारत का चक्रवर्ती सम्राट था। उसने समस्त देश में जैन धर्म का प्रचार किया था और अगणित जैन देवालयों का निर्माण करवाया था। इतना ही नहीं उसने विदेशों में भी जैन धर्म का प्रचार किया था। इस समय गुजरात में ऐसे अनेक प्राचीन जैन मन्दिर हैं जिनके निर्माताओं का पता नहीं है, परन्तु परम्परा से लोग कहते आये हैं कि ये महाराज सम्प्रति के बनाये हुए हैं। सम्प्रति और दशरथ दोनों अशोक के पौत्र थे। दोनों ही एक समय राज्य करते थे। सम्भवतः दशरथ मगध में और सम्प्रति पश्चिमी भारत में राज्य करता होगा। गुजरात में और पास के प्रदेश में सम्प्रति ने जैन धर्म का खूब प्रचार किया होगा, जिससे जैन लोगों में उसकी इतनी ख्याति हुई कि वह अशोक के समान प्रचारक और शक्तिशाली माना जाने लगा और जैसी कथायें उस समय अशोक के विषय में प्रचलित थीं वैसी ही सम्प्रति के विषय में प्रचलित हो गईं। इन ऐतिहासिक आधारों पर कहा जा सकता है कि मेघवर्ण खारवेल के शासन काल तक जैन धर्म का प्रचार मगध, उड़ीसा, विधर्भ, गुजरात आदि प्रदेशों में अर्थात् प्रायः समस्त उत्तर भारत में हो चुका था।

दक्षिण में जैन मत : दक्षिण में जैन धर्म का प्रचार ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ और ईसा से एक हजार वर्ष बाद तक इसका खूब प्रभाव रहा। कनाड़ा देश के सब शासक जैन मतावलम्बी थे। गंग राजवंश, राष्ट्रकूट राजवंश और कालचुर्य राजवंश के सब नरेश जैन धर्म को मानते थे। कदम्बवंशीय और चालुक्य-वंशीय पौराणिक हिन्दू थे परन्तु वे जैन मत को भी आश्रय दिया करते थे। मदुरा के पाण्ड्या राजा सब जैन मत के अनुयायी थे। सातवीं शताब्दी के मध्य में प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वानच्वांग दक्षिण भारत में बौद्ध मत की दशा देखने गया था। वह

पाल्लववंशीय राजाओं की राजधानी कांची नगरी में पहुँचा और वहाँ कुछ समय तक रहा। उस समय पल्लव नरेश नरसिंह वर्मा (६२५–६४५) राज्य करता था। यह बड़ा शक्तिशाली नरेश था। इसने प्रबल प्रतापी चालुक्य नरेश पुलकेसिन द्वितीय को युद्ध में हराकर उसकी राजधानी पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था और लङ्का के एक रईस को सहायता देकर उसे वहाँ का राज्य दिलाया था। नरसिंह वर्मा का पिता महेन्द्र वर्मा (६०६--६२५) जैन धर्म को मानता था। इसके राज्य में कई स्थानों पर जैन साधुओं के उपासरे बने हुए थे। दक्षिण अरकट में पाटलिपुत्र नामक नगर में जैनों का प्रसिद्ध उपासरा था। नाम से ही प्रकट है कि इस नगर को उत्तर भारत से प्रचारार्थ आने वाले जैन साधुओं ने बसाया होगा या प्राचीन नगर का यह नया नाम होगा। महेन्द्र वर्मा का पुत्र नरसिंह वर्मा जैन धर्म का श्रद्धालु अनुयायी था। उसके राज्य में चीनी यात्री ने अनेक जैन मन्दिर देखे थे। इस देश में विशेषतः दिगम्बर जैन सम्प्रदाय का प्रचार था। कांची नगर उस समय भारत के प्रसिद्ध सात नगरों में गिना जाता था और दक्षिण भारत में यह सांस्कृतिक केन्द्र था। यह नगर प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक और नालन्द विश्वविद्यालय के कुलपति धर्मपाल का जन्मस्थान था। ऐसे सांस्कृतिक उत्तम केन्द्र में दिगम्बरों के मन्दिर बने हुए थे और वहां उनका प्रभाव था, जिससे प्रकट है कि जैन धर्म भारत में सर्वत्र शिष्ट-सम्मत हो चुका था। कांची नगर में ही ह्वानच्वांग ने आने-जाने वालों और अपने बौद्ध मित्रों से सुना था कि चोल राज्य में जैन धर्म बहुत प्रचलित है। वहाँ पर कुछ पौराणिक मन्दिर भी थे। परन्तु प्रधानता जैन धर्म की ही थी। वहीं उसको मालूम हुआ था कि पयल्या राज्य में अर्थात् भारत के बिलकुल दक्षिण प्रदेश में भी दिगम्बर जैनों का बहुत प्रभुत्व है और उनकी संख्या अगणित है। प्रसिद्ध राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (८१५-८७७) दिगम्बर सम्प्रदाय का बड़ा प्रतिपालक था। इसके राज्य में प्रसिद्ध जैन विद्वान जिनसेन और गुणभद्र ने जैन धर्म का बड़ा प्रचार किया था। अमोघवर्ष तत्कालीन भारत के तीन चार प्रसिद्ध राजाओं में गिना जाता था। इसके शासन काल में सुलेमान नामक एक अरब सौदागर भारत में भ्रमण करने और यहाँ रहने वाले मुसलमानों की स्थिति देखने के लिये आया था। उसने लिखा है कि संसार के शक्तिशाली राजाओं में अमोघवर्ष का चौथा स्थान है। ऐसे बलवान नरेश का आश्रय पाकर दिगम्बर जैन सम्प्रदाय दक्षिण भारत में क्यों न प्रचलित होता। गुजरात और काठियावाड़ में जैन धर्म को चालुक्य या सोलङ्की नरेशों के शासन में बहुत प्रोत्साहन मिला था। इन विविध नरेशों के आश्रय से यह धर्म दक्षिण भारत में सर्वत्र प्रचलित हो गया। साथ ही साथ बौद्ध धर्म और वैष्णव तथा शैव मत का भी प्रचार था, परन्तु जैन मत के अनुयायियों की संख्या सर्वत्र बहुत थी।

जैन धर्म की देन—अहिंसा : भारतीय संस्कृति को जैन धर्म की प्रमुख देन

है अहिंसा और कर्म-सिद्धान्त। आर्य लोग अहिंसा को पहिले भी सत्कर्म मानते थे, परन्तु वैदिक ऋषियों ने इसको विशेष महत्व नहीं दिया था। बौद्ध धर्म ने इसको अपनाया और जीवों पर दया करना मनुष्य का परम कर्तव्य बतलाया। तो भी इसको सर्वोपरि नहीं माना। जैन धर्म में अहिंसा को ही सर्वाधिक प्रधानता दी गई है। वास्तव में शेष सब बातों का इस महाव्रत में समावेश हो जाता है। सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह सब अहिंसा के ही अंग या रूप हैं। व्रत और उपवास भी अहिंसा है और भूखा रह कर देह त्याग करना भी अहिंसा है। मूल सिद्धान्त जैन धर्म ने यह माना है कि अपने व्यवहार से किसी प्राणी को (मनुष्य, पशु, पक्षी और कीट-पतंग को ही नहीं बल्कि अति सूक्ष्म और अदृष्ट कीटाणु को भी) कोई कष्ट नहीं होना चाहिए। मारना ही हिंसा नहीं है, बल्कि मन या वचन से किसी को दुःख या क्लेश पहुँचाना भी हिंसा है। इस प्रकार जैन धर्म ने उत्तम और आदर्श नागरिकता का उपदेश दिया है। इसी के प्रभाव से समस्त देश दया को प्रधान धर्म मानने लग गया है और शाकाहारी बन गया है। इस दृष्टि से भारत सम्पूर्ण जगत् में एक अद्‌भुत देश है। अहिंसा भारत में शास्त्र का विषय नहीं है, यह दैनिक जीवन का विषय है। प्रत्येक भारतीय बच्चा समझता है कि अहिंसा अच्छी बात है। मांसाहारी भी अहिंसा को सिद्धान्ततः स्वीकार करते हैं।

जैन धर्म की देन—कर्म फल सिद्धान्त : इसी प्रकार कर्म सिद्धान्त भी भारत का लोक-विचार बन गया है। यह सिद्धान्त महावीर से पहिले भी भारतीय ज्ञान का अंग था, परन्तु जैन धर्म में इसका अति सुन्दर विवेचन किया गया है। इसको इतना वैज्ञानिक, सुबोध और सर्वसम्मत जैन धर्म ने ही बनाया है। मनुष्य जैसा कर्म करेगा वैसा फल मिलेगा, इसको इस समय आबालवृद्ध अशिक्षित लोग भी समस्त देश में जानते हैं। यह विचार अब न जैन-मत है न वेद-मत। यह भारत का लोक-मत बन गया है और इसको इतना स्वतः सिद्ध माना जाता है कि इसकी कोई शास्त्रीय व्याख्या आवश्यक नहीं समझी जाती।

जैन धर्म की देन—दर्शन, कला और साहित्य : दर्शन, साहित्य और कला के क्षेत्र में जैन मार्गियों ने भारत को बहुत कुछ दिया है। जैन तर्क-शास्त्र बड़ा उन्नत और परिमार्जित है। इससे भारतीय तर्क पुष्ट और सम्पन्न हुआ है। जैन शास्त्रों में कर्म सिद्धान्त का अद्‌भुत विवेचन है। कर्म के भेद-प्रभेद और उसके नाना-विधि फल बड़ी सूक्ष्मता से समझाये गये हैं। जैन धर्म का अनेकान्तवाद भारतीय दर्शन का जगमगाता हुआ रत्न है। इस वाद में बतलाया गया है कि प्रत्येक विषय या पदार्थ को सात प्रकार (सप्त भंग) से देखा जा सकता है। एक ही विधि या पक्ष का आग्रह करने से समस्त सत्य का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। अनेकान्तवाद विचारोदार्य की पराकाष्ठा है। जैन साहित्य भी विपुल और विशुद्ध है; इसमें कथा, वार्ता, काव्य,

इतिहास, पुराण, व्याकरण आदि सब विषय हैं। जैन लेखकों की यह विशेषता है कि वे शृंगारिकता में नहीं घुसते और स्त्रियों के विविध अंगों का तथा काम भावनाओं और चेष्टाओं का ऐसा वर्णन नहीं करते जो विकार उत्पन्न करने वाला हो। यही बात जैन कला के विषय में कही जा सकती है। सारे देश में दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अगणित मन्दिर हैं और तीर्थंकरों की और अन्य स्त्री पुरुषों की नाना प्रकार की अगणित प्रतिमायें हैं। जैन ग्रन्थों में अनेक विषयों के कितने ही हस्तलिखित सुन्दर चित्र हैं। कला के इन विविध अंगों में सात्विकता, सरलता, विशालता और सूक्ष्मता जैन मत की विशेष देन है।

जैन धर्म विद्यमान है परन्तु बौद्ध धर्म भारत से लुप्त हो गया : बौद्ध धर्म भारत से लुप्त हो गया और ऐसा लुप्त हुआ कि सदियों तक इसके नाम का भी लोगों को पता नहीं रहा। बौद्धों के मन्दिर, स्तूप, प्रतिमायें और मठ खण्डहर बन गये थे, बौद्धों के ग्रन्थों का पठन-पाठन बन्द हो गया था, इनके विश्वविद्यालय और पुस्तकालय मुसलमानों ने भस्म कर दिये थे और बौद्ध भिक्षु या भिक्षुणियों के चित्र भी कहीं दिखाई नहीं देते थे। सर्व दर्शन संग्रह नामक संस्कृत के एक ग्रन्थ से कुछ पता चलता था कि कभी भारत में बौद्ध धर्म रहा होगा, परन्तु यह भी एक धुंधली सी स्मृति थी। जब योरोपीय विद्वानों ने भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की खोज आरम्भ की और बौद्धों के कुछ ग्रन्थों का कुछ पता लगा तो जैन धर्म और बौद्ध धर्म की तथा दोनों के संस्थापकों के जीवन की अनेक समानताओं के आधार पर उनका विचार बना कि ये दोनों धर्म एक ही हैं तथा ग्रन्थभेद से नामभेद हो गया है। बौद्ध धर्म इस प्रकार भारत से बिलकुल लुप्त हो गया और जैन धर्म अब तक सजीव और सबल है इसके कई कारण हैं।

इसके कारण : जैन धर्म ने इस बात का प्रयास नहीं किया और न कभी ऐसी आकांक्षा की कि भारत में केवल जैन धर्म ही हो। इसने हिन्दू धर्म का प्रबल विरोध नहीं किया। हिन्दुओं के सांख्य दर्शन और योग दर्शन को इसने माना। अपने मन्दिर, प्रत्यक्ष में और कला की दृष्टि से हिन्दू मन्दिरों जैसे ही बनवाये। पूजा, व्रत, उपवास और तप का ढङ्ग भी हिन्दुओं से मिलता जुलता रक्खा। अपने ग्रन्थों को छिपाकर रखा, जिससे चाहे उनका प्रचार न हो सका, परन्तु उनकी रक्षा होती रही। जब आत्म-रक्षा की आवश्यकता पड़ी तो जैन धर्म बहुत आसानी से हिन्दू धर्म की गोद में छिप गया। जब मुसलमानों के आक्रमण हुए तो उनको यह भी पहिचान नहीं हुई कि कौन सा मन्दिर हिन्दुओं का है और कौन सा जैनों का। जैन मतानुयायी नरेशों ने तो इस धर्म का प्रचार, रक्षण और पोषण किया ही परन्तु प्रायः सब हिन्दू नरेशों ने (गुजरात, काठियावाड़, मालवा और राजस्थान में) भी इस धर्म को प्रोत्साहन दिया। इन प्रदेशों में जैन मन्दिरों की संख्या और भव्यता

और जैनों की बड़ी आबादी है जो राजपूत नरेशों के प्रोत्साहन के प्रमाण हैं। इस समय जैन धर्म हिन्दू धर्म का एक प्रभावशाली और गौरवमय पक्ष है। इसने भारतीय विचार, दृष्टिकोण और समस्त सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को सुन्दर बनाया है।

बौद्ध धर्म के अनेक सम्प्रदाय : बौद्ध धर्म आरम्भ में सरल और सुगम था परन्तु इसका यह आदि सौन्दर्य अधिक काल तक नहीं रह सका। चतुर्थ शताब्दी में जब प्रसिद्ध चीनी यात्री बौद्ध धर्म की गतिविधि का अध्ययन करने भारत में आया तो उसने देखा कि बौद्ध धर्म के अन्तर्गत अनेक सम्प्रदाय बन गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह भेद-प्रवृति कई शताब्दी पहिले आरम्भ हो चुकी थी। ईसा से तीन सौ वर्ष पहिले ही बौद्ध धर्म में अनेक जटिलतायें आ घुसी थीं। कोई कुछ कहता था और कोई कुछ। धर्म का असली स्वरूप विवादों और शास्त्रार्थों में छिपने लग गया था। इसीलिए महाराज अशोक ने पाटलिपुत्र में बौद्ध विद्वानों की एक सभा करवाई थी जिसमें बौद्ध धर्म के मौलिक सिद्धान्त निश्चित किये गये थे। इसके लगभग चार सौ वर्ष बाद फिर महाराज कनिष्क ने कश्मीर में कुन्दलवन विहार नामक मठ में ऐसी सभा करवाई। उसमें बौद्ध विद्वान् सम्मिलित हुए और सर्व सम्मत सिद्धान्तों पर एक ग्रन्थ तैयार किया गया। यह ग्रन्थ ताम्रपत्रों पर लिखा गया और इसको एक स्तूप में सुरक्षित रखा गया। फिर भी भेद प्रभेद बन्द नहीं हुए। सातवीं शताब्दी में विद्वान् चीनी यात्री भारत में बौद्ध धर्म का अध्ययन करने आया तो उसने भी देखा कि बौद्ध धर्म के अनेक सम्प्रदाय हैं।

बौद्ध धर्म पर पौराणिक धर्म और विदेशियों का प्रभाव : बुद्ध के मूल सिद्धान्त अत्यन्त सरल और सुबोध थे, परन्तु जब इनकी व्याख्यायें होने लगीं तो मूल सिद्धान्त दबने लग गये और व्याख्याओं का महत्व बढ़ने लगा। यह प्रवृत्ति रुक भी नहीं सकती थी। भारत में तर्कवितर्क और शास्त्रार्थ करने की प्राचीन परम्परा थी। सीधी और सरल बात विद्वानों को अच्छी नहीं लगती थी। पाण्डित्य का प्रदर्शन होना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त बुद्ध ने अपना धर्म इतना सरल और स्पष्ट कर दिया था कि लोगों को वह गणित के जोड़ बाकी जैसा प्रतीत होता था। उसमें न आकर्षण रहा न गहनता रही, फिर यह चारों ओर पौराणिक धर्म से घिरा हुआ था। पुराणों के देव और देवियाँ दया और करुणा करने वाले थे। उनके भक्त बैकुण्ठ में नाना प्रकार के स्वर्गीय सुख भोगते थे। देव-देवियाँ भक्ति से प्रसन्न और द्रवित हो जाते थे और भक्तों के अपराधों और पापों को क्षमा कर दिया करते थे। इन देवों की शक्तियाँ अपार थीं, विभूतियाँ अनन्त थीं और लीलायें अद्भुत थीं। ऐसे अति प्रचलित और आकर्षक धर्म का बौद्ध धर्म पर प्रभाव पड़े बिना कैसे रह सकता था। यह कारण था कि बौद्ध धर्म में विभिन्न सम्प्रदाय और दर्शन बनने लगे। फिर ईसा से लगभग २०० वर्ष पूर्व से कितने ही विदेशी लोग भारत में आने लगे। यूनानियों ने

उत्तर पश्चिमी प्रदेश में छोटे-छोटे राज स्थापित कर लिये और इनकी काफी बड़ी-बड़ी बस्तियाँ वहाँ बस गईं। इनके पश्चात् पार्थियन लोग आये, ये भी इसी प्रकार पश्चिमी पंजाब में बस गये। दूसरी शताब्दी में कुशाणों के हमले हुए और ये लोग पाटलिपुत्र तक जा पहुँचे। मथुरा तक तो ये लोग काफ़ी फैल गये और बस गये। तदनन्तर शकों के आक्रमण हुए और ये भी मालवा, काठियावाड़, गुजरात आदि प्रदेशों में फैल गये। चौथी शताब्दी से सातवीं शताब्दी तक हूणों के आक्रमण हुए और ये प्रायः समस्त उत्तर भारत में परन्तु विशेषकर पंजाब, राजस्थान, मालवा और काठियावाड़ में फैल गये। जितने भी आये सब इसी देश में बस गये। कोई वापिस नहीं गया। इन सबने यहां का धर्म स्वीकार कर लिया और यहां की संस्कृति धारण करली। बौद्ध धर्म सरल और स्पष्ट था और इसमें जाति पांति का भेदभाव बिलकुल नहीं था। इसलिये लोग आसानी से बौद्ध धर्म को मानने लगे और बौद्ध भी इनको आसानी से अपनाने लगे। परन्तु बौद्ध हो जाने पर भी यह सम्भव नहीं था कि ये सब बहु-संख्यक लोग अपने पुराने और परम्परा-प्राप्त विचारों को बिलकुल भूल जाते। अतः इन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और बौद्ध धर्म ने मानो इसके पुराने विचार और संस्कार कुछ हेर फेर के साथ स्वीकार कर लिये। इस घोलमेल में पौराणिक विचार भी आ मिले। इस प्रकार बौद्ध धर्म में रूपान्तर और भेद प्रभेद होने लगे।

बौद्ध धर्म के दो मुख्य सम्प्रदाय : यों तो बौद्ध धर्म में अनेक सम्प्रदाय थे परन्तु मुख्य सम्प्रदाय दो थे, हीनयान और महायान। हीनयान का प्रचार दक्षिण भारत में था और महायान का उत्तर भारत में। हीनयान मूल बौद्ध मत के निकट था और महायान बौद्ध मत का रूपान्तर था। यह प्रत्यक्ष ही है कि यह नामकरण महायान के अनुयायियों ने ही किया होगा। बौद्ध के देहान्त के पश्चात् बौद्ध पंडित अपने धर्म की व्याख्या अपने अपने दृष्टिकोण से करने लगे थे। पौराणिक धर्म का भी इस पर प्रभाव पड़ने लगा था। इसके देशीय और विदेशीय भक्त अपने अपने विचार, विश्वास और संस्कार साथ लेकर आये थे। इसमें प्रवेश करने पर भी उनके परम्परा-प्राप्त विचार कुछ हेर फेर या रूपान्तर के साथ उनके साथ लगे रहे। इस प्रकार बौद्ध मत, पुराणमत और विदेशीय मतों का सम्मिश्रण होने लगा। जैसा सांस्कृतिक मिश्रण अथर्ववेद युग में गंगा की घाटी में हुआ था वैसा पंजाब, उत्तर प्रदेश और मालवा में होने लगा। अन्तर एक बात का था। अथर्ववेद काल के आर्यों ने द्रविड़ों के विचार ग्रहण कर आर्य धर्म को नया रूप तो दे दिया परन्तु आधिपत्य आर्य धर्म का ही बनाये रक्खा और तत्कालीन सम्पूर्ण संस्कृति को आर्य कलेवर दे दिया। अनार्य संस्कृति का एक प्रकार से नामोच्छेद कर दिया। ऐसी बात महायान के विकास काल में नहीं हुई और न की जा सकती थी। वैदिक और पौराणिक धर्म के मूल तथा उनकी परम्परायें अति दृढ़ थीं, वे बौद्ध धर्म से नहीं हिल सकती थीं। बल्कि बौद्ध धर्म के लिये जीवित रहने का एक मात्र मार्ग यही था कि आत्मरक्षा के निमित्त वह पौराणिक धर्म का कवच पहिन ले।

इस प्रकार पौराणिक, बौद्ध और जैन धर्म साथ साथ चलते रहे।

बौद्ध धर्म के रूपान्तर—सरलता और सुगमता के कारण बौद्ध धर्म में अज्ञेयता का आकर्षण नहीं था। निर्वाण के पश्चात् क्या होता है? इसका वर्णन नहीं था; पापियों के भी उद्धार का कोई मार्ग है या नहीं? इसका विवेचन नहीं था। मनुष्य भगवान् की करुणा या दया चाहता था, केवल रूखा और निर्मम व्यवहार उसको शान्ति और आशा नहीं दे सकता। बुद्ध के मार्ग में संयम और सत्प्रयास था। और आदि से अन्त तक यह जोड़-बाकी ही थी। निर्बलों का आश्रय, पापियों का उद्धार और अकारण अनुग्रह बौद्ध मत में नहीं थे। लेकिन शेष धर्मों में ये सब आकर्षण विद्यमान थे। इन आकर्षक परिस्थितियों का प्रभाव बौद्ध मार्ग पर पड़े बिना कैसे रह सकता था? पुराणों में सृष्टि, स्थिति और प्रलय को समझाने के वास्ते ब्रह्मा, विष्णु, और महेश की कल्पना थी, अब बौद्ध धर्म में भी तीन प्रधान देवों की सृष्टि की गई। ये थे—मंजुश्री, वज्रपाणि और अवलोकितेश्वर। इनके कार्य भी ब्रह्मा, विष्णु और महेश से मिलते जुलते थे। इनकी स्तुति उसी प्रकार की जाती थी जैसे पौराणिक देवों की। इनसे क्षमा, दया, करुणा आदि की याचना की जाती थी और समृद्धि तथा सम्पत्ति की भिक्षा माँगी जाती थी। जैसे पौराणिक धर्म में अनेक देवियों की पूजा की जाती थी उसी प्रकार महायान में भी कई देवियाँ पूजी जाने लगीं। भेद केवल नामों का था। इसके अतिरिक्त महायान में एक नवीन प्रकार के देव उत्पन्न हुए। ये बोधिसत्व कहलाते थे और इनकी संख्या अनन्त थी। जो मनुष्य पुण्य कर्म करता था वह बोधिसत्व माना जाता था। यह भी धारणा थी कि ऐसे पुण्यवान व्यक्ति पुनः पुनः लोक कल्याणार्थ जन्म धारण किया करते हैं। ३३ कोटि देव देवियों की पौराणिक कल्पना से महायान धर्म की बोधिसत्व कल्पना अधिक सुन्दर थी परन्तु इसमें भी अज्ञेयता का आकर्षण नहीं था।

बौद्धों का बैकुण्ठ—महायान के अनुयायियों ने अपने लिए एक अलग ही स्वर्ग, बैकुण्ठ या गोलोक बनाया। यह सुखातिव्यूह कहलाता था। स्वर्ग में और सुखातिव्यूह में केवल नाम का भेद था, शेष सब बातें मूलतः समान थीं। दिल्ली के नेशनल म्यूज़ियम में सुखातिव्यूह का एक चित्र है। यह पश्चिमी एशिया के एक बौद्ध मठ में दीवार पर बना हुआ था। यह बड़ी सावधानी के साथ वहाँ से लाया गया है। इस चित्र से प्रकट है कि बौद्ध लोग सुखातिव्यूह को समस्त सुखों का स्थान मानते थे। केवल पुण्यवान और भाग्यवान व्यक्ति ही उसमें प्रवेश पाते थे।

महायान में पुनर्जन्म—सिद्धान्ततः बौद्ध धर्म में पुनर्जन्म नहीं माना जाता था। एक दृष्टि से बौद्ध धर्म आत्मा के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करता था। बौद्ध दर्शन क्षणवाद पर अधिक जोर देता है, जिसका अभिप्राय यह है कि जगत् में समस्त क्षेत्रों में प्रतिक्षण परिवर्तन हुआ करता है। ऐसी अवस्था में एक अमर और

शाश्वत तत्त्व अर्थात् आत्मा कैसे माना जा सकता है ? परन्तु बौद्ध दर्शन अपनी सूक्ष्मता और तर्क में अनुपम है। यह सब कुछ सिद्ध कर देता है। महायान ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्पष्ट रूपेण स्वीकार किया है तथा कर्मानुसार फल प्राप्ति के सिद्धान्त को भी माना है। वास्तव में महायान ने प्रायः समस्त पौराणिक धर्म को मान लिया है परन्तु उसको तत्वतः मानते हुए भी उसका कुछ न कुछ रूपान्तर किया है और नया नामकरण किया है।

महायान और शाक्त मत : शनैः शनैः महायान में मंत्र-तंत्र भी घुसने लगे और भूत-प्रेत तथा पिशाचों का भी इसमें प्रवेश होने लगा। नैपाल निवासी महायान के अनुयायियों ने तो इसको एक प्रकार का शाक्त महायान बना दिया। जहां इसमें मंत्र-तंत्र का बाहुल्य या प्राधान्य हुआ वहाँ यह मंत्रयान कहलाने लगा और जहाँ इसमें शाक्तमत घुस गया वहां यह वज्रयान कहलाने लगा। वज्रयान में शिव और पार्वती ने आसन जमा लिया और ये दोनों बुद्ध से भी अधिक पूजे जाने लगे। बुद्ध का केवल नाम रह गया और आधिपत्य वास्तव में अन्यान्य देवों का हो गया। कुछ समय उपरान्त बुद्ध पुराणों के अवतारों में सम्मिलित कर लिये गये और इस प्रकार बौद्ध मत के अलग अस्तित्व को मिटाने का प्रयास सफल होगया।

बौद्ध दर्शन : महायान में दर्शन बहुत उन्नत और पुष्ट हुआ। इस धर्म के कई प्रकान्ड विद्वानों ने दर्शन शास्त्र पर अनेक भव्य ग्रन्थ लिख कर बड़े पाण्डित्य के साथ ज्ञान-विज्ञान का विलक्षण विवेचन किया। इसी प्रकार हीनयान के विद्वान अनुगामियों ने भी दर्शन क्षेत्र में बड़ी सफलता प्राप्त की। इन दोनों सम्प्रदायों के मानने वाले पण्डितों ने अपनी-अपनी बुद्धि और दृष्टि के अनुसार कई मत निश्चित किये और षड्-दर्शन की भाँति इनमें भी कई दर्शन माने जाने लगे। फाहियान ने बारह दर्शनों का उल्लेख किया है। इनमें चार बहुत ही प्रसिद्ध हो गये। स्वामी शंकराचार्य ने अपने वेदान्त भाष्य में इन चारों दर्शनों का खंडन किया है। इनके नाम हैं, सौत्रांतिक, वैभाषिक, विज्ञानवाद और शून्यवाद। इनमें प्रथम दो का सम्बन्ध हीनयान से और शेष दो का महायान से है। विज्ञानवाद और शून्यवाद के तर्क, साहित्य और सिद्धान्त बहुत उच्च कोटि के हैं। शून्यवाद शंकर के अद्वैतवाद से बहुत मिलता जुलता है। भेद केवल भाषा का है, तत्व का नहीं। बौद्ध कहते हैं कि सब कुछ शून्य है और शंकर कहते हैं कि सब कुछ ब्रह्म है। शून्य तो शून्य है ही, उसकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। ब्रह्म के विषय में उपनिषदों के आधार पर शंकर कहते हैं कि 'नेति नेति' अर्थात् वह ऐसा नहीं है, केवल इतना ही कहा जा सकता है। अतः सूक्ष्म विवेचन को छोड़कर केवल स्थूल दृष्टि से व्यवहारतः देखें तो शून्यवाद में और शंकर के अद्वैत वेदान्त में कोई विशेष भेद नहीं है।

बुद्ध पर श्रद्धा : बुद्ध के जीवन काल में अनेक राजा उन पर श्रद्धा रखते थे

और उनसे मिला करते थे। साधु सन्यासियों का आदर करने की परम्परा भारत में अति प्राचीन थी। यह राजा का धर्म माना जाता था। फिर बुद्ध साधारण साधु नहीं थे। वे महाराज शुद्धोदन के पुत्र थे। मगध का राजा अजातशत्रु भी बुद्ध से कई बार मिला था। महावीर से भी वह इसी प्रकार कई बार मिला था। यह शायद केवल आदर प्रदर्शन या श्रद्धाभावना थी। अजातशत्रु स्वयं बौद्ध या जैन हो गया हो इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। इसी प्रकार तत्कालीन अन्य छोटे-छोटे राजा भी जो मगध राज्य के आस-पास राज्य करते थे, बुद्ध से मिला करते थे। उस समय बड़े-बड़े सेठ भी बुद्ध पर अगाध श्रद्धा रखते थे। श्रावस्ती नगर के सेठ अनाथपिंडक ने उनका स्वागत करने के निमित्त एक बाग में सुवर्ण मुद्राओं का फर्श बिछवा दिया था। बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात उनके अनुयायी सन्यासियों ने इस धर्म का प्रचार जारी रखा।

संघ में भिक्षु और भिक्षुणियाँ : धर्म प्रचारार्थ बुद्ध ने अपनी जीवितावस्था में ही संघ की स्थापना कर दी थी। जो लोग गृहत्याग कर बौद्ध धर्म स्वीकार करते थे या जो बौद्ध बन चुकने के बाद सन्यास धारण करते थे वे संघ में सम्मिलित किये जाते थे। इसमें सम्मिलित होने के बाद अति नियमित जीवन बिताना पड़ता था। ये सब लोग भिक्षु कहलाते थे। ये भिक्षा माँग कर अपना निर्वाह करते थे। सैकड़ों हज़ारों भिक्षु तो बुद्ध के साथ-साथ भ्रमण किया करते थे और कितने ही विहारों (मठों) में रहते थे। इनकी चौबीस घन्टों की दिनचर्या बुद्ध ने निश्चित कर रखी थी। जो निश्चित मार्ग से कुछ भी डिगता था उसको सचेत किया जाता था। जो निर्दिष्ट नियम और संयम के साथ नहीं रह सकता था उसको संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता था। भिक्षुओं के लिये नियमों का एक संग्रह तैयार किया गया था। इस संग्रह का नाम 'विनयपिटक' है। बुद्ध ने आरम्भ में स्त्रियों को संघ में सम्मिलित नहीं किया था। वे मानते थे कि स्त्रियाँ इतना कठोर जीवन व्यतीत नहीं कर सकतीं। भिक्षु और भिक्षुणियों का सम्पर्क भी उनको श्रेयस्कर नहीं जँचता था। लेकिन उनके त्याग, तप और व्यक्तित्व से प्रभावित होकर सहस्रों स्त्रियाँ सन्यास धारण कर संघ में सम्मिलित होना चाहती थीं। अतः बुद्ध के अति-प्रिय शिष्य आनन्द ने उनसे निवेदन किया कि स्त्रियों को भी संघ में सम्मिलित किया जावे। बुद्ध ने यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया परन्तु जब आनन्द ने अति आग्रह किया तो उन्होंने उसकी बात मान ली परन्तु यह कह कर मानी कि इससे संघ का जीवन पाँच सौ वर्ष कम हो जावेगा। स्त्रियों का संघ अलग स्थापित किया गया परन्तु इसकी भी दिनचर्या पुरुषों के संघ के समान कठोर और नियमित बनाई गई।

संघ की दिनचर्या : भिक्षु और भिक्षुणियों का जगना, स्नान करना, भिक्षा माँगना, अध्ययन करना, ध्यान करना, पढ़ना, परस्पर मिलना, विश्राम करना, और सोना सब नियमपूर्वक होता था। इस प्रकार के भिक्षु और भिक्षुणियाँ उत्तर

और दक्षिण भारत में सहस्त्रों की संख्या में यत्र यत्र विहारों में निवास करते थे। समाज के दान से इनका निर्वाह होता था और ये लोग समाज को धर्म का उपदेश देते थे तथा संघ में अध्यापन करते थे जिसमें प्रायः भिक्षु लोग पढ़ते थे परन्तु गृहस्थों के बालक या प्रौढ़ भी सम्मिलित हुआ करते थे।

त्रिपिटक : बुद्ध ने या उनके शिष्य ने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। इसकी आवश्यकता भी नहीं थी। धर्म का उपदेश और विवेचन स्वयं भगवान ही करते थे तो फिर ग्रन्थ की क्या आवश्यकता थी। जब बुद्ध उपदेश करते थे तो सहस्त्रों भिक्षु और भिक्षुणियाँ दत्तचित्त होकर उनकी वाणी का श्रवण करते थे। बीच-बीच में बुद्ध प्रश्न करते जाते थे और भिक्षुगण उनका उत्तर देते रहते थे। बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् इन व्याख्यानों को तीन भागों में संग्रह किया गया। ये ग्रन्थ बौद्धों के प्रधान ग्रन्थ हैं। ये हैं—सूत्रपिटक, अभिधम्मपिटक और विनयपिटक। सूत्रपिटक में बौद्ध धर्म से सम्बन्ध रखने वाले प्रकीर्ण विषय हैं, अभिधम्मपिटक में बौद्ध दर्शन और धार्मिक तत्वों का विवेचन है, तथा विनयपिटक में बौद्ध भिक्षुओं की दैनिक चर्या के नियम हैं। पिटक पाली भाषा का शब्द है और इसका अर्थ है पिटारा या टोकरी। ये ग्रन्थ गुरु-शिष्य परम्परा से चलते आये थे। बुद्ध के परिनिर्वाण के कई सौ वर्ष बाद ये लेखबद्ध हुए हैं।

महाराज चन्द्रगुप्त का धार्मिक जीवन : बुद्ध के त्याग के बाद कई शताब्दियों तक उनके शिष्य और प्रशिष्य आदि भिक्षुओं और भिक्षुणियों की सहायता से बौद्ध धर्म का प्रचार करते रहे। इस धर्म में समय के साथ कुछ हेर-फेर भी हुए और नये सम्प्रदाय भी बने परन्तु इसके अनुयायियों की संख्या बढ़ती ही रही। फिर ईसा से लगभग ढाई सौ वर्ष पूर्व महाराज अशोक ने इसका खूब प्रचार किया और इसको विश्व-धर्म बना दिया। महाराज अशोक सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य (३२३-२९८) के पौत्र थे। चन्द्रगुप्त बड़े प्रतापी सम्राट् थे। इनने सिकन्दर द्वारा स्थापित किये हुए यूनानी शासकों को पंजाब और सिन्ध से मार भगाया; यूनानी नरेश सेल्यूकस को युद्ध में पराजित करके उसकी पुत्री से विवाह किया और काबुल, कन्धार और हेरात के प्रदेश उससे छीन कर अपने राज्य में मिलाये। इनका राज्य शायद दक्षिण में मैसूर से नीचे तक फैला हुआ था। इनका शासन अत्यन्त व्यवस्थित और उन्नत था। इनके दरबार में सेल्यूकस निकेटार का भेजा हुआ एक यूनानी राजदूत रहता था जिसने तत्कालीन भारत पर एक ग्रन्थ लिखा है। इनका सलाहकार और शायद मन्त्री राजनीतिज्ञ कौटिल्य था जिसका ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' नामक राजनीति का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इनकी राजधानी पाटलिपुत्र नगरी नौ मील लम्बी और डेढ़ मील चौड़ी गंगा के तट पर स्थित थी। नगर प्राचीर ऊँची और दृढ़ थी, जिसमें चौंसठ द्वार थे, पाँच सौ सत्तर बुर्जें थीं और उसके चारों ओर गहरी खाई थी जो सर्वदा जल से भरी रहती थी। राजप्रासाद

का वैभव और ऐश्वर्य एशिया के प्रसिद्ध राज महलों को मात करता था। इसमें सुन्दर सुनहरे स्तम्भ थे जिन पर सोने चांदी के बेलबूटे बने हुए थे और चारों ओर मनोहर बाग बगीचे थे जिनमें नाना प्रकार के शोभायमान वृक्ष पौधे और बेलें लगी हुई थीं। वहाँ स्वच्छ जल के तालाब बने हुए थे जिनमें नाना प्रकार की मछलियाँ क्रीड़ायें किया करती थीं। चन्द्रगुप्त की राजधानी धनधान्य से सम्पन्न थी। चोरी बहुत ही कम होती थी। उनके पास ६ लाख चतुरंगणी सेना थी और नौ-सेना विभाग भी था। कला-कौशल और व्यापार सुव्यवस्थित और उन्नत था। दूरस्थ प्रान्तों का भी प्रबन्ध उत्तम था और प्रजाहित की सर्व प्रकारेण रक्षा की जाती थी। इस प्रकार के बल और वैभव से घिरे रहने पर भी महाराज चन्द्रगुप्त परम धार्मिक थे। जब उन्होंने वृद्धा-वस्था का अनुभव किया तो अपने पुत्र बिम्बसार को साम्राज्य के आसन पर अभिषिक्त कर स्वयं सन्यासी बन गये और श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के साथ वे दक्षिण में चले गये जहाँ व्रत और उपवास के द्वारा अपने शरीर को गला कर देहत्याग किया।

अशोक के शिला लेख और सर्व सम्मत बौद्ध सिद्धान्त : प्रियदर्शी महाराज अशोक भी अपने पितामह के सदृश बहुत धार्मिक थे। इन्होंने चालीस वर्ष तक (२७२-२३२) राज्य किया। इस काल में इन्होंने एक बार कलिंग देश के राजा से युद्ध किया जिसमें इनको एक वर्ष या छः मास लगे होंगे। शेष शासन काल इन्होंने धर्म प्रचार में और अपनी प्रजा का नैतिक स्तर ऊँचा करने में व्यतीत किया। कलिंग युद्ध में भीषण रक्तपात देखकर इनको बड़ी आत्मग्लानि हुई और विरक्त से होकर इन्होंने बौद्ध धर्म गृहण कर लिया। ये हीनयान धर्म को मानते थे, परन्तु इनको बौद्ध धर्म के अन्य सम्प्रदायों से या तत्कालीन आर्य धर्म से कोई द्वेष नहीं था। अपने धर्म से प्रेम करते हुए भी ये अन्य धर्मों का आदर करते थे। अपने धर्म का प्रचार करने के लिये और तन्निमित्त अन्य घोषणायें करने के लिये अशोक ने समस्त देश में यत्र तत्र प्रमुख और प्रसिद्ध स्थानों पर शिलाओं और स्तम्भों पर कई लेख खुदवाये। अशोक ने बौद्ध धर्म के ऐसे मौलिक और सरल तथा सर्वसम्मत सिद्धान्तों का प्रचार किया जिनका विरोध अन्य बौद्ध सम्प्रदाय तो क्या वेदमतावलम्बी और पौराणिक लोग भी नहीं कर सकते थे। उन्होंने शिलाओं और स्तम्भों पर खुदवाया कि माता पिता और गुरू की आज्ञा माननी चाहिये, अपने मित्रों और निकटवर्तियों से प्रेम का व्यवहार करना चाहिये, जीवों पर दया करनी चाहिये और सदा सत्य बोलना चाहिये। अशोक का आदेश था कि छोटे बड़ों का आदर करें और बड़े छोटों से, यहाँ तक कि नौकरों से और दासों तक से प्रेम करें। उद्देश्य यह था कि समाज में परस्पर शिष्ट और सभ्य तथा स्नेहमय व्यवहार हो, तथा साधु, सन्यासियों और ब्राह्मणों का यथोचित आदर हो। इन सिद्धान्तों द्वारा महाराज अशोक ने अपनी प्रजा को सच्ची और आदर्श नाग-रिकता का पाठ पढ़ाया था।

अशोक का धार्मिक जीवन : अशोक केवल उपदेश ही नहीं देते थे, वे स्वयं इन सत्‌सिद्धान्तों पर आचरण करते थे। प्रत्यक्ष में वे सम्राट् थे परन्तु अन्तःकरण में वे साधु थे। वे प्रायः भिक्षु के वस्त्र पहिनकर जनता को धर्मोपदेश दिया करते थे। बुद्ध जीवन से जिन स्थानों का विशेष सम्बन्ध था उन सब की अशोक ने श्रद्धापूर्वक यात्रा की थी। समस्त भारतवर्ष में उन्होंने यत्र तत्र सैकड़ों स्तूप बनवाये थे जिनमें बुद्ध की अस्थियाँ सुरक्षित रखी गई थीं। कर्तव्यपरायण और परिश्रमशील वे इतने थे कि उन्होंने हुक्म जारी कर दिया था कि मैं कहीं भी हूँ—महल में, बाग में, अस्तबल में, अन्दर या बाहर, सर्वत्र लोग मुझसे मिल सकते हैं और अपनी बात कह सकते हैं। अशोक ने वास्तव में स्वयं अपना जीवन और अपनी राजशक्ति सब धर्म प्रचार में और प्रजोन्नति में लगादी थी। बौद्ध धर्म का उन पर इतना अच्छा प्रभाव पड़ा कि उनकी प्रकृति अत्यन्त कोमल दयाशील हो गई थी जिसके कारण उन्होंने जीव हिंसा पर प्रतिबन्ध लगाये, सुन्दर और सीधे तथा लम्बे मार्ग बनवाये, उनके दोनों ओर छाया-दार वृक्ष लगवाये, यात्रियों के विश्राम के लिये थोड़ी-थोड़ी दूरी पर स्थान बनवाये, स्त्रियों के चरित्र और धन की रक्षा के लिये नियम बनाये और विशेष अधिकारीगण नियत किये।

बौद्ध विद्वानों की सभा : धर्म प्रचार में अशोक जन्म भर व्यस्त रहे और अपनी राजशक्ति के द्वारा अनेक उपाय किये और साधन जुटाये। बौद्ध पण्डितों की सभा करवा कर पहिले तो बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्त निश्चित करवाये। इनके आधार पर ऐसे उपदेशों का प्रचार किया जिनको सब लोग सहर्ष स्वीकार कर सकते थे। भारत में तो धर्म का प्रचार किया ही परन्तु विदेशों में भी इसके प्रचार का आयोजन किया।

अशोक का धर्म प्रचार और चरित्र निरीक्षण : भारत में प्रत्येक प्रान्त और प्रदेश में अशोक ने भिक्षुओं से धर्म का प्रचार करवाया और राज्य के उच्चा-धिकारियों द्वारा इसका निरीक्षण करवाया। अधिकारीगण दौरा करते समय सभायें कर धर्म का प्रचार किया करते थे। कुछ अफ़सरों का काम केवल यही था कि वे घूम-घूम कर देखते रहें कि कहीं जीव हिंसा तो नहीं होती है, और माता पिता तथा गुरू का यथोचित आदर होता है या नहीं। इस प्रकार का निरीक्षण सब लोगों का किया जाता था, वे चाहे किसी धर्म को मानते हों। यहाँ तक कि राजवंश के लोगों के भी आचरण की निगरानी की जाती थी। अशोक की आचरण शिक्षा सर्व-धर्म-सम्मत थी और भारतीय परम्परा के अनुसार थी, इसलिये इसके विरोध का कोई प्रश्न ही नहीं था। अधिकांश लोग इसका अभिनन्दन करते होंगे और निगरानी की भी ज़रूरत बहुत कम हुआ करती होगी। अशोक का प्रभुत्व प्रायः समस्त भारतवर्ष पर था। सुदूर दक्षिण के कुछ भाग उसके राज्य में सम्मिलित नहीं थे परन्तु ये सब उसकी महानता और प्रधानता को स्वीकार करते थे। इसी प्रकार उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त

में भी कुछ छोटे-छोटे यूनानी राज्य एक प्रकार से स्वतन्त्र थे परन्तु इन सबकी अशोक के साथ राजनैतिक मैत्री थी। इस प्रकार के प्रदेशों में भी अशोक के प्रचारक जाते थे और धर्म का उपदेश करते थे।

राजकुमार और राजकुमारी द्वारा धर्म प्रचार : सिंहल द्वीप (लंका) में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए अशोक ने अपने छोटे भाई, राजकुमार महेन्द्र को और अपनी पुत्री राजकुमारी संघमित्रा को भेजा। उस समय सिंहल द्वीप में महाराज तिस्सा का राज्य था। महेन्द्र ने यावत् जीवन सिंहल द्वीप में धर्म प्रचार किया। वहाँ वह महात्मा माना जाता था। उसके व्यक्तित्व के प्रभाव से वहाँ बौद्ध धर्म खूब प्रचलित हुआ। स्वयं महाराज तिस्सा ने यह धर्म स्वीकार कर लिया और उसका पुत्र उत्तिय-तिस्सा भी बौद्ध हो गया। महेन्द्र के देहान्त पर सिंहल द्वीप निवासियों ने उसके दो स्मारक स्तूप बनवाये, एक थूपाराम में और दूसरा मिहिन्थले में। दोनों में महेन्द्र की अस्थियां सुरक्षित रक्खी गईं। इसके लगभग सात सौ वर्ष बाद चीनी यात्री फ़ाहियान ने पाटलिपुत्र में महेन्द्र का आश्रम देखा था जहाँ वह सिंहल द्वीप जाने से पूर्व रहा करता था और धर्म प्रचार किया करता था। सातवीं शताब्दी तक अर्थात् एक सहस्र वर्ष बाद तक महेन्द्र के धर्म प्रचार की कहानी बिहार और पाटलिपुत्र में लोग भूले नहीं थे। चीनी यात्री ह्वानच्वांग ने ये कहानियाँ अपनी यात्रा में सुनी थीं। संघमित्रा भी महेन्द्र के साथ गेरुए वस्त्र धारण कर भिक्षुणी के रूप में लंका पहुँची थी। एक परम प्रतापी सम्राट के भाई और उसकी राजकुमारी का भिक्षु और भिक्षुणी बन कर विदेश पहुँचना कैसा अपूर्व दृश्य होगा। इसके त्याग और व्रत का स्वत: ही लोगों पर कितना प्रभाव पड़ा होगा और इनके इस अलौकिक आचरण से भारत का मस्तक तत्कालीन संसार में कितना ऊँचा हुआ होगा !!!

विदेशों में धर्म प्रचार : पश्चिमी एशिया, अफ्रीका तथा योरुप के पार्श्ववर्ती देशों में भी अशोक ने अपने प्रचारक भेजे थे। सीरिया, मिश्र, यूनान और येपीरस के राजा उनके समकालीन थे और सबसे उनकी मित्रता थी। इसलिए उनके देशों में भी उनने धर्म प्रचार करवाया, और उन्होंने सहर्ष इसका स्वागत किया। इन देशों में अशोक के धर्म का प्रचार इतना हुआ कि वहाँ ईसाई धर्म स्थापित हो चुकने पर भी अर्थात् ईसा से कई शताब्दी बाद तक वहाँ के ईसाई धर्म पर भारतीय विचारों की छाप बनी रही। इस बात को अंग्रेज विद्वानों ने स्वीकार किया है। मिस्टर एडमण्डस और रिचार्ड गार्वी का कहना है कि मिश्र और सीरिया तथा यूनान के ईसाई धर्म में जो अनीश्वरवाद की ओर झुकाव था वह अशोक के धार्मिक विचारों की ही परम्परा थी।

संघमित्रा के समान अशोक की दूसरी राजकुमारी चारुमती भी परम धार्मिक थी। इसका विवाह देवपाल क्षत्रिय से हुआ था। शायद वह विधवा हो गई थी। अतः इसने अपना शेष जीवन धर्म-प्रचार और लोक-कल्याण में व्यतीत किया। इसने

नेपाल में काठमांडू के समीप अपने पति के स्मारक स्वरूप एक नगर बसाया था। उसका नाम देवपाटन था। इसके पास ही उसने एक विहार (मठ) बनवाया था और भिक्षुणी बन कर वह आजीवन इसी में रही।

पीगू में धर्म प्रचार : ऐसा कहा जाता है कि अशोक ने स्वर्णभूमि (पीगू) में भी धर्म प्रचारार्थ अपने भिक्षु भेजे थे। इसका उल्लेख महावंश नामक सिंहलद्वीप के एक बौद्ध ग्रन्थ में किया गया है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, यदि वह मिश्र और यूनान में अपने प्रचारक भेज सकता था तो पीगू में भेजने में क्या विशेष कठिनाई थी। पीगू में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ भी है। परन्तु विद्वानों का यह भी मत है कि इस देश में हीनयान या महायान का नहीं बल्कि तान्त्रिक महायान का प्रचार हुआ है और यह अशोक के कई सौ वर्ष बाद हुआ है।

अशोक का महाकार्य : बौद्ध धर्म के प्रचार में बुद्ध के बाद अशोक का बहुत ऊँचा स्थान है। अशोक से पूर्व यह प्रान्तीय धर्म था और वहाँ भी यह अन्य धर्मों के साथ-साथ चलता था। मगध में पौराणिक धर्म भी था और जैन धर्म भी। परन्तु अशोक और उनके परिवार के धार्मिक और शुद्ध जीवन ने तथा उनके सुव्यवस्थित और सद्भावप्रेरित प्रचार ने इसको विश्व धर्म बना दिया। यह अफ्रीका के सर्वाधिक उन्नत देश मिश्र में और तत्कालीन योरुप के सर्वोन्नत देश यूनान में जा पहुँचा। एशिया के भी प्राय: सब सभ्य देश इससे परिचित हो ही गये होंगे।

संसार में अशोक का स्थान : संसार के इतिहास में अशोक का स्थान बहुत ऊँचा है। उनके समान शक्तिशाली, सुप्रबन्धक और परम धार्मिक दूसरा सम्राट् जगत में कभी कोई नहीं हुआ। निरन्तर चालीस वर्ष तक समस्त देश में उनके कारण शान्ति बनी रही। दूर-दूर के देशों से उनकी मित्रता रही, शासन उन्नत और व्यवस्थित रहा और जनता उनसे संतुष्ट रही। देश परदेश में जहाँ भी उनके प्रचारक गये स्नेह, सुख और शान्ति का संदेश लेकर गये, उनके भाई उनकी दोनों राजकुमारियों ने और स्वयं उनने संसार के सामने भारत का परमोज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया। परम सामर्थ्यवान सम्राट् ने संन्यासी का वेष धारण किया। यह दृश्य भारत ने ही नहीं, संसार ने देखा। समय के फेर तथा विदेशियों के लगातार हमलों से और किंचित धार्मिक पक्षपात से भारत ने ऐसे महान् सम्राट् को भुला दिया था परंतु ऐतिहासिक खोज ने इस अतीत गौरव को पुनः जागृत और प्रकाशित किया है और आज अशोक का राज-चिन्ह वर्तमान भारत का राजचिन्ह बन गया है।

कनिष्क और उसका राज्य विस्तार : महाराज अशोक के बाद बौद्ध धर्म का दूसरा शक्तिशाली सहायक और प्रचारक कनिष्क (१२०-१६० ई०) हुआ। यह कुशान वंश का सम्राट् था जिसने भारतीय संस्कृति और धर्म स्वीकार कर लिया था। इसकी राजधानी पुष्पपुर (पेशावर) थी जो अब पाकिस्तान में है। इसके

सिक्के काबुल से ग़ाज़ीपुर तक मिले हैं। इसने पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया था और वहाँ से प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान और कवि अश्वघोष को अपने साथ पुष्पपुर ले गया था। अश्वघोष ने 'बुद्ध चरित' नामक संस्कृत ग्रन्थ लिखा है। विद्वानों का मत है कि कालिदास के 'रघुवंश' महाकाव्य पर 'बुद्ध चरित' की कुछ छाया है। कनिष्क की एक प्रतिमा मथुरा के पास मिली है। इसके सिर नहीं है परन्तु शेष भाग सुरक्षित है और एक हिस्से पर कनिष्क का नाम लिखा हुआ है। कनिष्क का शासन प्रायः समस्त आर्यावर्त पर था। उस समय रोम साम्राज्य की सीमा भारत से बहुत दूर नहीं थी, इसलिये कनिष्क का कुछ न कुछ सम्बन्ध रोम से भी रहा होगा। पामीर की घाटियों के उत्तर में भी इसका प्रभुत्व था। इसने काशगर, यारकंद और खोतान को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया था। कनिष्क भी अशोक की भाँति बड़ा प्रतापवान और ऐश्वर्यशाली सम्राट् था। इसका राज्य भी अशोक के राज्य से कम विस्तृत नहीं था। भारत का तो केवल उत्तर भाग ही इसके राज्य में था परन्तु कंधार, हेरात और काबुल के अतिरिक्त उपरोक्त तीन और प्रदेश इसके राज्य में सम्मिलित थे। एवं क्षेत्र फल में इसका राज्य भी लगभग अशोक के राज्य के बराबर ही था।

कनिष्क का धर्म : बौद्ध धर्म के इतिहास में कनिष्क का स्थान बहुत ऊंचा है। इसको प्रायः उतना ही ऊँचा पद दिया जाता है जितना अशोक को। इसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था और इसके प्रचार में सहायता भी दी थी परन्तु अशोक के साधन अधिक व्यवस्थित और परमार्जित थे, और उसके व्यक्तित्व में अधिक आकर्षण और प्रेरणा थी। कनिष्क के सिक्कों से प्रकट होता है कि उसके धार्मिक विचारों में शनैः शनैः किस प्रकार परिवर्तन हुआ। आदि में वह सूर्य और चन्द्र के यूनानी रूपों को पूजता था। फिर वह यूनानी, ईरानी और हिन्दुस्तानी तीनों प्रकार के देवों को पूजने लगा। और अन्त में वह शाक्य मुनि बुद्ध को अपना इष्ट देव मानने लगा।

कनिष्क का धर्म प्रचार : जब कनिष्क ने बौद्ध शास्त्रों को सुना तो वह जाल में फंस गया। एक कुछ कहता था और दूसरा कुछ। धर्म के तत्व का कनिष्क को पता नहीं लगता था। इसलिये उसने अशोक की भाँति बौद्ध पंडितों की एक सभा करवाई। वसुमित्र इसका प्रधान और अश्वघोष उपप्रधान बना। इसमें सम्मिलित होने वाले विद्वान हीनयान के सर्वास्तिवाद नामक उप सम्प्रदाय के अनुयायी थे। सब ने विचार कर धर्म के सर्व सम्मत सिद्धान्त निश्चित किये और त्रिपिटक पर एक भाष्य तैयार किया जिसका नाम "महाविभाषा" रक्खा। यह ग्रन्थ चीनी भाषा में अनुवाद के रूप में मिलता है परन्तु मूल संस्कृत का अभी पता नहीं लगा है। इसके पश्चात् इन सिद्धान्तों का कनिष्क ने प्रचार करवाया होगा परन्तु इसका पता नहीं लगता। अपनी राजधानी पुष्पपुर में उसने एक काष्ट का स्तम्भ बनवाया था जो तेरह खण्ड

ऊंचा था। नाप में इसकी ऊंचाई चार सौ फीट से कम नहीं थी। यह संसार में एक आश्चर्य की वस्तु माना जाता था। यह बुद्ध की या किसी अन्य बौद्ध महात्मा की अस्थियों को सुरक्षित रखने के लिये बनाया गया था। लगभग चार सौ वर्ष बाद ह्वानच्वांग नामक चीनी यात्री ने इसको देखा था। उस समय यह गिर चुका था और पुण्यवान राजाओं ने इसे फिर बनवा दिया था। इसके पास एक विशाल बौद्ध विद्यालय था जो नवीं शताब्दी तक विद्यमान था। इसको प्रसिद्ध बौद्ध पंडित वीरदेव ने देखा था जो मगध नरेश देवपाल के शासनकाल (८४४-६२) में नालन्दा विश्वविद्यालय का कुलपति था।

महायान को व्यावहारिक प्रोत्साहन : कनिष्क ने जो सभा करवाई उसमें हीनयान के सिद्धान्त निश्चित किये गये थे। यह स्वाभाविक बात थी कि जब बौद्ध मत के तत्वों की तलाश की जाती तो विद्वान लोग हीनयान पर पहुँचते थे। बहुत कुछ हेरफेर होने पर भी हीनयान महायान की अपेक्षा बुद्ध के सिद्धान्तों से अधिक निकट था। कनिष्क की सभा ने सिद्धान्ततः तो हीनयान के तत्व निश्चित कर दिये और कनिष्क ने इनको ताम्रपत्रों पर खुदवा कर एक स्तूप में गड़वा दिया, परन्तु ये वास्तव में ही गड़वा दिये गये। व्यवहारतः कनिष्क महायान को मानता रहा और इसके राज्य काल में महायान का ही प्रचार हुआ। बौद्ध धर्म स्वीकार करने से पहिले यह यूनानी और ईरानी देवों की पूजा करता था। ये पुराने संस्कार सर्वथा निःशेष नहीं हो सकते थे। इसी प्रकार कनिष्क के साथ आये हुए हज़ारों सैनिक, और कितने ही उसके सरदार बौद्ध हो गये होंगे परन्तु इन लोगों ने अपने चिरसाथी और पैतृक देवों का भी त्याग नहीं किया होगा। यह प्रवृत्ति कनिष्क के समय में ही शुरू नहीं हुई थी। जो भी विदेशी बुद्ध की शरण में आये वे सब अपने अपने देवों को भी साथ लेकर आये। यूनानी राजा मेनेण्डर (१२० ई० पूर्व) बौद्ध धर्म को मानता था, उसने एक बौद्ध विद्वान से प्रश्नोत्तर के रूप में बौद्ध धर्म का ज्ञान प्राप्त किया था। लेकिन यूनानी धर्म हमारे पौराणिक धर्म की भांति असंख्य देव-देवियों से सम्पन्न था और इसमें कुछ बड़े ही आकर्षक थे। अतः हम आसानी से कल्पना कर सकते हैं कि सिद्धान्ततः मेनेण्डर (मलिन्द) ने कुछ भी सुना हो, सीखा हो और माना हो, परन्तु व्यवहारतः पुराने संस्कार भी उससे चिपके रहे होंगे। महायान का हृदय विशाल था और दृष्टिकोण अति उदार। न वह विदेशी देवों का बहिष्कार करता था और न देशी देवों का। वह केवल यह चाहता था कि भगवान बुद्ध का पद समस्त देवों से ऊपर माना जावे। अशोक ने हीनयान के सर्व सम्मत तत्वों का और सार का प्रचार किया था, और चाहा था कि लोग हीनयान के ग्रन्थों को ही पढ़ें और धर्म में मतभेद न हो। कनिष्क ने भी सिद्धान्ततः यही पक्ष लिया लेकिन व्यवहार में उसके समय में यह बात निभी नहीं। उसके राज्यकाल में प्रचार

महायान का ही हुआ। कनिष्क ने कितने ही बौद्ध विहार (मठ) बनवाये थे जिनमें महायान साधु रहते थे।

हविष्क का बौद्ध धर्म-गृहण : कनिष्क का पुत्र हविष्क (१६०-१८२) भी बौद्ध धर्म को मानता था। हज़ारों सिक्के और कितने ही शिलालेख ऐसे प्राप्त हुए हैं जिनसे प्रकट होता है कि इसका राज्य काश्मीर से बिहार तक फैला हुआ था। इसके सिक्कों पर भी अनेक देवों की प्रतिमायें बनी हुई हैं। इनमें यूनानी और ईरानी देवों के साथ साथ महायान धर्म के देव स्कन्द और विशाख भी हैं। बुद्ध की प्रतिमा वाला कोई सिक्का हविष्क का अभी नहीं मिला है। परन्तु हविष्क बुद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय को मानता था इसमें सन्देह नहीं है। ऐसा विदित होता है कि वह स्कन्द का विशेष भक्त होगा। अर्थात् स्कन्द उसका इष्टदेव होगा। हविष्क ने काश्मीर में बारामुला घाटी के अन्दर हुष्कपुर नामक एक नगर बसा कर उसको अपनी राजधानी बनाया था। अब उस स्थान पर हुष्कपुर नामक एक गाँव स्थित है। राजधानी के पास ही उसने एक बहुत बड़ा विहार बनवाया था जिसमें हजारों भिक्षु निवास करते थे। हविष्क बौद्ध मठों को बहुत दान देता था। चीनी यात्री ह्वानच्वाँग ने सातवीं शताब्दी में उपरोक्त विहार देखा था। वहाँ भिक्षुओं ने उसका सत्कार किया था। उसको हुष्कपुर नगर भी दिखाया गया था। उस समय तक वह एक सम्पन्न नगर था और हिन्दू तथा बौद्ध सम्प्रदायों के हज़ारों साधु वहाँ निवास करते थे। हविष्क का पुत्र वसुदेव (१८२-२२०) था। इसका राज्य भी बिहार तक था। इसका नाम वैष्णव था, धर्म शैव था, कपड़े ईरानियों जैसे पहनता था और ईरानी ढंग के ही इसके सिक्के थे। इसके सिक्कों पर महादेव की तथा शिववाहन नन्दी की प्रतिमायें बनी हुई हैं। इन बातों से स्पष्ट प्रकट होता है कि बौद्ध धर्म और पौराणिक धर्म दोनों उस समय प्रभाव-शाली थे। राजा और प्रजा में कोई इस धर्म का अनुयायी था और कोई उसका।

गान्धार कला : इन कुशान राजाओं के शासन काल में जैसे मिश्रितधर्म महा-यान का विशेष विकास हुआ उसी प्रकार मिश्रित कला का भी आविर्भाव हुआ था। गान्धार और आस-पास के प्रदेश में उस समय जो कला प्रचलित थी उसमें यूनानी और रोमी दोनों कलायें मिली हुई थीं। इसके विषय भी यूनानी या रोमी थे। जब कुशान राजाओं ने बौद्ध धर्म गृहण कर लिया तो बुद्ध की और बोधिसत्वों की भी मूर्तियाँ बनाने की आवश्यकता हुई। इस प्रकार भारतीय विषयों का विदेशी कला द्वारा चित्रण और विवेचन होने लगा। समय पाकर यह गान्धार-कला पुष्ट और प्रौढ़ हो गई और भारतीय कला की अंग बन गई। इस प्रदेश में मिश्रित कला के अन्य अंगों का भी विकास हुआ होगा। चित्र, संगीत, काव्य, नृत्य आदि विविध अंग भी सब मिश्रित प्रवृत्तियों के ही रूप होंगे परन्तु वे सब काल के ग्रास बन गये। अतीत उनको निगल गया।

वैदिक बौद्ध और जैन मत साथ साथ चलते थे : उपरोक्त वर्णन से यह नहीं समझना चाहिये कि इस युग में भारतवर्ष में बौद्ध मत की प्रधानता थी और दूसरे मत निर्बल हो गये थे। यूनानी राजा मिनेन्डर ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था परन्तु उसके समकालीन सुंगवंशीय राजा वैदिक धर्म को मानते थे और पुष्यमित्र सुंग ने पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आसीन होने के बाद अश्वमेध यज्ञ करवाया था। कुशान राजाओं के समकालीन दक्षिण भारत में आन्ध्रवंशीय शक्तिशाली राजा थे जो वैदिक मतावलम्बी थे और उन्होंने भी अश्वमेध यज्ञ करवाये थे। उसी युग में मालवा और गुजरात तथा काठियावाड़ में शकों का राज्य था। ये लोग विदेशी थे परन्तु इन्होंने भारतीय संस्कृति अपना ली थी और पौराणिक मत को मानते थे। स्वयं कनिष्क का पौत्र ही शैव मतावलम्बी था। इस प्रकार हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्म तीनों साथ-साथ चलते थे। बौद्धों के दोनों सम्प्रदाय भी सर्वत्र थे और दोनों के साधु पास-पास अपने विहार बना कर रहा करते थे। उस समय तक किसी एक वर्ग ने दूसरे पर कोई धार्मिक अत्याचार नहीं किया था। राजा किसी भी धर्म को मानते हों, उनके राज्य में अन्य धर्मों के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता होती थी। यह भारतीय राजाओं की परम्परा-प्राप्त नीति थी। यदा-कदा इस नीति का उल्लंघन कुछ राजाओं ने सातवीं और आठवीं शताब्दियों में शायद मुसलमानों के प्रभाव से किया था परन्तु ऐसे केवल दो तीन ही राजा हुए हैं।

चीन, तुर्किस्तान और मलय अन्तरीप में बौद्ध धर्म : महायान धर्म दूसरी शताब्दी के बाद ही तिब्बत, चीन, तुर्किस्तान और ब्रह्मा आदि देशों में प्रवेश करने लगा। इन देशों में इसके प्रचार के लिये महाराज अशोक जैसे शक्तिशाली और धार्मिक सम्राट ने कोई व्यवस्था नहीं की थी। इन देशों के लोग भारत में आते जाते ही थे और इसी प्रकार यहाँ से भी वहाँ बहुत लोग जाया आया करते थे। इससे यह धर्म वहाँ पहुँचा और फिर इसके विद्वान् पंडित वहाँ जाने लगे, और वहाँ के पंडित यहाँ इसका अध्ययन करने के वास्ते आने लगे। महायान जहाँ पहुँचा वहीं इसका रूपान्तर हुआ, यहाँ तक कि इसका वास्तविक स्वरूप इन रूपान्तरों में ढक गया। परन्तु इसका विस्तार भी इन रूपान्तरों के कारण ही हुआ। छठी शताब्दी में महायान उपरोक्त देशों के अतिरिक्त पूर्वी द्वीप समूह तथा मलय अन्तरीप का प्रधान धर्म बन चुका था और भारत में भी यह प्रमुख धर्मों में गिना जाता था।

बुद्ध प्रतिमाओं के जुलूस और भारत का उच्च चरित्र : भारत में तीन सौ वर्ष (३००-६००) तक गुप्तवंशीय राजाओं का शासन रहा। ये लोग पौराणिक धर्म को मानते थे और इन्होंने अश्वमेध यज्ञ किये थे परन्तु बौद्ध धर्म इनके समय में भी उन्नत और लोकप्रिय था। चीनी यात्री फ़ाहियान चतुर्थ शताब्दी में भारत में बौद्ध धर्म की दशा का निरीक्षण और अध्ययन करने आया था। उसने देखा कि पेशावर

से पाटलिपुत्र तक मार्ग में सैकड़ों बौद्ध विहार बने हुए थे और इनमें हज़ारों बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। मथुरा के आस-पास बौद्ध लोगों के कितने ही विहार (मठ) थे और इनमें कई हज़ार भिक्षु रहा करते थे। इस हिस्से में बौद्ध धर्म का विशेष प्रचार था। पाटलिपुत्र में भी दो बड़े-बड़े बौद्ध विहार बने हुए थे। एक में हीनयानी भिक्षु और दूसरे में महायानी भिक्षु रहा करते थे। इनकी संख्या लगभग आठ सौ थी। विद्वत्ता के लिये इन भिक्षुओं की बड़ी ख्याति थी और दूर-दूर से लोग इनके पास विविध विषय पढ़ने के लिये तथा प्रवचन सुनने के लिये आया करते थे। फ़ाहियान ने इनके पास तीन वर्ष तक संस्कृत भाषा पढ़ी थी। उसने पाटलिपुत्र में बौद्धों की रथ यात्रा देखी थी। इसमें यह होता था कि प्रतिवर्ष दूसरे मास में अष्टमी के दिन अच्छे अलंकृत रथों में बुद्ध देवों की प्रतिमायें रखी जाती थीं और नगर में घुमाई जाती थीं। इनके साथ हज़ारों नरनारी गाते बजाते निकला करते थे। यह प्रथा सारे भारत के बौद्धों में प्रचिलित थी और बौद्ध धर्म के साथ-साथ यह अन्य देशों में भी फैल गई थी। फ़ाहियान ने इस प्रकार की रथ यात्रा खोतान में भी देखी थी। वहाँ का राजा स्वयं बौद्ध था, इसलिये वह भी प्रतिमाओं के रथ के साथ-साथ बड़े आदर-पूर्वक पैदल चलता था। फ़ाहियान को जो ग्रन्थ भारत में अन्यत्र नहीं मिल सके वे पाटलिपुत्र के विहारों में मिले थे, जिससे उसको बड़ा संतोष हुआ था। उसने देखा कि भारत के जीवन पर बौद्ध धर्म का बड़ा प्रभाव था। देश भर में कोई उच्च-कुलीन व्यक्ति किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता था, कोई मांस, प्याज़ या लहसन नहीं खाता था और कोई मद्यपान नहीं करता था, कोई शूकर और मुर्गे नहीं पालता था, कोई पशुओं का व्यापार नहीं करता था और बाज़ार में कसाईयों की तथा कलालों की दूकानें दिखाई नहीं देती थीं। शिकारी, मछुये और कसाई केवल चांडालों में मिलते थे जो गाँव और नगरों के बाहर अलग बस्तियों में रहा करते थे और जब नगर में घुसते थे तो लकड़ी बजाते हुए चलते थे ताकि अन्य लोग अलग-अलग हो जावें और चांडाल के स्पर्श से बच जावें। बौद्ध धर्म ने लोगों का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा कर दिया था। लोगों में यह आकांक्षा रहती थी कि चरित्र और सज्जनता के कारण उनकी ख्याति हो। इस बात की प्रतिस्पर्धा हुआ करती थी कि कौन अधिक चरित्र-वान, दयालु और सत्यशील है।

भारत और चीन का सम्बन्ध : पांचवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म अरब और ईरान को छोड़कर समस्त एशिया महाद्वीप का धर्म बन चुका था। बौद्ध देशों में भारत मित्रता और आदर की दृष्टि से देखा जाता था। मगध प्रदेश सर्वत्र पवित्र प्रान्त माना जाता था। बौद्ध ग्रन्थों की तलाश में और उसके असली स्वरूप का अध्ययन करने के लिये देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर से लोग यहाँ आया करते थे। चीन सम्राट बड़े श्रद्धालु बौद्ध थे। उन्होंने सन् ५१६ में कुछ चीनी विद्वान भारत में महायान धर्म

के प्रमुख ग्रन्थों का संग्रह और अनुवाद करवाने के वास्ते भेजे और इस विषय में तत्कालीन भारत सम्राट को पत्र लिखा। चीन का यह शिष्ट मण्डल भारत के गुप्त सम्राट से मिला। यह सम्राट कुमार गुप्त होना चाहिये। उसने शिष्ट मण्डल को सहायता दी और इस काम के वास्ते परमार्थ नामक पंडित को नियुक्त कर दिया। यह शिष्ट मण्डल कई वर्षों तक भारत में ठहरा। परमार्थ ने अनेक ग्रन्थों का संग्रह किया और उनका अनुवाद चीनी भाषा में किया गया। परमार्थ शिष्ट मण्डल के साथ-साथ चीन भी गया। सन् ५४८ में वह चीन सम्राट से मिला और वहीं रहकर महायान शास्त्रों का चीनी भाषा में अनुवाद करता रहा। सन् ५६९ में इस महा विद्वान का चीन देश में ही देहान्त हो गया। सम्राट बूती के शासन काल में ही (५०२-५४९) दक्षिण भारत के किसी बौद्ध नरेश का राजकुमार चीन गया था। इसका नाम बोधि धर्म था और यह उस समय बड़ा महात्मा माना जाता था। वह कुछ दिन केन्टन में ठहरा और फिर लोयांग में अपना आश्रम बना कर शेष जीवन वहीं व्यतीत किया। चीन में धर्म प्रचारार्थ जाने वाले प्रसिद्ध भारतीय बौद्धों में बोधि धर्म अट्ठाईसवां माना जाता है। चीनी कलाकारों ने बोधि धर्म के चमत्कारों के अनेक चित्र बनाये हैं।

एशिया महाद्वीप में बौद्ध धर्म और संस्कृत का प्रचार : परमार्थ के ग्रन्थों से एक और बौद्ध पंडित का पता चलता है। इसका नाम वसुबन्धु था और यह पुष्पपुर (पेशावर) में पैदा हुआ था। जब ह्वानच्वांग भारत में आया तो उसने भी वसुबन्धु के पांडित्य की ख्याति सुनी। वसुबन्धु गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त के आश्रय में रहता था। वह समुद्रगुप्त का मन्त्री होगा या कम से कम प्रभावशाली सलाहकार होगा। वसुबन्धु, परमार्थ और उपरोक्त चीनी मण्डल का गुप्त सम्राटों ने जो आदर किया उससे प्रकट होता है कि परम वैष्णव और परम भागवत गुप्तवंशी सम्राट सब धर्मों का आदर करते थे। वास्तव में बौद्ध धर्म और जैन धर्म, परम्परागत वैदिक धर्म और पौराणिक धर्म के साथ-साथ कंधे से कंधा मिलाये हुए चलते थे। बौद्ध धर्म के कारण विदेशों के साथ भारत का सम्बन्ध बढ़ता जाता था, विद्वानों का आवागमन होता था और संस्कृत का प्रचार प्रायः समस्त एशिया महाद्वीप में हो गया था। सारे प्रसिद्ध नगरों में खोतान से केन्टन तक कुछ भारतीय पंडित रहते थे तथा चीनी पंडित भी संस्कृत जानने लगे थे।

शिलादित्य का धर्म प्रेम : छठी शताब्दी में शिलादित्य नामक मालवे का राजा महायान का बड़ा भक्त था। वह अपने पांडित्य और बुद्धि-वैभव के लिये उस समय प्रसिद्ध था। इसका काका ध्रुवभट्ट काठियावाड़ का राजा और महाराज हर्षवर्धन का जामाता था। इस प्रकार शिलादित्य का अन्य राज्यों में भी प्रभाव था। शिलादित्य ने एक सुन्दर मन्दिर बनवा कर उसमें सात बुद्धों की प्रतिमायें स्थापित की थीं। शिलादित्य प्रतिवर्ष बुद्ध भिक्षुओं की एक सभा करवाया करता था जिनमें शास्त्र चर्चा

हुआ करती थी। अन्त में सबको उदारतापूर्वक पुष्कल दान द्वारा सत्कृत करके विदा किया जाता था। शिलादित्य पर जैन धर्म के अहिंसा सिद्धान्त का भी प्रभाव पड़ा था। उसको जीव रक्षा की इतनी चिन्ता थी कि वह अपने घोड़ों को पानी तक छनवा कर पिलाया करता था।

महाराज हर्षवर्धन का सुप्रबन्ध और धर्म : सातवीं शताब्दी के आरम्भ में (६०६-६४८) हर्षवर्धन बौद्ध मत का अनुयायी था। यह उत्तर भारत में सर्वाधिक शक्तिशाली नरेश था और सम्पूर्ण आर्यावर्त पर इसका आधिपत्य था। वहाँ के अन्य राजा सब इसके अधीन थे। उस समय दक्षिण भारत में भी पुलकेसिन द्वितीय एक चालुक्य वंशीय राजा हर्ष के समान शक्तिमान था। दक्षिण भारत पर इसका आधिपत्य था। हर्ष दक्षिण भारत को भी अपने राज्य में मिलाना चाहता था और इस हेतु दोनों नरेशों में नर्मदा के पास एक युद्ध भी हुआ था परन्तु परिणाम कुछ नहीं निकला। न कोई हारा न जीता और दोनों नरेश अपने-अपने राज्यों को लौट गये। हर्ष परम धार्मिक और उदार नरेश था। अशोक की भाँति इसने अनेक पुण्य-कार्य किये थे। अपने सुख या दुःख का विचार न कर यह राज्य में व्यवस्था तथा प्रबन्ध देखने के लिये लम्बे दौरे किया करता था। इसका शासन प्रबन्ध उत्तम था और उसके दरबार में पंडितों को आश्रय मिलता था। प्रसिद्ध कवि बाणभट्ट इसका राजकवि था। उसने कादम्बरी और हर्षचरित की रचना की है। इन ग्रन्थों की भाषा अति जटिल किन्तु अति मधुर सरस, और प्रांजल है। स्वयं हर्ष भी अच्छा कवि और नाटककार था। उसने रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द, ये तीन सुन्दर नाटक लिखे हैं। हर्ष का पितामह शैव था, उसका पिता सूर्योपासक था और हर्ष इन दोनों पैतृक देवों के अतिरिक्त बुद्ध की भी पूजा करता था। बुद्ध मनुष्य थे देव नहीं, किन्तु महायान में उनको देव ही मान लिया था। वे शिव, सूर्य आदि के समकक्ष माने जाते थे।

महाराज हर्ष के धर्म कार्य : जब हर्ष ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया तो वह हीनयान का अनुयायी बना, परन्तु हीनयान में बुद्ध के अतिरिक्त अन्य देवों के लिये स्थान नहीं था और हर्ष अपने परम्परा-प्राप्त देवों को छोड़ना नहीं चाहता था। अतः वह अन्त में महायान सम्प्रदाय को मानने लगा और सूर्य तथा शिव की भी पूजा करता रहा। जो राजा का धर्म था वही वास्तव में जनता का धर्म था। शिव, सूर्य, विष्णु, ब्रह्मा आदि उस युग में प्रचलित देव थे। पौराणिक धर्म का प्रचार था। साथ ही हीनयान और महायान भी चलते थे। महायान में अनेक देवी देव थे। इसके अतिरिक्त जैन धर्म को मानने वाले भी कम नहीं थे। जनता में कोई किसी धर्म को मानता था और कोई किसी को। इतना ही नहीं, एक ही कुटुम्ब में कोई बौद्ध होता था और कोई पौराणिक। प्रायः सब इस तत्व को मानते थे कि धर्म मानव जीवन को उन्नत करता है, चाहे धर्म बौद्ध हो या पौराणिक। हर्ष मुख्यतः बौद्ध मतावलम्बी

था परन्तु वह सब धर्मों के साधु सन्तों का आदर करता था और सबको उदारतापूर्वक दान दक्षिणा दिया करता था। इसने यात्रियों के लिये मार्गों पर वृक्ष लगवाये, धर्मशालायें बनवाईं, औषधालय स्थापित किये, और अगणित विहार और स्तूप बनवाये। ह्वानच्वांग ने लिखा है कि इन विहारों और मठों में लगभग दो लाख साधु रहते थे।

महाराज हर्ष का कन्नौज में धर्म मेला : हर्ष प्रति पाँचवें वर्ष बड़े धार्मिक उत्सव या मेले करवाया करता था। ऐसे एक अवसर पर चीन का विद्वान् यात्री ह्वानच्वांग भी उपस्थित था। उसने कन्नौज और प्रयाग के मेलों का आँखों देखा वर्णन लिखा है। हर्ष बड़े ठाठ के साथ अपने सामन्तों को साथ लेकर कन्नौज पहुँचा। वहाँ एक १०० फीट ऊँचे, बहुत बड़े मण्डप में बुद्ध की स्वर्ण-निर्मित प्रतिमा स्थापित की गई। इसके चारों ओर सहस्रों भिक्षु, ब्राह्मण और जैनों के पड़ाव पड़ गये। बुद्ध की एक दूसरी प्रतिमा का नित्य जलूस निकाला जाता था। इसमें तीन सौ हाथी और बीस सामन्त होते थे और हज़ारों भिक्षु, ब्राह्मण साथ-साथ चलते थे। दर्शकों और भक्तों की भारी भीड़ रहा करती थी। हर्ष इन्द्र बनकर और कामरूप का राजा कुमार ब्रह्मा बनकर प्रतिमा के दोनों ओर बैठ जाया करते थे। हर्ष छत्र थामता था और कुमार चंवर करता था। हर्ष दोनों ओर मोती, स्वर्ण-पुष्प और बहुमूल्य पदार्थ बखेरता जाता था। फिर प्रतिमा को अपने हाथ से स्नान करा कर तथा अपने कन्धे पर उठाकर निर्दिष्ट स्थान पर रखता था और बहुमूल्य भेंट चढ़ाता था। फिर सबको भोजन करवाता था और अन्त में ज्ञान चर्चा हुआ करती थी। इन प्रवचनों में बौद्ध, ब्राह्मण तथा जैन और इनके विभिन्न सम्प्रदाय सम्मिलित हुआ करते थे।

महाराज हर्ष का प्रयाग में धर्म सम्मेलन : प्रयाग का छठा मेला भी ह्वानच्वांग ने देखा था। वहाँ भी हर्ष उसी ठाठ के साथ पहुँचा और पचहत्तर दिन तक ठहरा। त्रिवेणी के संगम पर बुद्ध प्रतिमा एक पर्ण मण्डप में स्थापित की गई। प्रथम दिन बुद्ध प्रतिमा की सवारी निकाली गई। दूसरे दिन सूर्य की और तीसरे दिन शिव की भी सवारियाँ निकाली गईं। प्रति दिन खूब उदारता के साथ दान-दक्षिणा दी गई। फिर चौथे दिन ऐसे दस हज़ार बौद्ध भिक्षुओं को विशेष दान दिया गया जो इसके विशेष पात्र समझे गये थे। प्रत्येक भिक्षु को एक सौ स्वर्ण मुद्रायें मिलीं और इनके साथ एक मोती और वस्त्रादि दिये गये। तदनन्तर ब्राह्मणों को भी उदारतापूर्वक दान दिया गया और उसके बाद जैनों को सत्कृत किया गया। फिर अन्य साधु संन्यासियों को भी सन्तुष्ट किया गया। इस प्रकार दान देकर हर्ष ने अपने सारे राजकोष को खाली कर दिया। उसके पास केवल हाथी, घोड़े और चंवर छत्र बच गये जो राज-चिन्ह होते थे, और दान में नहीं दिये जाते थे। तदनन्तर शासन संचालन करने के वास्ते साम्राज्य के सम्पन्न धनाढ्य नागरिकों ने उसको धन भेंट किया। इस प्रकार सर्वस्व दान देने की भारत में परम्परा थी। कालिदास ने इसका वर्णन किया है

और अन्य ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख मिलता है। परन्तु सभी नरेश इसका पालन नहीं किया करते थे।

भारत और चीन में पारस्परिक शिष्ट मंडल : हर्ष के शासन काल में चीन और भारत में राजनैतिक मैत्री थी। चीन सम्राट ने तीन शिष्ट मंडल हर्ष के पास भेजे थे। ये लोग एक अर्से तक भारत में रहे थे। हर्ष भी इसी प्रकार अपने दूत चीन में भेजा करता था। बौद्ध धर्म के प्रचार से यह मैत्री स्थापित हुई थी। इस धर्म की शिक्षाओं ने मनुष्यों का नैतिक जीवन उन्नत कर दिया था और राजा तथा प्रजा सब इसको अपना कर्तव्य मानने लगे थे कि वे झूठ, प्रपंच, और हिंसा से यथासम्भव बचे रहें।

पाल नरेशों का तिब्बत में धर्म प्रचार : हर्ष के बाद पालवंशीय राजाओं तथा कुछ तिब्बत के राजाओं ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया और इसके प्रचार में सहायता की। पालवंश का राज्य बिहार और बंगाल प्रान्त में था। यहां महायान का प्रचार पहिले से ही था। परन्तु पाल राजाओं ने (७३०-११३०) इसको खूब प्रोत्साहन दिया। महाराज गोपाल ने (७३०-७४०) बिहार में बुद्धन्दपुर नामक कस्बे के पास एक बड़े बौद्धमठ का निर्माण करवाया जिसमें सैकड़ों बौद्ध भिक्षु रहते थे और शिक्षा-प्रचार करते थे। यह एक प्रकार का कालेज था। महाराज धर्मपाल ने (८००) प्रसिद्ध विक्रमशिला की स्थापना की। इसमें एक सौ सात मंदिर थे और छः बड़े बड़े विद्यालय थे जिनमें सैकड़ों विद्यार्थी विविध विषयों का अध्ययन किया करते थे। महिपाल के शासन में बौद्ध धर्म का तिब्बत में प्रचार हुआ। इसने दो प्रसिद्ध बौद्ध पंडित धर्मपाल और अतीश प्रचारार्थ तिब्बत में भेजे थे। इनके साथ और कई विद्वान भी वहां पहुँचे थे। तिब्बत में इनका अच्छा स्वागत हुआ और वहां अर्से तक रहकर इन्होंने बौद्ध धर्म को पुनः स्थापित किया। महाराज रामपाल ने (१०८४-११३०) अपने राज्य में अनेक विहार बनवाये। इनमें हज़ारों साधु रहते थे और धर्म तथा शिक्षा का प्रचार करते थे। इनका निर्वाह जनता के और विशेषतया राजा के दान से होता था।

महाराज गांपू का बौध धर्म प्रचार : तिब्बत में महायान धर्म हर्ष के समकालीन महाराज स्रोंगसान गांपू के समय (६२९-९८) में पहुँचा। इसने खोतान से एक विद्वान ब्राह्मण बुलाया जिसने एक नई प्रकार की तिब्बती लिपि प्रचलित की। उस समय खोतान नगर बौद्ध धर्म के प्रचार के कारण संस्कृत शिक्षा का केन्द्र बन गया था और कितने ही विद्वान ब्राह्मण वहाँ जा बसे थे। महाराज गांपू की एक रानी नैंपाल की और दूसरी चीन की थी और दोनों ही बौद्ध मत को मानती थीं। इनके प्रभाव से उसने बड़ी लगन और निष्ठा के साथ इस धर्म का प्रचार किया। इस अपूर्व भक्ति के कारण लोग महाराज गांपू को अवलोकितेश्वर (बुद्ध का अवतार) और

उसकी दोनों रानियों को बौद्ध देवियां नीलतारा और श्वेततारा मानते हैं। आठवीं शताब्दी में दो भारतीय विद्वान शान्तरक्षित और पद्मसम्भव बौद्ध धर्म का प्रचार करने तिब्बत में गये और वहां ऐसी स्थायी प्रबन्ध व्यवस्था की जिससे प्रचार हमेशा होता रहे। इसके बाद मगध और विक्रमशिला से कई पंडित तिब्बत में जाते-आते रहे।

दक्षिण में बौद्ध मत : दक्षिण में बौद्ध धर्म का प्रचार अशोक ने शुरू किया था। दक्षिण भारत के राज्यों में उसके उपदेशकों ने और लंका में उसके भाई महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा ने इस धर्म को स्थापित किया था। उसके बाद लंका में इसकी अच्छी उन्नति हुई और यह लोक धर्म बन गया, परन्तु दक्षिण में इसको आरम्भ से ही विरोध का सामना करना पड़ा। वहाँ दिगम्बर जैन धर्म का पहिले ही प्रचार था, फिर शैव धर्म प्रबल हो गया। इन दोनों ने बौद्ध धर्म को दबा लिया। सातवीं शताब्दी में जब ह्वानच्वांग दक्षिण में पहुँचा तो उसने देखा कि बौद्धों के मठ अनेक खड़े हुए थे और बौद्ध भिक्षु भी हज़ारों की संख्या में दिखाई देते थे परन्तु मठ गिरते जाते थे और भिक्षु निर्जीव तथा निराश से दिखाई देते थे। वास्तव में बौद्ध धर्म लुप्त होता जा रहा था।

दक्षिण में बौद्ध धर्म का ह्रास और एशिया में प्राधान्य : सातवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म का दक्षिण भारत में ह्रास हो रहा था और उत्तर भारत में भी इसकी अपेक्षा शैव और वैष्णव धर्म अधिक प्रभावशाली और प्रचलित होते जाते थे। परन्तु अन्य देशों में बौद्ध धर्म का आधिपत्य स्थापित हो गया था। मध्य एशिया, तिब्बत, चीन, जापान, ब्रह्मा, पूर्वी द्वीप समूह, मलाया अन्तरीप और लंका का यह लोक धर्म बन गया था। यह जहाँ पहुँचा वहीं के अनुसार इसने अपना रूप बना लिया था, परन्तु फिर भी इसके मूल सिद्धान्त सब लोग जानते थे। बुद्ध अब सुधारक या महात्मा या आचार्य नहीं माने जाते थे। अब वे ब्रह्मा, विष्णु और महेश के समान एक देव बन गये थे। एशिया के करोड़ों बौद्ध इस मंत्र का प्रतिदिन पाठ करते थे—बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि। बौद्ध धर्म में बुद्ध, धर्म और संघ, ये तीन मुख्य तत्व माने जाते थे जो त्रिरत्न कहलाते थे।

बौद्ध धर्म से सर्वाङ्गीण उन्नति : बौद्ध धर्म से भारतीय संस्कृति को अनेक लाभ हुए। बौद्धों ने तक्षशिला, नालन्द और विक्रम-शिला में बड़े बड़े विश्वविद्यालय स्थापित किये। इनमें हज़ारों विद्यार्थी विद्वान् अध्यापकों से अनेक विषयों की शिक्षा प्राप्त करते थे। बौद्ध धर्म और साहित्य के सिवाय इनमें अन्य विषय भी पढ़ाये जाते थे। यहाँ बड़े-बड़े छात्रावास, और विद्यालय बने हुए थे और इनमें बड़े-बड़े पुस्तकालय थे जिनमें विविध विषयों के हजारों हस्तलिखित ग्रन्थ थे। इन विशाल विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त बौद्धों ने यत्र-तत्र अगणित विहार बनवाये थे जिनमें भिक्षु रहा करते थे। ये विहार भी स्कूलों और कालेजों का काम देते थे। बौद्ध विद्वानों ने अनेक विषयों

पर सैकड़ों सुन्दर ग्रन्थ लिखे थे। महायान की भाषा संस्कृत थी। इसलिये जहाँ महायान पहुँचा वहाँ संस्कृत का थोड़ा बहुत प्रचार अवश्य हुआ। चीन, जापान, तुर्किस्तान, ब्रह्मा आदि देशों में उस समय संस्कृत जानने वाले कुछ विद्वान मिल सकते थे, और सर्वत्र धर्म तथा भाषा के प्रचार के लिये अनेक भारतीय ब्राह्मण विद्वान जा बसे थे। बौद्ध धर्म की प्रेरणा से सुन्दर कला की सृष्टि हुई थी। बौद्धों के स्तूप, चैत्य, गुफा, मूर्तियाँ और स्तम्भ सब निराले हैं। अशोक के राजमहलों को देखकर फ़ाहियान छः सौ वर्ष बाद भी चकित हो गया था, और यह कहता था "ऐसे सुन्दर महल मनुष्य नहीं बना सकते, ये देवों के बनाये हुए जान पड़ते हैं।" अशोक की लाटें अब भी इञ्जीनियरों को चकित कर रही हैं। स्तूपों की शैली और सुन्दरता निराली ही है। और बौद्ध प्रतिमायें तो कला की पराकाष्ठा हैं। बौद्ध विषयों को अङ्कित करने के लिये अजंता और एलोरा में जो भीतिचित्र बने हुए हैं वे बड़े मनोहर और कोमल हैं। रंगों का समन्वय, विषयों की सजीवता, तूलिका की कोमलता, अङ्गों का अनुपात, और प्रभाव की सात्विकता, ये सब अद्भुत हैं। विदेशों में बौद्ध धर्म की प्रेरणा से चित्रकला का अच्छा विकास हुआ, और जो चित्र बने, सब सात्विक और उत्तम बने।

बौद्ध धर्म का लोप : भारत में शनैः शनैः बौद्ध धर्म और पौराणिक धर्म घुलने मिलने लगे। बुद्ध केवल देव ही नहीं, एक अवतार माने जाने लगे। इसके बाद कालान्तर में हिन्दू धर्म में बौद्ध मत का समावेश हो गया। हिन्दू संस्कृति इससे अधिक सुन्दर और सम्पन्न होती परन्तु मुसलमानों के हमलों ने इस स्थिति को नष्ट कर दिया। तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में जब मोहम्मद बख़्तियार ख़िलजी ने बिहार पर आक्रमण किया तो उसने हज़ारों भिक्षुओं का वध करवाया, पुस्तकालय जलवाये, विश्व-विद्यालय नष्ट करवाये और अन्य भवन धराशायी करवाये। इस प्रकार उसने हिन्दू और बौद्ध धर्म के प्रति ही नहीं किन्तु विद्या, कला और ज्ञान के प्रति भी बर्बरता प्रकट की। नालंद, विक्रम-शिला और उद्दण्डपुर की सम्पन्न और समृद्ध बौद्ध संस्थाओं के इस प्रकार नष्ट और लुप्त हो जाने से बौद्ध धर्म पर घोर आघात हुआ। यह धर्म वास्तव में इन संस्थाओं में ही केन्द्रित हो रहा था। इस वज्रपात के बाद यह धर्म भारतवर्ष में नहीं सँभला। काल की विचित्र महिमा है कि यह धर्म चीन, जापान, ब्रह्मा आदि देशों का तो लोक धर्म बन गया और अपनी जन्मभूमि से लुप्त हो गया।

पंचम अध्याय

मौर्य, कुशान और गुप्त काल का भारत

भारत का सुवर्ण युग : मौर्य, कुशान और गुप्त काल (३०० ईसवी पूर्व से ५०० ईसवी पश्चात्) भारत के इतिहास में सुवर्ण युग कहा जा सकता है। इस युग में कई बार प्राय: समस्त देश या इसका बहुत बड़ा भाग एकछत्र शासन के अधीन रहा। इस काल के अधिकांश नरेशों ने देश की सर्वाङ्गीण उन्नति की। उनके प्रोत्साहन से धर्म, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, कला, व्यवसाय और व्यापार की अभिवृद्धि हुई। भारत का अफ्रीका, यूरोप और एशिया के देशों से सम्पर्क स्थापित हुआ। भारतीय व्यापारी और विद्वान् विदेशों में जाने लगे और कितने वहीं जाकर बस गये। पूर्वी द्वीप समूह में भारतीय उपनिवेश स्थापित हुए और यूनान, मिस्र, सीरिया, ईरान, लंका, तुर्किस्तान, तिब्बत, चीन आदि देशों के नरेशों के साथ भारतीय राजाओं का मेलजोल शुरू हुआ। आर्य संस्कृति ने एक नवीन और प्रौढ़ रूप धारण कर लिया। वैदिक संस्कृति पौराणिक संस्कृति बन गई और यूनानी, पार्थियन, कुशान, शक, हूण, चीनी और तिब्बती संस्कृतियों के सम्पर्क और सम्मेलन से इसने शक्ति प्राप्त की। इसी काल में बौद्ध धर्म और जैन धर्म का विकास, प्रचार और प्रभाव बढ़ा और अपनी सरलता और स्पष्टता तथा उदारता से उन्होंने हिन्दू धर्म को सुन्दर और सबल बनाया और अपना कार्य करके मानो पीछे हट गये और हिन्दू धर्म को पुनः स्थापित कर गये।

राज्य की विस्तृत सीमा : चन्द्रगुप्त मौर्य के पहिले भारतवर्ष में कई राज्य थे। पंजाब और सिंध में सिकन्दर ने अपना राज्य कायम कर लिया था और शासन कार्य के लिए यूनानी सूबेदार नियत कर दिये थे। पूर्व के राज्यों में सर्वाधिक विस्तृत और शक्तिशाली मगध राज्य था। दक्षिण में भी छोटे-छोटे कई राज्य थे। चन्द्रगुप्त ने इन सब पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और यूनानियों को अपने देश से निकाल भगाया। इस प्रकार वह समस्त उत्तर भारत का और दक्षिण में श्रवण बेलगोला तक के प्रदेश का सम्राट् बन गया। उसके पुत्र बिन्दुसार ने भी इस विस्तृत देश पर अपना आधिपत्य कायम रक्खा। बिन्दुसार के महाप्रतापी और परमधार्मिक पुत्र महाराज अशोक के शासन काल में इस विस्तृत तथा विशाल साम्राज्य की सीमायें पूर्ववत् बनी रहीं। विशेषता यह थी कि आर्यावर्त में काबुल, कंधार और हेरात के प्रदेश भी सम्मिलित थे। ये मौर्य-वंशीय प्रथम तीन साम्राटों के प्रताप और विक्रम के द्योतक थे। मुग़ल

सम्राटों ने इन प्रदेशों को अपने साम्राज्य में मिलाना चाहा परन्तु उनको सफलता नहीं मिली। सम्राट् शाहजहाँ को तो इस प्रयास में जन और धन की घोर हानि उठानी पड़ी। अंग्रेज सरकार ने भी बहुत प्रयत्न किये कि इस भाग पर पूरा नहीं तो अधूरा या नाम मात्र का तो उनका प्रभुत्व बना रहे, परन्तु वे भी असफल रहे। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि मौर्य सम्राटों की शक्ति कितनी दुर्धर्ष थी। यह अवस्था ३२२ से २३२ ईस्वी पूर्व तक अर्थात् एक शताब्दी तक रही।

फिर विभिन्न राज्य : अशोक का बाद साम्राज्य कायम नहीं रह सका। मगध पर उसके पौत्र, प्रपौत्र ने और उनके पश्चात् सुंग और कण्व वंश के राजाओं ने राज्य किया। पंजाब मगध के हाथ से निकल गया। उधर पहले यूनानी और फिर पार्थियन लोगों के आक्रमण हुए। इनमें मेनेण्डर नामक यूनानी तो पूर्व में अयोध्या और राजस्थान में माध्यमिका तक आ पहुँचा था परन्तु वह आया और चला गया; राज्य स्थापित नहीं कर सका। ईसा के पश्चात् प्रथम शताब्दी में भी भारत अनेक छोटे छोटे राज्यों में विभक्त रहा। इस समय केवल दक्षिण में आन्ध्र-वंशीय राजा शक्तिशाली थे और उनका राज्य बढ़ता जा रहा था। एक समय आन्ध्रों का राज्य पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक फैल गया था।

पुनः तीन शक्तिमान् राज्यों का उदय और अस्त : ईसा के पश्चात् द्वितीय शताब्दी में तीन बड़े-बड़े राज्य स्थापित हुए। उत्तर में कुशान राज्य, मालवा गुजरात और काठियावाड़ में शक राज्य और दक्षिण में आन्ध्र राज्य। आन्ध्र पहिले से ही राज्य कर रहे थे परन्तु अब वे और भी प्रबल हो गये। इनमें कुशान राज्य सर्वाधिक विशाल और बलवान् था। यह वास्तव में साम्राज्य था। शकों का राज्य भी काफ़ी बड़ा था। परन्तु सम्भव है कि ये लोग कुशान सम्राटों के अधीन हों। आन्ध्र और शक प्रायः बराबर जैसे थे। दोनों में कभी मित्रता होती थी और कभी लड़ाई। कुशान राज्य की राजधानी पुरुषपुर (पेशावर)। श्री महाराज कनिष्क के समय यह राज्य खोतान से मथुरा तक फैला हुआ था और पाटलीपुत्र तक इसका दबदबा था। उधर इसकी सीमा चीन साम्राज्य से लगी हुई थी। तीसरी शताब्दी में आन्ध्र, कुशान और शक क्षत्रिय एक साथ लुप्त हो गये। महाराष्ट्र में भी एक दूसरे शक वंश का राज्य स्थापित हो गया था, वह पहिले से ही लुप्त हो चुका था। इन समृद्ध और सशक्त राज्यों का सहसा क्यों लोप हुआ, इसका ठीक पता नहीं लगता। इसी समय ईरान में एक बड़े शक्तिशाली राजवंश का प्रमुख था। उसकी सैनिक शक्ति भी अति प्रबल थी। इस आधार पर इतिहासज्ञों का अनुमान है कि शायद भारत पर तीसरी शताब्दी में २३० के आस पास ईरान से कई आक्रमण हुए हों जिनके फलस्वरूप कुशान, शक और आन्ध्र राज्य एक साथ लुप्त और नष्ट हो गये हों। यह बात असम्भव तो नहीं है परन्तु इसके प्रमाण नहीं मिलते हैं, बल्कि नई खोज से यह प्रकट होता है कि

कुशानों के हीन और निर्बल राज्य का अन्त यौधेय जाति ने और शकों का अन्त महाराज चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने (३७५-४१४) किया था। इस विषय का यहाँ और अधिक विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है। केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि तीसरी शताब्दी में भारत की राजनैतिक स्थिति कैसी थी, इसका अभी इतिहास को पता नहीं है।

गुप्त साम्राज्य का विस्तार और वैभव : चौथी शताब्दी के आरम्भ में फिर स्थिति बदली और इतिहास के क्षितिज पर पुनः प्रकाश दिखाई देने लगा। एक ऐसे राज्य की नींव पड़ी जिसमें शुरू में तो केवल मध्य देश और मगध ही शामिल था परन्तु शनैः शनैः वह अधिकाधिक विस्तृत होता गया और चौथी शताब्दी के अन्त में वह इतना विस्तृत हो गया कि साम्राज्य कहलाने का अधिकारी बन गया। सारे आर्यावर्त के सिवाय महाराज समुद्रगुप्त ने दक्षिण का पूर्वी भाग गोदावरी के संगम तक अपने राज्य में मिला लिया था। महाराज चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने मालवा, गुजरात और काठियावाड़ पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। महाराष्ट्र में वाकाटकवंश के नरेशों का राज्य था, वे स्वतंत्र थे परन्तु गुप्तवंशीय नरेशों का उन पर दवदबा था। इस प्रकार पाँचवीं शताब्दी के अन्त तक गुप्त नरेश भारतवर्ष के वास्तविक चक्रवर्ती राजा थे। रघुवंशी राजाओं के विस्तृत राज्य का वर्णन करते हुए कविवर कालिदास ने लिखा है कि उनका राज्य समुद्र तट तक फैला हुआ था और उनके रथ आकाश में उड़ा करते थे। कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में हुआ है, इसलिये उसके सामने उस राज्य का विस्तार और वैभव था और रघुवंशियों का वर्णन करते समय उसके ध्यान में गुप्तवंशीय नरेशों का गौरव था। अतः उसका वर्णन गुप्त राज्य पर लागू होता है।

हूणों का आक्रमण : पाँचवीं शताब्दी के मध्य में हूणों के आक्रमण शुरू हुए। महाराज स्कन्दगुप्त ने वीरता और दृढ़ता के साथ इनका मुकाबला किया और कई बार इनको वापिस धकेल दिया, परन्तु ये लोग टिड्डी दलों की भाँति पुनः पुनः भारत पर आक्रमण करते रहे। इनका सामना करते करते गुप्त सेना भी निर्बल होती गई। आखिरकार पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में इन धक्कों को सहते सहते गुप्त साम्राज्य निर्बल होकर खंड-खंड होने लगा और पाँचवीं शताब्दी के बाद गुप्तवंशियों का राज्य केवल मगध में रह गया। शेष देश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया और कालान्तर में गुप्त वंश लुप्त हो गया।

हर्ष और पुलकेसिन के राज्य : सातवीं शताब्दी के आरम्भ में हर्षवर्धन ने पुनः साम्राज्य की स्थापना की। प्रायः समस्त आर्यावर्त पर उसने अपना राज्य स्थापित कर लिया। दक्षिण में भी पुलकेसिन चालुक्य ने ऐसा ही प्रबल और विस्तृत राज्य स्थापित कर लिया। यह स्थिति लगभग ६५० तक रही। हर्ष के देहान्त पर

उसका साम्राज्य पुनः खंड-खंड हो गया।

तत्कालीन प्रबन्ध प्रणाली : उपरोक्त साम्राज्यों और छोटे-छोटे राज्यों का शासन मूलतः एक ही प्रकार से होता था। प्रबन्ध के प्रयोजन से राज्य प्रान्तों में विभक्त किये जाते थे और प्रान्त आहारों में। आहार को भुक्ति भी कहते थे। भुक्ति में अनेक गाँव होते थे। इन विभागों के नाम समय-समय पर बदलते रहते थे और इसी प्रकार राज कर्मचारियों के नाम भी बदल जाया करते थे। प्रबन्ध की दृष्टि से एक हज़ार गाँवों की एक इकाई मानी जाती थी। इसका प्रबन्ध एक राज कर्मचारी के सुपुर्द होता था। इकाई के दस भाग किये जाते थे और प्रत्येक भाग पर एक अफसर रहता थो। फिर इस भाग के भी दस विभाग किये जाते थे और प्रत्येक विभाग पर एक कर्मचारी होता था। प्रत्येक गाँव का एक मुखिया, ग्रामणी या पटेल हुआ करता था। राज्य के आकार के अनुसार यह भाग और विभाग भी छोटे या बड़े हुआ करते थे। परन्तु राज्य को इस प्रकार विभक्त करके प्रत्येक भाग के प्रबन्ध के लिये राज कर्मचारी नियुक्त कर प्रबन्ध सञ्चालन करने का सिद्धान्त था।

राजनीति के ग्रन्थ : इस युग में राजनैतिक विचारों और सिद्धान्तों का अच्छा विकास हुआ था। राजनीति या दंडनीति पर कई ग्रन्थ लिखे गये थे जो कई कारणों से लुप्त हो गये हैं परन्तु फिर भी कुछ ग्रंथ बच गये हैं। कितने ही ग्रंथ ऐसे हैं जिनका विषय मुख्यतः राजनीति नहीं है परन्तु एक दो अध्याय या प्रकरण उनमें इस विषय पर भी लिखे हुए हैं। इसके अतिरिक्त अनेक ग्रंथों में प्रसंगवश राजनैतिक सिद्धान्तों का वर्णन या उल्लेख आ जाता है। इन सबके आधार पर प्राचीन राजनीति की रूपरेखा भली प्रकार से सामने आ जाती है।

गण राज्य और एकतन्त्र राज्य : राज्य दो प्रकार के होते थे—गण राज्य और एकतन्त्र राज्य। गण राज्यों का शासन जनता के प्रतिनिधियों द्वारा होता था और एकतंत्र राज्य का प्रबन्ध राजा स्वयं करता था। जनता के प्रतिनिधि किस प्रकार और कितने समय के लिए निर्वाचित होते थे इसका पता नहीं चलता। परन्तु गण राज्य के सब मूल सिद्धान्त उस समय माने जाते थे और प्रचलित थे। गण शब्द से ही प्रकट है कि निश्चय या निर्णय करते समय गणना की जाती थी कि कितने प्रतिनिधि पक्ष में और कितने किसी प्रस्ताव के विपक्ष में हैं। इन प्रतिनिधियों के ऊपर एक प्रधान होता था जो किसी किसी गण राज्य में राजा भी कहलाता था। यह पता नहीं चलता कि यह राजा किस प्रकार बनाया जाता था और कितने समय के लिए बनाया जाता था। गण राज्य कई प्रकार के थे और इनकी शासन प्रणाली तथा संगठन भी किंचित भिन्न थे। परन्तु कुछ मौलिक सिद्धान्त सब में समान माने जाते थे। पहली बात यह थी कि राज्य के प्रतिनिधियों की सलाह से शासन और नीति का निर्धारण तथा संचालन होता था। दूसरी बात यह थी कि राज्य का अधिपति जनता का

बनाया हुआ हुआ करता था। किसी किसी गण राज्य में वंशक्रमानुगत राजा भी होता था परन्तु यह क्रम लोकमत से चलता था। गण राज्य की स्थिति और रक्षा के लिये यह ज़रूरी माना जाता था कि उस राज्य में प्राचीन मर्यादाओं का आदर हो, वीर, वृद्ध और योग्य व्यक्तियों का सम्मान हो, देवालयों की रक्षा की जावे और मंत्र तथा नीति यथा-सम्भव गुप्त रहें। ऐसा न होने पर गण राज्यों के नष्ट होने का भय था। गण राष्ट्रों और नृप राष्ट्रों में प्रायः अनबन रहा करती थी। कभी कोई गण राज्य नृप राज्य बन जाता था और कभी कोई नृप राज्य गण राज्य बन जाया करता था। लगभग १,१०० वर्ष तक (७०० ईसा पूर्व से ४०० ईसा पश्चात्) भारत में अनेक गण राज्य रहे लेकिन इनमें कोई भी ऐसा उन्नत, सम्पन्न और सफल नहीं हुआ जिसका इतिहास में कोई विशेष स्थान होता या जो भारतीय संस्कृति को कुछ देन दे सकता।

तत्कालीन राजनीति के मूल सिद्धान्त : प्रायः नृपराष्ट्र ही राज्य माना जाता था। राजा के बिना भी कोई राष्ट्र हो सकता है इसकी कोई कल्पना ही नहीं करता था। एक लेखक का तो यहाँ तक कहना है कि राजा ही वास्तव में राष्ट्र है और राष्ट्र ही राजा है। राजा के बिना समाज की स्थिति नहीं रह सकती। एक व्यक्ति दूसरे को खाने लगता है। किसी की जान या माल सुरक्षित नहीं रहता। इसलिये लोक-रक्षा के निमित्त ईश्वर ने राजा की सृष्टि की है। वह अष्ट दिग्पालों के शाश्वत अंशों से बनाया गया है। दीखने में वह मनुष्य है परन्तु वास्तव में वह देवता है। अतः वह चाहे बालक हो तो भी उसकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये। उसकी प्रसन्नता में लक्ष्मी का और क्रोध में मृत्यु का निवास है। राजा वास्तव में सर्व-तेजमय है। यह राजनीति का एक पक्ष है। दूसरा पक्ष यह है कि राजा वास्तव में प्रजा का दास है। वह जनता का दिया हुआ खाता है इसलिये उसको चाहिये कि प्रजा के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करे। इसके अतिरिक्त राजा की शक्ति और अधिकारों पर अनेक प्रतिबन्ध थे। उसको वेद, धर्म शास्त्र, धनुर्वेद, कला, अर्थशास्त्र और वार्ता तथा पशुपालन आदि अनेक विषयों का अध्ययन करना पड़ता था जिससे उसकी बुद्धि निर्मल और कर्तव्य भावना जागृत तथा पुष्ट हो जाया करती थी। दण्डनीति परम्परागत या ऋषि-मुनि-प्रणीत होती थी। राजा का इसके निर्माण से कोई सम्बन्ध नहीं समझा जाता था। दण्ड राज्य की रक्षा करता है और जनता को इसका आदर करना चाहिये—यह सर्व-सम्मत सिद्धान्त था। दण्ड वास्तव में राजा से भी ऊपर माना जाता था। उसका भी यह कर्तव्य था कि दण्ड का आदर करे। यह एक परम्परा थी और इसका उल्लंघन कभी कोई राजा नहीं करता था कि राज्य का शासन संचालन स्वयं राजा को ही नहीं करना चाहिये बल्कि इस काम के लिये मंत्रियों की एक परिषद् बनानी चाहिये और उनकी सलाह से राजकाज करना चाहिये। मंत्री आठ से ग्यारह तक और विशेषावस्था में बारह तक हो सकते थे। यह ज़रूरी समझा जाता था कि मंत्री उसी राज्य का निवासी, निर्भय, दक्ष, वाग्मी, शूर, और दृढ़-भक्ति हो। अच्छा मन्त्री वह माना जाता

था जो राजा का मान तो पूरा करे लेकिन गुप्त रूप से उसको कड़वी से कड़वी बात भी कहदे और जिसके कोप के भय से राजा भी सदा धर्म नीति पर आरूढ़ रहे। राज कर प्राय: षष्ठांश होता था परन्तु यह नियम या मर्यादा प्राय: भूमि कर के सम्बन्ध में थी। अन्य कर इससे अधिक या न्यून भी होते थे। कुछ पदार्थों पर कोई कर नहीं लिया जाता था और बालक, विधवा, रोगी, अपंग आदि व्यक्तियों तथा बड़े-बड़े विद्वानों पर भी कर नहीं लगाया जाता था। दण्ड, मंत्रि-परिषद् और कर, इन तीन प्रतिबन्धों के कारण राजा कभी स्वच्छन्द आचरण नहीं कर सकता था। इनसे भी बड़ा प्रतिबन्ध था अभिषेक के समय ली हुई शपथ। यदि कोई राजा राज्याभिषेक के समय धर्मपूर्वक ली हुई शपथ का उल्लंघन करे तो प्रजा का यह भी कर्तव्य माना जाता था कि उसके विरुद्ध खड़े होकर आवश्यकतानुसार उसको मार डाले।

और उनके अनुसार चन्द्रगुप्त का शासन : उपरोक्त सिद्धान्तों पर लगभग एक सहस्र वर्ष तक भारत में शासन हुआ। महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन चाणक्य के सिद्धान्तों पर चलता था। चाणक्य का अर्थशास्त्र लगभग उसी समय लिखा गया था। इसमें प्राचीन लेखकों का भी हवाला है। इससे प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त से पहिले भी प्राय: ये ही सिद्धान्त प्रचलित थे। अत: इन्हीं सिद्धान्तों पर चन्द्रगुप्त का भी शासन चलता था। यह भी कहा जा सकता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन को देखकर तथा उसी को एक प्रकार से आदर्श मानकर चाणक्य ने अर्थशास्त्र लिखा होगा। परन्तु अधिकांश विद्वान अर्थशास्त्र को सिद्धान्त ग्रन्थ मानते हैं, इसलिये यह कहना अधिक युक्तिसंगत है कि चाणक्य के सिद्धान्तों पर चन्द्रगुप्त के शासन का सञ्चालन होता था। राजधानी में राजा को सलाह देने के वास्ते मंत्रि-परिषद् थी और प्रांतों में गवर्नर थे। शायद प्रत्येक गवर्नर की भी एक परिषद् होगी। गवर्नर प्राय: राजकुमार होते थे, परंतु कभी-कभी वे दूसरे भी हो सकते थे। महाराज चंद्रगुप्त का एक गवर्नर वैश्य था जिसका नाम पुष्यगुप्त था। मालवा, गुजरात और काठियावाड़ उसके अधीन थे। प्रांत में गवर्नर (प्रांतपाल) के नीचे राजूक होते थे। इनकी संख्या प्रांत के क्षेत्र-फल पर निर्भर थी। राजूक (राज्जूक) माल (रेवेन्यू) के बड़े अध्यक्ष का नाम था। इनका प्रधान काम था बंदोबस्त जो रज्जु के द्वारा किया जाता था। इसीलिये ये राज्जूक कहलाते थे। इनका दूसरा नाम महा-मात्र भी था। अशोक के शासन काल में दूसरे बड़े-बड़े राज कर्मचारी भी महा-मात्र कहलाते थे। महा मात्रों या राज्जूकों के मातहत राष्ट्रपति, विषयपति, ग्रामकूट, आयुक्त और नियुक्तक होते थे। राष्ट्र और विषय प्रांत के हिस्सों के नाम थे। एक प्रांत में उसके क्षेत्रफल के अनुसार कई राष्ट्र हो सकते थे और इसी प्रकार एक राष्ट्र में कई विषय। यदि विषय बहुत बड़ा होता था तो उसके भी अलग-अलग भाग कर दिए जाते थे जो आहार, आहरण या भुक्ति कहलाते थे। समय-समय पर ये नाम कभी बड़े भाग के लिये और कभी छोटे भाग के लिये प्रयुक्त

हुआ करते थे। यदि राज्य छोटा हुआ तो उसके इतने भाग और प्रभाग करने की आवश्यकता नहीं होती थी और यदि बड़ा हुआ तो उसके सब प्रकार के छोटे बड़े हिस्से करने पड़ते थे। प्रत्येक भाग या प्रभाग पर एक अध्यक्ष या कर्मचारी होता था।

उस समय के महकमे : शासन के विभिन्न अंगों के लिये जुदे-जुदे विभाग (महकमे) होते थे। चाणक्य ने ऐसे छत्तीस महकमों का उल्लेख किया है। दूसरे लेखकों ने भी शासन के कई महकमों के नाम लिखे हैं। प्रत्येक महकमे पर एक अध्यक्ष होता था। अध्यक्ष और मंत्री का पद प्रायः बराबर सा ही माना जाता था। इसलिये अध्यक्ष में उतनी ही योग्यता और क्षमता आवश्यक मानी जाती होगी जितनी मंत्री में। अर्थात् अध्यक्ष की नियुक्ति के समय देखा जाता होगा कि वह तद्देशनिवासी, कृत-शिल्प, प्राज्ञ, वाग्मी, प्रगल्भ, दृढ़ भक्ति और सच्चरित्र है या नहीं। मंत्री और अध्यक्ष प्रायः उच्चकुलीन लोग हुआ करते थे परन्तु शास्त्रकारों ने लिखा है कि राजसेवा में योग्यता को प्रधानता देनी चाहिये, जाति या कुल को नहीं। अशोक के समय में पश्चिम भारत का गवर्नर तुशाष्प नामक एक ईरानी था और वह राजा तुष्प कहलाता था। आवश्यकतानुसार विभागों की और उनके अध्यक्षों की संख्या घटा बढ़ा करती थी। परन्तु प्रधान अध्यक्ष होते थे—समाहर्ता, कोष्ठागाराध्यक्ष, पण्याध्यक्ष, आयुधागा-राध्यक्ष, तुलाध्यक्ष, सीताध्यक्ष, सुराध्यक्ष, नावाध्यक्ष आदि। समाहर्ता रेवेन्यू कमिश्नर था, कोष्ठागाराध्यक्ष को ट्रेज़री आफिसर कह सकते हैं, पण्याध्यक्ष कमिश्नर आफ ट्रेड एन्ड इन्डस्ट्रीज़ होगा, आयुधागाराध्यक्ष स्पष्ट ही है, तुलाध्यक्ष बांटों (weights) का अफ़सर होता होगा, सीताध्यक्ष उस समय डायेरेक्टर आफ एग्रीकल्चर का नाम था, शेष दो के नाम स्पष्ट ही हैं।

पाटलिपुत्र की नगरपालिका : पाटलिपुत्र के प्रबन्ध के वास्ते तीस सदस्यों की एक नगरपालिका थी। यह संस्था पाँच-पाँच सदस्यों की छः समितियों में विभक्त थी। प्रथम समिति का काम था उद्योग प्रबन्ध। यह समिति श्रमिकों की मज़दूरी निश्चित करती थी और देखती थी कि शुद्ध उपयुक्त सामग्री का उपयोग किया जाता है या नहीं। कुशल कारीगरों की रक्षा का काम भी इसी समिति के अधीन था। यदि किसी कारीगर को कोई ऐसी शारीरिक चोट पहुँचाता जिसके कारण वह अपना धन्धा करने से बेकार हो जाता तो अपराधी को प्राण दण्ड दिया जाता था। कुछ उद्योग धन्धे सरकार भी चलाती थी और इसके लिये दक्ष कारीगर सरकार में नौकर रक्खे जाते थे। दूसरी समिति वाणिज्य और व्यापार की देख रेख करती थी। इसका काम था कि व्यापारी लोग केवल ऐसे सेर बाँट और पैमानों का ही उपयोग करें जिस पर सरकार की छाप हो। यह समिति क्रय-विक्रय की व्यवस्था करती थी। जिस चीज़ का कोई व्यापार करना चाहता था उसको लाइसेंस देती थी। जो व्यक्ति दो वस्तुओं का व्यापार करना चाहता था उसको दुगनी लाइसेंस फ़ीस देनी पड़ती थी। तीसरी समिति

के सुपुर्द वस्तु निर्माण के निरीक्षण का कार्य था। पुरानी और नई बनी हुई वस्तुओं को सम्मिलित करके बेचना अपराध माना जाता था। पुरानी चीज़ों को बेचने के वास्ते आज्ञा प्राप्त करनी पड़ती थी जो ख़ास शर्तों के साथ दी जाती थी। चौथी समिति बिक्री पर मापा (कर) वसूल करती थी। इस मापे को चुराना बड़ा अपराध माना जाता था और अपराधी को प्राणदण्ड तक दिया जा सकता था। पाँचवीं समिति का कार्य था मनुष्य-गणना। इसकी विधि यह थी कि जन्म और मरण का सविस्तार इन्द्राज सरकारी रजिस्टर में करवाया जाता था। इस विभाग का अध्यक्ष 'नागरिक' कहलाता था। सरकारी रजिस्टर में जन्म लेने वाले या मरने वाले का लिंग, वर्ण, नाम, वंश, व्यवसाय, आय, व्यय और पशु धन दर्ज किया जाता था। छठी समिति के सुपुर्द ऐसे विदेशियों की देख रेख करने का काम था जो पाटलिपुत्र में आकर ठहरते थे। उस समय भारत और विदेशों में परस्पर बड़ा व्यापार होता था। अत: वाणिज्य के लिये तथा अन्य कार्य के लिये विदेशी लोग भारत की राजधानी में आया करते थे। यह समिति उनके निवास, चिकित्सा तथा रक्षा का प्रबन्ध करती थी और जब वे लोग इधर उधर कहीं जाते थे तो उनकी रक्षा का प्रबन्ध करती थी। यदि इनमें से किसी की मृत्यु हो जाती तो उसकी अन्त्येष्टि क्रिया का तथा उसकी सम्पत्ति उसके उत्तराधिकारियों तक पहुँचाने का प्रबन्ध भी यही समिति किया करती थी।

प्रतिवेदक व्यवस्था : उपरोक्त प्रबन्ध-वर्णन पाटलिपुत्र का है परन्तु मौर्य साम्राज्य के बड़े-बड़े नगरों का प्रबन्ध भी इसी ढङ्ग पर होता होगा। उस समय के प्रसिद्ध नगर काशी, प्रयाग, उज्जयिनी, पुरुषपुर, भृगुकच्छ, गिरनार आदि थे। इन दूर-दूर के स्थानों से समाचार पहुँचाने के वास्ते राज कर्मचारी नियत थे। ये 'प्रतिवेदक' कहलाते थे। ये लोग गाँव और नगर की दैनिक घटनाओं को देखते रहते थे और जो कुछ सुनते या समझते थे उसको ठीक उसी प्रकार लिख कर प्रान्तपति तथा मन्त्रियों के पास भेज दिया करते थे। इस प्रकार साम्राज्य से सहस्रों पत्र नित्य पाटलिपुत्र में पहुँचा करते होंगे। इनको भेजने के वास्ते भी कोई नियमित व्यवस्था अवश्य होगी। अपने साम्राज्य का हाल चन्द्रगुप्त को इन प्रतिवेदकों के द्वारा ही विदित होता था। अतः केवल विश्वसनीय और सत्यवादी और स्पष्टवादी लोग ही इन स्थानों पर नियुक्त किये जाते होंगे। परन्तु तत्कालीन भारत में सत्यवादी और स्पष्टवादी लोगों की कोई कमी नहीं थी। एरियन नामक एक यूनानी लेखक ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त के पास सदा सच्ची खबर पहुँचा करती थी क्योंकि कोई भी भारतवासी असत्य नहीं बोला करता था।

दण्ड व्यवस्था : चन्द्रगुप्त की उत्तम दण्ड व्यवस्था, सुप्रबन्ध और प्रजा की सच्चरित्रता इस बात से प्रकट होती है कि उसके राज्य में चोरी बहुत कम हुआ करती थी। मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि सौ सवा-सौ रुपये की चोरी से अधिक चोरी होती

हुई उसने न सुनी और न देखी। सभी अपराधों के लिये बड़ा कठोर दण्ड दिया जाता था। चन्द्रगुप्त ने ही इतना विशाल और विस्तृत साम्राज्य स्थापित किया था। इसको दृढ़ करने के वास्ते शीघ्रातिशीघ्र व्यवस्था और शान्ति जमाने की आवश्यकता थी। यह कठोर दण्ड के द्वारा ही सम्भव हो सकता था। अतः कई अपराधों के लिए हाथ पैर कटवा दिये जाते थे और कई के लिए प्राणदण्ड दिया जाता था। इससे कोई बर्बरता या पाशविकता नहीं प्रकट होती है। चन्द्रगुप्त का समय तो तेईस सौ वर्ष पहिले का है, इङ्गलैण्ड में उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक अर्थात् अब से केवल सवा सौ वर्ष पूर्व तक कई अपराधों के लिये प्राणदण्ड दिया जाता था। बात यह थी कि प्राचीन और मध्यकाल में अपराधों से लोग घोर घृणा करते थे और सच्चरित्रता को बड़ा ऊँचा स्थान दिया करते थे, अतः अपराधी वास्तव में समाज का घोर शत्रु माना जाता था और अपराधों को रोकने के प्रयोजन से घोर दण्ड दिया जाता था।

भूमिकर तथा अन्य कर : प्राचीन परम्परा के अनुसार भूमि कर के रूप में उपज का छठा भाग लिया जाता था, परन्तु यह समस्त साम्राज्य में एक जैसा नहीं था। जहाँ भूमि अति उर्वरा थी वहाँ उपज का चतुर्थांश भी लिया जाता था। भूमि की सिंचाई के वास्ते नहरों की विस्तृत व्यवस्था थी और इसका एक अलग महकमा था। अर्थशास्त्र में नहरों की देख रेख, इनके जल विकासों की निगरानी, जल विभाग के नियम, भूमि का माप आदि का विशेष उल्लेख है। इससे यह भी प्रकट है कि भूमि कर के सिवाय सिंचाई कर अलग लिया जाता होगा। मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि नहरों से जहाँ-जहाँ पानी देने के वास्ते निकास बने हुए थे उनकी देख रेख बड़ी सावधानी से की जाती थी और इस काम के लिये कर्मचारी नियत थे। यह भी देखा जाता था कि सब कृषकों को पानी का उचित हिस्सा मिले, ऐसा न हो कि किसी को अधिक मिले और किसी को न्यून।

यात्रियों के लिए सुख व्यवस्था : मार्गों के निर्माण और रक्षा के लिये एक अलग विभाग था। सड़कों की उचित सँभाल की जाती थी। अशोक ने रास्तों पर थोड़े-थोड़े फ़ासलों पर बड़ और आम के वृक्ष लगवाये थे और आधे-आधे कोस पर कुएँ खुदवाये थे। रात्रि में तथा दिन में विश्राम करने के वास्ते सराएँ बनवाई थीं और प्रति अर्द्धकोस पर मार्ग तथा फ़ासले को सूचित करने के वास्ते पत्थर गड़वाये थे। पाटलिपुत्र से पुरुषपुर तक एक ऐसा मार्ग था जिसकी लम्बाई लगभग १,१२० मील थी।

सुदर्शन झील : मौर्य साम्राज्य में सुदूर प्रान्त और प्रदेशों की उन्नति का बड़ा ध्यान रखा जाता था। महाराज चन्द्रगुप्त ने गिरनार के पास काठियावाड़ में एक बहुत बड़ा बांध बंधवा कर सुदर्शन नामक झील बनवाई थी। महाराज अशोक ने

इसका जीर्णोद्धार करवाने में बहुत-सा धन ख़र्च किया था। यह झील आस पास की भूमि की सिंचाई करने के वास्ते बनाई गई थी। मौर्य सम्राट् जानते थे कि भारत कृषि-प्रधान देश है और कृषि की उन्नति के वास्ते जल की सब से प्रथम आवश्यकता है।

सेना का परिमाण और प्रबंध : महाराज चन्द्रगुप्त के पास चतुरङ्गिणी सेना थी। इसमें नौ सहस्र हाथी, आठ सहस्र रथ, तीस हज़ार सवार और छः लाख पैदल थे। एक हाथी पर चार और एक रथ में तीन सैनिक बैठा करते थे। इस प्रकार कुल सैनिक चन्द्रगुप्त की सेना में छः लाख और नब्बे हज़ार होंगे। उससे पहिले महा-पद्मनन्द (मगध नरेश) के पास भी छः लाख सेना थी। इसका हाल सुनकर ही सिकन्दर के सैनिक त्रस्त हो गये थे। चन्द्रगुप्त के पश्चात् बिन्दुसार के पास और तत्पश्चात् महाराज अशोक के पास भी इतनी बड़ी सेना अवश्य होगी। अशोक ने केवल एक युद्ध कलिंग देश के राजा से लड़ा था जिसमें घोर जन हानि हुई थी। यह संहार अशोक की विपुल सेना ने ही किया होगा। इतने बड़े साम्राज्य की रक्षा के लिये छः लाख सेना अब भी बड़ी नहीं मानी जाती तो उस समय तो यह एक प्रकार से छोटी ही थी। उस समय वैज्ञानिक शस्त्रास्त्रों का आविष्कार नहीं हुआ था इसलिये जन-शक्ति की अधिक आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त के पास नौ सेना भी थी और यह अशोक के पास भी अवश्य होगी। सेना का प्रबन्ध छः समितियों द्वारा हुआ करता था। ये छः समितियाँ थीं—नौ समिति, रसद और वाहन समिति, पदाति समिति, अश्व समिति, रथ समिति और गज समिति। दूसरी समिति का काम था रसद पहुँचाना, सवारियों का प्रबन्ध करना, सैनिकों के वास्ते भोजन बनवाना और बाजे वालों, सईसों, घसकटों और मिस्त्रियों का प्रबन्ध करना। प्रत्येक घुड़सवार के पास दो बर्छियाँ और एक ढाल रहती थी और पैदल (पदाति) के पास तलवार। तलवार के अतिरिक्त उसके पास भाला या धनुष बाण तथा तूणीर रहता था। आत्मरक्षा के वास्ते सैनिक कवच धारण किया करते थे। एरियन लिखता है कि बाण ऐसे प्रबल वेग से चलाये जाते थे कि ढाल या कवच इसको नहीं रोक सकता था।

वमनम् और मद्यकर आदि : धनाढ्य लोगों पर एक कर लगाया जाता था जिसको अर्थशास्त्रों में "कर्षकम्" और "वमनम्" कहा है। नाम से ही प्रकट है कि इस प्रकार के कर का क्या उद्देश्य था। सम्पन्न लोगों को प्रेरणा दी जाती थी कि वे लोग अधिक से अधिक स्वर्ण सम्राट को भेंट करें। जो इस प्रकार स्वत: भेंट करते थे उनको राज की ओर से सम्मानित किया जाता था। किसी को राज सभा में स्थान दिया जाता था, किसी को छत्र धारण की इजाज़त दी जाती थी और किसी को आभूषण या पगड़ी दी जाती थी। विक्रय पर कर लिया जाता था। बड़े बड़े नगरों में यही मुख्य आय थी। अन्न और पशुओं के अतिरिक्त दूसरी कोई चीज़ उत्पत्ति

स्थान पर या यत्र-तत्र नहीं बेची जा सकती थी। विक्रय के निमित्त नगर द्वार के पास स्थान बने हुए थे। यहाँ क्रय-विक्रय हुआ करता था और सौदा तय होते ही उस पर राज कर ले लिया जाता था। इस विधि से कर प्राप्त करने में सुविधा रहती थी। बिक्री के वास्ते जो चीजें आती थीं उन सब पर सरकारी मुद्रा लगाई जाती थी। राज-कर केवल विक्रय के समय ही लिया जाता था, दुबारा नहीं। विदेशों से आई हुई चीज़ों पर मूल्य का बीस प्रतिशत कर लगाया जाता था, और अन्य पदार्थों के कर की दर चार से दस प्रतिशत तक थी। जवाहरात की क़ीमत विशेषज्ञों द्वारा अंकवाई जाती थी और उस पर कर लिया जाता था। मद्य विभाग से भी सरकार को बहुत आमदनी होती थी। शराब की दूकानों पर हर प्रकार के आराम का प्रबन्ध किया जाता था, वे पुष्पों से सजी रहती थीं और कई प्रकार की सुगन्धियों से उनको आकर्षक बनाया जाता था। इनमें भारत में बना हुआ मद्य ही नहीं, कपिशा और अफ़ग़ानिस्तान का मद्य भी बेचा जाता था। विदेशी शराबों पर विशेष कर लगाया जाता था। मद्य-विक्रय के वास्ते विशेष राजाज्ञा (लाइसेंस) प्राप्त करनी पड़ती थी जिसकी फ़ीस ली जाती थी।

देश की समृद्धि : देश सम्पन्न और समृद्ध था। पाटलिपुत्र के महल सूसा और इकबटाना (ईरान) के महलों को मात करते थे। महाराज अशोक के महलों की भव्यता और वैभव देखकर चीनी यात्री फाहियान दाँतों तले अँगुली दबाता था और कहता था कि ये मनुष्यों ने नहीं देवों ने बनाये हैं। हाथी, घोड़े, ऊँट और गधे सवारी के काम में आते थे। हाथी पर प्रायः राजा और सामन्त या धनाढ्य लोग ही बैठते थे। गधे की सवारी भी सब नहीं केवल कुम्हार आदि जाति के लोग ही करते होंगे। उद्योग धन्धे सब व्यवस्थित और उन्नत थे, विदेशों से व्यापार होता था तथा पास के देशों में भारतवर्ष का नाम और दबदबा था। देश की समृद्धि का केवल इससे अनुमान किया जा सकता है कि उच्च राजकर्मचारियों का वार्षिक वेतन अड़तालीस सहस्र रूप्य (चाँदी) पण दिया जाता था और चपरासी या साधारण मज़दूर का कम से कम वेतन साठ पण वार्षिक था। पण का मूल्य आजकल के एक रुपये के बराबर था।

शासन का नैरन्तर्य्य : अशोक के शासन काल में भी प्रबन्ध व्यवस्था प्रायः ऐसी ही बनी रही। उस समय का समाज और शासन प्रायः परम्परा के अनुसार चला करता था, इसलिये परिवर्तन बहुत कम हुआ करते थे। जन्म, मरण और जय पराजय से राजा और राजवंश बदला करते थे परन्तु व्यवस्था में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ करता था। यदि राज्य छोटा होता था तो उसकी शासन व्यवस्था छोटे मान पर होती थी और बड़ा होता था तो बड़े मान पर। प्रान्त, राष्ट्र, प्रदेश, आहार, भुक्ति आदि के आकार और स्वरूप बदल जाया करते थे परन्तु मूलतः शासन में

कोई परिवर्तन नहीं हुआ करता था। विशेषकर दो बातें ज्यों की त्यों बनी रहती थीं—राज कर, और दण्ड नीति। इसके अतिरिक्त गाँव का प्रबन्ध प्रायः वहाँ की पञ्चायत ही कर लिया करती थीं। यही कारण था कि राज्य या साम्राज्य के उत्थान या पतन का प्रभाव समाज या शासन पर बहुत कम पड़ा करता था। कर नीति में यदि किंचित् परिवर्तन हुआ तो उसका प्रभाव केवल बड़े बड़े नगरों पर पड़ता था गाँवों पर नहीं। भूमि कर प्रायः षडांश होता था और किसी भी अवस्था में चतुर्थांश से अधिक नहीं लिया जाता था। युद्ध के समय या दुर्भिक्ष आदि विपत्तियों के समय राज्य के धनाढ्य नागरिकों से विशेष कर या ऋण लिया जाता था जो वापिस दे दिया जाता था।

कण्व सुंग राज्य में सिक्का और श्रेणियाँ : मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद सुंगों और कण्वों का राज्य हुआ। उनकी भी शासन प्रणाली वैसी ही बनी रही। फिर उत्तर में कुशानों का पश्चिम भारत (मालवा, गुजरात और काठियावाड़) में शक क्षत्रपों का तथा महाराष्ट्र में भी कुछ समय के लिये शकों के दूसरे वंश का और दक्षिण में आन्ध्रवंश का राज्य स्थापित हुआ। इनके समय में भी शासन का ढंग वैसा ही चलता रहा। कुशान काल में सिक्के नये प्रकार के चलने लगे थे। सब से बड़ा सिक्का सुवर्ण कहलाता था। एक सुवर्ण में पैंतीस कार्षापण होते थे। उस समय व्यापारी श्रेणियाँ बना कर काम करते थे। आन्ध्रों के राज्य में नासिक, गोवर्द्धन, जुनार आदि स्थानों पर ऐसी कई श्रेणियाँ थीं। ये श्रेणियाँ व्यापार का सर्व प्रकारेण प्रबन्ध करती थीं। मार्ग में भी रक्षार्थ सिपाही नियुक्त करती थीं। नवयुवक काम सीखने के वास्ते इनमें जाया करते थे। श्रेणियाँ, मन्दिरों और विद्यालयों को दान दिया करती थीं। लोग इनमें अपना रुपया जमा किया करते थे जिस पर व्याज दिया जाता था। श्रेणियाँ उस समय एक प्रकार से बैंकों का काम करती थीं। यदि कोई व्यक्ति किसी संस्था को या किसी कार्य के लिए दान देता और उसके संचालन के वास्ते कोई स्थाई कोष बनवाता था तो उसका इन्द्राज इन श्रेणियों में या नगर की निगम सभाओं में हुआ करता था। इस प्रकार बहुत सा काम जो इस समय राज की सहायता के बिना नहीं होता है वह उस समय श्रेणियों या सभाओं द्वारा ही हो जाया करता था। इसलिये राजनैतिक परिवर्तन होने पर भी देश के आर्थिक जीवन में विशेष हेर-फेर नहीं हुआ करते थे।

गुप्त युग और उसका शासन : गुप्त वंश का शासन काल भारत का ज्वाजल्यमान स्वर्ण युग था। इसमें सर्वाङ्गीण उन्नति और चेतना हुई और शासन, साहित्य, कला और धर्म का प्रत्येक पक्ष पुष्ट हुआ।

गुप्त सम्राटों का शासन भी मौर्य शासन से मिलता जुलता था। सम्राटों को

शासन कार्य में सलाह और सहायता देने के वास्ते एक मन्त्रि-परिषद् होती थी। मंत्रियों की संख्या कितनी थी और प्रत्येक मंत्री के सुपुर्द कौन-कौन से विभाग थे इसका पता तो ठीक नहीं चलता लेकिन ये सब परम्परा के अनुसार ही होंगे। परम्परा प्रायः आठ मंत्रियों की थी। परन्तु इनकी संख्या चाणक्य के अनुसार अधिक भी हो सकती थी। सेना, न्याय, धर्म, कोष, परराष्ट्र, भूमिकर और दौत्य आदि विषयों के वास्ते अलग अलग मन्त्री हुआ करते थे और सबके ऊपर एक मुख्य मंत्री होता था, जो "प्रधान" कहलाता था। इन विभागों का संचालन करने वाले क्रमशः सचिव; प्राड-विभाग, पंडित, सुमंत्र, मंत्री, अमात्य और दूत कहलाते थे। इनके नाम समय-समय पर बदला भी करते थे। गुप्त काल में मंत्री महासंधिविग्राहिक कहलाता था, और प्रधान को सर्वाध्यक्ष कहते थे।

प्रान्तों का प्रबन्ध : गुप्त साम्राज्य देशों (प्रान्तों) में विभक्त था। प्रत्येक देश पर एक गवर्नर होता था जो सम्राट द्वारा नियुक्त किया जाता था। गवर्नर प्रायः राजकुमार या सम्राट का छोटा भाई हुआ करता था परन्तु विशेष योग्यता वाले दूसरे लोगों में से भी गवर्नर बनाये जाते थे। देश भुक्तियों में विभक्त होता था और भुक्ति विषयों में। विषय का अफ़सर विषयपति कहलाता था और भुक्ति का अफ़सर उपरिक। गवर्नर को महाराजा, गोप्ता, या राजस्थानीय कहते थे। गवर्नर को राजकाज में सहायता देने के वास्ते बड़े-बड़े राजकर्मचारी होते थे जिनमें मुख्य थे महादण्ड नायक और महादण्ड-न्यायायिक, पहिला पुलिस का काम करता था और दूसरा जज का। विषयपति को सहायता देने के वास्ते भी एक छोटी सी समिति होती थी जिसमें विषय का प्रसिद्ध सेठ (बैंकर), प्रसिद्ध व्यापारी और प्रसिद्ध कारीगर होता था। इस प्रकार शासन के संचालन में जनता के मुख्य लोगों के सहयोग की भी आवश्यकता समझी जाती थी। गाँव का मुखिया ग्रामिक कहलाता था। इसके अतिरिक्त गाँव के आकार के अनुसार दो तीन राज्याधिकारी वहाँ और रहते थे जिनमें उल्लेख के योग्य सीमा-कर्मकार, अध्वयु आचार्य तथा हाटिक हैं। प्रथम कर्मचारी गाँव की सीमा निश्चित करता था और उसकी रक्षा करता था, दूसरा कर्मकांड करवाता था, तीसरा अध्यापन करता था और चौथा बाज़ार की देखभाल करता था तथा सेर बाट की निगरानी करता था।

वाहिनी व्यवस्था : सेना में परम्परागत चारों अंग अर्थात् हस्ती, अश्व, रथ और पदाति तो थे ही, इनके अतिरिक्त ऊँटों के रिसाले की भी व्यवस्था की गई थी। नौसेना मौर्य नौसेना जैसी ही थी। सेना के अध्यक्ष को महाबलाधिकृत कहते थे। उसके अधीन महा सेनापति थे। शायद प्रत्येक देश में एक महा सेनापति नियत था। दूसरे अफ़सरों के नाम थे अश्वपति महाश्वपति आदि।

शान्ति और सच्चारित्र्य का वायुमण्डल : गुप्त सम्राटों का शासन बड़ा

व्यवस्थित था। बड़े-बड़े राज कर्मचारी सम्राट द्वारा नियत किये जाते थे। सुदूर देशों की भी अच्छी निगरानी की जाती थी। सब स्थानों से सम्राट के पास प्रतिदिन वेदकों द्वारा ख़बरें आया करती थीं। राजधानी से दूतों द्वारा मौखिक आज्ञायें और लिखित आज्ञायें (शासन) जारी हुआ करती थीं। साम्राज्य सुप्रतिष्ठित था और लम्बे अर्से से भारत पर कोई विदेशी हमला भी नहीं हुआ था। इसलिये इस युग का दण्ड विधान उतना कठोर नहीं था जितना मौर्य काल का। अधिकांश अपराधों के लिये अर्थ दण्ड (जुर्माना) दिया जाता था जिसकी मात्रा अपराध के अनुसार निश्चित की जाती थी। महापराधों के लिये, विशेष कर डकैती आदि के लिये दाहिना हाथ कटवा दिया जाता था, परन्तु ऐसे दण्ड बहुत ही कम दिये जाते थे, और अपराध भी बहुत कम होते थे। प्राणदण्ड सिद्धान्ततः तो माना जाता था पर दिया नहीं जाता था। फ़ाहियान जब तक भारत में रहा उसने कहीं नहीं सुना कि किसी को प्राणदण्ड दिया गया हो। वास्तव में उस समय जनजीवन बहुत ऊँचा था। बौद्धों के अहिंसा प्रचार ने मनुष्यों की प्रकृति कोमल और दयालु बना दी थी जिसके कारण जब जीव जन्तु की हत्या ही पाप मानी जाती थी तो मनुष्य की हत्या की तो बात ही क्या थी ?

तत्कालीन समृद्धि और सम्पन्नता : सारा देश सुखी और सम्पन्न था। दुःख और दारिद्र्य मानो देश से विदा हो गये थे। फ़ाहियान जिधर जाता था उधर उसको समृद्धि ही समृद्धि दिखाई देती थी। कुछ नगर कालान्तर में ऊजड़ हो गये थे और कहीं-कहीं खेती बन्द होने से जंगल उत्पन्न हो गये थे, परन्तु यह सब आबादियों के हेर फेर के कारण थे, दारिद्र्य के कारण नहीं। फ़ाहियान के समय में बुद्ध का जन्म स्थान कपिलवस्तु और मरण-स्थान कुसीनगर वीरान हो चुके थे और श्रावस्ती में केवल दो सौ घरों की बस्ती थी। इसका कारण यह था कि गणतन्त्र राज्य बहुत पहिले ही नष्ट हो चुके थे। इसलिये इन नगरों का महत्व कम हो गया था। समस्त देश की प्रबन्ध व्यवस्था उत्तम थी। किसी को कहीं आने जाने की रोक टोक नहीं थी। मार्ग विवध थे। उन पर यात्रियों के लिये वैसी ही सुख-व्यवस्था थी जैसी अशोक के समय में। चिकित्सा के वास्ते अस्पताल खुले हुए थे। इनमें वैद्य लोग निदान और चिकित्सा तथा देख भाल करते थे। रोगियों को भोजन, वस्त्र और औषधि मुफ़्त दी जाती थी। प्रत्येक अस्पताल में रोगियों के रहने का प्रबन्ध था। इस विषय में यह बात उल्लेखनीय है कि भारत में तो ऐसी संस्थायें अशोक ने ईसा से तीन सौ वर्ष पहले जारी करदी थीं और शायद उससे पहिले भी ऐसी संस्थायें हों लेकिन योरुप में पहिला अस्पताल जिसमें भी इतनी सुव्यवस्था नहीं थी, सातवीं शताब्दी में जारी किया गया था, अर्थात् जनहित या जनसुख का यह कार्य वहाँ भारत की अपेक्षा एक हज़ार वर्ष पश्चात् जारी हुआ था।

शिष्ट और उच्च जीवन : जनता सच्चरित्र, सत्यशील और दयालु थी। माँस भक्षण केवल निम्नश्रेणी के लोग करते थे। जीवों का वध करने वाले गाँवों के बाहर

रहते थे। लोगों का पारस्परिक व्यवहार शिष्ट, स्पष्ट और धार्मिक था। चोरी का कहीं कोई भय नहीं था। यहाँ तक कि लोग अपने घरों में प्रायः ताले नहीं डालते थे।

महाराज हर्ष का राज्य प्रबन्ध : यह स्वर्ण युग प्रायः महाराज हर्षवर्धन के शासन काल (६०६-६४८) तक रहा। हर्ष का राज्य-प्रबन्ध भी प्रायः वैसा ही था जैसा गुप्त सम्राटों का। अपनी प्रबन्ध व्यवस्था और प्रजा की दशा देखने के वास्ते हर्ष दौरा किया करता था। जहाँ ठहरता था वहाँ तम्बू का राजभवन सा खड़ा कर दिया जाता था। जब वह चलता था तो आगे बाजा बजता था। दौरे बहुत जल्दी-जल्दी किए जाते थे। हर्ष बहुत परिश्रमी और पराक्रमी राजा था। उसको अपने आराम का ख्याल नहीं था। वह जन्म भर युद्ध में तथा प्रबन्ध व्यवस्था देखने में और विद्याविनोद में लगा रहा। उसकी शासन व्यवस्था देखकर ह्वानच्वांग को बड़ा सन्तोष हुआ। उसने देखा था कि राज कर हलका था, षडांश से अधिक प्रायः नहीं लिया जाता था। दान-पुण्य और शिक्षा प्रचार में उदारता पूर्वक धन ख़र्च किया जाता था। राज्य का काम करने वाले मज़दूरों को उचित और पर्याप्त मज़दूरी दी जाती थी। दण्डविधान गुप्त-काल से अधिक कठोर हो गया था। अब कारावास दण्ड प्रचलित हो गया था और कारावास में बन्दियों के वास्ते उचित व्यवस्था नहीं की जाती थी। नाक, कान, हाथ और पैर काटने की सज़ा दी जाती थी, परन्तु यह भारी अपराधों के लिये ही दी जाती थी। प्रायः अर्थ दण्ड ही दिया जाता था। माता-पिता का अनादर करना भी महा-पराध माना जाता था। इसके लिये अपराधी को राज्य से निर्वासित कर दिया जाता था। राज्य के कार्यालयों में दैनिक घटनाओं का तथा दुर्घटनाओं का वृत्त लिखकर सुर-क्षित रखा जाता था। इसके लिये विशेष राजकर्मचारी नियत थे। जनता में विशेषकर ब्राह्मणों और भिक्षुओं में शिक्षा का अच्छा प्रचार था। हर्ष की राज सभा में अनेक पंडित थे जिनमें बाणभट्ट प्रसिद्ध था।

सच्चरित्रता के एक सहस्र वर्ष : उपरोक्त पंक्तियों से स्पष्ट हो गया होगा कि महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य से महाराज हर्षवर्धन तक लगभग एक सहस्र वर्ष का युग शासन व्यवस्था, शान्ति और समृद्धि की दृष्टि से भारतवर्ष के इतिहास में स्वर्ण युग था। इसके कारण मुख्यतया दो थे। पहला कारण था बौद्ध और जैन धर्म का प्रचार और दूसरा कारण था हिन्दू धर्म की अपूर्व जागृति। इस युग में जितने छोटे या बड़े शासक हुए वे सब किसी न किसी धर्म के श्रद्धालु अनुयायी थे और धर्म के अनुसार अपने जीवन को उच्च बनाने में सब अपना गौरव समझते थे; तथा सबके जीवन की अभिलाषा थी कि उनकी प्रजा भी धार्मिक, सुखी, सन्तुष्ट और सम्पन्न हो। चन्द्रगुप्त मौर्य ने जैन धर्म ग्रहण कर राजसिंहासन त्याग दिया था और व्रत उपवास के द्वारा अपने जीवन का अन्त किया था। अशोक ने अपना समस्त जीवन बौद्ध धर्म के प्रचार में व्यतीत किया था। राज्य के समस्त साधनों का उपयोग प्रजा के जीवन-स्तर को

नैतिक और धार्मिक दृष्टि से ऊँचा उठाने में किया गया था। इतना ही नहीं उसके भाई महेन्द्र और संघमित्रा तथा चारुमती दोनों राजकुमारियों ने भी धर्म प्रचार में ही अपना जीवन बिताया था। फिर उसका पौत्र सम्प्रति परम श्रद्धावान जैन बन गया और जैसे अशोक ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया था उसी प्रकार उसने निष्ठा के साथ जैन धर्म का प्रचार किया। कनिष्क तो कुशाण जाति का विदेशी शासक था परन्तु बौद्ध धर्म ग्रहण करने पर उसने भी बौद्ध धर्म के प्रचार के वास्ते प्रयत्न किया और बौद्ध पंडितों की एक सभा बुलाई। यूनानी राजा मलिन्द (मेनेन्डर) ने भी बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा का परिचय दिया। शुंग, कण्व, आन्ध्र और शक वंश के राजा वैदिक धर्मावलम्बी थे और गुप्तवंशीय सम्राट् परम वैष्णव थे। इन सबने हिन्दू धर्म को पुनर्जागृत और पुनः पुष्ट किया। शुंगों और आन्ध्रों ने अश्वमेध यज्ञ करवाये थे और वैदिक परम्परा को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। जैन, बौद्ध और वैदिक या पौराणिक राजाओं का एकमात्र लक्ष्य यह था कि जनता में जागरण हो और नैतिक दृष्टि से जीवन का स्तर ऊँचा हो। इस उच्च लक्ष्य के कारण भारत की सत्यशीलता और सच्चरित्रता को देखकर मेगस्थनीज़, फ़ाहियान और ह्वानच्वांग चकित हो गए थे।

मौर्य काल की कला : यह युग धर्म, साहित्य, कला, विज्ञान और ज्ञान की सर्वाङ्गीण जागृति का काल था। अशोक के स्तम्भ जिन पर उसने अपनी धर्मलिपियाँ खुदवाई हैं, कला की दृष्टि से अद्भुत कृतियाँ हैं। प्रत्येक स्तम्भ केवल एक ही पत्थर का बना हुआ है। इनमें कुछ तो पचास फ़ीट ऊँचे हैं, और वज़न लगभग १३५० मन है। इनकी समगोलाई और चिकनाई तत्कालीन शिलाविदों की कला कुशलता को प्रकट करती है। इन सब का पत्थर काशी के पास मिरज़ापुर की खान का है। इतने वज़न के पत्थर को सैकड़ों मील की दूरियों पर ले जाना भी असाधारण काम है, विशेषकर उस युग में जब वैज्ञानिक वाहन नहीं बन चुके थे। ये स्तम्भ इतने घुटे हुए और चिकने हैं कि तेईस सौ वर्ष के बाद आज भी इनमें दर्शक के मुख का प्रतिबिम्ब दिखाई दे सकता है। कुछ इञ्जिनियरों को तो यहाँ तक भ्रम हो गया था कि शायद स्तम्भों के ऊपर कोई पोलिश लगा हो। इन सज्जनों की धारणा थी कि ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व भारतीय कला इतनी उन्नत और पुष्ट नहीं हो सकती थी कि पत्थर में कोई अपना प्रतिबिम्ब देख सके। इस सन्देह से प्रेरित होकर इन्होंने स्तम्भों के ऊपर चिकने भाग को खुरचा और फिर वैज्ञानिक ढङ्ग से जाँच की, तो खुरचन पत्थर की सिद्ध हुई। इससे विश्वास हो गया कि स्तम्भों पर पालिश नहीं है। उनको घिस-घिस कर ही इतना चिकना किया गया है। स्तम्भों के शिखर और भी अद्भुत थे। इनमें किसी शिखर में एक, किसी में तीन और किसी में चार केसरी बने हुए हैं। सिंहों के नीचे जो पीठिका है उसके चारों ओर घोड़े, बैल आदि के चित्र खुदे हुए हैं। एक पार्श्व पर बुद्ध का धर्म चक्र बना हुआ है। यह पीठिका और चार सिंहों का

शिखर अब भारत सरकार ने अपना राज-चिन्ह बना लिया है। इन शिखरों में सिंह, घोड़े और बैल के चित्र अति उत्कृष्ट हैं। इनमें सजीवता, कोमलता, और, तद्रूपता ऐसी है जो इस युग में भी श्लाघ्य मानी जाती है। सब पशुओं में वेग अत्युत्तम ढंग से दरसाया गया है। साँची (मध्य भारत) में अशोक का बनवाया हुआ एक सुन्दर और विशाल स्तूप है। इसका शिखर और इसके तोरण अत्युन्नत कला के नमूने हैं। अशोक के राजभवन के स्तम्भ, उन पर खुदी हुई प्रतिमाएँ, लतायें और पुष्प अतीव सुन्दर थे। महल के खम्भे भी दूसरे स्तम्भों की भाँति समगोल और सुन्दर थे। भवन का स्वरूप और निर्माण सबको चकित करता था। फ़ाहियान ने देखे तब अशोक के महल लगभग छः सौ वर्ष पुराने हो गये थे। तिस पर भी वह उनको देखकर मुग्ध हो गया था।

कुशाण काल की कला : शुंग और कुशाण काल में भी कला की उन्नति रुकी नहीं, बल्कि अधिक विकसित हुई। इस काल में बुद्ध और बोधिसत्वों की तथा महायान धर्म के अनेक देव और देवियों की प्रतिमायें बनने लगीं। कुशाण कला का विकास मथुरा के आस पास हुआ था। अतः मथुरा के पुरातत्व संग्रहालय में तत्कालीन प्रतिमायें तथा अलंकार के निमित्त बने हुए बेलबूटे उस काल की कला के उदाहरण हैं।

गुप्त कालीन गृह निर्माण और मूर्ति कला : गुप्त काल में कला पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। उस समय की कोई इमारत अब दिखाई नहीं देती। इसका कारण यह है कि मुसलमानों ने कोई धार्मिक इमारत नहीं छोड़ी। जो उनको दिखाई दी उसको ही नष्ट कर डाला। एकान्त स्थानों में बने हुए मन्दिरों में से एक दो बच पाये हैं और विनष्ट मन्दिरों के कुछ खण्डहर विद्यमान हैं। इन्हीं को देख कर कहा जा सकता है कि गुप्तकालीन गृह-निर्माण-कला अत्यन्त विकसित और उन्नत थी। तत्कालीन मूर्तियाँ उत्कृष्ट कला की द्योतक हैं। इनकी रचना, स्वरूप, कोमलता, सापेक्षता और तद्रूपता अद्भुत हैं। गुप्त काल में बौद्ध, जैन और हिन्दू सब प्रकार की प्रतिमायें बनी हैं। इनमें पुरुषों की प्रतिमायें हैं और स्त्रियों की भी। कुछ पशुओं की भी मूर्तियाँ हैं। नाना प्रकार के लता-प्रसून भी पत्थर के बने हुए हैं। दरवाज़ों की चौखटों पर बड़े आकर्षक और मनोहर फूल पत्ते बने हुए हैं। पौराणिक देव-देवियों की विविध मुद्राओं में प्रतिमायें हैं, जिनसे प्रकट है कि तत्कालीन शिलाविद् कितने सधे हुए और मँजे हुए थे। इनका अभ्यास एक ही प्रकार की मूर्तियाँ बनाने का नहीं था। ये लोग विविध आकार, विविध न्यास, विविध भाव और विविध मुद्रायें बड़ी सफलता और कुशलता से पत्थर द्वारा दरसा सकते थे। उस युग की प्रतिमाओं में विष्णु, शिव, ब्रह्मा, दुर्गा, उमा, बुद्ध, बोधिसत्व और जैन तीर्थङ्करों की प्रतिमायें प्रधान और विशेष उल्लेखनीय हैं।

गुप्त काल की उत्कृष्ट विविध कलायें : मूर्तिकला के साथ ही साथ चित्रकला का भी अद्भुत विकास हुआ था। ये दोनों कलायें मूलतः तो एक ही हैं, परन्तु मूर्ति की अपेक्षा चित्र में कोमलता और सूक्ष्मता अधिक होती है। अजन्ता के भित्ति-चित्र गुप्तकालीन चित्रकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इनसे पता चलता है कि चित्रकार प्रधान रंगों को मिलाकर कई प्रकार के रंग बनाना जानते थे। एक विषय के चित्र में कई व्यक्तियों के चित्र बनाकर, उनमें भाव-साम्य या भाव-वैषम्य बतलाने में वे लोग कुशल थे। चित्रों में समन्वय और सामंजस्य तथा लय दिखा सकते थे। अजन्ता की कला सिंहल द्वीप (लंका) में भी जा पहुँची थी। वहाँ पाँचवीं शताब्दी में बने हुए चित्र गुप्तकालीन शैली के हैं। मुसलमानों की विनाश-प्रवृत्ति के कारण गुप्त-कालीन कला के अधिकांश नमूने लुप्त हो गये हैं परन्तु जो कुछ इन प्रहारों से बच गये हैं वे ही तत्कालीन कलोत्कर्ष के अच्छे सूचक हैं। गुप्त सम्राटों की सुवर्ण मुद्रायें भी बड़ी सुन्दर हैं। इनका आकार, प्रकार, बनावट और काट सब कलामय हैं। इनमें सम्राट्, सम्राज्ञी, देवी, वेदी तथा घोड़े की जो आकृतियाँ बनाई गई हैं उनमें यथा-तथ्य है। एक प्रकार के सिक्के में महाराज समुद्रगुप्त वीणा बजाते हुए दिखाये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि संगीत में उनकी विशेष अभिरुचि थी। तत्कालीन साहित्य से भी पता लगता है कि संगीत प्रेम सब प्रकार के लोगों में प्रचलित था। नृत्य और संगीत राजकुमारियों को भी सिखाया जाता था। साधारण लोगों में वीणा आदि बजाने का शौक था। वाद्य कई प्रकार के प्रचलित थे। संगीत पद्धति संगीत रत्नाकर की थी। उस समय संगीत निम्न श्रेणी के लोगों का विषय नहीं था। उच्चातिउच्च लोगों में, यहाँ तक कि राज परिवारों में भी, इसका आदर था और सम्राट् स्वयं संगीतज्ञ होने में आत्म-गौरव समझते थे।

कालिदास की काव्य कीर्ति : संस्कृत साहित्य के विकास, जागरण और उन्नति तथा पुष्टि के लिये गुप्त काल अप्रतिभ है। इस काल में संस्कृत भाषा और साहित्य की सर्वाङ्गीण उन्नति हुई और महाकवि कालिदास ने इस युग को अपनी रचनाओं से अलंकृत किया। गुप्तों के काल में उनसे पूर्व और भी अनेक सत्कवि हुए होंगे परन्तु इनमें अधिकांश कालिदास की कीर्ति के प्रबल प्रकाश में खद्योतों की भाँति लुप्त हो गये। कालिदास ने स्वयं लिखा है कि मेरे नाटक तो नये हैं, पुराने कितने ही नाटक विद्यमान हैं। परन्तु पुराना होने से कोई नाटक उत्तम नहीं कहा जा सकता और नया होने के कारण वह निन्दनीय भी नहीं माना जा सकता। कृति के गुण-दोष पर विचार करके परीक्षकों को निश्चय करना चाहिये कि कौन सा ग्रन्थ हेय है और कौन सा ग्राह्य। गुप्त काल में कालिदास ने इतनी ख्याति प्राप्त की कि उसके समकालीन कवियों में से कोई भी विद्वानों की स्मृतिशाला में नहीं टिक सका। केवल दो-चार पूर्वकालीन और समकालीन कवियों की कृतियाँ बचीं हैं जो भी आधुनिक

शोध के प्रयास से प्रकाश में आई हैं। इनके अतिरिक्त और भी नाटक और काव्य उस समय रचे गये होंगे परन्तु कालिदास के ग्रन्थों की भाँति ये घर घर प्रचलित नहीं हुए। इनकी हस्तलिखित प्रतिलिपियाँ बड़े बड़े सरस्वती भण्डारों में ही रखी रहीं और जब आक्रमणकारियों ने ये पुस्तकालय जलाये तो ये ग्रन्थ भी अन्य ग्रन्थ-राशियों के साथ भस्म हो गये। कालिदास के और अन्य कुछ कवियों के ग्रन्थ इस-लिये बच गये कि ये बहुत प्रचलित थे और इनकी प्रतियाँ यत्र तत्र हज़ारों घरों में विद्यमान थीं।

दो प्रकार की संस्कृत और पाणिनि : संस्कृत भाषा दो श्रेणियों में विभक्त की जा सकती है। वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत। चारों संहिताओं की और ब्राह्मण, अरण्यक तथा कुछ उपनिषदों की भाषा वैदिक भाषा की श्रेणी में है। इसमें अनेक भेद-प्रभेद हैं, परन्तु इन सबको एक श्रेणी में रखा जा सकता है। दूसरी श्रेणी की संस्कृत में रामायण, महाभारत, पुराण और काव्य तथा नाटकादि लिखे हुए हैं। पाणिनि ने अपने व्याकरण (अष्टाध्यायी) में इन भेदों को समझाया है। ये दोनों श्रेणियाँ अति प्राचीन काल में बन चुकी थीं। आधुनिक विद्वान पाणिनि को ईसा से अष्टम शताब्दी पूर्व का मानते हैं। यदि यह ठीक है और पाणिनि इससे अधिक प्राचीन नहीं है तो भी लौकिक संस्कृत उससे बहुत पहिले अर्थात् ईसा से लगभग बारह सौ वर्ष पूर्व प्रचलित हो गई होगी। बाल्मीकि रामायण और महाभारत इसी युग के ग्रन्थ होने चाहिये। संस्कृत के काव्य और नाटकों की रचना भी ईसा से लग-भग एक हज़ार वर्ष पूर्व शुरू हो गई होगी। भरतमुनि का नाट्य शास्त्र ईसा से छः सात सौ वर्ष पूर्व का प्रतीत होता है। इसकी रचना से पहिले कितने ही काव्य और नाटक बन चुके होंगे। उनका अध्ययन करके ही भरतमुनि ने काव्यों और नाटकों के लक्षणों का वर्णन और विवेचन किया है। परन्तु ये नाटक और काव्य सब काल के उदर में विलीन हो गये।

कविवर अश्वघोष : कालिदास से पहिले के तीन कवियों के ग्रन्थ अब तक मिल सके हैं। बाल्मीकि और व्यास आदि महाकवि इनसे अलग हैं। इन तीनों कवियों के नाम हैं बुद्धघोष, अश्वघोष और भास। बुद्धघोष बौद्ध कवि थे परन्तु इनके ग्रन्थ अभी प्रकाश में नहीं आये हैं। अश्वघोष ने 'बुद्ध चरित' नामक मनोहर काव्य लिखा है जिसका अनुवाद अब अंग्रेजी और हिन्दी आदि भाषाओं में हो चुका है। इस काव्य की भाषा सुन्दर और सरल है और कला की दृष्टि से यह काव्य उच्चकोटि की कृति है। शैली, रचना और प्रबन्ध दृष्टि से यह कालिदास के काव्यों का पूर्व रूप माना जा सकता है। इसकी सृष्टि कुशाण काल में या उससे पूर्व उत्तर मौर्यकाल में हुई होगी। इसका विषय बुद्ध का जीवन है। अश्वघोष श्रद्धालु बौद्ध था। उसने यह काव्य श्रद्धा और भक्ति से प्रेरित होकर लिखा है। यह बात काव्य के प्रत्येक

श्लोक से प्रकट होती है। हाँ, बुद्ध के जीवन की मुख्य घटनाओं का वर्णन इसमें आ गया है। उनके जन्म, गृहत्याग, तपश्चर्या और धर्मप्रचार का वर्णन बड़ा मार्मिक और हृदयस्पर्शी है।

कविवर भास : भास के अब तक दस नाटक मिले हैं। इनका प्रचार कालिदास के समय तक था। गुप्त काल में ये नाटक बड़े चाव और आदर से पढ़े जाते थे। विषय और पात्र लौकिक हैं और भाषा सरल तथा प्रसादगुण युक्त है। कालिदास के सामने ये नाटक तथा अश्वघोष का बुद्धचरित और इनसे मिलते-जुलते अन्य काव्य और नाटक साहित्यादर्श के नमूने होंगे। वह स्वयं काव्य की मूर्ति था और उसको किसी से सीखने की क्या आवश्यकता थी, परन्तु इन ग्रन्थों से उसको अवश्य प्रेरणा मिली होगी और अपनी रचनाओं द्वारा जगत् को चकित करने से पहले ये ग्रन्थ उसने अवश्य पढ़े होंगे। भास के नाटक भी कालिदास के नाटकों के पूर्व कहे जा सकते हैं।

कालिदास के तीन नाटक और तीन काव्य : कालिदास ने तीन काव्य और तीन नाटक लिखे हैं जो परम प्रसिद्ध हैं। 'शकुन्तला', 'विक्रमोर्वशी' और 'मालविकाग्निमित्र' नाटक हैं। इन तीनों में भी 'शकुन्तला' अति लोकप्रिय है। इसकी भाषा, व्यवस्था और रचना बड़ी मनोहर है। इसका कथानक महाभारत से लिया है परन्तु नाटक को निर्दोष और सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने के लिए कवि ने मूल कथा में कुछ परिवर्तन कर दिये हैं। इन परिवर्तनों से कथा और अधिक मनोहर और आकर्षक बन गई है। इस नाटक का संस्कृत साहित्य में इतना ऊँचा स्थान है कि इसको पढ़े बिना कोई व्यक्ति साहित्यज्ञ नहीं कहला सकता। गत सोलह वर्ष से भारतीय साहित्य की रत्नराशि में यह ज्वाजल्यमान हीरे की भाँति चमक रहा है। जब इसका अनुवाद फ्रेन्च और जर्मन भाषाओं में हुआ तो योरुप के विद्वान इसको पढ़कर चकित हो गये और सबने कालिदास के प्रति बड़ा सम्मान प्रकट किया। इस समय इसका अनुवाद संसार की सब शिष्ट भाषाओं में हो चुका है। कालिदास के शेष दो नाटक भी बड़े सुन्दर और मनोहर हैं। 'विक्रमोर्वशी' में विक्रम और उर्वशी की तथा 'मालविकाग्निमित्र' में मालविका और अग्निमित्र की प्रेम कथा है। 'मालविकाग्निमित्र' ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें एक प्रसंग आया है जो मेनेन्डर के आक्रमण का एक प्रकार का वर्णन हो सकता है। कालिदास के तीन काव्य हैं : 'रघुवंश', 'कुमारसम्भव' और 'मेघदूत'। इनमें 'शकुन्तला' की भाँति 'रघुवंश' अति प्रसिद्ध है परन्तु 'कुमारसम्भव' और 'मेघदूत' भी बहुत लोकप्रिय हैं। 'रघुवंश' में महाराज दिलीप से श्री रामचन्द्र जी तक का वर्णन किया है और अन्त में उजड़ी हुई अयोध्या का मार्मिक चित्र है। इसका प्रत्येक पद मनोहर और आकर्षक है। जैसे भाव ऊँचे हैं, भाषा भी उनके अनुसार सरल, प्रांजल और परिमार्जित है। 'रघुवंश' का दूसरा सर्ग तो मानो भारतीय भावों का मधुर सूत्र है। गत सोलह सौ वर्ष में कितने

ही लाख व्यक्तियों ने इसको पढ़ा है और कालिदास की काव्य कला तथा अमर लेखनी को प्रणाम किया है। 'कुमारसम्भव' में शिव-पार्वती से स्वामी कार्तिकेय के जन्म का और उसके द्वारा असुरों के वध का वर्णन है। इसमें बसन्त, हिमालय, और पार्वती तपश्चर्या का वर्णन तथा शिव पार्वती संवाद बड़े मनोहर हैं। यह शृङ्गार रस का काव्य है। 'मेघदूत' में एक यक्ष और उसकी स्त्री के वियोग का मार्मिक वर्णन है। यक्ष एक मेघ के द्वारा अपनी प्रिया के पास सन्देश भेजता है और उस मेघ को विन्ध्यागिरि से अलकापुरी (हिमालय तक) का मार्ग बतलाता है। यह काव्य छोटा सा है और पूर्व मेघ तथा उत्तर मेघ इन दो भागों में विभक्त है। इसके भी भाव अति कोमल और मनोहर हैं तथा रचना में अनोखा मिठास है।

गुप्त कालीन संस्कृत साहित्य : कालिदास की प्रतिभा के प्रकाश में पूर्वकालीन और समकालीन कवि फीके पड़ गये हैं, परन्तु जैसे पूर्वकालीन कवियों में भास और अश्वघोष नहीं भुलाये जा सके उसी प्रकार गुप्तकालीन कवियों में भी दो कवि ऐसे हैं जो स्मृतिपथ से नहीं हटे। इनमें एक ने 'मृच्छकटिक' और दूसरे ने 'मुद्रा-राक्षस' नाटक लिखा। मृच्छकटिक में प्रेम कहानी और मुद्राराक्षस में चन्द्र गुप्त मौर्य के मन्त्रियों के प्रपञ्चों का वर्णन है। दोनों ही उच्च कोटि के माने जाते हैं और यदि ऐसे न होते तो कालिदास की कीर्ति-किरणों में क्यों न छिप जाते ? विद्वानों का मत है कि मनुस्मृति का वर्तमान स्वरूप भी गुप्तकाल में ही निश्चित हुआ है। इसका विषय तो अधिक प्राचीन है और सम्भव है कि यह महाभारत और रामायण काल का हो, परन्तु इसकी परिमार्जित भाषा और विषय-व्यवस्था पर गुप्तकाल की छाप है। इस दृष्टि से यह गुप्तकालीन ग्रन्थ कहा जा सकता है। वायु पुराण भी इसी कोटि में रखा जा सकता है। इसकी भाषा शुद्ध, सुन्दर साहित्यिक है जो गुप्तयुग की विशेषता है। ऐसा माना जाता है कि संस्कृत की काव्य शैली ईसा की दूसरी शताब्दी से ही आरम्भ हो गई थी। उस समय से ही भाषा को परिष्कृत और परिमार्जित करने की प्रवृत्ति आरम्भ हुई है। इस प्रवृत्ति के कारण भाषा निखरते-निखरते गुप्तकाल में बिलकुल निर्मल और शुभ्र हो गई। गुप्तकाल संस्कृत भाषा और साहित्य की वृद्धि के लिये अपूर्व युग था। इस काल में संस्कृत राज-भाषा थी। दफ़्तरों का सब काम संस्कृत में होता था। राजाज्ञाएँ संस्कृत में जारी होती थीं। शिलालेख और प्रशस्तियाँ सब संस्कृत में लिखी जातीं थी। राजमुद्राओं पर और सिक्कों पर संस्कृत भाषा का प्रयोग होता था। संस्कृत साहित्यकारों को सब प्रकार से राज्याश्रय प्राप्त था। इसलिये जनता संस्कृत भाषा समझती थी। और ऐसा प्रतीत होता है कि शिक्षित वर्ग की बोल-चाल की भाषा भी यही थी। इसलिये इस युग में संस्कृत साहित्य की विपुल सृष्टि हुई। परन्तु वह साहित्य सब मुसलमान विजेताओं ने भस्म कर दिया। कालिदास के नाटकों की भूमिकाओं से मालूम होता है कि उसके नाटक मेलों और उत्सवों के अवसरों पर

खेले जाते होंगे। कवि ने भी इसी उद्देश्य से ये लिखे थे कि ये खेले जावें। इसलिये इनकी भाषा सरल, सजीव और बोलचाल की सी है। संस्कृत भाषा का और वैदिक तथा पौराणिक धर्म का अभिन्न सम्बन्ध है, इसलिये भाषा की उन्नति के साथ इस धर्म की उन्नति हुई, और इस युग में स्मृति और पुराण की सृष्टि नहीं, तो संस्करण तो अवश्य तैयार हुए।

गणित शास्त्र की उन्नति : इस युग में गणित और विज्ञान की भी अच्छी उन्नति हुई। प्रसिद्ध गणितज्ञ और ज्योतिषी आर्य भट्ट तथा बराहमिहिर इसी युग के पण्डित हैं। आर्य भट्ट के गणितग्रन्थ का नाम "आर्य भट्टीयम्" है और बराहमिहिर के ज्योतिषग्रन्थ का नाम 'पंचसिद्धान्तिका' है। "आर्य भट्टीयम्" में युक्लीदस की प्रथम चार पुस्तकों के प्रायः सर्व साध्यों का वर्णन है और वृत्तों तथा त्रिकोणों के सब लक्षण समझाये गये हैं। दशमलव पद्धति का आविष्कार और विकास भी इसी युग में हुआ है। शून्य का उपयोग इसी समय होने लगा था। इसी प्रकार १ से ९ तक अंकों का आविष्कार भी इसी समय भारत में हुआ था। फिर यहाँ से अंक पश्चिमी एशिया गये और पश्चिमी एशिया से योरुप में पहुँचे। संख्याओं का वर्गमान और घनमान निकालने की विधि का विकास भी गुप्तयुग में हुआ है। गणित, बीजगणित और रेखागणित के ज्ञान में उस समय भारत सारे संसार से आगे था और कई शताब्दियों तक आगे रहा। परन्तु समय के फेर से यहाँ उन्नति रुक गई और अन्य देशों में शुरू हो गई।

आर्य भट्ट और बराहमिहिर का ज्योतिष : आर्य भट्ट ज्योतिषी भी अत्यन्त ऊँची श्रेणी के थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ में अयनों (उत्तरायण और दक्षिणायन) की संक्रान्ति का तथा दिनमान का पाण्डित्यपूर्ण वर्णन किया है। कदाचित संसार के सर्वप्रथम ज्योतिषी यही हैं जिन्होंने यह प्रतिपादन किया है कि पृथ्वी अपनी कीली पर तथा सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करती है। सूर्य और चन्द्र ग्रहण, पृथ्वी की छाया, ग्रहण का आरम्भ, मोक्ष, परिणाम आदि की गणित करने की विधि आर्य भट्ट ने ही बतलाई है। पानी की घड़ी और धूप घड़ी गुप्तकाल से कुछ पहिले से आरम्भ हुई थी। आर्य भट्ट के समकक्ष ज्योतिषी बराहमिहिर थे। इनकी 'पंचसिद्धान्तिका' ज्योतिष शास्त्र का उच्च कोटि का ग्रन्थ है। पंच सिद्धान्तों के नाम ये हैं : पैतिमह सिद्धान्त, वशिष्ठ सिद्धान्त, पौलिश सिद्धान्त, रोमक सिद्धान्त और सूर्य सिद्धान्त। प्रथम चार सिद्धान्त तो लेखकों के नाम पर हैं। इनमें वशिष्ठ आदि तत्कालीन या पूर्वकालीन विद्वान् ज्योतिषियों के सिद्धान्त समझाये हैं। पौलिश और रोमक दोनों यूनानी ज्योतिषी थे। भारत के ज्योतिषी इनका बड़ा आदर करते थे। एक ने तो यहाँ तक लिखा है कि इनको ऋषितुल्य मानना चाहिये। 'पंच सिद्धान्तिका' के अतिरिक्त बराहमिहिर ने तीन और ग्रन्थ लिखे हैं—'बृहज्जातक' 'बृहत्संहिता' और 'लघुजातक'। ये तीनों

ग्रन्थ भी ज्योतिष के हैं। भारतीय गणित और ज्योतिष मौर्य काल से अठारहवीं शताब्दी तक संसार में सबसे आगे था। मध्यकाल के अनेक आक्रमणों के घोर धक्के सहकर भी यह नष्ट नहीं हुआ। कारण यह था कि यह लाखों परिवारों की परम्परागत सम्पत्ति बन चुका था। उन प्रतिकूल परिस्थितियों में आगे उन्नति होना तो असम्भव था, परन्तु यह ज्ञान जहाँ का तहाँ बना रहा, यह भी इस बात का सूचक है कि भारतीयों को ज्ञान से कितनी ममता है और कितनी कठिनाइयों को झेलते हुए हमारे पूर्वजों ने इसकी रक्षा की है।

इन दोनों आचार्यों के पश्चात् : आर्य भट्ट और वराहमिहिर तो दिग्गज पंडित थे ही। इनके अतिरिक्त अन्य कितने ही पंडित गुप्तकाल में और उसके बाद सातवीं शताब्दी तक हुए। इनमें आर्य भट्ट के तीन शिष्य उल्लेखनीय हैं :—नि:शंक, पांडुरंग स्वामी और लतादान। आठवीं शताब्दी के पश्चात् गणित और ज्योतिष का ज्ञान आगे नहीं बढ़ा। बल्कि सातवीं शताब्दी से ही इसकी उन्नति रुक गई। इसके बाद के पंडितों ने पूर्व ज्ञान का अध्ययन और रक्षण मात्र किया।

चिकित्सा ज्ञान की उन्नति : आयुर्वेद अर्थात् चिकित्सा शास्त्र दूसरी शताब्दी से विशेष उन्नति करने लगा था। ऐसा मानते हैं कि चरक और सुश्रुत दोनों महाराज कनिष्क के काल में हुए होंगे। इनके ग्रन्थों से प्रकट है कि इनसे पहिले ही आयुर्वेद बहुत उन्नत हो चुका था। तत्कालीन ज्ञान को इन दोनों विद्वानों ने संगृहीत तथा व्यवस्थित करके अपने ग्रन्थ लिखे होंगे और इनमें स्वयं अपनी खोज और अनुभव का भी समावेश किया होगा। 'चरक संहिता' और 'सुश्रुत संहिता' दोनों चिकित्सा शास्त्र के अद्भुत ग्रन्थ हैं। इनमें निदान, द्रव्यगुण, चिकित्सा विधि, रोगी परिचर्या, शल्य, शलाक्य सब विषयों का वर्णन है और पिछली अठारह शताब्दियों से इनके आधार पर भारत में सफलतापूर्वक चिकित्सा हो रही है। वर्तमान योरोपीय चिकित्सा विज्ञान गत एक शताब्दी में विज्ञान की सहायता से और इसके प्रकाश में पुष्ट हुआ है। इससे पहिले अर्थात् अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक भारतीय आयुर्वेद संसार की चिकित्सा पद्धतियों में सर्वोत्तम और सर्वोन्नत था। पाँचवीं, छठी और सातवीं शताब्दियों में रस चिकित्सा विधि का विकास हुआ और इस विषय पर लगभग बीस ग्रन्थों की रचना हुई। विविध धातुओं के संसर्ग से पारद को रस में परिणत करना, और धातुओं की भस्म बनाना गुप्तकाल में आरम्भ हो गया था। यह भारतीय बुद्धि का चमत्कार था। संसार के वैद्य इस बात पर अब तक चकित हैं कि धातुओं की भस्म बनाने की विधि का आविष्कार कैसे हुआ और मानव रोगों पर इनका उपयोग करना किस प्रकार आरम्भ किया गया। छठी शताब्दी के पश्चात् रस विधि चिकित्सा का महत्व बढ़ता ही गया। इस समय भी वनौषधि की अपेक्षा रस अधिक चमत्कारी माने जाते हैं।

वैदिक देव देवियाँ मनुष्यों से दूर थे : इसी युग में भारतीय धर्म का बिल्कुल रूपान्तर हो गया। वैदिक काल के देव और देवियाँ भुलाये जाने लगे और यज्ञ का प्रचार भी कम हो गया। अग्नि, यम, वायु, सूर्य आदि वेदकालीन देव जिनको भुलाया नहीं गया, उनका भी रूपान्तर हो गया और उनकी पूजा विधि भी बदल गई। शुंग और आन्ध्रवंशीय राजाओं ने और उनके बाद गुप्तवंशीय राजाओं ने अश्वमेध यज्ञ किया, परन्तु फिर भी यह विधि जीवित और प्रचलित नहीं रह सकी। इस युग में यज्ञ का स्थान भक्ति ने ले लिया। वैदिक काल के देव अति विशाल थे, उनके रूप और आकार का उपासकों को ठीक अनुमान नहीं होता था, उनकी प्रकृति का ठीक पता नहीं चलता था और उनको प्रसन्न करने के उपाय भी लोगों को ज्ञात नहीं थे। अग्नि, वायु और द्यौ आदि की अनन्त शक्तियों का वर्णन किया जाता था, और उनमें धन-धान्य, पुत्र-कलत्र की भीख भी माँगी जाती थी, परन्तु देव उपासकों से बहुत दूर थे। वे मनुष्य से कुछ मिलते-जुलते थे लेकिन मनुष्य नहीं थे। इसलिये मनुष्य नहीं जानता था कि उनको किस प्रकार वश में किया जावे और उनकी शरण ग्रहण करके किस प्रकार मनुष्य-जन्म के दुःख और ताप से छुटकारा पाया जावे।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश और अन्य देव-देवियां : नये देव और देवियां गुप्त काल से बहुत पहिले प्रकट हो चुके थे। महाभारत में यत्र तत्र इनका उल्लेख है। परन्तु इनके प्रकट होने का ठीक समय निर्णय करना कठिन है। महाभारत का मूल भाग बहुत प्राचीन है परन्तु यह माना जाता है कि समय-समय पर इसमें अनेक प्रकरण जोड़े गये हैं। तो भी इतना तो निश्चित रूपेण कहा जा सकता है कि शिव, ब्रह्मा, विष्णु और कई प्रकार की देवियाँ ईसा से कई सौ वर्ष पहिले ही प्रकट हो चुकी थीं। गुप्त काल में उनका स्वरूप निश्चित हो गया और पौराणिक धर्म ने प्रधानता प्राप्त कर ली। अब ब्रह्मा, विष्णु और महेश (शिव) प्रधान देव माने जाने लगे। सारे पुराणों का इस काल में नया संस्करण हो गया। इन ग्रन्थों के द्वारा नये देव और देवियों का माहात्म्य बतलाया गया और इनको लोक-प्रिय बनाया गया। इन तीनों देवों में विष्णु और शिव का विशेष महत्व माना गया था। यह माना जाने लगा कि विष्णु क्षीर सागर में निवास करते हैं, लक्ष्मी उनकी पत्नी है और वे शेष-शैया पर सोते हैं। उनकी नाभि से ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं और ब्रह्मा से अखिल विश्व में ज्ञान का प्रचार हुआ है। समय समय पर दुष्टों का दमन और धर्म की रक्षा करने के लिये विष्णु अवतार लिया करते हैं। अर्थात् आवश्यकतानुसार मनुष्य या पशु के रूप में प्रकट होते हैं और अद्भुत पराक्रम दिखाते हैं तथा डूबती हुई लोक मर्यादा की रक्षा करते हैं। विष्णु के चौबीस अवतार माने जाते हैं जिनमें रामावतार, कृष्णावतार, नृसिंहावतार, वामनावतार, कच्छपावतार, मत्स्यावतार, बराहावतार मुख्य हैं। प्रायः प्रत्येक अवतार के माहात्म्य और पराक्रम का वर्णन

करने के लिए एक पुराण बनाया गया है। इस प्रकार अठारह पुराण हैं। शिव के अवतार नहीं माने जाते परन्तु स्वरूप अनेक हैं। इन विभिन्न स्वरूपों में इनकी पूजा होती है। तीनों मुख्य देवों में सर्वाधिक लोक-प्रिय देव शिव ही हैं। भारत का कोई नगर या गाँव ऐसा नहीं है जहाँ शिव मन्दिर या शिव-प्रतिमा न हो। इसके अतिरिक्त जंगलों में और पहाड़ियों में भी हज़ारों शिव मन्दिर हैं। शिव पूजा भारत में लगभग आठ हज़ार वर्ष से होती आ रही है। ब्रह्मा की पूजा गुप्त काल में काफी प्रचलित थी परन्तु शिव और विष्णु के समान इसका प्रचार नहीं हुआ। उस काल में ब्रह्मा के अनेक मन्दिर बने और हज़ारों प्रतिमाओं का निर्माण हुआ परन्तु शनैः शनैः यह पूजा कम होती गई। अब ब्रह्मा का केवल नाम ही रह गया है और समस्त देश में केवल इने-गिने मन्दिर रह गये हैं। ब्रह्मा अब किसी का इष्ट देव नहीं होता और न इसके मन्दिर बनते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीन देवों के अतिरिक्त अन्य कितने ही देवों की पूजा भी गुप्त काल में बहुत प्रचलित हुई। इन देवों में मुख्य हैं अग्नि, वायु, इन्द्र, कुबेर, नृसिंह, गणेश, वराह आदि। इसके अतिरिक्त अनेक देवियों की भी पूजा होने लगी। यों तो देवी पूजा मोहिंजोदड़ो काल से भी पहले से प्रचलित थी परन्तु अब इसकी पूजा अधिक विकसित हो गई। देवी के अनेक रूप निश्चित हो गये। इनमें कुछ देवियाँ तो देवों की पत्नियाँ हैं और कुछ कुमारी तथा स्वतन्त्र हैं। अति प्रसिद्ध देवियाँ पार्वती, ब्रह्माणी, लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा और चामुण्डा हैं। गंगा, वाराही, कुमारियें और मातृकायें दूसरी श्रेणी की देवियाँ हैं। देवों के वाहनों में शिव का नन्दी, विष्णु का गरुड़ और दुर्गा का सिंह बहुत प्रसिद्ध है। स्वामी कार्तिकेय का मयूर भी इनका समकक्ष कहा जा सकता है।

बौद्ध और जैन धर्म में देव-देवियाँ: इसी प्रकार जैन और बौद्ध धर्म में अनेक देव और देवियाँ प्रकट हुईं। पौराणिक देव-देवियों की भाँति इनकी भी पूजा होने लगी और प्रतिमायें बनने लगीं। इन तीनों धर्मों के अनुयायी अपने-अपने देव-देवियों से इष्ट-सिद्धि चाहते थे। पहिले लोग समझते थे कि यज्ञ करने से मनोवाञ्छित फल प्राप्त हो सकता है। अब लोग यह समझने लगे कि देव देवियों की उपासना से मनोवाञ्छित फल मिल सकता है। जैसे मनुष्यों की प्रकृति और प्रवृत्ति में भिन्नता होती है उसी प्रकार देव और देवियों की प्रकृति और प्रवृत्ति में भी भिन्नता मानी गई। देव देवियाँ इतनी थीं कि मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार अपना इष्ट देव बना सकता था। क्रूरातिक्रूर और कोमलातिकोमल स्वभाव देव मौजूद थे, अतः उपासक को कोई कठिनता नहीं थी। वह जैसा चाहे वैसा देव उसको प्राप्त हो सकता था। गुप्त काल में जो पूजाविधि विकसित हुई वह तद्वत अब तक प्रचलित है। वास्तव में आधुनिक हिन्दू धर्म वैदिक धर्म नहीं, यह पौराणिक धर्म है। वर्तमान हिन्दू संस्कृति भी गुप्त काल की हिन्दू संस्कृति है। गुप्त काल ही हिन्दुओं का सतयुग है। जब भारत के वैभव और उत्कर्ष की बात कही जाती है तो वक्ताओं के ध्यान में गुप्त काल रहता है।

अध्याय छठा

विदेशों में भारतीय राज्य और संस्कृति

सुवर्ण युग की शक्ति, सम्पत्ति और समृद्धि से उत्साहित होकर भारतीय लोग बहुत बड़ी संख्या में विदेशों में भी पहुँचे और वहाँ अपने उपनिवेश तथा राज्य स्थापित करके बस गये। अपने साथ स्वभावतः अपना धर्म और संस्कृति भी वहाँ ले गये। वहाँ अपने रीति-रिवाज, भाषा, साहित्य आदि प्रचलित किये। इस समय कई मन्दिर, शिलालेख और रिवाज इन देशों में विद्यमान हैं जिनसे इन भारतीय उपनिवेशों के इतिहास का पता लगता है।

विदेशों में जाने के मुख्य मार्ग : विदेशों में भारतीय लोग स्थल मार्ग तथा जलमार्ग दोनों से गये थे। स्थल मार्ग मुख्यतः तीन थे, खैबर की घाटी, बोलन की घाटी और ब्रह्मपुत्र नदी की घाटी। खैबर मार्ग से गांधार, तुर्किस्तान, खोतान, ईरान और चीन पहुँचते थे। बौद्ध धर्म का और भारतीय भाषा तथा संस्कृति का प्रचार करने के लिए हज़ारों बौद्ध भिक्षु और ब्राह्मण इन प्रदेशों में गये थे और वहीं बस गये थे। इन देशों में यत्र तत्र कई बौद्ध मठ और शिक्षा केन्द्र बन गये थे जिनमें ये लोग निवास करते थे। व्यापार के लिए भी इन मार्गों से लोग आते-जाते थे। ब्रह्मपुत्र के मार्ग से लोग चीन पहुँचते थे। इसी मार्ग से जाकर हजारों भारतवासी ब्रह्मदेश के उत्तर भाग में बस गये थे और वहाँ अपने कई छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिये थे। वहाँ से शनैः शनैः नदियों के मार्ग से मध्य ब्रह्मा में और दक्षिण ब्रह्मा में आये थे और कई बस्तियाँ बसाई थीं तथा नगर स्थापित किये थे जिनके भारतीय नाम रखे गये थे।

विदेशों से व्यापार करने के जल मार्ग : जल मार्ग से पूर्व और पश्चिम के देशों के साथ व्यापार होता था। पूर्वी तट पर गोपालपुर बन्दरगाह था और मसली-पट्टम के पास भी दो तीन छोटे-छोटे बन्दरगाह थे। बंगाल में ताम्रलिप्ती का बन्दर-गाह प्रसिद्ध था। इन स्थानों से जहाज़ों में बैठ कर बंगाल की खाड़ी को पार करते हुए भारतीय लोग जावा, सुमात्रा, मलय अन्तरीप, बाली, फिलिपाइन टापू, कम्बो-डिया और हिन्दचीन में पहुँचते थे। पश्चिमीय तट पर भी कई बन्दरगाह थे जिनमें भृगुकच्छ सर्वाधिक प्रसिद्ध था। यहाँ से हिन्दू जहाज़ लंका होकर बंगाल की खाड़ी को पार करते और उपरोक्त देशों तथा टापुओं में पहुँचा करते थे। सुमेर, ईरान, अरब और मिस्र तथा यूनान के साथ भी व्यापार इसी बन्दरगाह से होता था।

गंधार और सिंहल द्वीप में उपनिवेश : उत्तर ब्रह्मा में बसने वाले और राज्य स्थापित करने वाले लोग बिहार और बंगाल प्रान्त से गये थे। इस प्रदेश का

नाम इन लोगों ने गन्धार रखा था और तेरहवीं शताब्दी तक यह नाम प्रचलित था। यहाँ ऐसी किवदन्ती थी कि अशोक के किसी प्रतापी वंशज ने यह राज्य स्थापित किया था। दूसरी किवदन्ती सिंहल विजय के बारे में थी। कहा जाता था कि बंगाल के एक शक्तिशाली राजकुमार ने, जिसका नाम विजय था, लंका को जीत कर वहाँ अपना राज्य स्थापित किया था। इस घटना का चित्र अजन्ता की गुफा में बना हुआ है और इसकी एक प्रतिलिपि जयपुर के एल्बर्ट म्यूज़ियम में भी बनी हुई है। राजकुमार विजय ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह से जहाज़ों द्वारा लंका पहुँचा होगा। इसी बन्दरगाह से तथा गोपालपुर और मसलीपट्टम के बन्दरगाहों से पूर्वी टापुओं और प्रदेशों में पहुँचने वाले लोग प्रायः बंगाली, बिहारी, उड़िया और मद्रासी होंगे। भृगुकच्छ से प्रस्थान करने वाले अधिकांश गुजराती और काठियावाड़ी होंगे।

ब्रह्म देश और पूर्वी द्वीपसमूह में भारतीय संस्कृति : जावा, यव, सुमात्रा, मलय (मलाया), सिंगापुर (सिंहपुर), बाली आदि नाम प्रत्यक्ष ही बतला रहे हैं कि ये भारतीय नाम हैं। जब हिन्दू बड़ी संख्या में इन प्रदेशों में जाकर बस गये और वहाँ अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया तो इन स्थानों के नाम भारतीय रखे गये। यह घटनायें दूसरी और तीसरी शताब्दी में हुई होंगी। इससे पहिले इन देशों के कोई अन्य नाम होंगे। कई भारतीय नाम तो अब तक प्रचलित हैं, परन्तु कई देशों से लुप्त भी हो गये हैं। मुसलमानों के आक्रमणों के बाद भारत क्षत-विक्षत हो गया और इन उपनिवेशों के साथ सम्बन्ध टूट गया। इनको असहाय समझकर अन्य जातियों ने इन पर आक्रमण करना शुरू कर दिया और कुछ समय में इन हिन्दू राज्यों को तथा उपनिवेशों को नष्ट कर दिया और इनके नाम बदल दिये। परन्तु अब तक जावा (यव द्वीप) में ऐसी किवदन्ती चली आ रही है कि कलिंगतट से भारतीय वहाँ पहुंचे और द्वीप को आबाद किया। इसी प्रकार की परम्परागत किवदन्ती अन्य टापुओं में भी प्रचलित है। पीगू में ऐसा कहा जाता है कि कृष्णा और गोदावरी के संगमों के प्रदेशों के निवासी वहाँ गये और उन्होंने वहाँ राज्य स्थापित किये। यवद्वीप में ऐसा भी कहते हैं कि ईसा से पचहत्तर वर्ष बाद गुजरात का एक राजकुमार वहाँ पहुँचा और उसने वहाँ भारतीय उपनिवेश स्थापित किया। तेरहवीं शताब्दी के एक मुसलमान लेखक ने लिखा है कि उस समय उत्तर ब्रह्मा का राजा महाराज कहलाता था। वहाँ भारतीय लिपि प्रचलित थी और लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। ऐसी भी स्थानीय किवदन्तियाँ हैं कि मध्य भारत से श्री अवलोकितेश्वर सीधे ब्रह्मदेश में पहुंचे और वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया। आठवीं शताब्दी में उत्तर ब्रह्मा का एक राजा जब चीनी संस्कृति को अपनाने लगा तो भारत से सात विद्वान उसके पास गये और उससे बहुत भला-बुरा कहा। नवीं शताब्दी में बिहार के एक हिन्दू विद्वान ने ब्रह्मा में बड़ी ख्याति प्राप्त की थी। इसका नाम चन्द्रगुप्त था।

वास्तव में उत्तर से दक्षिण तक अर्थात् ब्रह्मपुत्र नदी से दक्षिण में समुद्रतट तक समस्त ब्रह्मदेश में यत्र-यत्र अनेक हिन्दू राज्य क्षत्रियों ने स्थापित कर लिये थे। इन प्रदेशों में संस्कृत तथा पाली भाषा का राजकार्य में व्यवहार होता था और धार्मिक कार्यों में ब्राह्मणों को बुलाया जाता था। वास्तव में दूसरी शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक ब्रह्मा, मलय अन्तरीप, पूर्वी द्वीप समूह, कम्बोडिया, स्याम और अनाम में हिन्दुओं का आधिपत्य था और इनकी संस्कृति तथा सभ्यता का प्रभुत्व था। कम्बोडिया उस समय कम्बोज और अनाम चम्पा कहलाता था।

चम्पा तथा अन्य उपनिवेश : चीन के इतिहास से पता चलता है कि तीसरी शताब्दी के मध्य में फौचन (चम्पा और कम्बोज) से एक राजदूत भारत में भेजा गया था। यह पता नहीं चलता कि वह भारत में किस राजा के दरबार में आया और रहा परन्तु इससे इतना अवश्य विदित होता है कि तत्कालीन चीनी लोग भी इस बात को जानते थे कि भारत तथा भारतीय उपनिवेशों में पारस्परिक राजनैतिक सम्बन्ध बना हुआ था। पाँचवीं शताब्दी में चम्पा देश के शासक, महाराज गंगा राज ने विरक्त होकर अपना राजसिंहासन त्याग दिया था। राज्य अपने पुत्र को देकर गंगा राज भारत में आये और अपना शेष जीवन गंगा के तट पर तपस्या करते हुए व्यतीत किया। फाहियान और इत्सिंग के वर्णन से भी विदित होता है कि पाँचवीं और सातवीं शताब्दियों के मध्य में भारत तथा उन उपनिवेशों के बीच समुद्र मार्गों से बहुत आना-जाना था। नवीं शताब्दी में जावा और सुमात्रा के राजा तथा बंगाल के पाल वंशीय राजा देवपाल में पारस्परिक अच्छा मित्र-भाव था। नय-पाल के शासन-काल में अनेक बौद्ध भिक्षु बौद्ध धर्म का प्रचार करने तक शिक्षा फैलाने के लिए स्वर्णद्वीप पहुँचे थे। तेरहवीं शताब्दी में चम्पा की एक महारानी का नाम गौडेन्द्रलक्ष्मी था। इस नाम से ही प्रकट होता है कि यह महिला गौड वंग देश की राजकुमारी होगी। अर्थात् उस समय तक भारतीय उपनिवेशों के शासक क्षत्री विवाह-सम्बन्ध भारत में किया करते थे।

उपनिवेशों में संस्कृत भाषा : इन उपनिवेशों में भारतीय संस्कृति के स्मारक अब तक विद्यमान हैं जिनसे तत्कालीन हिन्दू संस्कृति के विविध अंगों का पता लगता है। वहाँ सर्वत्र संस्कृत भाषा का राज-काज तथा धार्मिक कार्यों में व्यवहार होता था। इस प्रकार प्रतिष्ठित होने के कारण संस्कृत का अध्ययन और अध्यापन भारतीयों में ही नहीं बल्कि तद्देश निवासियों में भी प्रचलित होगा। चम्पा देश के और अन्य उपनिवेशों के शिलालेख संस्कृत भाषा में लिखे हुए हैं। इनकी रचना से प्रकट होता है कि वहाँ अच्छी शुद्ध और प्राञ्जल संस्कृत प्रचलित थी और संस्कृत काव्य का प्रचार था।

उपनिवेशों में देव और देवियाँ : इन उपनिवेशों में पौराणिक धर्म और

बौद्ध धर्म दोनों प्रचलित थे। पौराणिक धर्म का स्वरूप वैसा ही था जैसा भारतवर्ष में। प्रधान देव ब्रह्मा, शिव और विष्णु थे। शिव की अनेक नामों से और अनेक रूपों में पूजा की जाती थी। शिव के साथ पार्वती, गणपति, स्कन्द और अन्य शैव देव भी पूजे जाते थे। शिव के साथ नान्दी की भी प्रतिमा बनाई जाती थी। पार्वती के अनेक रूप माने जाते थे। स्वतन्त्र देवी उपासना भी प्रचलित थी। देवी के भारतीय रूपों का इन विदेशों में जाकर किंचित् रूपान्तर हो गया था परन्तु यह नगण्य था। देवी की पूजा उसके विभिन्न रूपों में की जाती थी। दूसरा देव विष्णु था। इसके अवतारों की पूजा स्वयं इसकी पूजा से अधिक प्रचलित थी। विष्णु का स्वरूप भारतीय विष्णु के समान ही था। अवतारों में राम और कृष्ण की प्रधानता थी। दूसरे अवतारों का कहीं कहीं केवल उल्लेख और संकेत मात्र है। चम्पा में और बाली में राम और उनके तीनों भाइयों की पूजा प्रचलित थी। बाली द्वीप में रामायण की एक प्रति भी प्राप्त हुई है। कृष्ण के गोवर्द्धन धारण की कथा तथा कंश, केशी और चाणूर आदि राक्षसों के वध की कथायें बहुत प्रचलित थीं। पौराणिक कथा के अनुसार कामदेव, कृष्ण और रोहिणी का पुत्र माना जाता था। चम्पा के राजा अपने को विष्णु का रूप मानते थे। जयरुद्र वर्मा तो प्रकट रूपेण अपने को विष्णु का अवतार कहता था। गुप्तवंश के सम्राट भी 'परम भागवत' कहलाते थे। परन्तु वे विष्णु के भक्त थे, अवतार नहीं। विष्णु के साथ-साथ लक्ष्मी, पद्मा अथवा श्री की भी पूजा होती थी। लक्ष्मी, राजशक्ति का प्रतीक मानी जाती थी। यह परम्परा अति प्राचीन थी और मराठा काल तक प्रचलित थी। होल्कर, सिंधिया, पेशवा आदि सब मराठा सरदारों को सम्मानार्थ "अखंडलक्ष्मी अलंकृत" कहा जाता था। भारत में तो लक्ष्मी का जन्म समुद्र से माना जाता था परन्तु चम्पा की लक्ष्मी गिरिराज हिमालय की पुत्री थी। विष्णु के वाहन, गरुड़ का स्वरूप इन उपनिवेशों में जाकर कुछ बदल गया था। वहाँ गरुड़ का मुख तो पक्षी का सा और शेष शरीर सिंह का सा बनाया जाता था। शिव और विष्णु के बाद तीसरा स्थान ब्रह्मा का था। ब्रह्मा का भारत में भी कोई विशेष महत्त्व नहीं था। यही स्थिति इस देव की इन उपनिवेशों में और विशेषकर चम्पा में थी। ब्रह्मा, विष्णु की नाभि से उत्पन्न हुआ है। चम्पा में अनन्त शायी विष्णु की एक प्रतिमा प्राप्त हुई है जिसमें विष्णु की नाभि से कमल और कमल पर ब्रह्मा बैठे हुए दिखलाये गये हैं। इसीलिये विष्णु का नाम पद्मनाभ है। परन्तु चम्पा के एक शिलालेख में ब्रह्मा को चतुरानन आदि प्रचलित शब्दों के अतिरिक्त "स्वयमुत्पन्न" नाम से भी अभिहित किया गया है। एक शिलालेख में यह भी उल्लेख है कि ब्रह्मा ने मेरु पर्वत के स्वर्ण शृङ्ग की रचना की है। चम्पा नरेश जयपरमेश्वर वर्मा ने ब्रह्मा की एक प्रतिमा का निर्माण करवाया था और उसके राजकुमार तथा सेनापति ने प्रतिमा की पूजा और प्रतिष्ठा के निमित्त भूमिदान दिया था। ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों देव सर्वत्र पूजे जाते थे, परन्तु लोगों का झुकाव शिव की ओर अधिक

था। एक शिलालेख में पहिले शिव की, फिर विष्णु की और तत्पश्चात् ब्रह्मा की स्तुति की गई है। शिव और विष्णु की एक सम्मिश्रित प्रतिमा भी मिली है। इसमें एक ही शरीर में एक पार्श्व में शिव और दूसरे में विष्णु का स्वरूप दिखलाया गया है। एक दूसरी प्रतिमा में तीनों देव साथ-साथ दिखाये गये हैं। इनमें मध्य में शिव हैं। इस प्रकार की प्रतिमायें भारतवर्ष में भी बनाई जाती थीं। वास्तव में सब देवों को एक ही मानने की परम्परा हमारे देश में अति प्राचीन है। इस भाव को प्रकट करने वाली छोटी-छोटी प्रतिमायें मोहिंजोदाड़ो में भी मिली हैं। वेदों में "विश्वेदेवा" के नाम से समस्त देवों की एक साथ प्रार्थना की जाती थी।

उपनिवेशों में महाभारत और रामायण आदि ग्रन्थ : उपरोक्त तीन प्रधान देवों और देवियों के अतिरिक्त अनेक छोटे-छोटे देवों की भी पूजा की जाती थी। यम, वायु, अग्नि, सूर्य आदि की अनेक प्रतिमायें चम्पा, जावा और सुमात्रा में मिली हैं। कम्बोडिया में भी इन देवों की कुछ प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। स्याम देश में हिन्दुओं का राज्य तेरहवीं शताब्दी में स्थापित हुआ था और बहुत समय तक स्थित नहीं रह सका। मुसलमानों ने छल और बल से यहाँ अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। इसलिये इस प्रदेश में मध्य कालीन हिन्दू संस्कृति के चिन्ह कम मिलते हैं। फिर भी परम्परा से यहाँ का राजवंश अपने को हिन्दू मानता है। इन उपनिवेशों में रामायण और महाभारत की तथा गीता की प्रतियाँ भी प्राप्त हुई हैं। भारतीय प्रतियों में और इनमें कुछ भेद अवश्य है परन्तु मुख्य कथा-भाग में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इन उपनिवेशों के निवासी भारत में आते-जाते थे, शासकों का भारतीय शासकों से पारिवारिक सम्बन्ध भी था। बिहार और मद्रास प्रान्त में उपनिवेशों के शासकों ने कुछ मन्दिर बनवाये थे, परन्तु इतने पर भी यात्रा की कठिनाइयों के कारण आना-जाना रात-दिन का काम तो नहीं हो सकता था। केवल व्यापार के लिये और कभी-कभी पठन-पाठन के लिये लोग आया-जाया करते थे। उल्लेखनीय और स्मरणीय बात तो यह है कि दूसरी शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक हिन्दू संस्कृति पश्चिम में तुर्किस्तान तक और पूर्व में पूर्वी द्वीप समूह तथा हिन्दचीन तक फैली हुई थीं और हिन्दू व्यापारी जल-मार्ग से चीन और जापान तक पहुँचा करते थे। जिस जहाज़ से फ़ाहियान जावा आदि द्वीपों में होता हुआ चीन वापिस गया था उसी में उसके साथ सौ से अधिक हिन्दू व्यापारी थे।

रामायण में महाभारत का तद्देशीय स्वरूप : इन उपनिवेशों में रामायण, महाभारत और गीता की जो प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं या इन ग्रन्थों की जो कथायें वहाँ अब तक प्रचलित हैं ये ज्यों की त्यों नहीं हैं। रामायण आदि की कथाओं में बहुत हेरफेर हो गया है। जो प्रतियाँ संस्कृत भाषा में मिली हैं उनमें यह हेरफेर कम है, परन्तु चीनी या दूसरी भाषा में जो कथायें हैं वे बहुत बदल गई हैं, यहाँ तक कि राम

और सीता के नाम भी कुछ और ही हो गये हैं। केवल कथानक से पता चलता है कि ये भारतीय कथायें हैं और अमुक ग्रन्थ पर आश्रित हैं। उस युग में आवागमन अति कठिन था और छापे का आविष्कार नहीं हुआ था। इसलिये ज्यों ज्यों ये कथायें अपने जन्म स्थान से दूर पहुँची त्यों त्यों इनमें परिवर्तन होता गया। लेखकों ने जैसा सुना और समझा वैसा लिख दिया। ग्रन्थों की दुर्लभता के कारण इनका खण्डन तथा सुधार नहीं हो सका और भारत में लिखे हुए ग्रन्थ इन उपनिवेशों में नहीं पहुँच सके।

वहाँ महायान धर्म : पौराणिक धर्म के अतिरिक्त इन उपनिवेशों में बौद्ध धर्म का भी प्रचार था। यह प्रचार पाँचवीं शताब्दी के लगभग होने लगा था। बौद्ध धर्म का महायान सम्प्रदाय इन उपनिवेशों में प्रचलित हुआ था। इसी में यह क्षमता थी कि जहाँ जावे वैसा बन जावे। अत: यहाँ बौद्ध धर्म का बहुत रूपान्तर हुआ। इसके मूल तत्त्व अर्थात् बुद्ध, संघ और धर्म के नाम तो बचे रहे परन्तु शेष आकार-प्रकार स्थानीय विचार, विश्वास और परम्परा तथा पद्धतियों से ढ़क कर और का और ही हो गया। जावा, चम्पा, मध्यप्रदेश, गान्धार, तक्षशिला, तिब्बत और ब्रह्मा की बौद्ध प्रतिमाओं की तुलना करने से स्पष्ट होता है कि स्थानीय कला और विश्वास तथा दृष्टिकोण से इस धर्म में किस प्रकार रूपान्तर हो गये थे।

वहाँ मंदिर और प्रतिमायें : इन उपनिवेशों में भारतीय कला और विशेष-कर मूर्तिकला भी उन्नत अवस्था में थी। चित्र कला भी अवश्य वहाँ पहुँची होगी, जैसे वह पश्चिमीय तुर्किस्तान में पहुँची थी, परन्तु उसके सब नमूने नष्ट हो गये। इन उपनिवेशों के हिन्दू मन्दिर दो प्रकार के हैं। उत्तर भारतीय शैली के और दक्षिण भारतीय अर्थात् द्रविड शैली के। इससे विदित होता है कि इन मन्दिरों के संस्थापक ही नहीं बल्कि इनके स्वरूप-निर्माता, शिलाविद् और राज भी भारतीय थे। जो उत्तर भारत से गये उन्होंने उत्तर शैली के और जो दक्षिण भारत से गये उन्होंने दक्षिण शैली के मन्दिर बनाये। इससे भी स्पष्ट है कि सैकड़ों और हज़ारों की संख्या में ये लोग भारत से इन उपनिवेशों में गये होंगे। प्रतिमायें सब देवों की मिलती हैं। पौरा-णिक देवों के अतिरिक्त भगवान बुद्ध की भी अनेक प्रतिमायें मिली हैं। जावा में भगवान राम के मन्दिर हैं। इनमें रामायण के दृश्य खुदे हुए हैं और राम, सीता तथा लक्ष्मण की प्रतिमायें हैं। शिव मन्दिर तथा विष्णु मन्दिर अनेक हैं। शिव के विविध रूपों की प्रतिमायें हैं और इसी प्रकार विष्णु की हैं। ब्रह्मा की प्रतिमा केवल एक प्रकार की ही मिली है। कला की दृष्टि से अधिकांश प्रतिमायें अच्छी उच्च कोटि की कही जा सकती हैं। गुप्त काल की उत्कृष्ट प्रतिमाओं में तो इनकी गणना नहीं की जा सकती परन्तु इनका स्वरूप अच्छा विकसित और उन्नत है। भारत के उच्च कोटि के शिलाविद् और शिल्पकार इन दूर देशों में नहीं गये होंगे और कुछ स्थानीय शिल्पकार भी प्रतिमा निर्माण में शामिल किये गये होंगे।

अतः ये प्रतिमायें गुप्तकालीन कला की दृष्टि से दूसरी श्रेणी की हैं और इन पर कुछ स्थानीयता के भी चिन्ह हैं। यही बात मन्दिरों के विषय में कही जा सकती है। विशेषता यह है कि इनकी शैली दक्षिण अर्थात् द्रविड़ शैली से मिलती-जुलती है। इसका कारण भी स्पष्ट है। कौरोमंडल तट से तथा आन्ध्र से कितने ही लोग इन प्रदेशों में और टापुओं में जाकर बसे थे और भारतीय क्षत्री नरेशों के नेतृत्व में वहाँ भारतीय संस्कृति की इन लोगों ने स्थापना की थी। इसलिये इनके द्वारा बनाये हुए मन्दिर दक्षिण शैली के होने ही चाहिये थे। इन उपनिवेशों के शासक भारत में भी आते जाते रहते थे। कई के विवाह सम्बन्ध भारत में हुए थे। एक राजा ने मद्रास प्रान्त में शिव मन्दिर बनवाया था। इस प्रकार के अनवच्छिन्न सांस्कृतिक सम्पर्क के कारण दक्षिण भारतीय शैली के मन्दिरों का निर्माण इन उपनिवेशों में हुआ था।

इन उपनिवेशों में रामायण, महाभारत और गीता की जो प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं या इन ग्रन्थों की जो कथायें वहाँ अब तक प्रचलित हैं ये ज्यों की त्यों नहीं हैं। रामायण आदि की कथाओं में बहुत हेरफेर हो गया है। जो प्रतियाँ संस्कृत भाषा में मिली हैं उनमें यह हेरफेर कम है, परन्तु चीनी या दूसरी भाषा में जो कथायें हैं वे बहुत बदल गई हैं, यहाँ तक कि राम और सीता के नाम भी कुछ और ही हो गये हैं। केवल कथानक से पता चलता है कि ये भारतीय कथायें हैं और अमुक ग्रन्थ पर आश्रित हैं। उस युग में आवागमन अति कठिन था और छापे का आविष्कार नहीं हुआ था। इसलिये ज्यों ज्यों ये कथायें अपने जन्म स्थान से दूर पहुँची त्यों त्यों इनमें परिवर्तन होता गया। लेखकों ने जैसा सुना और समझा वैसा लिख दिया। ग्रन्थों की दुर्लभता के कारण इनका खंडन तथा सुधार नहीं हो सका और भारत में लिखे हुए ग्रन्थ इन उपनिवेशों में नहीं पहुँच सके।

बलूचिस्तान, अफ़ग़ानिस्तान, बेक्ट्रिया और चीनी तुर्किस्तान में भी भारतीय संस्कृति की पाँचवीं शताब्दी तक प्रधानता थी। बलूचिस्तान में तो अर्से तक भारतीय क्षत्रियों का राज्य था। जब मुसलमानों का उदय और उत्थान हुआ तब भाटी राजपूत बलूचिस्तान से हट कर भारत में आये और जैसलमेर को उन्होंने अपनी राजधानी बनाया। अफ़ग़ानिस्तान के अधिकांश भाग पर मौर्य सम्राटों का शासन था। वास्तव में काबुल और कंधार भारत के द्वार माने जाते थे और भारतीय संस्कृति ही कंधार तक फैली हुई थी। अकबर के शासन काल तक यह बात प्रचलित थी कि काबुल और कंधार हिन्दुस्तान के दरवाज़े है। अबुलफ़ज़ल ने 'आईने अकबरी' में इसका उल्लेख किया है। अफ़ग़ानिस्तान में कितने ही सिक्के, स्तूप और प्रतिमायें मिली हैं जिनसे स्पष्ट प्रकट होता है कि वहां बौद्ध धर्म का खूब प्रचार था। यह प्रचार पाँचवीं शताब्दी तक वहाँ जारी रहा।

अफ़ग़ानिस्तान से पश्चिम का भाग उस समय बेक्ट्रिया कहलाता था। यहाँ पर अर्से तक बेक्ट्रियन ग्रीक लोगों का शासन था इसलिये उन लोगों ने इस प्रदेश का नाम बेक्ट्रिया रख दिया था और यूरोप के लोग इसको इसी नाम से पुकारने लगे थे। इस भूभाग में हज़ारों भारतीय बौद्ध और ब्राह्मण लोग निवास करते थे। ये बौद्ध भिक्षु अशोक के समय में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए वहाँ गये होंगे और उसके पश्चात् भी भिक्षुओं का वहाँ जाना जारी रहा होगा। उन प्रदेशों में महायान धर्म का प्रचार अधिक आसान था, अतः अधिकांश इसी धर्म के भिक्षु वहाँ जाया करते थे। इन लोगों के साथ ब्राह्मण भी वहाँ जाते थे और संस्कृत भाषा का तथा हिन्दू धर्म का प्रचार करते थे। आमू दरिया और सर दरिया (आग्ज़स और टाइग्रीस) के प्रदेश में अनेक भारतीय बसे हुए थे। इनमें व्यापारी भी बहुत थे।

चीनी तुर्किस्तान तो एक प्रकार से हिन्दुओं का ही देश बन गया था और कई शताब्दियों तक वहाँ भारतीय संस्कृति की प्रधानता बनी रही थी। इसी देश में होकर उस समय चीन पहुँचने के तीन मार्ग थे। यहाँ से बौद्ध भिक्षु और ब्राह्मण चीन जाया करते थे। चीनी तुर्किस्तान में हिन्दुओं की यत्र तत्र अनेक बस्तियाँ थीं। छोटे-छोटे राज्य भी हिन्दुओं ने स्थापित कर लिये थे। अधिकांश लोग व्यापार और खेती करते थे। सैकड़ों भिक्षु और ब्राह्मण धर्म का और संस्कृत भाषा का प्रचार करते थे। यह तारीम का मैदान भारतीय संस्कृति का (एशिया के उस हिस्से में) एक केन्द्र बन गया था। वास्तव में काशगर नगर से चीन की सीमा तक समस्त प्रदेश एक प्रकार से हिन्दुओं का देश हो गया था। इस चीनी तुर्किस्तान के उत्तर के नगर और दक्षिण के नगर सब हिन्दुओं के उपनिवेश थे। वहाँ के राजा को महानुभाव महाराज कहा जाता था। इस देश में अनेक खंडहर, लेख और वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं जिनका विद्वानों ने सूक्ष्म अध्ययन किया है और उस खोज के आधार पर यह बातें मालूम हुई हैं। लेखों की भाषा संस्कृत या प्राकृत और लिपि ब्राह्मी हैं। कई लेख ऐसे भी हैं जिनकी भाषा तो स्थानीय है परन्तु लिपि ब्राह्मी है। जैसे अंग्रेजों के राज्य में हमारे यहाँ रोमन लिपि का प्रचार हुआ था और हिन्दी और उर्दू को कभी कभी अंग्रेजी अक्षरों में लिखा जाता था, उसी प्रकार चीनी तुर्किस्तान में भी ब्राह्मी लिपि में वहाँ की भाषा लिखने का प्रचार हो गया था। वहाँ पर ब्राह्मी लिपि बारहखड़ी विधि से सिखाई जाती थी जिसका चालीस वर्ष पूर्व तक भारत में भी प्रचार था और जिसका वर्णन 'लेख प्रकाश' नामक काश्मीरी ग्रन्थ में दिया हुआ है। यह ग्रन्थ अभी कुछ वर्ष पूर्व ही उपलब्ध हुआ है।

खोतान का भारतीय उपनिवेश विशेष महत्व का था। यहाँ भारतीय शासन था और राज काज की भाषा संस्कृत थी। यहाँ पर जो लेख प्राप्त हुए हैं वे संस्कृत या प्राकृत भाषा के हैं और उनकी लिपि खरोष्टी है। इस लिपि का प्रचार उस समय

भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में था। महाराज अशोक ने भी पश्चिमोत्तर प्रदेशों के शिला लेखों में इसका व्यवहार किया था। खोतान के एक प्राचीन लेख में महाराज राजाधिराज देव विजित सिंह का उल्लेख है। तिब्बत देश में खोतान के इतिहास की एक परम्परा प्राप्त कथा है। इसके अनुसार महाराज अशोक के एक पुत्र ने खोतान में अपना राज्य स्थापित किया था। उसका पुत्र विजित सम्भव हुआ। इसके पश्चात् अनेक राजा हुए जिनके नाम विजित से शुरू होते हैं। बारहवाँ राजा विजित-धर्म हुआ। इसने काशगर में अपने अन्तिम दिन धर्म चिन्तन में व्यतीत किये। इसका पुत्र विजित सिंह था और पौत्र विजित-कीर्ति। खोतान का राजवंश बौद्ध धर्म का अनुयायी था। इससे इस प्रदेश में इस धर्म का बहुत प्रचार रहा। उस समय यह बौद्ध धर्म का उधर की ओर एक मुख्य केन्द्र था। खोतान में एक प्रसिद्ध बौद्ध विहार था जिसका नाम गोमती विहार था। इसमें सैकड़ों भिक्षु और ब्राह्मण लोग निवास करते थे। यहाँ से ये लोग इधर-उधर धर्म प्रचारार्थ जाया करते थे। ब्राह्मण लोग संस्कृत का प्रचार करते थे और छोटे-छोटे कई संस्कृत के विद्यालय स्थापित हो गये थे। महायान धर्म के ग्रन्थ प्रायः सब संस्कृत भाषा में थे। अतः बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ साथ संस्कृत का प्रचार होना स्वाभाविक बात थी।

उधर चीनी तुर्किस्तान में भारतीय संस्कृति का दूसरा केन्द्र कूची था। यहाँ भी हिन्दू क्षत्री राज्य करते थे। इनके नाम थे सुवर्ण पुष्प, हरिपुष्प, हरदेव, सुवर्ण आदि। कूची अति सम्पन्न और समृद्ध नगर था। इसमें अनेक बौद्ध विहार और भव्य भवन थे। यहाँ की सब जनता प्रायः बौद्ध थी और यहाँ संस्कृत भाषा का खूब प्रचार था। यहाँ संस्कृत पढ़ने की एक निराली विधि प्रचलित थी। इसके द्वारा विदेशी लोग संस्कृत जल्दी सीख लिया करते थे। कूची नगर में तथा अन्य तुर्किस्तानी नगरों में पाणिनी पद्धति से व्याकरण नहीं पढ़ाया जाता था। वहाँ जो व्याकरण प्रचलित था उसका नाम था कातान्तर व्याकरण। यह व्याकरण अब भी विद्यमान है और जैन पाठशालाओं में इसका अधिक प्रचार है। कातान्तर नाम भी विचित्र है। सम्भव है इस व्याकरण का प्रणेता भारतीय नहीं हो और कोई विदेशी विद्वान, सम्भवतः तुर्किस्तान का ही निवासी हो। कूची में संस्कृत पढ़ाने की विधि या तो वहीं विकसित हुई होगी या भारतवर्ष से विद्वान लोग जो वहाँ गये उन्होंने स्थानीय आवश्यकताओं को समझ कर यह विधि निश्चित की होगी। कूची में बौद्ध धर्म के ऐसे अनेक संस्कृत के ग्रन्थ मिले हैं जिनका भारत में केवल नाम ही शेष रह गया है। धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त, ज्योतिष, आयुर्वेद और साहित्य के भी ग्रन्थ वहाँ मिले हैं। कूची भाषा का साहित्य भी उस समय अच्छा, पुष्ट और सम्पन्न हुआ था। उस पर भी संस्कृत का गहरा प्रभाव था। कई ग्रन्थ तो संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर ही लिखे गये थे।

कूची से और आगे करा शहर था। यह भी भारतीय उपनिवेश था। इसको अग्निदेश भी कहा जाता था। वहाँ के राजाओं के नाम चन्द्रार्जुन और इन्द्रार्जुन

आदि थे। इस नगर में भी कितने ही बौद्ध विहार थे। यहाँ से भिक्षु लोग चीन में धर्म प्रचारार्थ जाया करते थे। ऐसा ही एक नगर बजालिक था। यहाँ के बौद्ध विहारों की दीवारों पर बौद्ध धर्म सम्बन्धी अनेक चित्र बने हुये थे। ये अब भी कुछ मिले हैं। इनमें भिन्न-भिन्न देशों के बौद्ध भिक्षुओं के चित्र हैं। भारतीय भिक्षु पीले कपड़े पहिने हुए बतलाये गये हैं।

इन तमाम नगरों में बौद्ध धर्म और बौद्ध सभ्यता प्रचलित थी लेकिन कुछ लोग पौराणिक धर्म को भी मानते थे। संस्कृत के प्रचार के साथ-साथ यह स्वाभाविक ही बात थी। इस प्रदेश में कुबेर त्रिमुख और गणेश की छोटी छोटी प्रतिमायें मिली हैं जिनसे प्रकट होता है कि पौराणिक देव भी यहाँ पूजे जाते थे। इस सुदूर देश में हिन्दू सभ्यता की स्थापना करना तत्कालीन भारतीयों के पुरुषार्थ और पराक्रम का ज्वलन्त प्रमाण है।

उत्तर गुप्त काल तक भारतवर्ष में बहुत वस्त्र पहिनने की प्रथा नहीं चली थी। स्त्री और पुरुष दोनों केवल दो कपड़े पहिना करते थे। एक अधोवस्त्र कहलाता था और दूसरा उत्तरीय। अधोवस्त्र कमर से पिंडलियों तक कई प्रकार से पहना करते थे। विभिन्न प्रान्तों के स्त्री पुरुष इसको विभिन्न विधि से पहिनते थे। उत्तरीय कमर से ऊपर शरीर को ढकता था और कुछ कन्धे पर डाल लिया जाता था। इसको पहिनने के प्रकार भी अनेक थे। उत्तरीय प्रायः घर से बाहर जाने पर ही पहिना जाता था। घर के अन्दर पुरुष और स्त्रियाँ दोनों एक-वस्त्र रहा करते थे। स्त्रियाँ कंचुकी पहिनती थीं। जाकेट का भी किंचित प्रचलन था। पुरुषों में पगड़ी पहिनी जाती थी। परन्तु इसका प्रचलन केवल सम्पन्न और प्रतिष्ठित वर्ग में ही था। यह भी विभिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न ढंग से पहिनी जाती थी। स्त्रियों में भी माथे पर कुछ पहिनने का चलन था। यह अति प्राचीन प्रथा थी। मोहिंजोदाड़ो और हरप्पा काल में भी यह चलन जारी था। फिर गुप्त काल में यह बन्द होने लगा और सातवीं सदी के पश्चात लुप्त हो गया। राजा लोग मुकुट धारण करते थे और देवियों को भी मुकुट पहिनाये जाते थे। यही ढंग प्राचीन काल में सब स्त्री पुरुषों में प्रचलित था।

गहने पहिनने का चलन पुरुषों और स्त्रियों दोनों में था। दोनों कानों में कई प्रकार की बालियाँ, लटकन और कुण्डल पहिना करते थे। गले के अलंकार कई प्रकार के बनते थे, इनमें माला का बहुत प्रचार था। उँगलियों में अनेक प्रकार की अगूँठियाँ और कलाइयों पर कड़े, चूड़ियाँ, कंगन आदि कई प्रकार के गहने पहिने जाते थे। भुज बन्ध का भी बहुत प्रचार था। कमर में और पैरों में गहने केवल स्त्रियाँ ही पहिना करती थीं। करधनी कई प्रकार की बनाई जाती थी और पैरों के ज़ेवर भी नाना प्रकार के बनते थे। करधनी और पायज़ेबों में घूँघरू होते थे जो चलते समय मन्द-मन्द बजा करते थे।

गहने पहिनने का रिवाज़ मोहिंजोदाड़ो काल से प्रचलित था। गहने कई प्रकार के और कई चीज़ों के बनाये जाते थे। धनाढ्य लोग सोना, चाँदी के गहने बनवाते थे। मोतियों की मालायें बनाई जाती थीं। मणि, माणिक्य, पन्ने और हीरे आदि जड़ाई के काम में आते थे। हाथी दांत के गहनों का भी सम्पन्न लोगों में प्रचार था। साधारण लोग कांसा, तांबा, पीतल, कथीर आदि के ज़ेवर पहिनते थे। मालायें पत्थर के दानों की या किसी और सस्ती और सुलभ चीज़ की बनवाई जाती थीं। ज़ेवर बनाने का धन्धा भी एक अच्छा व्यवसाय था। तत्कालीन ज़ेवरों की बनावट, बारीकी और उत्तमता से प्रकट होता है कि भारतीय सुवर्णकार और भरावों ने इस कौशल में अच्छी दक्षता प्राप्त करली थी।

जूते कई प्रकार के, कई रंग के और कई जानवरों के चमड़े के बनाये जाते थे। सफेद चमड़े के जूतों का विशेष प्रचार था। इनके तले बहुत ऊँचे हुआ करते थे। जूतों पर कई प्रकार का काम बनाया जाता था। ऊपर का चमड़ा सिंह, चीता, सांभर बिल्ली, उल्लू आदि जानवरों का होता था। यह कई रंग का बनाया जाता था। जूतों की नोकों पर भेड़-बकरे के सींग बने रहते थे, किसी पर बिच्छू का डंक बनाया जाता था, किसी पर मोर के पंख लगाये जाते थे। बहुमूल्य जूतों पर सुनहरी और रूपेरी कार्य किया जाता था। किसी किसी पर मोती पिरोये जाते थे। सलमे सितारे का बहुत प्रचार था। ऊन के भी जूते बनाये जाते थे। साधु सन्त या तो नंगे पैर रहते थे या खड़ाऊं का उपयोग करते थे।

अनेक प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग किया जाता था। पुष्पहारों का लोगों को बड़ा शौक था। चेहरे पर कई प्रकार के उबटन लगाये जाते थे। स्त्रियाँ कोमलता और सुन्दरता के लिये कई प्रकार के पाउडर का प्रयोग करती थीं। शरीर पर मालिश करने के वास्ते कई भाँति के सुगन्धित तैलों का प्रचार था। स्त्रियाँ कई भाँति से बाल संवारती थीं और माँग बनाती थीं। ललाट और माँग में सिंदूर लगाती थीं।

पुरुष प्रायः डाढ़ी नहीं रखते थे। डाढ़ी रखने का रिवाज साधु सन्तों में था। गृहस्थों में जो डाढ़ी रखते थे, वे कोई लम्बी बढ़ाते थे, कोई छोटी कटवाते थे, कोई केवल ठोढ़ी पर ही कुछ बाल रखते थे। यह प्रथा पहिले हिन्दुओं की थी, अब यह मुसलमानों की मानी जाने लगी है। जो लोग डाढ़ी को छोटी करवाते थे उनमें कोई-कोई उसे चौखूटी बनवाया करते थे।

व्यक्तिगत और सम्मिलित स्नानागारों का रिवाज था। स्नान से पूर्व शरीर पर सुगन्धित द्रव्य या मिट्टी मली जाती थी। स्नानकुण्ड के तलों में ईंटें या पत्थर जड़े होते थे। गन्दे पानी को निकाल देने के लिये कुण्डों में नालियाँ होती थीं। गर्म

जल के स्नानागारों का भी प्रचार था। इनमें धुँआ कस बने होते थे। स्नानान्तर शरीर को ठण्डा करने के लिए पास ही दूसरे कमरे होते थे। स्नान पाटों पर या तिपाइयों पर बैठ कर दिया जाता था, या कुण्ड के पानी में घुस कर।

यह चित्र नागरिक जीवन का है। गाँवों का जीवन अति सरल और साधारण था। वहाँ के लोग नगर निवासियों की भाँति सम्पन्न भी नहीं होते थे। नगरों में व्यापारी, कर्मचारी, कलाकार, विद्वान् और शिल्पी लोग रहते थे जो अधिक कमाते थे और अधिक सम्पन्न थे। जहाँ विलास के साधन उपलब्ध होते हैं वहीं विलास-विधियों का विकास हुआ करता है।

सप्तम अध्याय

भारत में विदेशियों का आगमन और सभ्यता का नवीन संस्करण

मौर्य काल के आरम्भ तक भारत की संस्कृति आर्य प्रधान थी। द्रविड़ लोग प्राय: दक्षिण में जा बसे थे और जो उत्तर में रह गये वे बिलकुल दब गये थे। एवं आर्य संस्कृति ही एक मात्र भारतीय संस्कृति थी। दक्षिण के द्रविड़ों पर भी इसकी छाप थी। शनैः शनैः वे लोग भी आर्य संस्कृति को अपनाते जाते थे। आर्य लोग दक्षिण में घुसते जाते थे और वहाँ आर्य संस्कृति को स्थापित करते जाते थे। द्रविड़ संस्कृति का प्रभाव भी आर्य संस्कृति पर पड़ा परन्तु यह नाममात्र का था, और इस प्रभाव से यह अधिक पुष्ट और सम्पन्न नहीं हुई बल्कि इसमें कुछ विकृति ही आई। विद्वानों का मत है कि वृक्ष, साँप, भूत, पिशाच आदि की पूजा द्रविड़ों के सम्पर्क से अथर्ववेद में घुसी है। संस्कृति का यह पक्ष पुष्ट या प्रबल नहीं हुआ। प्रधानता निर्बाधरूपेण आर्य संस्कृति की ही बनी रही।

प्रथम विदेशी आक्रमण : भारतवर्ष पर सर्वप्रथम आक्रमण ईसा से ३२६ वर्ष पहिले हुआ। यह आक्रमण यूनान देश के प्रसिद्ध विजेता सिकन्दर ने किया था। वह अटक से व्यास नदी तक आया। मार्ग में जितने राज्य या जनसंघ मिले, सबको उसने पराजित किया। वह व्यास से भी आगे बढ़ना चाहता था परन्तु उसके सैनिकों ने सुना कि पूर्व की ओर एक शक्तिशाली राजा राज्य करता है, उसके पास लगभग छः लाख सेना है और वह आसपास के कई राजाओं को हराकर अपनी शक्ति बढ़ा चुका है। इस समाचार से यूनानी सैनिक भयभीत हो गये और उन्होंने पूर्व की ओर आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। विवश होकर सिकन्दर वापस मुड़ा और चिनाब नदी पर पहुँच कर उसने बहुत बड़ा नावों का बेड़ा बनवाया। उसकी कुछ सेना नावों के द्वारा जल-मार्ग से, कुछ नदी के किनारे-किनारे स्थल-मार्ग से दक्षिण की ओर रवाना हुई। पंजाब की नदियों के सब सम्मेलनों को पार करता हुआ उसका बेड़ा सागर संगम तक पहुँच गया। वहाँ से सिकन्दर स्थल मार्ग से और उसके प्रधान नौ सेना-नायक जल मार्ग से ईराक की ओर रवाना हो गये। ईराक में पहुँचने पर सिकन्दर की मृत्यु हो गई।

चिनाब से सागर सङ्गम तक जितने राज्य सिकन्दर के मार्ग में आये, उनको उसने हराया और अधिकृत किया। सिकन्दर भारतवर्ष में उन्नीस मास तक रहा। उसने

सम्पूर्ण पंजाब और सिन्ध पर अपना अधिकार स्थापित किया। कुछ राजाओं को अधीनता स्वीकार करवाकर उन्हें अपने राज सिंहासनों पर स्थापित कर दिया, परन्तु अधिकांश जनतन्त्र राज्यों को उसने नष्ट कर दिया। भारत से प्रस्थान करते समय पंजाब और सिन्ध का शासन करने के लिये उसने यूनानी कर्मचारी नियत किये, परन्तु यह शासन थोड़े ही समय चला। महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य ने सिकन्दर की मृत्यु के लगभग एक वर्ष बाद ही यूनानी अफ़सरों को भारत से खदेड़ भगाया और सम्पूर्ण उत्तर भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर दिया।

दूसरा आक्रमण : सिकन्दर के लगभग २० वर्ष पश्चात् भारतवर्ष पर दूसरा यूनानी आक्रमण हुआ। सिल्युकस निकेटार सिकन्दर का एक सेना नायक था। सिकन्दर की मृत्यु पर उसके राज्य का विभाजन हुआ और भारतवर्ष का हिस्सा सिल्युकस को मिला। पंजाब और सिन्ध पर अपनी सत्ता स्थापित करने के लिये ईसा से ३०५ वर्ष पूर्व उसने भारत पर आक्रमण किया। महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य ने वीरतापूर्वक उसका सामना किया और उसको पश्चिमी पञ्जाब से आगे नहीं बढ़ने दिया। युद्ध में सिल्युकस की पराजय हुई, उसको अपने राज्य में से भी काबुल, हैरात और कन्धार के प्रदेश चन्द्रगुप्त मौर्य को देने पड़े। सिल्युकस ने अपनी कन्या का विवाह महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ किया। मेगस्थनीज़ नामक एक राजदूत उसने महाराज चन्द्रगुप्त के दरबार में भेजा। यह वर्षों तक पाटलिपुत्र में रहा और इसने भारतवर्ष पर यूनानी भाषा में एक ग्रन्थ लिखा जिसमें यहाँ के शासन, समाज, धर्म और रिवाज आदि का वर्णन किया। इसके पश्चात् मौर्य काल में भारतवर्ष पर यूनानियों का या किसी दूसरी विदेशी जाति का कोई आक्रमण नहीं हुआ। चन्द्रगुप्त के पुत्र महाराज बिन्दुसार और उसके पुत्र महाराज अशोक का पश्चिमी एशिया के सब यूनानी शासकों के साथ मित्रता का सम्बन्ध रहा। बिन्दुसार के शासन काल में भी एक यूनानी राजदूत पाटलिपुत्र में रहता था। और महाराज अशोक ने बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये अनेक भिक्षु पश्चिमी एशिया के यूनानी राज्यों में तथा यूनान और मिश्र में भेजे थे। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद फिर यूनानियों के आक्रमण शुरू हुए।

एण्टियेकस का आक्रमण : ईसा से २०६ वर्ष पूर्व एण्टियेकस नाम के यूनानी सरदार ने भारत पर आक्रमण किया परन्तु हिन्दूकुश पर्वत को पार करके वह काबुल की घाटी तक ही पहुँचा और आगे नहीं बढ़ सका। वहाँ सौभागसेन नामक राजा राज्य करता था। उसको एण्टियेकस ने पराजित किया और उसके बहुत से हाथी छीन लिये।

डिमिट्रियस का आक्रमण : एण्टियेकस की मृत्यु के बाद उसका राज्य डिमिटियस के हाथ में आया और उसने भी भारत पर आक्रमण किया। उसने

काबुल, पंजाब और सिन्ध पर अपना अधिकार स्थापित किया। परन्तु उसका राज्य अधिक काल तक नहीं रहा। वह यूनानियों में भारत का राजा कहलाता था लेकिन यह केवल नाम मात्र का ही राजा था। भारत में उसके राज्य की जड़ नहीं जम सकी थी।

यूक्रेटिडीज़ का आक्रमण : डिमिट्रियस को युक्रेटिडीज़ ने हराया और उसके राज्य पर अपना अधिकार कर लिया परन्तु युक्रेटिडीज़ भी केवल कुछ ही वर्ष राज्य कर सका। जब वह भारत से स्वदेश लौट रहा था तो मार्ग में उसके पुत्र एपोलोडोटस ने उसकी हत्या कर डाली। इसके पश्चात् ग्रीक राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। भारत की सीमा पर छोटे-छोटे अनेक यूनानी राज्य स्थापित हो गये जो लगभग १०० वर्ष तक चले। इन छोटे-छोटे राजाओं में दो उल्लेख के योग्य हैं। एक एण्टियालकिडास और दूसरा मिनेण्डर।

एण्टियालकिडास : (१४०-१३० ईसवी पूर्व) यह भारत की सीमा पह छोटे से भाग का स्वामी था लेकिन इसका कई भारतीय राजाओं से परिचय था। इसका हिन्दू संस्कृति से भी प्रेम था। इसने हेलियोडोरस नामक एक यूनानी राजदूत मध्य भारत में विदिशा के राजा के पास भेजा था। हेलियोडोरस विदिशा में कुछ काल तक रहा। वहाँ एक वैष्णव मन्दिर में उसने एक गरुड़ध्वज स्थापित किया। यह इस समय विद्यमान है। इस गरुणध्वज पर संस्कृत भाषा में उसने एक लेख लिखवाया। इसमें लिखा है कि :—"महाराज एटिण्यालकिदास के भेजे हुए यवनदूत हेलियोडोरस ने यह गरुड़ध्वज स्थापित किया है। हेलियोडोरस डायना का पुत्र है।" इस लेख से स्पष्ट है कि हेलियोडोरस वैष्णव धर्म से प्रेम करता था और तत्कालीन भारतीय लोग इस बात पर आपत्ति नहीं करते थे कि एक यूनानी वैष्णव मन्दिर में गरुणध्वज स्थापित करे।

मिनेन्डर : मिनेन्डर युक्रेटिडीज़ का वंशज था और उसकी राजधानी काबुल थी। ईसा से १५५ वर्ष पूर्व उसने भारत पर आक्रमण किया। दो वर्ष तक उसकी सेना ने कई नगरों को घेरा और अपने अधिकार में किया। काबुल से अयोध्या तक और चित्तौर तक उसने अपनी धाक जमाली। न्यायशीलता और धार्मिकता के लिये मिनेन्डर की ख्याति थी। भारत विजय के बाद मिनेन्डर पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा और वह बौद्ध बन गया। उसको बौद्ध विद्वानों की संगति बहुत पसन्द थी। धार्मिक विषयों पर चर्चा करने के लिये उनको वह बुलाया करता था। पाली भाषा में 'मिलिन्द पनहा' नामक एक ग्रन्थ है। इसमें मिलिन्द (मिनेन्डर) बौद्ध धर्म के विविध विषयों पर प्रश्न करता है और नागसेन नामक एक बौद्ध विद्वान उनका उत्तर देता है। प्रश्न और उत्तर दोनों का सम्बन्ध विशेषत: महायान धर्म से है। इस पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद हो चुका है और विद्वानों ने यह निश्चय कर दिया है कि मिलिन्द मिनेन्डर है।

मिनेन्डर ने साकेत (अयोध्या) और मध्यमिका पर आक्रमण किया था। दोनों ही तत्कालीन भारत के प्रसिद्ध नगर थे। मिनेन्डर ने दोनों नगरों के घेरे डाले और उनको जीत लिया। साकेत उत्तर भारत में प्रसिद्ध नगर था और मध्यमिका राजस्थान में। यह नगर चित्तौर से लगभग ८ मील के अन्तर पर स्थित था और एक जनतन्त्र राज्य की राजधानी था। इस जनतन्त्र राज्य का नाम शिवि जनपद था। शिवि एक शूरवीर जाति थी जो इस प्रदेश में निवास करती थी। ये लोग वैदिक धर्म को मानते थे। इन्होंने अश्वमेध और वाजपेय यज्ञ किये थे। मध्यमिका के पास एक बौद्ध स्तूप भी मिला है, इसको तोड़ फोड़ कर फिर शैव मन्दिर बना दिया गया था, इसका तोरण गुप्त काल में बनाया गया था। मध्यमिका के ईंट और पत्थरों से ही फिर चित्तौर का निर्माण हुआ। साकेत अयोध्या के पास स्थित था, परन्तु इसकी ठीक स्थिति का पता नहीं है। मध्यमिका और साकेत, दोनों नगरों के घेरों का उल्लेख पातंजली ने अपने महाभाष्य में किया है। साथ ही पातंजली ने पुष्यमित्र शुंग के अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि ये तीनों घटनायें पातंजली के समय की हैं और इसीलिए बड़े महत्व की हैं। तत्कालीन भारत में इनका ज़िक्र हुआ करता होगा। शिवि जनपद का एक विदेशी आक्रमणकारी से हारना और साकेत का पतन होना असाधारण घटनायें थीं। इसी प्रकार पुष्यमित्र का अश्वमेध यज्ञ भी मामूली बात नहीं थी। पिछले डेढ़ सौ वर्ष से मौर्यों के राज्य में यज्ञ होना बन्द हो गया था। यज्ञ में हिंसा होती थी और महाराज चन्द्रगुप्त या अशोक इसको अच्छा नहीं समझते थे परन्तु वैदिक धर्मावलम्बी लोग यज्ञ को बहुत महत्त्व देते थे। जब यज्ञ विधि पुनः जाग्रत हुई तो यह सारे देश में हर्ष की बात मानी गई होगी। इसलिये सर्वत्र इसकी चर्चा होती होगी, यही कारण है कि पातंजली ने इन घटनाओं का अपने महाभाष्य में उल्लेख किया है। गार्गी संहिता में भी यवनों के आक्रमण का उल्लेख है। वहाँ मिनेन्डर या किसी अन्य यूनानी सरदार का नाम नहीं दिया है परन्तु लेखक कहता है कि साकेत और पांचाल देश तथा मथुरा पर अधिकार स्थापित करने के पश्चात् यवन लोग पाटलिपुत्र तक पहुँच जायँगे और भारत के सब प्रान्तों में अशांति व्याप्त हो जायगी।

कालिदास ने लगभग २०० वर्ष बाद यवनों के आक्रमण का उल्लेख किया है। अपने 'मालविकाग्निमित्रम्' नामक नाटक में उन्होंने लिखा है कि पुष्यमित्र शुंग के प्रपौत्र वसुमित्र का एक यवन सेना से सिंधु नदी के समीप (बुन्देलखण्ड) और राजपूताने की सीमा पर सामना हुआ, जिसमें वसुमित्र की जीत हुई और यवन लोग हार गये। वसुमित्र अपने पितामह के आदेश से उस समय एक यज्ञीय घोड़े की रक्षा कर रहा था। विचरण करता हुआ जब यह घोड़ा सिन्धु नदी के तट पर

पहुँचा तो यवन सेना ने इसको छीनना चाहा, जिस पर वसुमित्र का उनसे युद्ध हुआ। यह यवन सेना मिनेन्डर की होनी चाहिये। उसके अतिरिक्त किसी अन्य यवन सरदार ने भारत के अन्दर इतना गहरा प्रवेश नहीं किया था और पुष्यमित्र शुंग के राज्य काल में मिनेन्डर का ही आक्रमण हुआ था।

यूनानियों का भारत पर प्रभाव : ऐतिहासिक खोज से जब योरुपीय विद्वानों को उपरोक्त यूनानी आक्रमण का पता लगा तो उन्होंने यह धारणा बनाई कि भारत की सम्पूर्ण सभ्यता का आधार यूनानी संस्कृति के ऊपर है। यह धारणा अस्वाभाविक नहीं थी। योरुप में यह माना जाता है कि यूनान से ही सारे महाद्वीप में कला और साहित्य का प्रचार हुआ है। यूनानी सभ्यता की इस चकाचौंध के कारण योरुपीय विद्वानों ने जल्दी से यह सिद्धान्त बना लिया कि भारतीय सभ्यता भी यूनानी सभ्यता से ही बनी होगी। कुछ अर्से बाद ही विद्वान लोग मानने लगे कि यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। तब विद्वान दूसरी पराकाष्ठा पर पहुँचे और कहने लगे कि यूनानी सभ्यता ने भारतीय सभ्यता को स्पर्श भी नहीं किया। इस पर उसका किंचित मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा। लेकिन यह दोनों ही मत मान्य नहीं हैं। यूनानी सभ्यता का भारतवर्ष पर कोई गहरा प्रभाव तो नहीं पड़ा है, परन्तु साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह भारतीय सभ्यता का स्पर्श भी नहीं कर सकी। यह ठीक है कि सिकन्दर भारतवर्ष में केवल १६ मास रहा और इस अर्से में वह एक दिन भी कहीं शान्ति के साथ नहीं बैठा। यही दशा मिनेन्डर की रही। वह काबुल से पाटलिपुत्र तक और चित्तौर तक पहुँचा और जिधर उसकी सेना गई उधर हीं उसकी विजय हुई। परन्तु वह भी भारत में कुछ ही वर्ष ठहर सका। काबुल से पश्चिम की ओर भी उसका राज्य था। वहाँ कुछ उत्पात हुआ और उसको दबाने के लिये वह पश्चिम की ओर सेना लेकर गया जहाँ से वह अपने जीवन में वापस नहीं आ सका। यही बात अन्य यूनानी आक्रमणकारियों के विषय में कही जा सकती है। वे लोग तो केवल पंजाब और सिन्ध में ही रहे और वहाँ भी उनका राज्य अस्थिर और अनिश्चित सा ही रहा। इस प्रकार यूनानियों के आक्रमण तूफ़ान की तरह आये और तूफ़ान की तरह चले गये।

फिर भी ये आक्रमण साधारण घटनायें नहीं थीं। भारतवर्ष की स्वतन्त्रता पर ये आक्रमण प्रथम आघात थे। इसलिये इनकी स्मृतियाँ देश के हृदय में खटकती रहीं। पातंजली ने अपने व्याकरण में भूतकाल का नियम समझाते हुए साकेत और मध्यमिका के घेरों का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि ये घटनायें उसके दिल में चुभ रही थीं। उसने लिखा है कि "अरुणद्‌हि यवनः साकेतम्, अरुणद्‌हि यवनो मध्यमिकाम्" अर्थात् यवन ने साकेत को घेरा, यवन ने माध्यमिका को घेरा। ये घटनायें पातंजली के समय में ताज़ा घटनायें थीं जिनको वह भुला

नहीं सकता था। भृगु ने भी अपनी संहिता में इनका वर्णन किया है और बड़े दुःख और संताप के साथ लिखा है कि यवनों के आक्रमण से देश क्षतविक्षत हो जायगा और कालिदास यवन आक्रमणों के २०० वर्ष बाद हुआ लेकिन इस समय भी यवन आक्रमणों को देश नहीं भूला था। उसने अपने एक नाटक में इसका उल्लेख किया है।

यूनानियों का राज्य बहुत समय तक और बहुत बड़े भाग पर तो नहीं रहा परन्तु यह बात भी नहीं है कि वे लोग भारत में टिक ही नहीं सके। सिकन्दर ईसा से ३२६ ईसवी पूर्व भारत में घुसा और पंजाब और सिन्ध पर उसने अपना पूरा अधिकार स्थापित कर लिया। इस अधिकार का अन्त महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य ने ३२० वर्ष पूर्व किया अर्थात् यूनानियों का राज्य पूरे ६ वर्ष तक पंजाब और सिन्ध पर बना रहा। तत्पश्चात् इन हिस्सों पर मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद कई यूनानी राजाओं का राज्य रहा। किसी ने कम राज्य किया, किसी ने अधिक। किसी ने कम हिस्से पर राज्य किया, किसी ने अधिक पर। परन्तु लगभग ५० वर्ष तक निरन्तर रूप से यूनानियों का भारतवर्ष के दो प्रान्तों पर कुछ न कुछ अधिकार बना रहा। इसके पश्चात् दूसरी जाति के लोग भारत की सीमा पर आक्रमण करने लगे और छोटे छोटे यूनानी राज्य जो हिन्दूकुश के आस पास चल रहे थे नष्ट हो गये।

लगभग साठ वर्ष का अर्सा कम नहीं होता। इतिहास में इसको तीन पीढ़ियों का युग कहा जा सकता है। इस काल में यूनानी लोगों का भारतीयों से सम्पर्क हुआ और भारतीयों का यूनानियों से। हज़ारों यूनानी भारतीयों से मिलते होंगे, सैनिक सैनिकों से, व्यापारी व्यापारियों से, पंडित पंडितों से, राजा राजाओं से। दो चार ऐतिहासिक घटनायें भी ऐसे सम्बन्धों की इतिहास को मालूम हैं। यवन दूत हेलियोडोरेस का विदिशा प्रान्त में वेसनगर के पास एक वैष्णव मन्दिर में गरुड़ध्वज स्थापित करना साधारण महत्त्व की बात नहीं है। एंटियालकेडास छोटा सा यूनानी राजा था और विदिसा का राजा सौभाग्यसेन भी ऐसा छोटा सा ही राजा था। परन्तु कहाँ भारत की उत्तर पश्चिम सीमा और कहाँ मध्यभारत में स्थित विदिशा और वेसनगर। इस समय यह फासला चाहे कुछ नहीं जान पड़ता हो परन्तु ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व इस फासले को पार करना साधारण पुरुषार्थ का काम नहीं था। हेलियोडोरेस मध्यभारत पर आक्रमण करने भी नहीं आया था। वह एक राजदूत था जो एक यवन राजा और हिन्दू राजा के बीच में मित्र भाव स्थिर बनाये रखने के लिये आया था। इस प्रकार के सम्बन्ध दूसरे राजाओं में भी होंगे और उनके यहाँ भी यवन दूत आते होंगे। हिन्दू राजा भी अपने दूत यवन राजाओं के दरबार में भेजते होंगे। इन सबके नाम का इतिहास को अब पता नहीं हैं परन्तु सेल्यूकस ने भी महाराज चन्द्रगुप्त के दरबार में अपना दूत भेजना

पसन्द किया था, इससे अनुमान होता है कि यवन राजा भारतीय राजाओं के दरबार में अपना दूत भेजना पसन्द करते थे। इतना ही नहीं हेलियोडोरस ने एक गरुड़ध्वज का निर्माण करवाया जिससे स्पष्ट है कि वह या तो वैष्णव धर्म को स्वीकार कर चुका होगा, और यह नहीं तो कम से कम इतना तो मानना चाहिये कि वैष्णव धर्म का वह आदर करता था। यहाँ पर यह बात स्मरण रखने योग्य है कि यूनान की सभ्यता तत्कालीन संसार में सर्वोत्तम मानी जाती थी। इसलिये यूनानियों का भारतीय धर्म का आदर करना साधारण घटना नहीं कही जा सकती। मिनेन्डर ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था इसमें भी कोई सन्देह नहीं है। इसके दरबार में भारतीय विद्वान् और पंडित अवश्य रहते होंगे और उनका यूनानी विद्वानों से मिलना जुलना होता होगा।

यूनानी लोगों का ज्योतिष ज्ञान अच्छा उन्नत था तथा तत्कालीन भारतीय ज्योतिष भी उसी के समान उन्नत थी। दोनों देशों के ज्योतिषियों के पारस्परिक सम्पर्क से और विचार विनिमय से भारतीय ज्योतिष पर यूनानी ज्योतिष का प्रभाव पड़ा है। 'होरा' शब्द जिसका ज्योतिष ग्रन्थों में प्रयोग होता है यूनानी भाषा का है। 'रोमके' 'पोलष' नामक यूनानी बड़े विद्वान् ज्योतिषी थे। भारतीय ज्योतिष भी इनकी विद्वता को स्वीकार करता है। एक ज्योतिषी ने तो यहाँ तक लिखा है कि पाण्डित्य के कारण इन लोगों का ऋषियों के समान आदर करना चाहिये। संस्कृत नाटक पर भी यूना-नियों का कुछ प्रभाव माना जाता है। कुछ काल तक भारत में यह भी रिवाज था कि राजाओं के अन्तःपुर में यूनानी लड़कियाँ रहा करती थीं जो पहरा देने का, स्नान करवाने का, चँवर डुलाने का और शिकार में राजाओं के साथ जाने का काम करती थीं। महाराज चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकस निकेटार की लड़की से विवाह किया था। उसके साथ भी कितने ही यूनानी स्त्री पुरुष आये होंगे। इस प्रकार यूनानियों का और भारतीयों का एक लम्बे अर्से तक पारस्परिक मेल-जोल रहा। और दोनों जातियाँ घुलमिल गईं। भारत में दूसरों की संस्कृतियों को तथा आबादियों को पचा जाने की तथा आत्मसात कर लेने की अद्भुत शक्ति रही है। इसलिये यूनानी सभ्यता और यूनानी रक्त के चिन्ह भारतीय सभ्यता में कहाँ-कहाँ पर हैं यह तो नहीं कहा जा सकता परन्तु इति-हास की दृष्टि से यह मानना चाहिए कि किसी न किसी अंश में यूनानी रक्त और यूनानी ज्ञान भारत में घुलमिल गया है। कुछ काल के बाद भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर एक प्रकार की कला का उदय हुआ जिसको गान्धार कला कहते हैं। इसमें अनेक प्रकार की मूर्तियाँ और बेल-बूटे सम्मिलित हैं। मूर्तियों में महायान के मत के देवी देवताओं की प्रतिमायें हैं। इस काल के विषय में यह निर्विवाद माना जाता है कि यह भारतीय, यूनानी और रोमन कला का सम्मेलन है। इसी प्रकार का सम्मेलन अन्य सांस्कृतिक क्षेत्रों में हुआ होगा परन्तु अब वह बतलाया नहीं जा सकता। यह मूर्त्त सम्मेलन है इसलिए स्पष्ट और दृष्टिगत होता है।

पार्थियन जाति के आक्रमण : ईसा से लगभग १०० वर्ष पूर्व पार्थियन लोग भारत में घुसने का प्रयत्न कर रहे थे। इन लोगों को एक दूसरी जाति खदेड़ रही थी। उनके भय से अपना देश छोड़ कर ये लोग भारत की ओर आने लगे। ईसा से लगभग ६० वर्ष पूर्व एक पार्थियन राजा ने तक्षशिला को अपनी राजधानी बनाया और उसके आस-पास के प्रदेश पर राज्य करने लगा। इस वंश में चतुर्थ राजा गोंडोफरीज हुआ जो पश्चिमी पंजाब और सिन्ध पर राज्य करता था। पार्थियन लोग यूनानी राज्यों में आ घुसे थे। इनके भी छोटे-छोटे कई राज्य सीमा प्रान्त पर स्थापित हो गये थे। इस प्रकार कहीं यूनानी राज्य था और कहीं पार्थियन राज्य। यह दशा ईसा से लगभग १०० वर्ष बाद तक बनी रही। पश्चिमी पंजाब और सिन्ध में यूनानी, पार्थियन और हिन्दू इन तीनों जातियों का लगभग १५० वर्ष तक सम्पर्क और सम्मिश्रण होता रहा। इस काल में गोंडोफरीज का विशेष महत्व है। ईसाई धर्म के इतिहास में ऐसा माना जाता है कि गोंडोफरीज के राज्यकाल में संथयेमस नामक एक ईसाई उपदेशक भारत में आया और उसने यहां ईसाई धर्म का प्रचार किया। कथा इस प्रकार है कि ईसा के देहान्त के पश्चात् उसके १२ शिष्यों ने धर्म प्रचारार्थ सारे संसार को १२ भागों में विभक्त किया। इस प्रकार एक-एक भाग, एक-एक शिष्य के हिस्से में आया। भारतवर्ष संत टोमस के हिस्से में आया। इसी समय एक भारतीय व्यापारी संत टोमस को भारतवर्ष में ले आया। वह व्यपारी यह समझता था कि संत टोमस गृह निर्माण कला में बड़ा दक्ष है। वह महाराज गोंडोफरीज के वास्ते एक सुन्दर महल बनवाना चाहता था। गोंडोफरीज ने राज भवन बनवाने के लिये संत टोमस को बहुत सा धन दिया लेकिन संत टोमस ने सब धन निर्धनों को दान दे दिया। ६ महीने पश्चात् जब राजा ने पूछा कि महल कितना बन गया है तो संत टोमस ने उत्तर दिया कि महल पृथ्वी पर नहीं किन्तु स्वर्ग में बनाया जा रहा है। तत्पश्चात् उसने ईसाई धर्म का प्रचार ऐसी लगन और तल्लीनता के साथ किया कि गोंडोफरीज, उसका भाई, उसके अन्य बन्धु-बान्धव तथा उसकी प्रजा में से अनेक लोगों ने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया। तत्पश्चात् एक दूसरा राजा संत टोमस को अपनी पुत्री और स्त्री की चिकित्सा के वास्ते अपने देश ले गया। संत टोमस ने दोनों की बहुत अच्छी चिकित्सा की परन्तु दोनों देवियों पर उसके व्यक्तित्व का और धार्मिकता का इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। इससे राजा अति क्रुद्ध हुआ और संत टोमस को अति निर्दयता पूर्वक मार डाला। इस कथा में इतना सत्य अवश्य मालूम होता है कि गोंडोफरीज के शासन काल में कोई ईसाई उपदेशक भारतवर्ष में आया और उसने यहाँ अपने धर्म का प्रचार किया और सम्भव है कि कोई दक्षिण का राजा उसको बुलाकर ले गया और वहां या तो उसकी स्वाभाविक मृत्यु हुई या किसी ने उसको मार डाला। यहाँ यह भी उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है कि मद्रास के

पास मैलापुर नामक गांव में एक ईसाइयों का गिर्जाघर है जो बहुत प्राचीन माना जाता है। सम्भव है यह गिर्जाघर २,००० वर्ष पुराना हो, असली गिर्जाघर तो गिर गया होगा, किन्तु समय-समय पर उसी सामग्री से दूसरे गिर्जाघर बनते रहे हों। पार्थियन जाति के हेल-मेल से भारतीय संस्कृति पर जो कुछ भी प्रभाव पड़ा होगा उसके चिन्ह या प्रमाण अब कुछ नहीं मिलते परन्तु यह स्वाभाविक बात है कि लगभग ७५ वर्ष के सम्पर्क और सहवास से एक मिश्रित सी संस्कृति पश्चिमी पंजाब और सिन्ध में अवश्य बन गई होगी जिसमें प्राधान्य तो भारतीय संस्कृति का ही होगा परन्तु यूनानी और पार्थियन प्रभाव भी उस पर किसी न किसी अंश में अवश्य होगा। पार्थियन राज्य का सबसे मुख्य प्रभाव हम यह मान सकते हैं कि महाराज गोंडोफरीज के द्वारा ईसाई धर्म के प्रचार का भारत में प्रारम्भ हुआ। इससे इतना कहा जा सकता है कि ईसाई मत भारत में ईसा की प्रथम शताब्दी में ही आ पहुंचा था परन्तु इसका विशेष प्रचार नहीं हो सका। इने-गिने लोग मैलापुर के आसपास नाम मात्र को इस धर्म को मानते रहे होंगे।

कुशान लोगों के आक्रमण : ईसा की प्रथम शताब्दी के आरम्भ में अर्थात् लगभग सन् २० में यूनानी और पार्थियन राज्य भारत की सीमा पर लुप्त होने लगे थे। कारण यह था कि कुशान जाति के एक वीर सरदार ने जिसका नाम केडफाइसीज था, इस भूभाग पर अपना राज्य जमा लिया और छोटे-छोटे राज्य उसके दबाव से स्वतः ही नष्ट होने लगे। कुशान जाति भी एक अन्य जंगली जाति के दबाव से भारत की ओर भागी थी। इस जाति का प्रथम राजा जिसने भारतवर्ष पर राज्य किया केडफाइसीज प्रथम था। लेकिन सिंधु नदी से पूर्व की ओर यह नहीं बढ़ सका। इसने छोटे-छोटे यूनानी और पार्थियन राज्य जो सीमा प्रान्त में स्थित थे नष्ट कर दिये। इसके बाद कुशान जाति के दूसरे राजा केडफाइसीज द्वितीय ने अपने राज्य की सीमा बहुत बढ़ाई। यह सिंधु नदी से बनारस तक पहुँच गया। इसने उत्तर भारत में जहाँ तहाँ कुशान सरदार नियत कर दिये। उत्तर भारत में काबुल से गाजीपुर तक और उधर कच्छ तक कुशानों के सिक्के बहुत मिले हैं, इन पर किसी राजा का नाम नहीं है परन्तु यह अनुमान किया गया है कि ये केडफाइसीज द्वितीय के जारी किये हुए हैं। केडफाइसीज द्वितीय का रोम राज्य से भी कोई सम्बन्ध था। तत्कालीन रोम सम्राट को भारत से बधाई भेजी गई थी जो केडफाइसीज की ही भेजी हुई प्रतीत होती है। इस राजा के सोने के सिक्के रोम के सिक्कों से बहुत मिलते जुलते हैं, इससे विदित होता है कि इस पर रोम संस्कृति का प्रभाव था। उस समय रोम राज्य उन्नत और समृद्धिशाली राज्य माना जाता था। इसके साथ दूर दूर के देश व्यापार करते थे। दक्षिण भारत और रोम राज्य में परस्पर खूब व्यापार हुआ करता था। यह युग अनेक संस्कृतियों के सम्मिश्रण का युग था।

महाराज कनिष्क के समय की संस्कृति

केडफाइसीज़ द्वितीय के बाद कनिष्क राजा हुआ। कई प्रमाणों के आधार पर इसका राज्य सन् १२० ईसवी निश्चित किया गया है। यह बड़ा वीर और प्रतापशाली राजा था। इसकी कीर्ति तिब्बत, चीन, और मंगोलिया तक फैली हुई थी। मथुरा ज़िले के माट नामक गाँव में इसकी प्रतिमा मिली है जिस पर कनिष्क का नाम खुदा हुआ है। विन्ध्याचल से ऊपर की ओर सारे उत्तर भारत पर इसका आधिपत्य था। इसके सिक्के काबुल से गाज़ीपुर तक मिले हैं। उनकी संख्या से प्रगट होता है कि इसने बहुत समय तक राज्य किया है। उसके शासन काल में ईराक भी रोम राज्य में मिल चुका था, जिससे उस राज्य की सीमा भारतीय सीमा से केवल ६०० मील दूर रह गई थी। कनिष्क तत्कालीन रोम सम्राट ट्राजन से अवश्य परिचित होगा। कनिष्क ने पाटलिपुत्र पर भी आक्रमण किया था। ऐसी किंवदन्ती है कि इस अवसर पर अश्वघोष नामक प्रसिद्ध बौद्ध कवि और साधु को कनिष्क अपने साथ पाटलिपुत्र से अपनी राजधानी पुरुषपुर अर्थात् पेशावर ले गया था। अश्वघोष ने बुद्ध चरित नामक एक प्रसिद्ध काव्य संस्कृत में लिखा है। यह कवि बहुत उच्च श्रेणी का माना जाता है। विद्वानों का मत है कि कालिदास, अश्वघोष से बहुत ऊँचा कवि अवश्य है परंतु उसकी कविता पर अश्वघोष की काव्य कला की गहरी छाप है। बुद्ध चरित में, बुद्ध के जन्म और जीवन की मुख्य घटनाओं का सुन्दर छन्दोबद्ध वर्णन है। अश्वघोष के प्रभाव से इसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। बौद्ध होने के पश्चात् इसने अपनी राजधानी के पास चार सौ फीट ऊंचा एक स्तम्भ और उसी के निकट एक भव्य और विशाल बौद्ध मठ बनवाया। इस स्तम्भ के खंडहर ११वीं शताब्दी तक मौजूद थे। अलबरूनी ने इनको देखा और अपनी पुस्तक में इनका उल्लेख भी किया।

कनिष्क ने काशगर, यारकन्द और खोतान पर आक्रमण किया था और इन तीनों नगरों को अपने राज्य में मिला लिया था। उसके शासन काल में इन तीनों नगरों में बौद्धधर्म का प्रचार विशेष कर होने लगा था और वहाँ पर कई बौद्ध मठ बन गये थे, इनमें हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदायों के भिक्षु रहा करते थे।

कनिष्क ने बौद्ध धर्म तो स्वीकार कर लिया था परन्तु साथ ही वह दूसरे धर्मों को भी मानता था। वह सूर्य, चन्द्र और यूनानी, फारसी तथा भारत के कई प्रकार के देवी देवताओं की भी पूजा करता था। उसके सिक्कों पर इन सब देवों की प्रतिमायें बनी हुई मिलती हैं। उसके ऐसे भी कई सिक्के मिले हैं जिन पर बुद्ध शाक्य मुनि की प्रतिमा बनी हुई है और उसका नाम यूनानी अक्षरों में लिखा हुआ है। उपरोक्त अनेक देवों के साथ-साथ बुद्ध प्रतिमा का होना एक विचित्र सी बात प्रतीत होती है परन्तु महायान धर्म में बौद्ध धर्म का रूपान्तर हो चुका था। अब बुद्ध मनुष्य नहीं देव

माने जाते थे। लोगों का यह विश्वास होता जाता था कि बुद्ध परमेश्वर हैं और अनेक बोधिसत्व उनके परिचारक हैं। इनके द्वारा भक्तों की प्रार्थनायें बुद्ध तक पहुँचती हैं और भगवान बुद्ध अपने भक्तों की इच्छायें पूरी करते हैं। जैसा कनिष्क का धर्म था उसी से मिलता जुलता तत्कालीन भारतवर्ष का धर्म था। संस्कृतियों का सम्मिश्रण होने लग गया था। कनिष्क के समय में ही गान्धार कला का उदय हुआ था। यह कला यूनानी, रोमन और भारतीय कलाओं के मेल से बनी थी। कनिष्क के गुरु का नाम पार्श्व था, उसकी सलाह से कनिष्क ने बौद्ध धर्म का असली स्वरूप निश्चित करवाने के लिये बौद्ध भिक्षुओं की एक बहुत बड़ी सभा करवाई थी। इस सभा में आने वाले अधिकांश भिक्षु महायान सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इस सभा का प्रधान अश्वघोष को बनाया गया था। उपस्थित विद्वानों ने विचार करके बौद्ध धर्म के तत्व निश्चित किये और उनको एक पुस्तक के रूप में भाषाबद्ध किया गया। इस पुस्तक का नाम महाविभाषा रक्खा गया। यह मूल ग्रन्थ अब भारत में नहीं मिलता। इसका चीनी अनुवाद चीन देश में मिलता है। महाराज कनिष्क ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये लगभग वैसा ही प्रयत्न किया जैसा महाराज अशोक ने। यह भारतीय संस्कृति का महत्व था कि कनिष्क जैसे परम प्रतापी विदेशी राजाओं ने इसे स्वीकार किया।

कनिष्क के उत्तराधिकारियों के समय में भारतीय संस्कृति : कनिष्क के पुत्र का नाम हविष्क था। अपने पिता के समान वह भी बौद्ध विद्वानों को आश्रय देता था। उसका राज्य भी काबुल से मथुरा तक फैला हुआ था। बुद्ध के साथ साथ अन्य धर्मों के देवों की भी वह उपासना करता था। वह यूनानी, ईरानी और भारतीय देवों को मानता था। हविष्क का पुत्र वसुदेव था। नाम से ही प्रगट है कि वह वैष्णव धर्मावलम्बी था। साथ ही वह शिव की भी पूजा करता था। उसके सिक्कों पर शिव की प्रतिमा बनी हुई है। शिव के पास नंदी की भी प्रतिमा है। ये सिक्के मथुरा के आस पास बहुत मिलते हैं। अनुमानतः सन् २२० में कुशान राजा का अंत हुआ होगा।

कुशान काल का भारत : इस युग की भारतीय संस्कृति मिश्रित संस्कृति थी। कुशान लोग शासक थे, इसलिये उनके रहन सहन, खान पान और आचार विचार का प्रभाव भारतीय संस्कृति पर पड़े बिना नहीं रह सकता था, साथ ही उन्नत और पुष्ट भारतीय संस्कृति का प्रभाव भी कुशान शासकों को स्वीकार करना पड़ा। उन लोगों का अनुकरण तत्कालीन कुशान जनता ने किया होगा और अधिक नहीं तो हजारों कुशान लोगों ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया होगा। भारतीय धर्म स्वीकार कर लेने के पश्चात् कुशान और भारतीय में कोई भेद नहीं था। इसलिए परस्पर विवाह सम्बन्ध भी बहुत हुए होंगे। कनिष्क संस्कृत पंडितों का आश्रयदाता था। उसको प्रसन्न करने के लिए उच्चकुलीन कुशान लोगों ने संस्कृत भाषा पढ़ना भी

आरम्भ किया होगा। कनिष्क की राज सभा में अश्वघोष के अतिरिक्त और भी संस्कृत के पंडित थे। ऐसा अनुमान किया जाता है कि प्रसिद्ध वैद्य चरक कनिष्क के ही दरबार में रहता था। इस प्रकार महाराज कनिष्क मिश्रित धर्म, मिश्रित कला, मिश्रित संस्कृति और मिश्रित पोशाक का परिपोषक था।

शक क्षत्रपों के समय की संस्कृति : ईसवी संवत् के आरम्भ काल में भारतवर्ष में शक जाति के लोगों ने प्रवेश करना शुरू किया था। ये लोग सीथियन जाति की एक शाखा थी। इनके एक सरदार ने तक्षशिला में और दूसरे ने मथुरा में अपने अपने राज्य स्थापित किये थे। ये लोग पहिले शत्रप और फिर क्षत्रप कहलाने लगे। शत्रप शब्द फारसी भाषा का है और इसका अर्थ है 'गवर्नर'। उस समय सीमा प्रान्त पर पार्थियन लोगों के राज्य थे जिनमें गोंडोफरनीज एक प्रसिद्ध शासक था। पार्थियन लोगों की सभ्यता में ईरानी सभ्यता का बड़ा मिश्रण था। ये लोग ईरानी भाषा के अनेक शब्दों का व्यवहार करते थे, विशेषकर प्रबन्ध विषयक शब्दों का। शक लोग पार्थियन राजाओं के अधीन थे। इसलिए वे आरम्भ में शत्रप कहलाये। ज्यों ज्यों भारतीय संस्कृति का उन पर रूप चढ़ने लगा त्यों त्यों वे लोग संस्कृत शब्दों का अधिक व्यवहार करने लगे। इस प्रवाह में शत्रप शब्द क्षत्रप बन गया। वैसे क्षत्रप भी संस्कृत भाषा का शब्द नहीं है लेकिन काट छाँट कर इसका संस्कृत में प्रवेश किया जा सकता है। तक्षशिला और मथुरा के क्षत्रप बौद्ध धर्म को मानते थे। दोनों ही में अनेक शिला लेख मिले हैं, जिनसे यह बात प्रगट होती है। इन लोगों की वंश उपाधि थी 'देवपुत्र शाहानशाही'। इसमें शाहानशाही भी फारसी में शहनशाह का अपभ्रंश है। ये लोग आरम्भ में पार्थियन लोगों के अधीन रहे तब तक तो केवल शत्रप या क्षत्रप कहलाते रहे। कालान्तर में पार्थियन राजाओं का तो लोप हो गया परन्तु शक क्षत्रप जो भारत के अन्दर घुसे हुए थे वे लोग नवीन आक्रमणों से दूर थे इसलिए वे सुरक्षित रहे और उनके राज्य भी कुछ समय तक बने रहे। इस प्रकार जब वे स्वतन्त्र हो गये तब उन्होंने देवपुत्र शाहानशाही की उपाधि धारण कर ली। तक्षशिला के क्षत्रप तो नवीन आक्रमणों के पहिले धक्के से ही गिर पड़े परन्तु मथुरा के क्षत्रप बने रहे और चतुर्थ शताब्दी तक राज्य करते रहे। इन लोगों ने सर्व प्रकार भारतीय संस्कृति स्वीकार कर ली थी। वे भारतीय धर्म को मानते थे और यहीं के लोगों में इनके विवाह होने लगे थे। इनके साथ आकर मथुरा के आसपास बसने वाले शक जाति के लोग भी भारतीयों में घुलमिल गये थे। फिर भी शक लोगों के कुछ ऐसे रिवाज थे जो इनके ही थे। ये लोग अपने पूर्वजों के स्मारक बनवाया करते थे। ये स्मारक 'देवपुल' कहलाते थे। इस तरह के स्मारकों के चिन्ह मथुरा के पास मिले हैं। मथुरा के क्षत्रप ने रामगुप्त पर चढ़ाई करने की धमकी दी थी। रामगुप्त गुप्त वंश का राजा था। इससे प्रतीत होता है

कि मथुरा के शक शासक बलवान राजा थे।

मालवा और दक्षिण के शक : कुछ शक सरदार मालवे में जा पहुंचे थे और वहाँ पर राज्य स्थापित कर लिया था। कुछ महाराष्ट्र तक पहुँच गये थे। महाराष्ट्र के क्षत्रप शासकों के सिक्के पार्थियन राजाओं के सिक्कों से मिलते जुलते हैं। इससे विदित होता है कि वे लोग गोंडोफरनीज के अधीन थे। महाराष्ट्र के क्षत्रपों का राज्य अजमेर और पुष्कर से नासिक, पूना और पश्चिमी घाट तक फैला हुआ था और इसमें सौराष्ट्र और काठियावाड़ भी सम्मिलित थे। ये लोग महा क्षत्रप कहलाते थे। इनकी वंश उपाधि 'क्षहराट' थी। इस वंश का अन्त, आन्ध्र वंश के राजा गौतमी पुत्र श्री सातकरणी ने किया था। गौतमी पुत्र ने 'क्षहराट' वंश के सब सिक्कों पर अपनी मोहर भी ठुकवा दी थी। ऐसे सिक्के इन क्षत्रपों के अन्त के प्रमाण हैं। महाराष्ट्र में इन शकों के कारण वर्ण व्यवस्था में शिथिलता आने लगी थी और हिन्दू धर्म के अन्य बन्धन भी कुछ ढीले पड़ने लगे थे। यह बात स्वाभाविक ही थी। शक लोग जन्म से हिन्दू नहीं थे। हिन्दू संस्कृति स्वीकार कर लेने पर भी इनमें विदेशीपन था और इनके सम्पर्क का प्रभाव कम से कम उन लोगों पर पड़े बिना नहीं रह सकता था जिनसे मिलना जुलना अधिक हुआ करता था। जब गौतमी पुत्र श्री सातकरणी ने क्षहरात वंश का उच्छेद किया तो लोगों ने उसका बड़ा अभिनन्दन किया। उसने बौद्धों को और ब्राह्मणों को खूब दान दिया और ऐसा प्रगट किया मानो हिन्दू धर्म पहिले नष्ट हो गया था और अब पुनः स्थापित किया गया हो। महाराष्ट्र के क्षत्रप शक संवत का व्यवहार करते थे। यह संवत उस समय चला ही था। कुशान शासक भी उसी का उपयोग करते थे। इससे जान पड़ता है कि महाराष्ट्र के क्षत्रप पहले पार्थियन राजाओं के और फिर कुशान राजाओं के अधीन रहे होंगे। शक संवत् अब तक प्रचलित है और पिछले लगभग १,८०० वर्ष से विक्रम संवत् के साथ साथ इसका व्यवहार होता जा रहा है। इससे प्रकट होता है कि शकों का राज्य भारत में कितना विस्तृत और कितना दृढ़ रहा होगा। साथ ही शक संस्कृति का भारतीयों पर कितना प्रभाव पड़ गया होगा। महाराष्ट्र की एक शक राजकुमारी का नाम दक्षमित्रा था और उसका विवाह नासिक के गवर्नर ऋषभदत्त के साथ हुआ था। इससे प्रगट होता है कि शक लोग भारतीयों के साथ कितने घुलमिल गये थे।

मालवा में क्षत्रपों का राज्य लगभग १५० वर्ष तक रहा। इस वंश में आठ राजा हुए। दूसरे राजा ने ही हिन्दू संस्कृति स्वीकार कर ली थी और अपना नाम जयदामा रख लिया था। इस वंश में परम प्रसिद्ध राजा रुद्रदामा, या रुद्रदामन हुआ है। इसकी राजधानी उज्जैन थी। इसने दो बार आन्ध्र वंश के वीर राजा को युद्ध में हराया था। इसके सिक्कों पर ब्राह्मी, खरोष्ठी, और यूनानी अक्षरों का व्यवहार किया गया है। इसकी पुत्री का विवाह आन्ध्र वंश के राजा वाशिष्ठी पुत्र श्री पुलुमाई के

साथ हुआ था। परन्तु इसी के साथ रूद्रदामन का दो बार युद्ध हुआ। रूद्रदामन वीर तो था ही परन्तु वह पंडित भी था। संस्कृत भाषा के प्रति उसकी रुचि थी और विविध कलाओं से उसको प्रेम था। साहित्य और कला को वह आश्रय देता था। साथ ही वह उत्तम शासक भी था। कृषि की उन्नति का उसको पूरा ध्यान था। काठियावाड़ में जल संचय के लिये उसने एक बहुत बड़े बांध की मरम्मत करवाई थी। उसका शिलालेख सुन्दर संस्कृत में लिखा हुआ है जो कालिदास की सी भाषा प्रतीत होती है।

शकों का विरोध : शक लोगों ने भारतीय संस्कृति स्वीकार कर ली थी और यहीं के राजवंशों में विवाह सम्बन्ध होने लगे थे, तो भी कट्टर लोग इनके विरोधी थे और इनको विदेशी ही मानते थे। महाराज चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने जब शकों के राज्य का अन्त किया तो लोगों ने इसका अभिनन्दन किया था। मथुरा के शकों का उच्छेद महाराज समुद्रगुप्त ने किया था। इस समय शक संस्कृति का कोई चिन्ह दृष्टिगत नहीं होता, केवल शक संवत उनका स्मारक रह गया है। भारतवर्ष की वर्ण व्यवस्था ने शकों को आत्मसात् कर लिया। शासक क्षत्रियों में, विद्वान् ब्राह्मणों में, व्यापारी वैश्यों में और मज़दूर लोग शूद्रों में घुलमिल गये। भारत में आने वाली सब जातियां हिन्दुओं ने इसी प्रकार आत्मसात् कर लीं।

भारत में हूण : गुप्त वंश के सम्राट महाराज स्कन्द गुप्त के राज्य में प्रथम बार हूण लोगों का भारत पर आक्रमण हुआ। हूण लोग मध्य एशिया से आये थे और बड़े जंगली तथा असभ्य थे। ये लोग बड़े बलवान्, बहुत तेज दौड़ने वाले, घोर हिंसक और भयंकर थे। टिड्डी दल के समान इनकी संख्या थी। जिधर जाते थे उधर खेतों को भस्म कर डालते थे, और लोगों को मार मार कर पृथ्वी को पाट दिया करते थे। चलते हुए, दौड़ते हुए, ये बड़ी तीक्ष्ण आवाज़ से चिल्लाते थे, पशुओं की तरह से विचित्र प्रकार से मुँह बनाते थे तथा घोर कुरूप थे। इनके कन्धे बड़े चौड़े चौड़े होते थे, नाक चपटी थी, आंखें बिलकुल छोटी और सिर बहुत बड़े थे। इनके दाढ़ी आती ही नहीं थी। भारतवर्ष में ये लोग जिधर जाते थे उधर प्रलय बाढ़ सी आ जाती थी। लोग इनसे डरते थे और घृणा भी करते थे। इनके आक्रमण के सामने कोई चीज़ नहीं बचती थी। पाँचवीं शताब्दी के मध्य में हूणों के हमले आरम्भ हुए और सातवीं शताब्दी के मध्य तक जारी रहे। इनके निरन्तर आक्रमण से गुप्त साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गया। सारे देश की सम्पदा लुप्त हो गई और चारों ओर, दुःख और दैन्य का तांडव होने लगा। महाराज स्कन्द गुप्त ने हूणों के हमलों का अपूर्व साहस और वीरत्व के साथ सामना किया। इनके प्रारम्भिक आक्रमणों को उन्होंने बड़े पुरुषार्थ के साथ रोका लेकिन इसमें धन और जन की इतनी हानि हुई कि गुप्त

साम्राज्य सह नहीं सका। १० वर्ष बाद टिड्डियों के बादलों के समान हूण लोग फिर भारत पर टूट पड़े। गान्धार प्रान्त पर इन्होंने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। वहाँ के कुशान वंशीय राजा का वध करके लोगों के साथ इन्होंने बड़ी क्रूरतायें कीं। फिर दस वर्ष बाद गुप्त साम्राज्य पर इनका आक्रमण हुआ। इस बार साम्राज्य के पश्चिमीय भाग को हूण लोगों ने दबा लिया। इस युद्ध में स्कन्दगुप्त की विपुल धन क्षति हुई। उसका राज कोष खाली हो गया, उसकी स्वर्ण मुद्रायें जो पहले एक सौ आठ ग्रेन सोने की बनतीं थी वह केवल अब ७३ ग्रेन की बनने लगीं। सन् ५०० ईसवी से कुछ वर्ष पूर्व हूणों का फिर एक प्रबल आक्रमण हुआ। इस बार हूणों ने मालवा प्रान्त पर अपना राज्य जमा लिया। इनके सरदार तोरमान ने महाराजाधिराज की उपाधि धारण कर ली। गुप्त सम्राट भानुगुप्त ने तोरमान की अधीनता स्वीकार की और इसी प्रकार भारत के दूसरे राजा भी उसके अधीन हो गये। सन् ५०२ में तोरमान की मृत्यु हो गई। उसने अपने राज्य को इतना सुदृढ़ कर लिया था कि उसकी मृत्यु पर कोई उत्पात नहीं हुआ और उसका पुत्र मिहिरगुल शान्तिपूर्वक राज्य सिंहासन पर बैठ गया। उसने अपनी राजधानी मालवे में नहीं रखी। उसने साकल (स्यालकोट) को अपनी राजधानी बनाया। उस समय हूणों का राज्य ईरान की सीमा से और चीन की सीमा से मालवे तक फैला हुआ था और मिहिरगुल इस विस्तृत साम्राज्य का स्वामी था। अपनी जाति के अन्य व्यक्तियों को भांति मिहिरगुल भी घोर निर्दयी था। यह जिधर जाता था उधर हजारों लोगों का बध करवा देता था, मन्दिरों और मठों को नष्ट करा देता और खेतों को जलवा देता था। इसकी क्रूरताओं से देश अति त्रस्त हो गया और चारों ओर हाहाकार मच गया। तब मध्य भारत के राजा यशोवर्मा के नेतृत्व में भारतीय राजाओं ने मिहिरगुल से युद्ध करने की तैयारी की। सबने मिल कर सन् ५२८ ईसवी में उसका सामना किया और उसको हरा दिया। मालवे से भाग कर मिहिरगुल ने काश्मीर और गान्धार में स्थानीय राजाओं से अनेक युद्ध किये, जिसमें इसने घोर निर्दयता दिखाई। अनुमानतः सन् ५४२ में मिहिरगुल का देहान्त हुआ।

हूण हिन्दुओं में मिले : हूण लोगों की कोई संस्कृति नहीं थी। ये नितान्त जंगली लोग थे। भारतवर्ष में कुछ दिन रहने के बाद इन लोगों ने भारतीय रीति रिवाज, वेश भूषा और भाषा ग्रहण कर ली थी। प्रायः सब लोगों ने हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया था। मिहिरगुल स्वयं शिव का उपासक था। इसके जारी किये हुए सिक्कों पर शिव और नन्दी की प्रतिमा बनी हुई है और 'जयतु वृष भध्वजः' ऐसा लिखा हुआ है। एक शिला लेख में यह भी लिखा है कि शिव के अतिरिक्त मिहिरगुल किसी के सामने अपना सिर नहीं झुकाया करता था। ऐसा प्रतीत होता है कि मिहिरगुल रावण के समान दम्भी और उसी के समान शिव का परम भक्त था। क्रूर और

निर्दय हूण लोग बौद्ध धर्म को पसन्द नहीं कर सकते थे, उसकी दया और कोमलता उनके अनुकूल नहीं थी। इसलिये उन्होंने शैव धर्म स्वीकार किया था। हूण लोग भारतीयों में घुलने मिलने लगे। कालान्तर में यह पता चलना भी कठिन हो गया कि कौन हिन्दू है, कौन नहीं। हूणों के सरदार और योद्धा राजवंशों में मिल गये। साधारण सैनिक गूजर आदि जातियों में विलीन हो गये और कितने ही लोग कृषक बन गये। ये लोग टिड्डियों के समान भारत में घुसे परन्तु इस समय दस बीस व्यक्ति भी ऐसे नहीं मिलते जो अपने आप को हूण कहते हों। कारण यह है कि हिन्दूओं ने पूर्ण रूपेण इनको आत्मसात कर लिया।

हूण और राजपूत : इतिहास के कुछ प्रसिद्ध विद्वानों ने कुछ समय पूर्व यह मत निश्चित किया था कि वर्तमान राजपूत हूण जाति के और गूजर जाति के हैं। इन विद्वानों के मतानुसार गूजर भी हूणों की भांति बाहर से आयी हुई एक जंगली जाति है जो भारत में आने के बाद सभ्य और सुसंस्कृत बनी है। इस मत की पुष्टि के लिए इन विद्वानों ने कई प्रमाण दिये हैं। मुख्य प्रमाण यह हैं कि (१) राजपूतों के राज्य छठी और सातवीं शताब्दी में स्थापित हुए। (२) इनके राज्य आबू के आसपास सांभरझील के पास और भीनमाल के, इर्दगिर्द कायम हुए। (३) एक कथा है कि आबू पर ऋषि वशिष्ठ ने यज्ञ करके चार क्षत्री अर्थात चौहान, चालुक्य, प्रतिहार, और परमार उत्पन्न किये। इन क्षत्रियों के वंशजों ने म्लेच्छों का संहार किया, इस कथा का भाष्य यह है कि हूण लोगों को किसी ब्राह्मण ने आबू पर यज्ञ करके शुद्ध किया और उनको राजपूत घोषित किया। (४) राजपूत लोगों में शस्त्रों की और हाथी घोड़ों की पूजा होती है जो हूणों की प्रथा है। (५) इन लोगों में जौहर और सती प्रथा भी हूणों की प्रथायें हैं। (६) राजपूतों के गोत्र और उनके पुरोहितों के गोत्र एक होते हैं। इसका कारण यह है कि इन लोगों ने शुद्ध करने वाले पुरोहितों के गोत्र धारण कर लिये।

वर्तमान इतिहास शोध से यह सिद्ध हो गया है कि ये सब धारणायें कल्पना के आधार पर खड़ी की गई हैं। राजपूतों के राज्य छठी और सातवीं शताब्दी से पहिले भी थे। आबू के आसपास पुनः राजपूतों के राज्यों की स्थापना, संयोग की बात है। आबू पर वशिष्ठ के यज्ञ की कथा दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी में रची गई है। शास्त्रों और हाथी, घोड़ों की पूजा अति प्राचीन प्रथायें हैं। सती और जौहर भारत में पहिले भी होते थे। वर्तमान इतिहास की खोज से यह अवश्य पता लगा है कि हूण राजकुमारियों के विवाह राजपूत घरानों में हुए हैं। यहां तक कि मेवाड़ के एक राजा अल्लट नामक ने एक हूण राजकुमारी से विवाह किया था। इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार के विवाह हूण और राजपूतों में अनेक हुए होंगे। हूण लोग लड़ाकू जाति के थे इसलिये इनके सरदारों के परिवार राजपूत सरदारों के परिवारों में

और सैनिक लोग सैनिक परिवारों में मिल गये होंगे। राजपूतों के छत्तीस वंश माने जाते हैं, उनमें हूण वंश भी सम्मिलित है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राजपूत हूण तो नहीं हैं परन्तु हूण लोग इनमें घुलमिल गये हैं। इसी प्रकार हूण लोग दूसरी जातियों में भी घुले मिले होंगे।

अध्याय अष्टम

अरब और भारत का सम्बन्ध

अरब में परम्पराएँ : प्राचीन काल से अरब में यह विचार परम्परा चली आ रही थी कि अरब का भारत से प्राचीन सम्बन्ध है। हदीसों और कुरान की टीकाओं में उल्लेख है कि जब हज़रत आदम जन्नत (स्वर्ग) से निकाले गये तो वे भारतवर्ष में उतारे गये थे। भारतवर्ष को प्राचीन काल से अरब लोग 'जन्नतनिशाँ' अर्थात् स्वर्गतुल्य मानते थे। जब आदम स्वर्ग से उतरे तो उन्होंने अपना प्रथम चरण स्वर्ण द्वीप या लंका में रखा और फिर भारत में उतरे। जिस स्थान पर वे उतरे उसको अरब लोग दजनाथ कहते हैं। बहुत सम्भव है कि दजनाथ दक्खिन या दक्षिण का अपभ्रंश हो। दक्षिण भारत में अनेक प्रकार के मसाले और चन्दन आदि सुगन्धित वृक्ष मिलते हैं। अरब लोगों का विश्वास है कि हज़रत आदम इन बहुमूल्य पदार्थों को अपने साथ जन्नत से लाये थे। अमरूद को अरब लोग जन्नत का मेवा मानते हैं और यह भारतवर्ष में ही पाया जाता है। मीर आजाद बिलग्रामी ने अपने ग्रन्थ 'सुबह तुल्मरजाक फी आसारे हिन्दोस्तान' में भारतवर्ष की बहुत प्रशंसा की है। उसमें लिखा है कि हज़रत आदम सबसे पहले भारतवर्ष में ही उतरे और यहीं पर उनको ईश्वर का आदेश प्राप्त हुआ। इससे स्पष्ट है कि यह देश परम पवित्र है। उसने यह भी लिखा है कि मोहम्मद साहब की ज्योति हज़रत आदम के मस्तक में अमानत के रूप में रखी हुई थी अर्थात् मोहम्मद साहब का प्रकाश इसी देश में हुआ था। हज़रत कहा करते थे कि "मुझे भारतवर्ष की ओर से ईश्वरीय सुगन्ध आती है।"

भारत और अरब में व्यापार : भारतवर्ष के साथ अरब देश का अति प्राचीन काल से व्यापार होता था। यह नहीं कहा जा सकता कि इसका कब आरम्भ हुआ, परन्तु अनुमान किया जा सकता है कि ईसा से कई हजार वर्ष पहले इसका आरम्भ हुआ होगा। सम्भव है कि मोहंजुदाड़ो और हड़प्पा के समय से भी पूर्व अर्थात् ईसा से लगभग ४,००० वर्ष पूर्व यह व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुआ हो। यह तो पिछले पृष्ठों में बतलाया जा चुका है कि मोहंजुदाड़ो और हड़प्पा का ईराक से और दक्षिण भारत से व्यापारिक सम्बन्ध था। यदि इतने दूरस्थ देशों से उस समय सम्बन्ध जारी रखा जा सकता था तो प्रत्यक्षतः दक्षिण भारत और अरब में भी उस अति प्राचीन काल में व्यापारिक सम्बन्ध चलता होगा।

व्यापार का मार्ग : उस समय अरब लोग मिस्र और काम (भूमध्य सागरतट) के नगरों से चल कर स्थल मार्ग से लाल सागर के किनारे यमन तक पहुँचते थे।

वहाँ से पाल वाली नावों पर सवार होते थे । इसके द्वारा कुछ लोग तो अफ्रीका चले जाते थे और कुछ हजरमौत, यमन, बहरीन और ईराक के किनारे-किनारे चलते हुए फारस की खाड़ी के तट के पास-पास बलुचिस्तान के बन्दरगाह पर जा पहुँचते थे । इस बन्दरगाह का नाम तेज था । यहाँ से आगे बढ़कर सिन्ध के बन्दरगाह देवल को पहुँच जाते थे । इससे आगे थाना और खम्भात तक चले जाते थे। थाना उस समय काठियावाड़ का बन्दरगाह था। भारतवर्ष के पश्चिमी किनारे के पास नाव चलती हुई कालीकट और कन्याकुमारी तक पहुँचा करती थी और वहाँ से मद्रास से बन्दरगाहों का चक्कर लगाती हुई बंगाल की खाड़ी में घुसती थी। वहाँ से बर्मा तक अरब व्यापारी पहुँचा करते थे। सुलेमान सौदागर ने इस मार्ग का वर्णन करते हुए लिखा है कि पहले बसरे और यमन से सब चीजें सैराफ में पहुँचती थीं। वहाँ से जहाज रवाना होते थे । और वहीं से पीने का मीठा पानी साथ लिया जाता था । यह जहाज मस्कत पहुँचते थे । यहाँ कुछ चीजें उतारी जाती थीं, कुछ लादी जाती थीं और फिर पीने का पानी साथ लिया जाता था। यहाँ से रवाना होकर ये जहाज भारतवर्ष के बन्दरगाह कोलममली पर पहुँचते थे। यहाँ पर जहाज बनाने और मरम्मत करने का कारखाना है । एक दूसरे अरब यात्री खुर्दाज़बा ने बसरे से भारत के मार्ग का और दूरियों का विवरण दिया है । वह लिखता है कि बसरे से रवाना होकर जहाज 'सारा' पहुँचा करते थे। यह स्थान सिन्ध और फारस के बीच की सीमा है। बसरे और सारा के बीच १८३ फरसंग का फासला है और मार्ग में सात टापू आते हैं । जहाज इन टापुओं में ठहरा करते हैं। सारा से रवाना होकर जहाज देवल पहुँचते हैं। देवल सिन्ध का बन्दरगाह है। देवल से रवाना हो कर जहाज औतगीन पहुँचते हैं। खुर्दाज़बा लिखता है कि औतगीन से भारत की हद शुरू होती है। सारा से औतगीन १४ दिन का मार्ग है । उस समय जहाज एक दिन में लगभग ३½ फरसंग चला करते थे और एक फरसंग ५ मील का माना जाता था । औतगीन से कौली, सन्दान और मली होते हुए १३ दिन में जहाज बलीन पहुँच जाया करते थे। बलीन से संजली और कवश्काम और गोदावरी के मुहाने तथा कीलकान को पार कर औरन-चीन पहुँच जाते थे। इसके अतिरिक्त एक और दूसरा मार्ग था। बलीन से जहाज स्वर्ण द्वीप या लंका पहुँचते थे और वहाँ से जावा चले जाते थे। कुछ जहाज बलीन से ही सीधे चीन चले जाते थे ।

भारत की उपज और व्यापार : एक बार हज़रत उमर ने एक अरब यात्री से पूछा था कि भारत के सम्बन्ध में आपकी क्या सम्मति है । उसने संक्षेप में यही उत्तर दिया कि भारत की नदियाँ मोती हैं, पर्वत लाल और वृक्ष इत्र हैं। भारतवर्ष को अरब लोग उपजाऊ, सम्पन्न और बहुमूल्य पदार्थों का केन्द्र समझते थे। इसलिए अनेक कठिनाइयों को झेल कर भी वे भारत के साथ व्यापार करते थे। भारत में आने के लिए फारस की खाड़ी के बाद अरब लोगों को सबसे पहिले बलुचिस्तान का

तेज नामक बन्दरगाह मिलता था। वहां से ये लोग सिन्ध के देवल नामक बन्दरगाह पहुँचते थे। गुजरात के प्रसिद्ध बन्दरगाह थाना खम्भात, सोपारा और जैमूर थे। ये सब बन्दरगाह गुजरात में थे। इनके अतिरिक्त मद्रास में कोलममली, मलाबार, और कन्याकुमारी के बन्दरगाह थे। देवल के विषय में इब्न हौकल नामक एक अरब यात्री ने लिखा है कि यह व्यापार की बहुत बड़ी मन्डी है और यहां अनेक प्रकार का व्यापार होता है। एक अरब यात्री ने नवीं शताब्दी में भारतवर्ष की उपज का उल्लेख करते हुए लिखा है कि यहां के पानी में मोती और अम्बर होता है, पहाड़ों में जवाहिरात और सोने की खानें हैं। जानवरों के मुंह में हाथी दाँत हैं। यहां आबनूस, बैंत, जद, कपूर, लौंग, जायफल, बक्कम, चन्दन और सब प्रकार के सुगन्धित द्रव्य होते हैं। यहां के पक्षियों में तोते और मोर प्रसिद्ध हैं। यहां पर मुश्क या कस्तूरी और जुबादमुश्क मिलती है। इब्न खुर्दाज़बा ने भारतवर्ष में उत्पन्न होने वाले पदार्थों की एक सूची दी है, जो भारत से अरब और ईराक जाया करते थे। वह सूची इस प्रकार है—सुगन्धित लकड़ियां, चन्दन, कपूर, लौंग, जायफल, कबाब चीनी, नारियल, सन के कपड़े, रुई के मखमली कपड़े, हाथी दांत, लाल, मोती, बिल्लोरी, काली मिर्च, सीसा, बक्कम, कुट, बांस और बेंत। मसऊदी और बुशारी ने सम्मात के बने हुए जूतों की बड़ी प्रशंसा की है। अरब के लोगों को इन जूतों का बड़ा शौक था इसलिये हजारों की तादाद में ये जूते भारत से अरब जाया करते थे। थाना (बम्बई) के कपड़े प्रसिद्ध थे। इनमें से कुछ तो थाना नगर में बनते थे और कुछ देश के भीतरी भाग से आते थे। ये सब थाना के कपड़े कहलाते थे। मुसदूर बिन मुहलहिल अरब यात्री दक्षिण भारत में आया था। उसने लिखा है कि यहां मिट्टी के बर्तन बनते हैं जो गजायर (सुगन्धित मिट्टी) कहलाते हैं। ये हमारे देश में चीनी बर्तनों के नाम से मिलते हैं परन्तु दरअसल ये चीनी के नहीं हैं। कोलम (ट्रावनकोर की मिट्टी) का रंग मैला होता है और चीनी मिट्टी सफेद होती है। यहां सागौन की लकड़ी बहुत अच्छी होती है। यह सौ हाथ तक लम्बी होती है। उसके अतिरिक्त बक्कम, बेंत और नीजी की लकड़ी भी यहां बहुत अच्छी मिलती है। व्यापारी लोग ऊद, कपूर और लोबान भी यहां से ले जाते हैं। भारतवर्ष से एक प्रकार का जहर भी बाहर जाता है जिसको वेश कहते हैं। यह वेश स्पष्टतः विष का बिगड़ा हुआ रूप है। मसऊदी ने माल द्वीप और सिंहल द्वीप टापुओं के विषय में लिखा है कि यहां से व्यापारी लोग बक्कम, बेंत और सोना ले जाते हैं।*जावा के टापुओं के विषय में इसी लेखक ने लिखा है कि यहां से कपूर, अगर, लौंग, जायफल, कबाब चीनी, जावित्री, और बड़ी इलायची ले जाते हैं। इन टापुओं के लोग छोटी छोटी नावों पर बैठ कर जाते हैं। ये एक लकड़ी को खोदकर बनाई जाती हैं। ये लोग नारियल, गन्ने, केले और नारियल का पानी ले कर आते हैं और उनके बदले में लोहा लेते हैं। इब्नुल-फ़क़ीह हम्दानी लिखता है कि भारत और सिन्ध को ईश्वर ने बड़ी विशेषता प्रदान की

है। क्योंकि यहां सब प्रकार के सुगन्धित द्रव्य, लाल, सीरा, गैंडा, हाथी, मोर, अगर, अम्बर, लौंग, सम्बूल, कोलंजन, दालचीनी, नारियल, हर्रें, तूतिया, बक्कम, बेंत, चन्दन, सागौन की लकड़ी और काली मिर्च पैदा होती हैं। नारियल से अरब लोग बहुत लाभ उठाते थे। नवीं शताब्दी का एक अरब यात्री कहता है कि उमान के अरब खातियों के औजार साथ लेकर नारियल के स्थलों में पहुँचते हैं। ये लोग नारियल के पेड़ों को काट-कर सूखने के लिए छोड़ देते हैं। जब पेड़ सूख जाते हैं तब उनके तख्ते काट डालते हैं। नारियल की छाल से रस्सी बनाते हैं। रस्सियों से तख्तियों को सींकर नाव व मस्तूल बना लेते हैं। नारियल से ही लोग पाल तैयार कर लेते हैं। फिर उन नावों में नारियल भरते हैं और उनको उमान लाते हैं जिससे बहुत धन कमाते हैं। एक अरब यात्री लिखता है कि लोबान और सुगन्धित फूल तो अच्छे यमन में उत्पन्न होते हैं। परन्तु आबदार फौलाद (तलवार), तेजपत्ते और मसालों का देश तो भारत ही था और आज भी वही तल-वार, तेजपत्ते और मसालों का देश है। नारियल के उपरान्त भारतवर्ष के नीबू और आम अरब लोगों को बहुत पसन्द थे। हौकल लिखता है कि सिन्ध में सेब के बराबर एक फल होता है जिसको लेमू कहते हैं और जो बहुत खट्टा होता है। यहां शफतालू की तरह एक मेवा होता है जिसको अम्बीज कहते हैं और इसका स्वाद भी करीब-करीब शफ्तालू जैसा ही होता है। मसहदी कहता है कि नारंगी और नीबू भारत की खास चीज़ें हैं। ये फल तीसरी हिजरी में (नवीं शताब्दी) भारत से अरब लाये गये थे। ये पहिले उमान में और फिर वहां से ईराक और शाम में पहुँचे। फिर ये समुद्र के नगरों में और मिश्र में घर घर फैल गये। परन्तु उनमें वह भारत का सा स्वाद नहीं है। इब्नहौकल हिन्दुस्तान के कुछ नगरों का और उनके व्यापार का संक्षिप्त वर्णन देता है। वह लिखता है कि ब्रह्मनाबाद (सिन्ध) में नीबू, आम और गन्ने होते हैं। यहां का भाव सस्ता है और स्थान हरा भरा है। अलौर (सिन्ध) मुलतान के बरा-बर बड़ा नगर है। इसके चारों ओर परकोटा है, सिन्ध नदी के तट पर बसा हुआ है, बहुत हराभरा और व्यापार का अच्छा स्थान है। देवल सिन्ध नदी के पूर्व तट पर स्थित है। यह बहुत बड़ी मन्डी है और यहां अनेक प्रकार का व्यापार होता है। यह सिन्ध देश का प्रसिद्ध बन्दरगाह है। यहां अनाज भी बहुत है। काम्हल से मकरान तक बौद्धों और मेदियों का देश है। यहां के ऊंटों के दो कूबड़ होते हैं। खुरासान और फारस में इन ऊंटों की बहुत कदर है। कन्दाबील बौद्धों का व्यापारिक नगर है। जैमूर और खम्भायत में चावल और शहद बहुत होता है। कलवान में अनाज की बहुता-यत है। यहां पशु भी बहुत होते हैं। परन्तु फल कम हैं। कीचकामान में हर चीज सस्ती है। यहां अंगूर अनार और ठन्डे मेवे खूब होते हैं और यहां कनीज (एक प्रकार का हलुआ) बनाया जाता है जो यहां से सारे संसार में जाता है। कन्दाबील गल्ले की बड़ी मन्डी है। बहिन्द के बारे में लिखता है कि यह मंसूरा से बड़ा नगर है। बहुत साफ सुथरा है। यहां बहुत अच्छे फल मिलते हैं, वृक्ष बड़े बड़े हैं तथा भाव सस्ता

है। शहद एक दरहम का तीन मन मिलता है। रोटी और दूध इतने सस्ते हैं कि हाल न पूछो। अखरोट और बादाम के वृक्ष बहुत अधिकता से मिलते हैं मुल्तान मंसूरा के बराबर है। परन्तु यह अधिक सस्तो है। यहां एक दरहम में तीस मन रोटी और एक दरहम में तीन मन कनीज मिलता है। यहाँ व्यापार की दशा बहुत उत्तम है। यहां के व्यापारी झूठ नहीं बोलते। यहां से कनीज, चावल, और कपड़े जाते हैं। सारे सिन्ध में फर्श बहुत अच्छे बनते हैं। यहां से बारीक कपड़े और नारियल, सम्भात के बने हुए जूते, सिन्ध से हाथी दांत और अच्छी अच्छी दवायें बाहर जाती हैं। यहां दो फल बहुत प्रसिद्ध हैं एक का नाम लेमू (नींबू) और दूसरे का आम है। दोनों फल बहुत स्वादिष्ट होते हैं। पूरब और फारस में जो अच्छे पुख्ती ऊंट होते हैं, वे सिन्धी ऊंटों से नस्ल लेकर तैयार किए जाते हैं। ये इतने अधिक मूल्यवान होते हैं कि दूसरे देशों में बादशाह ही इनका उपयोग कर सकते हैं। सुलेमान सौदागर ने भारत के कपड़ों के विषय में लिखा है कि यहां जैसे कपड़े बुने जाते हैं वैसे अन्यत्र नहीं बुने जाते। वे इतने बारीक होते हैं कि कपड़े का पूरा थान एक अंगूठी में आ सकता है। ये कपड़े सूती होते हैं और हमने स्वयं देखे हैं। अरब लोग यहां से गैंडे के सींग ले जाते हैं और उनकी पेटियां बनाई जाती हैं और वे इतनी मूल्यवान होती हैं कि चीन में एक एक तीन तीन अशर्फियों में बिकती है। यहां गन्ध बिलाव नामक एक पशु होता है जिसका पसीना अत्यन्त सुगन्धित होता है। इस पशु को अरब के व्यापारी भारत से मरक्को तक ले जाते थे और इसके पसीने से सुगन्धित द्रव्य बनाते थे।

पान का व्यापार : मसऊदी ने पान का बड़ा रोचक वर्णन किया है। वह कहता है कि वरग तम्बोल एक पत्ता है जो भारत में उत्पन्न होता है। यह चूना और कत्थे के साथ खाया जाता है। इसके खाने से दांत अनार के दानों की तरह हो जाते हैं और मुँह से बहुत अच्छी सुगन्ध आने लगती है। चित्त प्रफुल्लित हो जाता है। उस समय पान अरब तक नहीं पहुँच सकता था इसलिये इसकी डली बनाकर भेजी जाती थी। नवीं शताब्दी में यमन, हज्जाज, और मक्के में डली का बहुत प्रचार था। यह डली अब तक इन देशों में प्रचलित है। अरब लोग सुगन्धित द्रव्यों के बड़े शौकीन हैं। नवीं और दसवीं शताब्दी में कन्याकुमारी से वहाँ आया जाया करता था और तिब्बत से मुश्क या कस्तूरी पहुंचा करती थी। काश्मीर के हीरे अरब के बाजारों में बिका करते थे।

भारत में आने वाली वस्तुएँ : भारत में मिस्र की अंगूठियों की बड़ी मांग थी। ये सुन्दर डिबियों में रखी हुई भारत में आती थीं। मूँगा और दहज भी भारत में बहुत बिकता था। दहज एक सुन्दर, चिकना और चमकदार पत्थर होता था। भारत के लोग मिस्र की शराब को बहुत पसन्द करते थे। रोम के रेशमी कपड़ों की भारत के प्रत्येक सम्पन्न घराने में मांग रहती थी। वहां की तलवारें भी भारत में

बहुत बिका करती थीं। रोम के समूर और पोस्तीन का भी उस समय यहां बहुत चलन था, फारस से भारत में गुलाब जल आता था। बसरे से खजूर की सैंकड़ों पेटियां सिंध की बन्दरगाह देवल में पहुंचा करती थीं।

भारतीय व्यापारी विदेशों में : अरब व्यापारियों के यात्रा विवरण से यह स्पष्ट नहीं होता कि भारत के बन्दरगाहों में भी उस युग में जहाज बनते थे या नहीं और भारतीय लोग अपने जहाजों के द्वारा विदेशों में जाते थे या नहीं। लेकिन यूनानी लेखक एरियन ने लिखा है कि हिन्दुओं में शूद्र लोग जहाज बनाने, चलाने और खेने का काम करते थे। उसने यह भी लिखा है कि लाल सागर के मुहाने पर अरब और यूनानियों के साथ-साथ कुछ हिन्दू लोग भी बसे हुए थे। आधुनिक ऐतिहासिक खोज से यह पता लग चुका है कि मालद्वीप, लंका, जावा, और मलाया द्वीप समूह के टापूओं में हिन्दुओं की काफी बड़ी बस्ती थी। उनके आचार विचार, धर्म और भाषा हिन्दुओं की सी थी। अरब के व्यापारी इन टापुओं को हिन्दुओं के ही टापू मानते थे। जावा के सम्राट को अरब लोग 'महाराज' के नाम से उल्लेख करते थे और इन टापुओं को महाराज का राज्य कहते थे। अब जैद सैराफी के लेख से पता चलता है कि इराक के बन्दरगाह में हिन्दू लोग बहुत बड़ी संख्या में बसे हुए थे। उस समय के हिन्दू हज्जाज और मिस्र तक जाते थे। अरब लोग इनको बातियाना कहते थे। अरबी में हिन्दू व्यापारी को बातियाना कहते हैं। और बातियाना, बतिया का बहु वचन है। इराक, बहरै, उमान, सूडान, मसूअ, सईद बंदर, और कायरो में कई सदियों से हिन्दू व्यापारी बसे हुए हैं। ये लोग प्रायः सिन्धी, मुलतानी और गुजराती हैं। नवीं शताब्दी का एक अरब यात्री लिखता है कि तीन जहाज सैराफ से भारत की ओर चले जिनमें मल्लाह, व्यापारी और बतिये सब मिलकर लगभग १,२०० आदमी थे।

व्यापार की सम्पत्ति : व्यापार की दृष्टि से अरब लोग भारतवर्ष को अत्यन्त सम्पन्न और समृद्ध देश मानते थे। महाराज बलाहर की राजधानी को स्वर्ण नगरी कहते थे। एक यात्री ने लिखा है कि जावा द्वीप के महाराज की राजधानी में इतनी दुकानें थीं कि कोई गिन नहीं सकता था। वहाँ केवल सर्राफों की ही ८०० दुकानें थीं। भारत से अरबी जहाज जो माल लाद कर जाते थे उसके मूल्य का अनुमान इससे किया जा सकता है कि उनको लाखों रुपये कर के रूप में देने पड़ते थे। एक व्यापारी ने एक बार ६ लाख रुपये का कर दिया। स्वर्ण द्वीप में जो जहाज जाते थे उनमें भी इतना ही माल लदा रहता था। उमान से एक अत्यन्त निर्धन पुरुष भारत में व्यापार करने आया और कुछ ही अर्से में जब अपने देश को गया तो उसके पास जवाहिरात और अनेक बहुमूल्य चीजें इतनी थीं कि उसको ९ लाख रुपये कर के रूप में देने पड़े। कालीकट और कोरोमण्डल का राजा जो धनवान माना जाता था और करोड़ों रुपये का व्यापार दूसरे राज से होता था। एक यात्री ने लिखा

है कि कोरोमण्डल के पास एक मुसलमान उच्च कर्मचारी था। उसके सोना और जवाहिरात इतने थे कि उनको उठाने के लिये कई सौ बैलों की आवश्यकता हुई थी। इन व्यापारिक वस्तुओं में कस्तूरी सर्वाधिक मूल्यवान वस्तु मानी जाती थी। एक लाख तोले कस्तूरी केवल एक व्यापारी ने एक बार खरीदी थी। एक दूसरे व्यापारी के विषय में लिखा है कि उसने ६० हजार रुपये की कस्तूरी दूसरे व्यापारी को दी थी। दक्षिण भारत में विपुल सम्पत्ति का विवरण इब्नबतूता ने भी किया है। उसने यह भी लिखा है कि हिन्दू राजा लोग स्नेह और अनुग्रह का बर्ताव अरबों से इसलिये करते थे कि उनकी सम्पत्ति और व्यापार बढ़ता जाता था। दक्षिण भारत में १४ वीं शताब्दी के आरम्भ तक अपार सम्पत्ति थी। जब अल्लाउद्दीन खिलजी के सेना नायक मलिक काफूर ने दक्षिण को विजय किया था तब कोरोमण्डल के राजकोष से ९६ हजार मन सोना, ५०० मन मोती और जवाहिरात मिले थे। अंग्रेज़ी तोल से केवल सोने का वजन लगभग २६⅞ लाख पौण्ड होता है। और आजकल के भाव से इसको रुपयों में आंका जाय तो कितने ही अरब मूल्य होता है। यह सब सम्पत्ति भारतवर्ष में मुख्यतः कस्तूरी, कपूर, अम्बर, अगर और अनेक प्रकार के व्यापारिक पदार्थों के व्यापार से उत्पन्न हुई थी। इन वस्तुओं के अतिरिक्त त्रिफला, हाथी दांत और दूसरी सुगन्धित लकड़ियां भी लाखों रुपये की बाहर जाया करती थीं। मुस्लिम देशों को ही नहीं यूरोप को भी भारतवर्ष की चीजें पहुँचा करती थीं। इन सब चीजों में मुख्य चीज थी काली मिर्च। यूरोप के लोग काली मिर्च के बहुत शौकीन थे। जब तुर्क लोगों ने कुस्तुन्तुनिया जीत कर भूमध्य सागर पर अपना कब्जा कर लिया था तो यूरोप वालों को बहुत चिंता हुई कि वहां काली मिर्च किस प्रकार भारत से आयेगी। इस चिंता से प्रेरित होकर ही अपने प्राणों को संकट में डाल कर अफ्रीका महाद्वीप का चक्कर लगाकर तथा अनेक प्रकार के कष्ट लेकर वे लोग भारत आये थे।

अरबी भाषा में संस्कृत शब्द : इस विपुल व्यापार के कारण अरबी भाषा में अनेक संस्कृत शब्द प्रविष्ट हुये। कारण यह था कि जो पदार्थ भारतवर्ष से अरब पहुँचे तो उनका भारतीय नाम ही अरब देश में प्रचलित हुआ। उनका विकृत रूप अवश्य हुआ। परन्तु वे अपने आदि रूप से बहुत दूर नहीं हटे। उसके तत्सम शब्दों के शुद्ध स्वरूप को पहिचानने में कोई कठिनता नहीं। उदाहरणार्थ :

सन्दल	चन्दन
मश्क	मुसिका
तम्बोल	ताम्बूल
काफूर	कपूर,
हेला	ऐला
फीलफील	पिप्पला

करनफल	कर्णफल
इत्रिफल	त्रिफला
वलीलह	बहेड़ा
जायफल	जायफल
बलादर	भिलातक (भिलावा)
अम्बज	आम्र

इस्लाम का उदय : इस्लाम का जन्म स्थान अरब देश है। इसका अधिकांश भाग रेतीला और बंजर है। इसलिये रोम सागर का तट और लाल सागर का तट उपजाऊ है। लाल सागर के तट पर मक्का नगर है और इससे उत्तर की ओर मदीना है। यह दोनों नगर छठी शताब्दी में प्रसिद्ध हुए। उस समय मदीना की आबादी १२,००० और मक्का की आबादी २०, २५ हजार के बीच में थी। मदीना में पानी पर्याप्त मात्रा में मिलता था और इसी के आस पास खजूर के बहुत बाग थे। मक्का नगर एक पानी के चश्मे के चारों ओर बसा हुआ था और मदीना के समान सम्पन्न नहीं था। लेकिन सांस्कृतिक दृष्टि से मक्का का महत्व अधिक था। यह अरब का तीर्थ स्थान था। जो लोग यहां यात्रा करने आते थे, वे यहां इकट्ठे होकर कई खेल खेलते थे, कई विविध प्रकार के गाने गाते थे और यहां के सर्व श्रेष्ठ गाने अरब में प्रचलित हो जाया करते थे। मक्का में विविध प्रकार के देवों की पूजा होती थी। यहां काबा नामक एक प्रसिद्ध मन्दिर था। जिसकी यात्रा के लिये दूर दूर से लोग आया करते थे। इस नगर में सन् ५७० के लगभग मोहम्मद साहब का जन्म हुआ और इन्होंने इस्लाम धर्म की स्थापना की। यह केवल एक ईश्वर को मानते थे और इस बात का दावा करते थे कि ईसा मसीह आदि भी धर्म गुरू थे परन्तु उनकी शिक्षा अपूर्ण थी। मोहम्मद साहब जो शिक्षा देते थे उसको वे पूर्ण समझते थे। थोड़े ही दिनों में उनके धर्म ने उन्नति करना शुरू किया। कुछ लोगों ने उनका विरोध भी किया परन्तु फिर भी उनका मत प्रबल ही होता गया। मक्का तीर्थ स्थान था। यहां की ऐसी परम्परा थी कि उसमें किसी की हत्या नहीं हो सकती थी इसलिये वहां मोहम्मद साहब अत्यन्त सुरक्षित थे। परन्तु फिर भी उनके अनुयायियों का जब बहुत विरोध बढ़ने लगा तो वे लोग भाग कर अबिसीनिया को चले गये। मोहम्मद साहब स्वयं दृढ़तापूर्वक मक्का नगर में टिके रहे। परन्तु कुछ अरसे बाद उन्हें अनुभव हुआ कि मक्का की अपेक्षा मदीना अधिक उपयुक्त स्थान है। उस समय मदीना के अनेक यात्रियों ने मक्का में उनका उपदेश सुना था, और वे लोग चाहते थे कि मदीना में जाकर अपने धर्म का प्रचार करें। साथ ही मक्का में उनका विरोध भी अधिकाधिक बढ़ने लगा था। इसलिये सन् ६२२ में वह मक्का छोड़ कर मदीना चले गये। इसी वर्ष से हिजरी सन् आरम्भ होता है। मदीना में जाने के बाद मोहम्मद साहब के अनुयायियों की संख्या बहुत जल्दी बढ़ने लगी। मक्का के निवासी फिर भी उनका

विरोध कर रहे थे परन्तु मोहम्मद साहब की कीर्ति और शक्ति दिन दूनी और रात चौगुनी होती गई। उनको अपने धर्म के प्रचार के लिये कई लड़ाइयां लड़नी पड़ीं और उनमें उन्हें विजय प्राप्त हुई। उनके जीवन काल में ही इस्लाम का अरब में अच्छा प्रचार हो गया और उसके पश्चात् उस देश में ही उनके कितने ही अनुयायी हो गये। मोहम्मद साहब के बाद यह प्रचार-कार्य अबुबकर ने जारी रखा।

इस्लाम का विस्तार : उस समय ईरान और यूनान पारस्परिक निरन्तर युद्ध के कारण जर्जर हो चुके थे और अरब में अनेक शक्तियों का द्वन्द्व हो रहा था। इस्लाम ने मनो लोगों में नये जीवन का संचार कर दिया था। अबुबकर के नेतृत्व में वे लोग धर्म के प्रचार के निमित्त अपने प्राणों को न्यौछावर करने के लिए तैयार थे। अबीसीनिया का सेनापति खलील था। वह बड़ा निपुण योद्धा था और इस्लाम धर्म में उसकी अटूट निष्ठा थी। खलील की सेना ने यूनानी सेना को हरा कर सीरिया यूनान से छीन लिया, उसके बाद दमश्कस को अधिकार में कर लिया और फिर अन्टीयोक में मुसलमानों का अधिकार हो गया। इसके पश्चात् ईरान से कई युद्ध हुए। सन् ६३४ में अबुबकर का देहान्त हो गया और उसका स्थान उमर को मिला। इसके समय में मुसलमानों की शक्ति और भी बढ़ी। उन्होंने कई लड़ाइयाँ जीतीं और मुस्लिम विजेताओं की पश्चिमी ऐशिया में धाक जमा दी। अस्मानिया, मोसोपोटामिया, ईराक और मिश्र में सर्वत्र मुसलमानों की धाक जम गई। इसके पश्चात् मुसलमानों की विजय बाढ़ फैलती ही गई। लगभग १७५ वर्ष में मुसलमानी राज्य सिंध से स्पेन तक फैल गया। इस विस्तृत भूभाग में अगणित मस्जिदें स्थापित हो गईं और यत्र तत्र आज़ान की ध्वनि सुनाई देने लगी। मुस्लिम क़ानून, अरबी भाषा, अरबी रीति रिवाज प्राय: सर्वत्र प्रचलित होने लगे। ८ वीं शताब्दी के आरम्भ में मुसलमान लोग बढ़ते बढ़ते भारतीय सीमा तक आ पहुँचे थे और सुदूर चीन की सीमा तक फैल चुके थे।

विजय बाढ़ को रोकने का प्रयत्न : चीन, कश्मीर, और गुजरात के राजाओं ने मुसलमानों की विजय बाढ़ को रोकने का प्रयत्न किया। चीन के बादशाह ने भारत के इन दोनों नरेशों को इस काम के लिये प्रेरित किया और उनका उत्साह बढ़ाया। परन्तु मुस्लिम सेनायें टिड्डी दल के समान बार बार आती थीं। कभी कभी खतरा देख कर वह वापिस मुड़ जाती थीं परन्तु उनके उत्साह में कोई कमी नहीं आती थी। मुसलमानों के सैनिकों में अपार उमंग थी और अद्भुत वीरता थी। वे लोग किसी भी प्रकार के विघ्न से भयभीत होकर अपने ध्येय को नहीं छोड़ते थे। इसलिये उनकी विजय का विस्तार बढ़ता ही गया।

भारत में मुसलमान : प्राय: लोगों में यह भ्रांति है कि मुसलमानों का प्रथम प्रवेश भारतवर्ष में मुहम्मद बिन कासिम की सिंध विजय के पश्चात् तथा

सुबक्तगीन और महमूद गजनी के आक्रमणों के बाद हुआ परन्तु यह बात नहीं है। आक्रमणों से पहिले भारतवर्ष में व्यापार करने के लिए मुसलमान आया जाया करते थे और भारत के पश्चिमी तट के प्रसिद्ध बन्दरगाहों में और व्यापारिक केन्द्रों में मुसलमानों की कहीं छोटी और कहीं बड़ी बस्तियां बस गई थीं। कुछ मुसलमान फकीर और औलिया अपने चमत्कार दिखलाने के लिए तथा अपने धर्म का प्रचार करने के लिए भी भारत में आ चुके थे। हिन्दुओं में कुछ लोग इस प्रकार के चमत्कारों से प्रभावित होकर और कुछ लोग इस्लाम के ऐकेश्वरवाद से आकर्षित होकर इसलाम धर्म को भी स्वीकार कर चुके थे। अरब लोग इस्लाम के उदय से पूर्व भी सिंध, गुजरात, मालाबार, और त्रावनकोर आदि देशों से विपुल व्यापार किया करते थे। इस्लाम धर्म के उदय के पश्चात् यह व्यापार घटा नहीं बल्कि और बढ़ा और सिंधी मुसलमानों को धर्म प्रचार के निमित्त अन्य देशों में अपना प्रभावं स्थापित करने के लिए और प्रेरणा मिली।

स्वर्णद्वीप में मुसलमान : बहुत प्राचीन काल से स्वर्णद्वीप के लोग व्यापार के लिए अरब जाया करते थे। मुसलमानों में एक ऐसा प्रवाद है कि यहां का राजा मुहम्मद साहब के समय में ही मुसलमान हो गया था। स्वर्णद्वीप में उस समय मुसलमानों की बहुत बड़ी बस्ती थी। यहां के राजा ने मुसलमानों के प्रति सौजन्य प्रकट करने के लिए अनाथ मुसलिम स्त्रियों और लड़कियों को इराक भेज दिया था।

मालद्वीप में मुसलमान : मालद्वीप (मेलेडिव) को अरब लोग जज़ीर-तुल महल कहा करते थे और सारे द्वीप समूह को दीवात कहते थे। दीवात वास्तव में दूवीप शब्द का अरबी व्याकरण के अनुसार दूवीप का बहुवचन है। पहिले यहां के निवासी सब हिन्दू थे लेकिन एक मुसलमान फकीर वहाँ पर गया और उसने कई चमत्कार दिखाए। लोगों में यह विश्वास प्रचलित हो गया कि उस फकीर के आने से द्वीप निवासियों के अनेक संकट टल गए। इन टापुओं के निवासियों का भारतवासियों से संपर्क भी आसान नहीं था। इसलिए अज्ञानवश इन चमत्कारों के प्रभाव में आकर वे लोग धीरे धीरे इस्लाम धर्म स्वीकार करने लगे।

मालाबार में मुसलमान : मुसलमानों में यह किंवदन्ती है कि कुछ मुसल-मान फकीरों के प्रभाव में आकर मालाबार का हिन्दू राजा अरब चला गया और मुसलमान हो गया और फिर वहाँ से अपने सामान्तों के नाम पत्र लिखा कि जो अरब लोग मालाबार में आवें उनके साथ दया और सौजन्यता का व्यवहार किया जाए और उन्हें मसजिदें बनाने दी जाएं। कहा जाता है कि सातवीं शताब्दी में मुसलमानों ने बदनकार में मसजिद बनवाई। वहाँ से कुछ मुसलमान त्रावणकोर के कालम नगर गए और फिर वहाँ से आगे बढ़कर कितने ही तट-स्थित नगरों में

अपनी बस्तियां बनाईं। भारत के पश्चिमी तट पर उस समय भिन्न भिन्न मुस्लिम देशों से व्यापारी आते थे। हिन्दू राजा मुस्लिम व्यापारियों से अच्छा वर्ताव करते थे। बढ़ते बढ़ते मुसलमानों की संख्या लगभग १० प्रतिशत हो गई थी। मालाबार में बसने वाले अरब व्यापारी मोपला कहलाते थे। इसी प्रकार कारो मंडल में भी कितने ही अरबी व्यापारी बसे हुए थे। यहाँ के रेशमी कपड़े और सुगंधित पदार्थ और बड़े बड़े मोती इराक, खुरासान, साम, रूम और योरुप में पहुँचा करते थे। जब मुसलमानों की बस्ती बढ़ गई तो ११ वीं सदी में यहां के राजा ने तकीऊद्दीन बिन अब्दुल रहमान नामक मुसलमान को अपना मंत्री नियुक्त किया था। यहां पर अरब के बन्दरगाहों से हजारों घोड़े हर साल मंगवाए जाते थे।

गुजरात में मुसलमान : गुजरात भी मुसलमानों का केन्द्र था। उस समय यहां पर राजा बल्लभराय का राज्य था वह मुसलमानों में प्रिय था। उसकी राज॰ धानी बल्लभीपुर थी जो सुदामा नगर या महानगर भी कहलाती थी। इसका बन्दरगाह चैमूर बड़ा सम्पन्न और समृद्ध-नगर था। इसके राज्य में हजारों मुसलमान निवास करते थे। बल्लभराय को मुसलमान बल्हर या बल्हार कहते थे। इसकी प्रजा और मुसलमानों में परस्पर खूब मेल जोल था। बल्लभराय के राज्य में इस्लाम का खूब आदर था। मुसलमानों ने वहाँ कई मस्जिदें और जामा मस्जिदें बनवा ली थीं। खम्भात् चैमूर आदि नगरों में जो मुसलमान रहते थे उन्होंने गरीब मुसलमानों के लिए लंगर जारी कर रखे थे। राजा के दरबारियों में एक दो मुसलमान भी थे। गोबा (भाव नगर के पास) नगर में एक बहुत बड़ी मस्जिद थी और वहां फकीरों का एक दल रहता था। चन्दापुर में एक मुसलमान जहाजों का व्यापारी था। यहां हिन्दुओं और मुसलमानों के मुहल्ले अलग-अलग बसे हुए थे।

अरब में हिन्दू : सातवीं सदी में बहुत से हिन्दू इराक और अरब में बसे हुए थे। इनमें अधिकांश लोग सैनिक थे। परन्तु कुछ लोग दूसरा धन्धा भी करते थे। कुछ लोग व्यापार करते थे, कुछ चिकित्सा करते और कुछ ज्योतिष से अपना निर्वाह करते थे। किताबुल अदबुल मुकरद नामक पुस्तक में एक उल्लेख है जिससे पता चलता है कि योग्य हिन्दू कहां कहां जा पहुँचे थे। एक बार मुहम्मद साहब की दूसरी पत्नी आयशा बीमार हुई, तब एक हिन्दू चिकत्सक को उनके इलाज के लिए बुलाया गया। यह वैद्य उस समय अरब में ही निवास करता था। सातवीं सदी तक हिन्दुओं में संकुचित विचार और अंधविश्वास प्रचलित नहीं हुए थे। उस समय तक यह विचार नहीं बना था कि विदेश यात्रा से या विदेशों में निवास करने से किसी प्रकार की धर्म-हानि होती है। सिंध के बहुत से हिन्दू लुटेरे भी छोटी छोटी नावों में बैठ कर अरब समुद्र के किनारे किनारे लूट खसोट करते हुए फारस की खाड़ी तक पहुँच जाया करते थे। इन लोगों में विशेषतः जाट, और मेढ (मीणे) हुआ करते

थे। मुस्लिम इतिहासकारों ने लिखा है कि इस प्रकार के हिन्दू लुटेरों के उत्पातों के कारण ही हज्जाज ने मुहम्मद बिन कासिम को सिंध देश पर आक्रमण करने के लिये भेजा था।

सिंध विजय : सातवीं शताब्दी में सिंध देश में राजा दाहिर का राज्य था। इसकी प्रजा में कुछ लोग हिन्दू थे और कुछ बौद्ध। हिन्दू और बौद्धों में परस्पर लड़ाई झगड़े रहा करते थे। उस समय कुछ मुसलमान भी सिंध में आ बसे थे। एक बार लगभग ५०० मुसलमान अपने मुसलिम सरदार के व्यवहार से तंग आकर मकरान से भाग आए थे और राजा दाहिर के राज्य में बस गए थे। इन कारणों से मोहम्मद बिन कासिम को सिंध देश पर अधिकार जमाने में अधिक कठिनाई नहीं हुई। परस्पर फूट और कलह के कारण जनता ने दाहिर का पूरी तरह से साथ नहीं दिया। सन् ७१२ में उसने सिंध देश जीत लिया और यह देश मुस्लिम राज्य का एक अभिन्न अंग बन गया। नवीं शताब्दी में जब मुसलिम राज्य दुर्बल और क्षीण हो गया तब अरब के मुस्लिम शासक भी स्वतन्त्र हो गये। इस स्थिति के कारण हिन्दुओं ने भी सिंध देश के कई हिस्से दबा लिए। इस प्रकार कहीं मुस्लिम राज्य और कहीं हिन्दू राज्य स्थापित हो गए।

सिंध में मुस्लिम शासक : विजय के पश्चात् अरब लोगों ने सिंध देश में अपने ढंग का शासन स्थापित किया। प्राचीन परम्पराएँ एक दम उच्छिन्न नहीं हो सकती थीं, इसलिए गांवों में पंचायती राज्य चलता रहा। परन्तु शासन का सूत्र अब मुसलमानों के हाथ में आ गया। इसलिये नगरों और कस्बों में मुसलिम कानून मुसलिम नीति, मुसलिम कर, और मुसलिम मर्यादाएँ प्रचलित हो गईं। सब से अधिक अभूतपूर्व बात थी जजिया का जारी होना। हिन्दू स्वभावतः धार्मिक थे। वे इस्लाम धर्म को भी अपने धर्म के समान आदर की दृष्टि से देख सकते थे। वे इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि अपने धर्म का सत्य और निष्ठा के साथ पालन करना कोई जुर्म है और इसके लिए किसी प्रकार का अर्थ दण्ड देना चाहिए। जजिया कर वास्तव में जुर्माना था। जो लोग इस्लाम धर्म को स्वीकार नहीं करते थे उनको यह कर देना पड़ता था। यह प्रत्येक व्यक्ति से लिया जाता था। इसलिए गरीब परिवारों के ऊपर यह एक प्रकार का वज्रपात था। इस कर को जारी करने के अतिरिक्त अरब शासकों ने सिंध देश में और कोई अत्याचार नहीं किया। दूसरी बातों में उन्होंने हिन्दुओं को कोई दुःख नहीं दिया। अकारण उनके मन्दिर नहीं गिराए और न मूर्तियों को खण्डित किया। उनके समय में मुलतान में एक प्रसिद्ध मन्दिर था। यहां दर्शन करने के निमित्त सिंध के ही नहीं दूर दूर के देशों के लोग यात्रा करने के लिए आया करते थे। इस मन्दिर और उस में स्थित प्रतिमा का कई अरब यात्रियों ने आंखों देखा रोचक वर्णन लिखना है। जब दूसरे प्रान्त का कोई हिन्दू राजा सिंध

पर आक्रमण करने की धमकी देता था या सिंध देश में निवास करने वाले हिन्दुओं से अरब शासकों की किसी प्रकार के उत्पात की आशंका होती थी तो ये लोग कहा करते थे कि यदि तुम लोग ऐसा करोगे तो हम मन्दिर को खण्ड-खण्ड कर देंगे। मानो इस मन्दिर को बचाकर मुसलमानों ने अपनी रक्षा का बीमा करवा लिया था। दर्शनार्थ आए हुए यात्री जो भेंट करते थे वह भी मुस्लिम शासकों के राज कोष में जमा की जाती थी परन्तु यह आमदनी अधिकांशतः मन्दिर की देख भाल और पुजारियों के वेतनादि में व्यय की जाती थी। अरब शासक वास्तव में तुर्कों की भाँति निरे गँवार और जंगली नहीं थे। वे लोग विजेता और शासक दोनों थे। अरबों का राज्य सिंध में बहुत अर्से तक नहीं चला वरना सम्भव था कि हिन्दू, मुस्लिम सम्बन्ध कालान्तर में और भी अच्छा हो जाता और दोनों के मेल-जोल से एक मिश्रित संस्कृति का विकास हो जाता।

भारत में मुस्लिम यात्री : सातवीं शताब्दी से १० वीं शताब्दी तक भारत में आने वाले मुस्लिम यात्री सब जाति के थे। इनमें प्रथम यात्री सुलेमान सौदागर था। यह इराक के बन्दरगाह से चीन तक व्यापार के लिए घूमा करता था। अपनी यात्रा का संक्षिप्त विवरण इसने हिज्री सन् २३७ में लिखा। पुस्तक का नाम सिलसिलातुत् तवारीख है जो सन् १८११ में पेरिस में छपा है। दूसरा लेखक इब्ने खुरदाज़बा है जिसने सन् २५० हिज्री में वल ममालिक नामक पुस्तक लिखी थी। यह पुस्तक सन् १८८६ में लीडन यंत्रालय ने प्रकाशित की थी। इब्ने खुरदाज़बा मौतमद खलीफा अब्बासी के समय में उच्च पद पर नियुक्त था। डाक का विभाग और खुफिया विभाग दोनों इसके अधीन थे। बगदाद से देश देशान्तरों में जाने वाले और वहां से बगदाद आने वाले यात्रियों से और उनके कारिन्दों से इसका सम्पर्क रहा करता था इसलिए विभिन्न देशों के विषय में इसको जानकारी थी। इसकी पुस्तक में भारत के विषय में भी एक प्रकरण है। इसका वर्णन आंखों देखा तो नहीं है परन्तु विश्वसनीय जानकारी पर आश्रित है। इसने बगदाद और भारत के बीच निवास करने वाली विभिन्न जातियों का वर्णन किया है और सिंध के अनेक नगरों का, भारत के अनेक राजाओं का, उनकी सेनाओं का तथा उनके अनेक रीति रिवाजों का रोचक वर्णन किया है। इसके पश्चात् सन् २६४ हिज्री में अबुज़ैद हसन सैराफी नामक यात्री भारत में आया। इसने सुलेमान सौदागर का यात्रा का विवरण पढ़ा था और २५,३० वर्ष बाद उसमें एक अध्याय जोड़ा था। यह भारत और चीन के मध्य व्यापार के लिए समुद्री यात्रा किया करता था। जावा द्वीप को भी इसने कई बार देखा था। इसने जावा, लंका और भारत के विषय में जो उल्लेख किया है वह ऐतिहासिक दृष्टि से रोचक और उपयोगी है। एक यात्री का नाम 'अबुदल्फ मुसइर बिन मुहल हिलयं बूई, था। इसने सन् ३३१ हिज्री में बगदाद से तुर्किस्तान की यात्रा

की और वहाँ से एक चीनी राजदूत के साथ चीन की यात्रा की। वहां से वापिस लौटकर वह तुर्किस्तान, काबुल, तिब्बत, काश्मीर, मुल्तान, सिंध और भारत के दक्षिणी समुद्र तट कोलम तक पहुँचा। बजुर्ग बिन शहरयार ने सन् ३०० हिज्री में अजायबुल हिन्द नामक पुस्तक लिखी जिसमें दक्षिण भारत और गुजरात की अनेक घटनाओं का वर्णन किया गया है। यह एक जहाज चलाने वाला था। यह इराक से जापान तक अपने जहाज ले जाया करता था। इसने अपनी पुस्तक में अपनी आंखों देखी बातों के अतिरिक्त अपने साथ दूसरे व्यापारियों से सुनी हुई बातों का भी समावेश किया है। इसकी पुस्तक सन् १८८६ में फ्रेंच भाषा के अनुवाद के साथ छपी थी और इसका अँग्रेज़ी अनुवाद सन् १९२९ में छपा था। अबुलहसन अली मसऊदी ने अपनी आयु के २५ वर्ष केवल यात्रा में ही व्यतीत किये थे। इसने बगदाद से इराक, साम, अर्मीनिया, रूम, अफ्रीका, सूडान, चीन, तिब्बत, भारत और स्वर्ण द्वीप की यात्रा की थी। इसने कई बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे परन्तु इस समय केवल दो उपलब्ध हैं। इनमें ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टि से मुरूजुज़ ज़हब व मआदनुल जौहर का विशेष महत्व है। यह ग्रन्थ वास्तव में इस्लाम का इतिहास है परन्तु इस समय की परिचित जातियों का भी इसमें वर्णन किया गया है, जिनमें भारत भी सम्मिलित है। इसकी पुस्तकें पेरिस में फ्रांसीसी अनुवाद के साथ प्रकाशित हुई हैं और मूल रूप में मिस्र में कई बार प्रकाशित हो चुकी हैं। एक यात्री का नाम अबुइसहाक़ इब्राहीम बिन मुहम्मद फारसी है परन्तु यह इस्तखरी के नाम से प्रसिद्ध है। यह बगदाद का निवासी था और इसने एशिया के प्रायः सभी देशों की यात्रा की थी। इसने एशिया के भूगोल के सम्बन्ध में दो पुस्तकें लिखी हैं। एक का नाम किताबुल अक़ालीन है और दूसरी का किताबुल मसालिकुल ममालिक। ये दोनों पुस्तकें लीडन में छपी हैं। इनमें काबुल, सिन्ध और भारत का उल्लेख है। यह यात्री सन् ३४० हिज्री में भारत में आया था। इसने संसार का एक मानचित्र तैयार किया था जिसमें सिंध का नकशा भी है। इब्नहौकल बगदाद का एक व्यापारी था। इसने हिज्री सन् ३३१ में बगदाद से चलकर अफ्रीका, योरुप और एशिया का भ्रमण किया था। इस प्रकार स्वेज और सिसली से भारत तक का भूभाग इसने देखा था और इसने सब देशों के नक्शे बनाए थे। परन्तु वे अब उपलब्ध नहीं हैं। प्रसिद्ध लेखक इलियट साहेब को इस पुस्तक की एक रद्दी प्रति अवध के नवाबों के पुस्तकालयों में प्राप्त हुई थी। उसमें सिंध का नक़शा था। यह नक़शा इलियट साहेब ने अपनी पुस्तक के प्रथम भाग में प्रकाशित किया है और भारत के एक भाग का यह संसार में प्रथम नकशा है। बुशारी मुक्कदसी का पूरा नाम शमशुद्दीन मुहम्मद बिन अहमद बुशारी था। यह जेरूसलम का निवासी था और सन् ३७५ हिज्री में इसने अपना ग्रन्थ लिखा था। यह भारतवर्ष में आया था परन्तु सिन्ध से आगे न बढ़ सका। इसके ग्रन्थ का अन्तिम प्रकरण सिंध के विषय में है। इसने सब देशों के

नकशे तैयार किए थे परन्तु वे सब नष्ट हो गये। इसके ग्रन्थ में सिंध के विषय में केवल १४ पृष्ठ हैं, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी हैं। इसके ग्रन्थ का नाम अहसनुततक़ासीम फी मारफतिल अकालीम है। यह पुस्तक दूसरी बार सन् १६०६ में लीडन में छपी है। अलबेरूनी के नाम से भारतीय इतिहास के विद्यार्थी भली भांति परिचित हैं। इसकी पुस्तक का नाम किताबुल हिन्द है। प्रायः लोगों में ऐसा विश्वास है कि यह महमूद गजनी के साथ भारत में आया था परन्तु यह बात गलत है। यह महमूद के आक्रमणों से पहिले ही भारत में आ चुका था और खीवा या ख्वारिज्म का रहने वाला था। इसने अनेक ग्रन्थ लिखे थे परन्तु इतिहास की दृष्टि से किताबुल हिन्द बहुत महत्व का ग्रन्थ है। मूल ग्रन्थ अरबी में है और वह प्रकाशित हो चुका है। इसके अँग्रेजी और हिन्दी अनुवाद भी छप चुके हैं।

अरब यात्रियों का आँखों देखा राजनैतिक वर्णन

राजनैतिक दशा : सुलेमान सौदागर ने भारत के चार राजाओं का उल्लेख किया है। इसमें सर्वाधिक शक्तिशाली राजा बल्हरा था। यह शब्द बल्लभ राय का अपभ्रंश मालूम होता है। इसके बाद जजर के बादशाह का उल्लेख है। जजर गुजरात का अपभ्रंश है। तीसरा राजा ताफ़न का बादशाह था। ताफ़न को कहीं कहीं ताकन भी लिखा है। यह दक्षिण का अपभ्रंश प्रतीत होता है। चौथा राजा रहमी का बादशाह था। यह राजा ढाके के पास कोई राय नामक शासक प्रतीत होता है। सुलेमान के समय में भारत में राजा वंशक्रमानुगत हुआ करते थे। राजा अपनी जीवितावस्था में ही अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया करता था। भारत के सब राजा स्वतंत्र थे, परन्तु राजा बल्हरा सब में बड़ा माना जाता था। मसऊदी ने लिखा है कि कुछ राजा लोग बल्हरा के अधीन भी थे। भारतीय राजाओं के पास बड़ी बड़ी सेनायें होती थी। इनमें अरब यात्रियों ने हाथियों का विशेष उल्लेख किया है। सुलेमान ने लिखा है कि रहमी के राजा के पास पचास हजार हाथी थे। बल्हरा की सेना में भी हाथी बहुत थे। पचास हजार हाथियों का उल्लेख तो प्रत्यक्षतः अत्युक्ति है। इसका यह अभिप्राय है कि उस समय तक राजाओं की सेनाओं में हाथियों का बड़ा महत्व था। गुजरात के राजा के पास घोड़े भी बहुत थे। जैसे उत्तम घोड़े इस राजा के पास थे वैसे अन्य भारतीय राजा के पास नहीं थे। बल्हरा अपने सैनिकों को समय पर वृत्ति देता था। इसके और अन्य राजाओं के राज्य में अपने अपने सिक्के चलते थे। इन सिक्कों पर राजा का सन् होता था जो उसके राज्याभिषेक से आरम्भ हुआ करता था।

भारतीय राजा और अरब : बल्हरा अरबों के साथ कृपा और स्नेह का व्यवहार करता था। दक्षिण के राजा भी इन लोगों के साथ ऐसा ही व्यवहार करते थे,

परन्तु गुजरात का राजा अरबों का मित्र नहीं था। अरब लोग भी इसको अपना शत्रु समझते थे। इसका देश समुद्र के तट पर था इसलिये अरब व्यापारियों को इससे बहुत काम पड़ता होगा। या तो व्यापारिक विषयों में इसका अरबों से मतभेद रहता होगा या किसी धार्मिक मामले पर खटपट हुई होगी। सुलेमान ने लिखा है कि इसका राज्य अत्यन्त सुरक्षित है। यहां चोरियाँ बहुत ही कम होती हैं। यह संभव है कि गुजरात के राजा को अरबों से चोरी का भय हो, इसलिये वह इनको अपने राज्य में नहीं बसने देता होगा और किसी प्रकार की विशेष रियायत मंजूर नहीं करता होगा।

भारतीय राजाओं में पारस्परिक कलह : आठवीं शताब्दी के आरम्भ से बारहवीं शताब्दी के अन्त तक भारत में कोई केन्द्रीय शक्ति नहीं थी। कन्नौज के मिहिरभोज ने एक प्रकार का साम्राज्य स्थापित कर लिया था, परन्तु उसके साथ ही साथ उसके विस्तृत राज्य का भी अन्त हो गया। सारा भारत इस युग में अनेक छोटे बड़े राज्यों में विभक्त था। उनमें पारस्परिक लड़ाई झगड़े चला करते थे। कभी अपने अपने राज्यों के विस्तार के लिये राजा लोग लड़ते थे और कभी पारिवारिक या सामाजिक झंझटों के कारण भी युद्ध हो जाया करते थे। अरब यात्रियों और व्यापारियों ने भी यह दशा देखी थी। ये लोग प्रायः समुद्रतट के प्रदेशों से ही परिचित थे। इसलिये इन्होंने इन देशों की दशा का ही वर्णन लिखा है। परन्तु यही दशा सारे देश में थी। सुलेमान ने लिखा है कि आस पास के राजाओं से बल्हार की लड़ाईयां रहा करती थीं। यह बात बिलकुल स्वाभाविक थी। बल्हार अरबों के अनुकूल था और गुजरात का गूजर राजा उनके प्रतिकूल। दक्षिण के राजा अरब लोगों से स्नेह करते थे। गुजरात के राजा अपने देश को चारों से सुरक्षित रखने के लिए सदैव चिन्तित रहा करते थे। इन कारणों से बल्हार, गुजरात के राजा और दक्षिण के राजा में परस्पर लड़ाइयों का होते रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

तत्कालीन कानून : सुलेमान ने लिखा है बल्हरा के राज्य में हिन्दू न्यायाधीश बैठकर अभियोगों का न्याय करते थे। डाकुओं को वध का दण्ड दिया जाता था। जब कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर अभियोग का आरोप लगाता था तो अभियुक्त के हाथों पर पान के सात पत्ते रखकर उनके ऊपर गर्म लोहा रखा जाता था। कुछ देर बाद जब लोहा गिरा दिया जाता था तो उसके हाथ को खाल की एक थैली में रखकर उस पर राजा की मोहर लगा दी जाती थी। तीन दिन बाद यदि उसके हाथ पर गर्म लोहे का कुछ प्रभाव नहीं होता था तो सच्चा समझा जाता था और मुद्दई पर जुर्माना किया जाता था। कभी कभी गर्म लोहे के बदले ताम्बे के बर्तन में उबलता हुआ पानी भरकर उसमें अँगूठी डाल दी जाती थी और अभियुक्त से वह अँगूठी निकलवाई जाती थी। सुलेमान कहता है कि मैंने कुछ लोगों को देखा है जिनके हाथों पर आग या गर्म

पानी के कुछ चिन्ह नहीं थे। इन विधियों से यह प्रकट होता है कि भारत निवासियों का सत्य की शक्ति पर कितना अटल विश्वास था। वह लिखता है कि भारत में व्यभिचार का दण्ड दोनों अपराधियों के लिए वध है। चोरी के लिए भी यही दण्ड दिया जाता है। चोरों को सूली पर चढ़ा कर मार दिया जाता है।

तत्कालीन भारत में जातियाँ : इब्नखुर्दाजबा ने भारत में सात जातियों का उल्लेख किया है :—

(१) शाक शरी : यह प्रत्यक्षतः क्षत्रिय का अपभ्रंश है। ये लोग सम्पन्न और प्रतिष्ठित थे। इन्हीं लोगों में से राजा बनते थे। सब लोग इनको सलाम करते थे परन्तु ये किसी के आगे सिर नहीं झुकाते थे। मसऊदी ने लिखा है कि कन्धार राजपूतों का देश है। एक दूसरे यात्री बिलाजूरी ने तकाकीरा शब्द प्रयोग किया है जो अरबी भाषा में ठाकुर शब्द का बहुवचन है। इससे स्पष्ट है कि नवीं शताब्दी में क्षत्री, राजपूत और ठाकुर तीनों शब्द प्रचलित थे।

(२) बराहमह (ब्राह्मण) : ये शराब और नशे की चीजें नहीं पी.. थे। दूसरे यात्रियों ने लिखा है कि ब्राह्मण लोग बड़े विद्वान होते हैं, लेकिन सम्पत्ति संग्रह नहीं करते और बहुत शुद्ध जीवन व्यतीत करते हैं।

(३) क्षत्री (खत्री) : ये तीन प्याले तक शराब पीते थे। ब्राह्मण इनकी लड़कियों से विवाह कर लेते थे। लेकिन अपनी लड़की इनको नहीं दिया करते थे।

(४) शूद्र : ये लोग खेती करने वाले थे।

(५) बानिया (वैश्य) : ये वाणिज्य पेशा करने वाले थे। बुजुर्ग बिन शैलीयार ने व्यापारियों के लिये वनियानिया शब्द का व्यवहार किया है। स्पष्टतः यह बनिया शब्द का अरबी में बहुवचन है। एक व्यापारी ने लिखा है कि हिन्दूस्तानी बनिये व्यापारिक विषयों में भी झूठ नहीं बोलते।

(६) सन्दाल (चान्डाल) : ये लोग अनेक प्रकार के खेल करते थे और गाने बजाने का काम करते थे। इनकी स्त्रियाँ सुन्दर होती थीं।

(७) जाम (डोम) : यह लोग भी गाते बजाते थे।

धार्मिक दशा : खुर्दाज़बा ने लिखा है कि भारत में ४२ प्रकार के सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं। कोई ईश्वर को और उसके अवतारों को मानते हैं और कोई किसी को भी नहीं मानते। लोगों का जादूगरी और मन्त्र तन्त्र में बहुत विश्वास है। सिन्ध में उस समय बौद्ध धर्म फैला हुआ था। बौद्धों को समनी कहा जाता था। समनी श्रमण का अपभ्रंश है। उस समय बौद्धों और ब्राह्मणों में पारस्परिक द्वेष था परन्तु कितने ही घराने ऐसे भी थे जिनमें एक हिन्दू था तो दूसरा बौद्ध। बौद्ध लोग नंगे बदन रहते थे,

इनके शिर पर और शरीर पर बाल बढ़े हुये थे। ये नाखून नहीं कटवाते थे और गले में मनुष्यों की खोपड़ियों की माला पहिनकर देश विदेश फिरा करते थे। जब इनको भूख लगती थी तो किसी के द्वार पर खड़े हो कर भीख माँग लेते थे। मन्दिरों में देव दासियां होती हैं जो मूर्ति के सामने गाती हैं। मन्दिरों में अनेक प्रकार के देवों की प्रतिमाओं की पूजा होती है। मन्दिरों में विपुल सम्पत्ति रहती थी। प्रत्येक मन्दिर में कलश सोने के बने हुए होते थे और मूर्ति हीरों और रत्नों से जड़ी हुई होती थी। सराफी ने लिखा है कि भारत और चीन दोनों देशों में पुनर्जन्म में विश्वास, बहुत दृढ़ था। अच्छा जन्म प्राप्त करने के लिये अपने प्राणों को दे देना वे अच्छा समझते थे। बल्लभराय और दूसरे राजाओं में कुछ ऐसे भी हैं जो अपने जीवन का अन्त करने के लिये अपने आपको आग में जला डालते हैं। सैराफी ने जावा की भी यात्रा की थी। उसके विषय में लिखा है कि यहाँ व्यभिचार और मद्य का निषेध है। इस देश में दोनों व्यसनों का नामो निशान भी नहीं है। महत्वपूर्ण बात बुजुर्गबिन शहरयार ने यह लिखी है कि दक्षिणी भारत के राजा ने कुरान का हिन्दी अनुवाद करवाया और सुना।

तत्कालीन रीति रिवाज : सुलेमान ने लिखा है कि अन्डमन के लोग कुरूप और काले होते हैं। यह नंगे रहते हैं और जीते आदमी को पकड़ कर खा जाते हैं। दक्षिण भारत के निवासियों के विषय में लिखा है कि ये लोग केवल लंगोटी बाँधते हैं। सुलेमान ने यह लिखा है कि भारत में मुर्दे जलाये जाते हैं। जलाते समय चन्दन, कपूर और केसर डालते हैं और राख हवा में उड़ा देते हैं। जब राजा मरता है तो सब रानियाँ सती हो जाती हैं, परन्तु यह उनकी इच्छा पर निर्भर होता है। किसी के साथ जबरदस्ती नहीं की जाती। विवाह होने के पहिले लड़के और लड़की वाले एक दूसरे के पास सन्देश भेजते हैं और फिर वस्त्र और आभूषण भेजते हैं और विवाह के समय दान देते हैं और गाने बजाने का कार्यक्रम खूब होता है। ढोल और झाँझ इनका मुख्य वाद्य है। लोगों में दाढ़ियाँ रखने का शौक है और कइयों की तीन तीन हाथ तक लम्बी हैं। जब कोई मरता है तो उसके सम्बन्धी दाढ़ी और मूँछ मुंड़वाते हैं। यहाँ पर जमीन पर फर्श बिछाने की प्रथा है। स्त्रियों की संख्या भी यहां निश्चित नहीं, पुरुष चाहे जितनी स्त्रियों से विवाह कर सकता है। लोग चावल खाते हैं। लोग एक कपड़ा कमर में बांधते हैं और दूसरा ऊपर डाल लेते हैं। स्त्री और पुरुष सब सोना और जवाहिरात पहिनते हैं। सैराफी ने लिखा है कि भारत में राजा लोग कानों में बाली पहिनते हैं, इनमें बहुत बहुमूल्य मोती लगे रहते हैं। यह लोग गले में बहु-मूल्य और हीरे जड़ी हुई माला पहिनते हैं। सेनापति और दूसरे अधिकारी भी अपने पद और सामर्थ्य के अनुसार आभूषण धारण करते हैं। अमीर लोग आदमियों की गर्दन पर सवार होकर चलते हैं। आदमी के हाथ में छत्र होता है जिनमें मोर के पर लगे रहते हैं। यहाँ दो आदमी भी एक साथ मिलकर नहीं खाते हैं और एक दस्तर-

खान पर खाते हैं। साथ साथ एक ही पात्र में भोजन करना अत्यन्त अनुचित मानते हैं। राजा और अमीर के घर नारियलों की छाल की थालियाँ बनाई जाती हैं। भोजन के बाद जूठे पदार्थों के साथ थालियाँ भी फेंक दी जाती हैं। यहाँ की रानियां पर्दा नहीं करतीं। बुजुर्गबिन सरियार ने हिन्दुओं में छूत छात का भी उल्लेख किया है। उसने लिखा है कि भारतवर्ष में पशु को जिबाह नहीं किया जाता है। उसको किसी चीज से मारकर खाया जाता है। हिन्दू लोग दोपहरी में भोजन करने के पहिले नहाते हैं। प्रातःकाल बहुत देर तक मुँह साफ किया करते हैं और मुख शुद्धि के बिना कोई भोजन नहीं करता है।

मुस्लिम जगत में भारतीय ज्ञान

संस्कृत से अनुवाद का आरम्भ : अरब लोगों में ज्ञान की पिपासा बहुत थी। उनको यह अभिमान नहीं था कि अरब देश के अतिरिक्त दूसरे देशों में ज्ञान उन्नत नहीं है। वे लोग अन्य देशों की संस्कृति और ज्ञान का अध्ययन भी करना चाहते थे। जब इस्लाम का उदय हुआ और उसके साथ साथ अरब लोगों का ज्ञान-क्षितिज विस्तृत होने लगा तो उन लोगों ने अन्य देशों के ग्रन्थों का अपनी भाषा में अनुवाद करने का विचार किया। हिज्री की पहली शताब्दी में ही यूनानी और सुरयानी भाषाओं के ग्रन्थों का अनुवाद करना उन्होंने प्रारम्भ कर दिया था। संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद का भी विचार हुआ था परन्तु भारतवर्ष अरब से उस समय बहुत दूर था। मुसलमानों का विस्तार तब तक भारत की सीमा तक नहीं हुआ था, इसलिये यह विचार स्थगित रहा। जब इराक में अब्बासी खिलाफत स्थापित हुई तब ईरान और भारत की भाषाओं से अरब लोगों का अधिक सम्पर्क हुआ। अब्बासी खलीफाओं में खलीफा मन्सूर का विद्या प्रेम प्रसिद्ध था। इसके शासन काल में भारत का एक ज्योतिष और गणितज्ञ संस्कृत के अनेक ग्रन्थ अपने साथ लेकर एक पंडित मंडली के साथ बगदाद पहुँचा। खलीफा मनसूर की राज सभा में उस समय इब्राहीम फिजारी नामक एक बड़ा गणितज्ञ था। उसकी सहायता से संस्कृत के गणित और ज्योतिष ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद होना प्रारम्भ हुआ। मनसूर के बाद हारूंल रशीद और भी अधिक विद्या प्रेमी हुआ। उसने अपनी चिकित्सा के लिए भारत से कई वैद्य बुलाए, जिससे भारतीय पंडितों के साथ खलीफा की राज सभा का सम्पर्क स्थापित हुआ। अब्बासी खलीफा की राज सभा ने भारत के ज्ञान महत्व को स्वीकार किया और गणित, ज्योतिष, साहित्य तथा नीति आदि के ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद होने लगा। इस काम में सर्वाधिक रुचि बरामका वंश ने प्रकट की। सर्वाधिक प्रोत्साहन भी उन्हीं लोगों से प्राप्त हुआ।

बरामका वंश : बरामका वंश बलख का निवासी था। ये लोग बौद्ध थे और काश्मीर से इनका सम्बन्ध था। उस समय बलख में नव विहार नामक एक बहुत

बड़ा बौद्ध मन्दिर था। विशालता और सुन्दरता के कारण यह मन्दिर दूर दूर तक प्रसिद्ध था। बरामका लोग इस मन्दिर के पुजारी थे। यह शब्द परमक का अपभ्रंश प्रतीत होता है। परमक शब्द का अर्थ है परम प्रतिष्ठित। इस बौद्ध विहार में पुजारियों को बलख के बौद्ध लोग अति प्रतिष्ठित मानते थे। इस्लाम के प्रचार से जब वह विहार नष्ट हुआ तो परमक पुजारियों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया और ये लोग परमका कहलाने लगे। अपनी योग्यता और विद्या के कारण बगदादी खलीफाओं के दरबार में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा रही और ये लोग लगभग ५० वर्ष तक बगदादी खलीफाओं के प्रधान मन्त्री रहे। इन्हीं लोगो की सहायता और प्रोत्साहन से भारतीय ज्ञान का पश्चिमी एशिया में आदर हुआ।

जाहिज के विचार : यह बसरे का रहने वाला था और अपने समय का बड़ा प्रसिद्ध लेखक, दार्शनिक और तार्किक था। इसने एक छोटे से निबन्ध में सन् २५० हिज्री के लगभग काली जातियों का वर्णन करते हुए भारत के विषय में लिखा है कि भारत के निवासी ज्योतिष और गणित में बहुत उन्नत हैं, उनका चिकित्सा शास्त्र बहुत प्रौढ़ है और इसके अनेक विलक्षण भेद हैं। वे अनेक महारोगों की औषधियां जानते हैं और भवन निर्माण में उनकी योग्यता अद्भुत है। प्रतिभा और चित्र बनाने में वे लोग बहुत कुशल हैं। शतरँज का खेल भारत का आविष्कार है और यह बुद्धिमत्ता का चमत्कार है। भारत में तलवारें बहुत ही अच्छी बनती हैं और इनको चलाने की कला में भी भारतीय बहुत निपुण हैं। भारत का संगीत बड़ा मनोहर है। इनके साज़ बड़े सुन्दर हैं। इनमें अनेक प्रकार के नृत्य प्रचलित हैं, कविता के ये लोग भंडार हैं। दर्शन, साहित्य, और नीति में ये लोग दक्ष हैं। इन्हीं के यहां से कलेला दमना नामक पुस्तक अपने यहां पहुँची है। यहाँ अनेक प्रकार की लिपियाँ प्रचलित हैं। भारत में विचारशीलता और वीरता है तथा स्वच्छता और पवित्रता को यहाँ के लोग बहुत पसन्द करते हैं। यह देश सुन्दरता और सुगंधियों का घर है। यहाँ ऊन और अगर की लकड़ी मिलती है जिसकी उपमा नहीं है। इनका विचार और चिंतन अद्‌भुत है। ये लोग मन्त्र से विष उतार देते हैं। गणित और ज्योतिष का उदय इसी देश में हुआ है। इनकी स्त्रियों को गाना और भोजन बनाना बहुत अच्छा आता है। सिंधियों में हिसाब किताब रखने और सर्राफी का काम करने का स्वाभाविक गुण है। इसीलिए इराक में सिंधी लोग खजांची रखे जाते हैं। ये लोग बड़े ईमानदार और स्वामिभक्त होते हैं।

याकूबी के विचार : याकूबी ने अपनी पुस्तक तारीखे इब्न वाजअयाबूबी (हिज्री सन् २७०) में भारत के विषय में लिखा है कि भारत निवासी बुद्धिमान हैं और इसीलिए वे सब जातियों की अपेक्षा अधिक उन्नत हैं। इनका गणित और फलित ज्योतिष अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ है। इनके सिद्धान्त ग्रन्थ इनके मनन और चिंतन के चमत्कार हैं। यूनानियों और ईरानियों ने इनसे बहुत लाभ

उठाया है। इनका चिकित्सा शास्त्र संसार में सबसे आगे है। इस विषय पर इनका ग्रन्थ चरक है। चिकित्सा शास्त्र में इनके और भी कई ग्रन्थ हैं। तर्क और दर्शन पर इन्होंने अनेक रचनाएँ की हैं।

अबूज़ैद सैराफी के विचार : इस विद्वान् ने हिज्री की तीसरी शताब्दी में भारत के विषय में लिखा है कि "भारत के विद्वान् लोग ब्राह्मण कहलाते हैं। इनमें अनेक कवि, ज्योतिषी, दार्शनिक, और अन्य विषयों के विद्वान् हैं। ये राजाओं के दरबारों में रहते हैं।"

भारतीय विद्वानों और पण्डितों के नाम : अरबी के ग्रन्थों में भारत के कई विद्वानों और पण्डितों के नामों का उल्लेख किया गया है। परन्तु इन नामों का इतना रूपान्तर हो गया है कि इनके मूल स्वरूप का पता नहीं चलता। जाहिद ने ५ नाम दिये हैं : बहला, मनका, बाजीगर, फलबरफल, और सिन्दवाद। उसने लिखा है कि इन लोगों के अतिरिक्त और भी अनेक विद्वानों को यही-या बिन खालिब बरमकी ने भारत से बगदाद बुलाया था। इब्न नदीम ने लिखा है कि बगदाद में उसके समय में ३ प्रसिद्ध भारतीय वैद्य थे : मनका, दहन और सालहा। इसी लेखक ने उन पण्डितों के नाम भी दिए हैं जिनके ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद किया गया था। ये नाम हैं बाखर, राजा मनका, दाहर, अनकू, जनकल, अरीकल, जम्मद, अंदी और जवारी। इनमें मनका, सालह और दहन का अरबी ग्रन्थों में विशेष उल्लेख है। तारीखुल अतीबा में लिखा है कि मनका चिकित्सा शास्त्र का अद्भुत पण्डित था। जब हारूँल रशीद बीमार पड़ा और बगदाद के सब प्रसिद्ध चिकित्सक उसको स्वस्थ नहीं कर सके तब यात्रा का व्यय आदि देकर मनका को भारत से बुलोया गया और उसकी चिकित्सा से खलीफा पूर्ण स्वस्थ हो गया। तब हारूँल रशीद ने विपुल पुरस्कार देकर मनका को मालामाल कर दिया और अपने अनुवाद विभाग में इसे उच्चतम पद प्रदान किया। सम्भव है कि मनका माणिक्य का अपभ्रंश हो। इसी प्रकार सालह बिन बहला का भी नाम प्रसिद्ध है। बगदाद में रहने वाले हिन्दू वैद्यों में यह प्रमुख माना जाता था। एक बार खलीफा हारूँल रशीद के भाई को अपस्मार का रोग हुआ और राज सभा के प्रसिद्ध यूनानी ईसाई चिकित्सक जबरईल बखतीसू ने कह दिया कि रोग असाध्य है और रोगी नहीं बच सकता। तब जाकर बरमकी ने इस वैद्य को उपस्थित किया और इसकी चिकित्सा से खलीफा के भाई को बहुत आराम हुआ। इब्न दहन तीसरा भारतीय चिकित्सक था। बगदाद में बरमिकयों ने एक अपना अस्पताल जारी कर रखा था। इब्न दहन इसका प्रधान था। जो लोग संस्कृत से अरबी में अनुवाद करते थे उनको यह परामर्श दिया करता था। प्रोफेसर ज़खाऊ का अनुमान है कि इब्न दहन धन्य या धनन का अपभ्रंश हो सकता है। और धनन भी धन्वन्तरी का बिगड़ा हुआ रूप माना जा सकता है।

संस्कृत से अरबी में सैकड़ों ग्रन्थों का अनुवाद किया गया था जिनमें प्रधान विषय थे, गणित, ज्योतिष, फलित ज्योतिष, चिकित्सा, राजनीति, नीति शास्त्र और खेल तमाशे आदि।

गणित ग्रंथों का अर्बी अनुवाद

आधुनिक ऐतिहासिक शोध ने यह सिद्ध कर दिया है कि १ से ६ तक के अङ्क भारत से अरब में पहुँचे हैं। अरबी और फारसी भाषा में इन्हें हिन्द-से कहते हैं। दोनों भाषाओं में ये बांए से दांए की ओर लिखे जाते हैं। जो फ़ारसी और अरबी की लेखन शैली के विपरीत हैं। इब्न नदीब ने अपनी पुस्तक में इनका उल्लेख सिन्धी अंकों के नाम से किया है। जब ये अंक योरुप में पहुँचे तो वहाँ इनको अरबी अङ्क कहने लगे। इससे पहिले अरब और ईरान में संख्या लिखने की विधि दूसरी थी। इसको 'अबजद' कहते हैं। यह विधि संस्कृत कविता में तथा हिन्दी कविता में इस समय भी प्रचलित है और फ़ारसी तथा उर्दू भाषाओं में तारीख इसी विधि से बतलाई जाती है। जैसे संस्कृत में १ से ६ तक की संख्या के लिये विशेष शब्द हैं उसी प्रकार अरबी और फ़ारसी में भी अक्षर विशेष संख्याओं के द्योतक हैं। उदाहरणार्थ अ से १ और ब से २ और ज से ३ का बोध होता है। भारतीय अङ्क अरब में पहुँचे उससे पहिले अरब में संख्या लिखने की यही विधि थी। यह अङ्कों का ज्ञान बगदाद में लगभग १४५ हिज्री में पहुँचा था। पहिले उल्लेख किया जा चुका है कि खलीफा हारूंल रशीद के समय में एक हिन्दू विद्वान् कुछ पण्डितों को साथ लेकर खलीफा के दरबार में गया और कुछ सिद्धान्त ग्रन्थ पेश किए। इन ग्रन्थों में यत्र-यत्र गणित का प्रयोग होता है। इसलिये अङ्कों का प्रयोग अनिवार्य है। अतः सन् १४५ के आस-पास मुस्लिम जगत मे भारत के अङ्कों का ज्ञान प्रचलित हुआ होगा। इसके पश्चात् मूसा ख्वारिज़्मी ने इस ज्ञान को व्यवस्थित और विकसित किया। अहमदनसवो ने दसवीं शताब्दी में अरबी में गणित के ग्रन्थ लिखे जिसमें उसने भारतीय अङ्क शैली का अनुसरण किया।

गणित और फलित ज्योतिष: अरबी में बृहस्पति सिद्धान्त का अनुवाद हारूंल रशीद के समय में किया गया था। इस अनुवाद का नाम असिन्द हिन्द है। लगभग उसी समय आर्य भट्टीयम् का अरबी में अनुवाद हुआ। इसका नाम अरूजबंद है जो वास्तव में आर्य भट्टीयम् का अरबी रूपान्तर है। खंडन खाद्य के अरबी अनुवाद का नाम अरकन्द है। हारूंल रशीद के शासन काल में जो हिन्दू विद्वान बगदाद पहुँचा उसके दो प्रसिद्ध अरबी शिष्य थे। एक का नाम इब्राहीम फिजारी था और दूसरे का नाम याकूब बिन तारीक। इन दोनों ने भारतीय सिद्धान्तों का अच्छा अनुशीलन किया और फिर उनको ऐसा अरबी रूप दिया कि वे वहीं का

ज्ञान प्रतीत होने लगा। सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय के विषय में भी अरब लोगों ने भारतीय विचार अपनाए। भारतीय ज्योतिष का सिद्धान्त है कि नाड़ी वृत्त, क्रान्ति वृत्त, पूर्वापर वृत्त, और क्षिति वृत्त इन चारों का जब सम्पात होता है तो एक विशेष संधि बन जाती है। इसी को गोल संधि कहते हैं। गोल संधि से सृष्टि का आरम्भ होता है और फिर कालान्तर में जब पुनः गोल संधि होती है तो प्रलय होता है और प्रलय के पश्चात् फिर सृष्टि होती है। दो गोल संधियों के बीच के काल का नाम कल्प है। जिसका समय चार अरब और बत्तीस करोड़ वर्ष नियत किया गया है। अरब लोगों ने कल्प का अनुवाद किया है 'सनीउसिन्द हिन्द'। आर्य भट्ट ने कल्प को युगों और महा युगों में विभक्त कर ज्योतिष के गणित को आसान बनाने का प्रयत्न किया है। नवीं शताब्दी में अरब लोगों ने ज्योतिष विद्या में अच्छी उन्नति की। बगदाद में एक प्रसिद्ध वेधशाला का निर्माण हुआ। भारतीय और यूनानी ज्योतिष का इन लोगों ने तुलनात्मक अध्ययन किया। अनेक ग्रंथों पर भाष्य लिखे, उनका संशोधन किया तथा उनकी मीमांसा की। यह ज्ञान भारत की सीमा से स्पेन तक प्रचलित हुआ। इसन बिन सब्बाह हसन बिन खासिब, और फजल बिन हातिब तबरे-ज़ी इस विद्या के प्रकांड विद्वान थे। उस समय इस विषय का जो भी ज्ञान उपलब्ध था उसका इन तीनों विद्वानों ने सूक्ष्म मनन और मंथन किया तथा उसको और अधिक उन्नत बनाने का यत्न किया। अरबी भाषा में भारतीय ज्योतिष के कई पारिभाषिक शब्द प्रचलित हुए। इनका अरबी भाषा में अनुवाद नहीं किया जा सकता था इसलिए इनका असली रूप में व्यवहार किया गया परन्तु फिर भी उच्चारण भेद के कारण इनका रूपान्तर हो गया। उदाहरणार्थ: करदज (क्रमज्या), जेब (जीवा), ओज (उच्च), उरैन (उज्जयिनी) आदि। अन्तिम शब्द अर्थात् उरैन का इतिहास बड़ा मनोरंजक है। उज्जैन से भारतीय ज्योतिषी यामोत्तर रेखा खींचा करते थे। यामोत्तर रेखा उसको कहते हैं जो विश्वत रेखा को पार करती हुई उत्तर दक्षिण ध्रुव को पहुँचती है और पृथ्वी को पूर्वी गोलार्द्ध और पश्चिमी गोलार्द्ध में विभक्त करती है। अँग्रेजी में इसको जीरो मेरीडियन कहते हैं। अँग्रेज ज्योतिषी यामोत्तर रेखा ग्रीनविच से चलती हुई मानते हैं। भारतीय ज्योतिषी वास्तव में इस रेखा को स्वर्ण द्वीप से चलती हुई मानते थे और स्वर्ण द्वीप तथा उज्जैनी को एक सीध में समझकर इस रेखा को उज्जैनी से चलती हुई मानने लगे। उज्जैनी का प्रचलित रूप आठवीं और नवीं शताब्दी में उज्जैन हो गया था जो अरबी में उरैन रह गया। अरब लोगों को यह पता नहीं था कि उज्जैन किसी नगर का नाम है। वे लोग उज्जैन और यामोत्तर रेखा को पर्यायवाची शब्द मानते थे, इसलिये अरबी भाषा में उरैन का अर्थ यामोत्तर रेखा हो गया। अरबी भाषा में अधि मास के लिए भी कोई शब्द नहीं मिला इसलिये इसी शब्द का व्यवहार किया गया परन्तु इसका उच्चारण अरबी में बज़्मास हुआ।

चिकित्सा शास्त्र : दसवीं शताब्दी तक भारत का चिकित्सा ज्ञान संसार में सर्वोच्च माना जाता था। भारत के साधारण वैद्य भी पश्चिमी ऐशिया में कुशल समझे जाते थे। उस समय ईरान, ईराक, शाम और अरब देशों में चिकित्सा ज्ञान नहीं के बराबर था। इसलिये भारत के कितने ही वैद्य इन देशों में जाकर बस गये थे और अपना व्यवसाय करते थे। इनमें अधिकांश सिंध देश के निवासी जाट और मेड़ लोग थे। मोहम्मद साहब की पत्नी श्रीमती आयशा का इलाज करने वाला वैद्य सिंध देश का जाट था। जब बगदाद का प्रसिद्ध प्रतापी खलीफा हारूंरशीद बीमार हुआ तो चिकित्सा के लिये भारत से मनका नामक वैद्य बुलाया गया था। उस समय अर्थात् आठवीं शताब्दी में मुसलमानों का सम्पर्क और परिचय अरब और उसके पास के देशों से ही था, इसलिये यह वैद्य सिंध या गुजरात का निवासी होगा और इसका शुद्ध नाम अनुमानतः माणिक्य होगा। उस समय से चिकित्सा शास्त्र के अच्छे अच्छे ज्ञाता और विद्वान् बगदाद में पहुँचने लगे। हारूंरशीद भारत के वैद्य की चिकित्सा से स्वस्थ हुआ था। अतः वह भारतीय वैद्यों का आदर करने लगा। इसके अतिरिक्त बरामका वंश के वज़ीर भारतीय विद्याओं का मुस्लिम देशों में प्रचार करवाना चाहते ही थे, इस संयोग से भारतीय चिकित्सा पद्धति का बगदाद और उसके पास के प्रदेशों में प्रचार होने लगा। बरामका वंश के याहिया बिन खालिद ने चिकित्सा ग्रन्थों का संग्रह करने के लिये एक अरब विद्वान को भारत में भेजा। वह अनेक सद्ग्रन्थ बगदाद को ले गया और उसके साथ कुछ भारतीय वैद्य भी गये। ये लोग सम्भवतः सिंध, गुजरात या अन्य समुद्र तटस्थ प्रदेश से गये होंगे। बरामका खानदान का बगदाद में एक अलग चिकित्सालय था। इसका अध्यक्ष याहिया बिन खालिद ने एक भारतीय वैद्य नियत किया था। और संस्कृत भाषा के चिकित्सा ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद करने के वास्ते भारतीय तथा अरबी विद्वान गये थे। इस प्रकार भारत से वैद्यों का बगदाद में आना जाना बहुत समय तक जारी रहा। बगदाद के खलीफा मवक्क़िबक्क़ बिल्लाह अब्बासी ने नवीं शताब्दी में एक अरबी वैद्य को भारत में यहाँ की औषधियों का अध्ययन करने के लिये तथा कुछ अति गुणकारी औषधियों का संग्रह करने के लिये भेजा था। उसके पश्चात् इसी शताब्दी में खलीफ़ा मोतजिद बिल्लाह अब्बासी ने अहमद बिन खफ़ी दैलया को अध्ययन के निमित्त भारत में भेजा। यह अरबी विद्वान गणित और ज्योतिष का विशेषज्ञ था और नक्षत्रों की पारस्परिक दूरी का इसने अच्छा अध्ययन किया था।

चिकित्सा ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद : आयुर्वेद में चरक और सुश्रुत अति प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाते हैं। ये दोनों ग्रन्थ सम्पूर्ण आयुर्वेद के आधार हैं। इनसे पहिले भी इस विषय के ग्रन्थ होंगे। परन्तु इनके महा प्रकाश में वे सब लुप्त हो गये। सुश्रुत प्रधानतः शल्य क्रिया का ग्रन्थ माना जाता है परन्तु इसमें रोग लक्षण, चिकित्सा विधि और औषधि-गुण का भी विवरण है। याहिया बिनखालिद

बरमका की आज्ञा से माणिक्य वैद्य ने इसका अरबी में अनुवाद किया था। इस अनुवाद में कितने ही अरबी और भारतीय विद्वानों ने सहयोग दिया होगा। बरमकाओं के चिकित्सालय में सुश्रुतपद्धति से चिकित्सा और शल्यक्रिया की जाती थी। चरक का अनुवाद पहिले फारसी भाषा में हुआ था। यह पता नहीं चलता कि यह किसकी प्रेरणा और पोषण से हुआ। वास्तव में भारतीय चिकित्सा विधि की प्रसिद्धि पश्चिमी एशिया में सर्वत्र फैली हुई थी। सिकन्दर के आक्रमण के बाद यूनानियों को भारतीय ज्ञान भंडार का पता लग गया था और भारत का इस पश्चिमीय भूभाग से सम्पर्क तथा सम्बन्ध स्थापित हो गया था। लोगों के आने जाने तथा मिलने जुलने से पश्चिमी एशिया भारत के महत्व से परिचित हो गया था। ईरान के हकीमों को पता लगा होगा कि भारतीय चिकित्सा विधि के आधार सुश्रुत और चरक हैं। स्वभावतः वे लोग इन ग्रन्थों को पढ़ना चाहते होंगे। इसलिये फारसी और सस्कृत के विद्वानों के पारस्परिक सहयोग से चरक का फारसी में अनुवाद हुआ होगा। फेहरिस्त इब्ननदीम में लिखा है कि अब्दुल्ला बिनअली नामक अरबी विद्वान ने अरबी भाषा में चरक का फारसी से अनुवाद किया। इन दोनों प्रसिद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य कई आयुर्वेदिक ग्रन्थों का उस समय अरबी भाषा में अनुवाद किया गया था। परन्तु उनके नामों का इतना रूपान्तर कर दिया गया है कि मूल ग्रन्थों के नाम का अब पता नहीं लगता। इसके अतिरिक्त संस्कृत के असंख्य ग्रन्थ राजनैतिक उथल पुथल के युग में नष्ट हो गये। उनके अनुवाद चाहे मिल जावें परन्तु मूल ग्रन्थों का पता नहीं चलता। इन ग्रन्थों में कुछ ग्रन्थ यहाँ उल्लेख के योग्य हैं। एक आयुर्वेदिक ग्रन्थ का नाम अरबी में सन्दहताक या सन्धशान लिखा है। एक लेखक इसको सन्दस्ताक कहता है और दूसरा सन्धशान। दूसरे लेखक ने इसको सन्धस्तान भी लिखा है। सन्धस्तान प्रत्यक्षतः सिद्धि स्थान का अरबी रूपान्तर है। इसका अर्थ एक लेखक ने खुलासा कामयाबी और दूसरे ने सूरत कामयाबी किया है। इस ग्रन्थ का अनुवादक इब्न दहन था जो बगदाद के चिकित्सालय में प्रधान वैद्य था।

अन्य ग्रन्थों के अनुवाद : उपरोक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य अनेक आयुर्वेद विषयक संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद उस काल में अरबी भाषा में किया गया था। इनमें एक निदान ग्रन्थ था। इसमें चार सौ चार रोगों के लक्षण बतलाये गये हैं। अरबी में भी इसका नाम निदान ही है। इसका पूरा नाम नहीं दिया गया है। इसलिये पता नहीं चलता कि मूल ग्रन्थ कौनसा है। इब्न नदीम ने लिखा है कि एक ऐसे ग्रन्थ का अरबी में अनुवाद किया गया था जिसमें प्रत्येक औषधि के दस नाम दिये गये थे। यह अनुवाद माणिक्य वैद्य ने किया था और सुलेमान बिन इसहाक ने करवाया था। इससे प्रकट होता है कि मनका (माणिक्य) वैद्य ने बगदाद पहुँचने के कुछ अर्से बाद ही अरबी भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था और वह संस्कृत से अरबी भाषा में अनुवाद करना सीख गया था। रूसा नामक एक हिन्दू वैद्य की

लिखी हुई पुस्तक का भी अरबी में अनुवाद किया गया था। इस पुस्तक का विषय था स्त्रियों के रोग और उनकी चिकित्सा। इस प्रकार गर्भवती चिकित्सा, विष चिकित्सा, पेयद्रव्यलक्षण, पशु चिकित्सा आदि विषयों के ग्रन्थों का भी अरबी में अनुवाद किया गया था। काल के प्रवाह में इनमें से अनेक ग्रन्थ बह गये और मूल ग्रन्थों में से तो चरक और सुश्रुत के सिवाय किसी अन्य ग्रन्थ का अब पता नहीं लगता। परन्तु ये सब ग्रन्थ उस समय सिंध देश में प्रचलित होंगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। अरब देशों में कई शताब्दियों तक हिन्दू विद्याओं का आदर रहा, परन्तु जब मुसलमानों में तुर्कों के प्रभाव से धार्मिक कट्टरता और असहिष्णुता अधिक बढ़ गई तब यह प्रवाह रुक गया और मुस्लिम मस्तिष्कों ने अन्य जातियों के ज्ञान को ग्रहण करना बन्द कर दिया।

फलित ज्योतिषग्रन्थों का अनुवाद: भारत में ज्योतिष ज्ञान का उदय वैदिक काल में ही होने लग गया था। चौथी पाँचवीं सदी में यह अत्यन्त पुष्ट और प्रौढ़ बन चुका था, परन्तु उस समय तक अधिक जोर गणित ज्योतिष पर था फलित ज्योतिष पर नहीं। इसके पश्चात् फलित ज्योतिष की ओर भारतीय पंडित झुकने लगे और इस विषय पर कई ग्रन्थ लिखे गये। सिंध विजय के बाद पश्चिमी एशिया में भी भारतीय फलित ज्योतिष की चर्चा होने लगी। बगदाद के दूसरे खलीफा मंसूर का फलित ज्योतिष पर अत्यधिक विश्वास था। उसके कारण उसकी प्रजा में भी इसकी बहुत चर्चा होने लगी। खलीफा मंसूर ने जब बगदाद बसाया तो हर एक मकान, मार्ग और मोड़ की कुंडली बनाई गई थी। आरम्भ में ईरानी ज्योतिषियों का वहाँ प्रभुत्व था, फिर शनैः शनैः भारतीय ज्योतिषियों का भी प्रभाव जमने लगा। तब फलित ज्योतिष के संस्कृत ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद होने लगा। इन ग्रन्थों के प्रणेताओं में सर्वाधिक प्रसिद्ध कनका पंडित था। यह वैद्य था और ज्योतिषी भी। इसका असली भारतीय नाम कनकराय पंडित होगा, इसके लिखे हुए छः ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद किया गया था। कनका के अतिरिक्त तीन और हिन्दू ज्योतिषियों के नामों का पता चलता है जिनके ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद किया गया था। ये तीन नाम हैं जौहर हिन्दी, नहक हिन्दी और सिंहल हिन्दी। उच्चारण भेद के कारण इन नामों के रूपान्तर हो गये हैं।

अन्य विषय के ग्रन्थों का अनुवाद: अरब यात्री जाहिज ने भारतीय संगीत की प्रशंसा की है और इकतारे का उल्लेख किया है परन्तु अरबी भाषा में संस्कृत के किसी संगीत ग्रन्थ का अनुवाद नहीं हुआ। सम्भव है कि तत्कालीन सिंध में शास्त्रीय संगीत का प्रचार न हो। इसके अतिरिक्त मुसलमान धार्मिक दृष्टि से संगीत को वांछनीय नहीं समझते थे। शायद इसी कारण से किसी संगीत ग्रन्थ का अनुवाद नहीं किया गया हो। स्पेन निवासी एक मुस्लिम इतिहासलेखक काजी

साइद अन्दलसी (१०७० ई०) ने लिखा है कि "भारतीय संगीत विद्या का एक ग्रन्थ मुझे मिला है जिसमें रागों और स्वरों का वर्णन है, इस ग्रन्थ का नाम नाकर है।" नाकर, संस्कृत शब्द नहीं है, अतः या तो यह संस्कृत शब्द का अरबी अनुवाद हो सकता है या फारसी अनुवाद। इससे इतना तो स्पष्ट है कि भारतीय संगीत अरब लोगों को पसन्द था और इस विषय के ग्रन्थों से भी वे लोग अपरिचित नहीं थे। एक फारसी ग्रन्थ का विषय है भारतीय इतिहास। इसमें महाभारत की अनेक कथायें दी हुई हैं। इस पुस्तक का नाम मुजम्मिल उत्तवारीख है। इसकी भूमिका में लिखा है कि इसका अनुवाद संस्कृत से अरबी में हुआ था और सन् ४१७ हिजरी (१०२६) में इसका अरबी से फारसी में अनुवाद किया गया। युद्ध विद्या और राजनीति के दो संस्कृत ग्रन्थों का भी अरबी में अनुवाद हुआ था। इनके नाम अरब लोगों ने शानाक और बाफ़र लिखे हैं। शानाक तो चाणक्य हो सकता है और बाफ़र शायद व्याघ्र नाम का कोई लेखक हो। इब्न नदीम ने लिखा है कि शानाक की पुस्तक में युद्धव्यवस्था, सेना-प्रबन्ध और राजकर्मचारियों की नियुक्ति का विवेचन है। व्याघ्र के ग्रन्थ में शस्त्र परिचय और शस्त्रों के गुण तथा लक्षण का वर्णन है। इसी विषय के एक दूसरे संस्कृत ग्रन्थ का अनुवाद अबुलहसन बिन अली जिबल्ली ने सन् १०२६ ई० में अरबी भाषा में किया था। इसका अरबी नाम अदबुल मुल्क है। संस्कृत नाम का पता नहीं चलता, परन्तु अदबुल मुल्क का अर्थ है राज्य पद्धति। तर्क शास्त्र विषयक एक दो संस्कृत पुस्तकों का भी अरबी में अनुवाद किया गया था। जाहिज ने अपनी पुस्तक किताबुलबयान वत्तबईन में एक संस्कृत निबन्ध का संक्षेप दिया है जिसमें यह बतलाया गया है कि वक्ता के क्या गुण होने चाहिये और अवसरानुकूल कैसे बात करनी चाहिये।

कथा कहानियों का अनुवाद : संस्कृत की कई कथाओं का अरबी में उस समय अनुवाद किया गया था परन्तु उनके असली नामों का अब पता नहीं चलता। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध पुस्तक है कलेला दमना। यह पंच तन्त्र का रूपान्तर है। कर्कट और दमनक अरबी में कलेला और दमना हो गये हैं। ग्यारहवीं शताब्दी तक यह पुस्तक पश्चिमी एशिया तथा उत्तर अफ्रीका में बहुत पढ़ी जाती थी और इसकी कहानियाँ बहुत प्रचलित हो गई थीं। इसके फारसी और अरबी भाषाओं में कई अनुवाद हुए। फारसी से अरबी में और अरबी से फारसी में भी इसके कई रूपान्तर हुए। ईरान, बगदाद, दमसकस और मिस्र के दरबार में इसका बड़ा आदर था। अनुवाद और रूपान्तर करने वालों ने खलीफाओं से और दूसरे अमीरों से खूब पुरस्कार प्राप्त किये थे। नवीं शताब्दी के आरम्भ में इसका अरबी भाषा में एक कवि ने पद्यात्मक रूपान्तर किया और खलीफा हारूं रशीद के प्रसिद्ध विद्यानुरागी राजमन्त्री जाफर बरामकी को भेंट किया। विद्याप्रेमी राजमन्त्री ने इस ग्रन्थ पर मुग्ध होकर

कवि को एक लाख दरहम का पुरस्कार दिया। ग्यारहवीं शताब्दी के पश्चात् यूरोप की प्रायः समस्त भाषाओं में पंच तन्त्र की कहानियां लिखी गईं। ये कहानियाँ अरबी के द्वारा ही यूरोप में पहुँची थीं। इस समय पंचतन्त्र के अनुवाद संसार की समस्त भाषाओं में हो चुके हैं।

चौसर और शतरंज के खेल : ये दोनों खेल भारतीय हैं। सिंध विजय के पश्चात् मुस्लिम देशों में इनका प्रचार हुआ और वहां ये इतने लोकप्रिय हुए कि घर-घर में ये खेले जाने लगे। अरबी विद्वान् याकूबी ने इनका अच्छा विवेचन किया है। उसका कथन है कि इन दोनों खेलों की रचना गणित और ज्योतिष के सूक्ष्म सिद्धान्तों पर की गई है। उसके मतानुसार चौसर में आकाश की राशियों, वर्ष के ३६० दिनों और होरा के २४ घण्टों तथा रात और दिन के १२, १२ घण्टों का चित्र है। इसी प्रकार शतरंज के घरों का निर्माण ६४ घड़ी, ३२ पुल आदि पर किया गया है। याकूबी ने यह भी लिखा है कि इन खेलों का गणित और ज्योतिष आधार तो स्पष्ट और प्रत्यक्ष ही है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जावे तो इनके मूल में एक गहरा दार्शनिक तत्व निहित है। चौसर का खेल यह बतलाता है कि मनुष्य के हाथ में कुछ नहीं है। उसका सम्पूर्ण जीवन भाग्य के वश में है। जैसा पासा पड़ जावे वही उसके जीवन की गति है। कोई अदृष्ट शक्ति प्राणियों से खेल खेला करती है। उसकी लीला के अनुसार हम लोग इधर उधर फुदकते हैं, उठते हैं, पड़ते हैं, जीते हैं और मरते हैं। संस्कृत के एक कवि ने ठीक यही भाव प्रकट किया है कि काल अपनी सहचरी के साथ इस सृष्टि के तख्ते पर प्राणियों की गोटों से चौसर का खेल खेल रहा है। शतरंज का खेल दूसरे गूढ़ तत्व का प्रतिपादक है। मनुष्य अपने बुद्धि-बल और पुरुषार्थ से जीवन में सफलता प्राप्त कर सकता है। शतरंज के खेल में एक मोहरे को चलाने से पहिले उसको इधर-उधर के पत्तों पर विचार करना पड़ता है। और यदि चाल विचार कर चलता है तो जीतता है, अन्यथा नहीं। यही दशा हमारे जीवन की है। जीवन वास्तव में बुद्धि का खेल है। जिसमें बुद्धि और विवेक नहीं, उसका शारीरिक या सैनिक बल भी किसी काम का नहीं है। संस्कृत के एक कवि ने भी यही विचार प्रकट किया है। वह कहता है कि जिसके पास बुद्धि है उसी के पास बल है। निर्बुद्धि मनुष्य के पास बल कहां से आ सकता है?

अरब राज्य में धार्मिक स्थिति : सिन्ध में अरबों का राज्य स्थापित होने पर वहाँ की धार्मिक स्थिति में घोर परिवर्तन हो गया। अब मुसलमान शासक बन गये और हिन्दू लोग उनकी रियाया हो गये। हिन्दुओं का धर्म शासितों का धर्म माना जाने लगा। शासकों की दृष्टि में वह हेय था, उसका वे लोग आदर नहीं कर सकते थे। मुसलमान केवल अपने धर्म को ही सच्चा मार्ग मानते थे और जिस प्रकार हो सके उसका प्रचार करना उनके शासन का लक्ष्य था। मुसलमान संसार के

मनुष्यों को चार वर्गों में विभक्त करते हैं : मुसलमान, अहले किताब, अहले किताब मुशावह, और कुफ्फार। कुरान को मानने वाले, खुदा पर ईमान लाने वाले और मोहम्मद को खुदा का रसूल या पैगम्बर अर्थात् भगवान् से मनुष्य जाति के लिये संदेश लाने वाला मानने वाले मुसलमान माने जाते थे। मुसलिम राज्य में मुसलमान ही स्वतन्त्र नागरिक माने जाते थे। इन्हीं को सब प्रकार के अधिकार प्राप्त थे और राज्य में इन्हीं का मान और आदर था। अहले किताब वे लोग माने जाते हैं जिनके धर्म ग्रन्थ का कुरान में उल्लेख आया हो। ईसाइयों की गणना अहले किताब में होती है क्योंकि कुरान में बाइबिल का जिक्र आया है। अहले किताब लोग मुसलमान राज्य में दूसरी श्रेणी के नागरिक होते हैं। अहले किताब मुशावह उन लोगों को माना जाता है जो ईश्वर की सत्ता को तो स्वीकार करते हैं परन्तु उनके धर्म का या धर्म ग्रन्थों का कुरान में उल्लेख नहीं किया गया है। ये लोग मुस्लिम राज्य में तीसरी श्रेणी के नागरिक समझे जाते हैं। कुफ्फार (काफिर का बहुवचन) उन लोगों को कहा जाता है जो ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास नहीं करते। इन लोगों को मुसलमान जंगली मानते हैं और उनको नष्ट करना या मुसलमान बनाना बड़ा पवित्र कर्म समझते हैं। अन्तिम तीनों वर्गों के लोगों को मुसलमान ज़िम्मी या खिराजगुज़ार कहते हैं। यदि वे मुसलमान राज्य में निवास करते हैं तो इस्लाम के कानून के अनुसार या तो वे लोग जज़िया दें या मुसलमान धर्म स्वीकार करें। जज़िया कर के रूप में सम्पन्न लोगों से ४८ दिरम, साधारण लोगों से २४ दिरम और गरीबों से १२ दिरम प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति लिये जाते थे। एक दिरम आजकल के साढ़े तीन आने के बराबर होता है। स्त्रियां, बच्चे, वृद्ध, राजकर्मचारी, अस्वस्थ और पुजारी इस कर से मुक्त माने जाते थे। जज़िया के देने के बाद तीनों वर्गों के लोगों को मुसलमानों के समान नागरिकता के अधिकार प्राप्त हो जाते थे। उनके जन, धन, और धर्म की रक्षा करना राज्य का कर्तव्य बन जाता था।

अरब शासकों का हिन्दुओं के साथ व्यवहार : अरब पर अपना अधिकार स्थापित होते ही मोहम्मद बिन कासिम ने सिंध में मुसलमान कानून जारी कर दिया था। उसने हिन्दुओं पर जज़िया कर लगाया, परन्तु उनके देवालयों को नष्ट नहीं किया। कानूनी तौर से भी हिन्दुओं को कोई विशेष कष्ट नहीं दिया गया। उस समय देवल और मुलतान में बड़े प्रसिद्ध मन्दिर थे जिनकी प्रतिमाओं के दर्शनार्थ दूर दूर से हिन्दू यात्री आया करते थे। ये दोनों प्रसिद्ध मन्दिर अरबों का राज्य स्थापित होने पर भी पूर्ववत् बने रहे और जब तक अरबों का राज्य रहा, ये नष्ट नहीं हुए। अरब लोगों ने मन्दिरों के पास अपनी मस्जिदें बनवा दीं और उनमें वे लोग नमाज गुजारने लगे, परन्तु मन्दिरों की पूजा बन्द नहीं की गई। शासन शक्ति मुसलमानों के हाथ में थी। इसलिये शंख, घंटा और नौबत आदि या तो बन्द कर दी गई होगी या नमाज और अजान का समय टाल कर शंख आदि बजाये जाते होंगे। हिन्दू लोग स्वभावतः

सहिष्णु होते हैं और ईश्वर के विभिन्न स्वरूपों को स्वीकार करते हैं। अतः मुसलमानों का एकेश्वरवाद तो उनके सिद्धान्त के प्रतिकूल था ही नहीं। उनको यदि उज्र हो सकता था तो केवल इस बात पर कि मोहम्मद साहेब खुदा के रसूल थे और कुरान के सिवाय अन्यत्र किसी ग्रन्थ में सत्य सिद्धान्त नहीं है। इन सूक्ष्मताओं में भी साधारण हिन्दू प्रवेश नहीं कर सकता था। आरम्भ में अरबों के आक्रमण से तथा रक्तपात और हत्याओं तथा अत्याचारों से हिन्दू जनता को घोर आघात हुआ होगा, परन्तु यह कहाँ तक टिकता ? हिन्दू शनैः शनैः विपत्तियों का सहना सीख गये और मुसलिम धर्म का आदर करने लगे। उधर राज्य स्थापित होने पर मुसलमानों के भी सामूहिक अत्याचार कम हो गये। हिन्दुओं का उत्पीड़न विशेषतः जजिया कर तक ही सीमित हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों जातियों की पारस्परिक घृणा कम हो गई। दसवीं शताब्दी में जब अरबों का राज्य नष्ट होने लगा और सिंध के एक भाग पर हिन्दुओं का शासन पुनः स्थापित हो गया तो वहां के अरबों को चिन्ता हुई कि उनकी क्या गति होगी। उस समय हिन्दू राजा ने उनको आश्वासन दिया और अपने राज्य में उनको सुख से रखा। मुसलमानों की भांति उसने उन पर कोई धर्म कर नहीं लगाया। उनकी मसजिद पूर्ववत् बनी रही और नमाज तथा अजान भी पहिले की भांति होती रहीं।

अरबों और हिन्दुओं के शास्त्रार्थ : अरब लोग तुर्क, पठान या मुग़लों की भांति धर्मान्ध नहीं थे। कुरान की शिक्षा से वे यह तो मानने लग गये थे कि येन केन प्रकारेण इस्लाम का प्रचार करना चाहिये और जिम्मियों से जज़िया लेनी चाहिये। आवश्यकता होने पर उनके देवालयों को तथा देव प्रतिमाओं को नष्ट करना भी वे अनुचित नहीं समझते थे परन्तु फिर भी उन लोगों में महमूद गजनी या मोहम्मद गौरी जैसी बर्बरता नहीं थी। वे दूसरी कौम के इल्म व हुनर की इज़्ज़त करना जानते थे और कुरान इजाजत देती थी वहां तक दूसरे धर्मों के तत्वों को समझने की भी कोशिश करते थे। खलीफाओं के दरबार में विशेष कर खलीफा मंसूर और खलीफा हारूंरशीद के दरबार में कई बार पण्डितों और मुल्लाओं में शास्त्रार्थ हुए थे। इन अवसरों पर गूढ़ तत्वों पर विचार हुआ करता था। ऐसी जनश्रुति है कि भारत के एक राजा ने भी शास्त्रार्थ के लिये खलीफा के दरबार से एक अरबी विद्वान् को निमंत्रित किया था। उसने भारत में आकर यहां के पण्डितों से शास्त्रार्थ किया था, जिसमें वह पंडितों से टक्कर नहीं ले सका, और हारकर वापिस चला गया। फिर खलीफा ने एक दूसरा मुल्ला इसी कार्य के निमित्त भारत में भेजा परन्तु मार्ग में ही उसकी मृत्यु हो गई। इन बातों से प्रकट होता है कि खलीफाओं का दरबार अकबर के दरबार के समान था। अकबर फतहपुर सीकरी में विभिन्न धर्मों के ज्ञाताओं का विवेचन सुना करता था। खलीफा मंसूर और हारूंरशीद भी उसी

भाँति तत्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिये या शायद तुलना द्वारा दूसरे धर्मों के दोष जानने के लिये उत्सुक थे। कुछ भी हो, इतना तो स्वीकार करना ही चाहिये कि तुर्कों और पठानों की अपेक्षा अरब अधिक उदार, सहिष्णु और विद्यानुरागी थे। अरबों की तुलना विक्टोरिया काल के उन अँग्रेजों से की जा सकती है जो भारत में आये और जिन्होंने भारत की भाषा, धर्म और संस्कृति का सूक्ष्मता तथा उदारता से अध्ययन किया।

अरब और हिन्दू धर्म का अध्ययन : अरब के पांच विद्वानों ने हिन्दू धर्म का अच्छा अध्ययन किया था। इनमें अबुलफजल की समानता करने वाला तो कोई भी विद्वान् नहीं था, परन्तु फिर भी उनका पांडित्य सराहनीय है। इनने हिन्दू धर्म के सूक्ष्म तत्वों में अच्छा प्रवेश किया था और तत्कालीन प्रचलित धार्मिक विश्वासों और पूजा विधियों का अच्छा विवेचन किया था। इन पांच विद्वानों के नाम हैं : याकूब, बिनइसहाककिन्दी, मुतहि रयाजी साईद, सैराफी, इब्ननदीम। इनके ग्रन्थों और निबन्धों से पता लगता है कि तत्कालीन प्रचलित हिन्दू धर्म इन विदेशियों को कैसा प्रतीत हुआ और उस समय के मन्दिरों में प्रतिमाओं और प्रथाओं को इन्होंने कितना समझा और तत्कालीन विश्वासों में इन्होंने कहां तक प्रवेश किया। याकूब ने हिन्दुओं के ७ सम्प्रदायों का और मुतःहिर ने १०० सम्प्रदायों का वर्णन किया है। याकूब के ७ सम्प्रदाय ये हैं। :

१. महाकार्या, २. अददीयकतिया-अब्रअदतबकतीया (आदित्य भक्त), ३. चन्द्रभक्त्य, ४. बरकनतनीय, ५. गंगाजात्रा, ६. राजपूतिया, ७. जटाजोलिया।

मुतःहिर ने १०० सम्प्रदायों का उल्लेख किया है, लेकिन फिर लिखा है कि मुझको केवल ११ साम्प्रदायों से ही परिचय है और ये भी ४९ धर्मों के अन्तर्गत हैं। स्थूल दृष्टि से ये सब ४ सिद्धान्तों में विभक्त हैं। प्रत्यक्ष में केवल दो ही सम्प्रदाय हैं।

१. समनी।

२. बरहमनी।

समनी से उसका अभिप्राय बौद्ध से और बरमहनी से ब्राह्मणों से है।

तत्कालीन देव और उनकी प्रतिमायें : याकूब ने महाकाली के विषय में लिखा है कि इसके चार हाथ होते हैं, नीला रंग होता है, सिर में बाल होते हैं, और दांत निकले हुए दिखाये जाते हैं। पेट खुला रहता है पेट पर हाथी की खाल पड़ी रहती है और इससे रक्त बिन्दु टपकते रहते हैं। इसके एक हाथ में सर्प, दूसरे में दंड और तीसरे में नर मुण्ड रहता है तथा चौथा हाथ ऊपर उठा रहता है। प्रतिमा के दोनों कानों में दो साँप दिखाये जाते हैं और शरीर पर अजगर लिपटा रहता है।

सिर पर खोपड़ियों का मुकुट होता है और गले में मुण्ड माला। सूर्य के विषय में इसने लिखा है कि एक गाड़ी में चार घोड़े जुते रहते हैं। गाड़ी में मूर्ति बैठी होती है जिसको लोग पूजते हैं, उसकी परिक्रमा करते हैं और उसके आगे सुगन्ध करते हैं और बाजा बजाते हैं। चन्द्रमा की मूर्ति के रथ में चार हंस जुते रहते हैं। मूर्ति के हाथ में एक बड़ी लगाम होती है। पूर्णिमा के दिन लोग व्रत रखते हैं और चन्द्रमा की पूजा करते हैं और नैवेद्य, मद्य और दूध चढ़ाते हैं। पड़वा और चौदस यथा पूर्णिमा और प्रतिपदा को लोग छतों पर चढ़ कर दर्शन करते हैं और मन्त्र पढ़ते हैं। मुतःहिर ने महादेव, काली, महाकाली और लिंग की पूजा का वर्णन किया है। इसने दो सम्प्रदायों के नाम लिखे हैं एक बलभराय और दूसरा अग्निहोतरिय। वह कहता है कि हिन्दू लोग जल की और आग की पूजा करते हैं। फिर उसने लिखा है कि ये लोग गौ की और आग की पूजा करते हैं। ११वीं शताब्दी के अरब लेखक अब्दुलकरीम-शहरिस्तानी ने लिखा है कि हिन्दू लोगों में बरगसंबंधीय सम्प्रदाय है जो बरगद की पूजा करता है। काजी साहिद ने एक प्रसंग में लिखा है कि हिन्दू लोग नक्षत्रों की पूजा करते हैं। इब्ननदीम ने बौद्ध की प्रतिमा के विषय में लिखा है कि एक आदमी सिंहासन पर बैठा होता है। चहरे पर बाल नहीं होते हैं, ठुड्डी नीचे झुकी होती है। मुँह पर मन्द मुस्कान होती है। अंगुलियां कुछ खुली होती हैं और कुछ बन्द। इसके वर्णन से स्पष्ट है कि यह भगवान बुद्ध के धर्मचक्र परिवर्तन मुद्रा की प्रतिमा का वर्णन है। सुलेमान सौदागर ने लिखा है कि चीन में धर्म भारत से आया है। बुद्ध की मूर्तियां भी भारत से ही पहुँची हैं।

तत्कालीन मन्दिर : याकूब ने बल्लभराय की राजधानी के मन्दिर देखे थे। उसने लिखा है कि मन्दिर के गर्भगृह सोने के बने होते हैं जिनमें सफेद मोती, लाल, और हीरे, पीले और नीले रंग के रतन-से जड़े रहते हैं। इसके अन्दर सोने की मूर्ति होती है जो १२ हाथ ऊँची होती है और सोने के सिंहासन पर बैठी होती है। कमरे (गर्भगृह) का आकार गुम्बुज सा होता है। इस मन्दिर में सोने, चांदी, लोहे, पीतल, हाथीदांत और सब प्रकार के बहुमूल्य रत्नों और पत्थरों की २०,००० प्रतिमाएँ हैं। इस मन्दिर के पास प्रतिवर्ष मेला लगता है। मुलतान के मन्दिर में सूर्य की प्रतिमा थी जो लकड़ी की बनी हुई थी। उसकी आंखों में लालें थीं और सिर पर सोने का मुकुट। मुतःहिर ने लिखा है कि मूर्ति पूजा के विषय में हिन्दुओं का यह मत है कि ईश्वर ज्ञान और इन्द्रियों से परे है, इसलिये मनुष्य उसके निराकार रूप को ग्रहण नहीं कर सकता। इसके लिये एक मध्यस्थ अर्थात् एक प्रतिमा की आवश्यकता होती है। मसउदी ने चीन के बौद्ध धर्म का वर्णन करते हुए भी १०वीं शताब्दी में इससे मिलता जुलता विचार प्रकट किया है। वह कहता है कि ये लोग मूर्तियां पूजते हैं और प्रार्थना करते समय उनके सम्मुख खड़े रहते हैं। इसमें विवेकवान

व्यक्ति तो प्रतिमा को उस दृष्टि से देखते हैं जैसे मुसलमान काबा को। ये लोग मानते हैं कि असली उपासना ईश्वर की है। जो अविवेकवान हैं वे लोग मूर्ति को ईश्वर के समान मान कर पूजते हैं। याकूब ने यह बात १०वीं शताब्दी में लिखी थी। गत शताब्दी में अर्थात १९वीं शताब्दी में जब महर्षि दयानन्द ने मूर्ति पूजा का खंडन आरम्भ किया तो सनातनधर्मियों ने मूर्ति पक्ष को ठीक बतलाने के लिये वही बात कही जो ९०० वर्ष पूर्व लोगों ने याकूब से कही थी।

तत्कालीन दार्शनिक विचार : मुतःहिर ने लिखा है कि समनी (बौद्ध) ईश्वर को नहीं मानते और यदि मानते हैं तो वे कहते हैं कि वह करता धरता कुछ नहीं है। ब्राह्मण लोग मानते हैं कि ईश्वर एक होता है और वह पाप और पुण्य का फल देता है। ये लोग पुनर्जन्म के सिद्धान्त से पाप और पुण्य का फल मिलना मानते हैं। कुछ लोग ईश्वर की एकता स्वीकार नहीं करते। एक लेखक ने लिखा है कि हिन्दुओं का ईश्वर का ज्ञान पवित्र है और उनमें अनेक सम्प्रदाय है। अबुजैद सैराफी कहता है कि हिन्दू पुनर्जन्म में अटल विश्वास रखते हैं।

तत्कालीन प्रचलित धार्मिक प्रथाएँ और विश्वास : सब अरब यात्रियों ने और विद्वानों ने लिखा है कि हिन्दू लोग गौ को माता के समान पूजते हैं और उसकी हत्या करने वाले को प्राण दंड दिया जाता है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर हिन्दू अटल विश्वास रखते हैं। ये लोग मानते हैं कि मनुष्य जितने पाप करता है सब गंगा स्नान से धुल जाते हैं। इनके मन्दिरों में देवदासियाँ रखी जाती हैं। गंगा में डूब कर प्राण दे देना इनके लिये साधारण बात है। पुनर्जन्म में इनका इतना विश्वास है कि लोग आग में जल कर मर जाते हैं या छुरी से अपना कलेजा फाड़ कर निकाल देते हैं और यह सब काम बहुत ही धैर्य और शान्ति से किया जाता है। इब्नउलफकीह ने एक आँखों देखी घटना का वर्णन किया है। वह लिखता है कि मुल्तान में एक आदमी मन्दिर में आया, उसके शरीर और अंगुलियों में तेल से भीगी हुई रुई लिपटी हुई थी। मन्दिर में आकर उसने रुई में आग लगा दी। जब जलती हुई आग उसके शरीर तक पहुँची तो वह टस से मस नहीं हुआ और धैर्य तथा शान्ति के साथ जल कर राख हो गया। सुलेमान सौदागर योगियों का वर्णन करते हुए लिखता है कि ये लोग सदा पहाड़ों और जंगलों में घूमा करते हैं और लोगों से बहुत कम मिलते जुलते हैं। जब भूख लगती है तो ये लोग घास पत्ते खा लेते हैं। इनमें अधिकांश लोग नंगे रहते हैं लेकिन चीते की खाल अपने ऊपर डाल लेते हैं। मैंने एक ऐसे आदमी को धूप में बैठे हुए देखा और सोलह वर्ष पश्चात जब मैं फिर उस स्थान पर गया तो भी उसको उसी प्रकार बैठे हुए पाया। मुझे यह सब कुछ देख कर परम आश्चर्य हुआ। शहरयार ने भी साधुओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि ये लोग बिलकुल नगे रहते हैं, केवल चार अंगुल की लंगोटी बाँधते हैं,

चटाइयाँ ओढ़ते हैं और फटे टूटे कपड़े से अपना कुछ तन ढक लेते हैं। शरीर पर राख मलते हैं। गले में मनुष्यों की खोपड़ी लटकी रहती हैं। सैराफी ने लिखा है कि ये लोग नाखून बड़े बड़े बढ़ा लेते हैं और नगर नगर घूमा करते हैं। लोग इनको प्रसन्नता से खाना देते हैं।

तत्कालीन रिवाज और प्रथाएँ : 'राजपूतियों' के सम्प्रदाय में मुख्य सिद्धान्त यह था कि राजा के लिये आवश्यकता पड़े तो प्राण तक दे देना चाहिए। हिन्दू लोग मुसलमानों को अपवित्र समझते थे। मुसलमान जिस चीज को छू लेते थे उसको हिन्दू नहीं छूते थे। व्यभिचार के लिये प्राण दंड दिया जाता था। मुसलमान हो जाने के बाद यदि पुनः कोई हिन्दू होना चाहता था तो उसके सारे शरीर को मूंड़ कर उससे प्रायश्चित कराया जाता था और पंचगव्य पिलाया जाता था। ब्राह्मण लोग शराब को हराम समझते थे और इसी प्रकार मांस को। हिन्दू लोग निकट सम्बन्धियों के यहाँ विवाह नहीं करते थे। यह लोग कयामत और रसूल को नहीं मानते थे। पशुओं की हत्या करना या उनको कष्ट देना बहुत बुरा समझते थे।

तत्कालीन भारत का विपुल वैभव : अरब यात्रियों के वर्णन से विदित होता है कि आठवीं से दशवीं शताब्दी तक भारत में अटूट सम्पत्ति थी। मिस्र, अरब, ईरान, लंका और चीन के साथ भारत का विपुल व्यापार था। भारत की जो वस्तुएँ बाहर जाती थीं उनके मूल्य का इससे अनुमान होता है कि एक जहाज के माल पर अरब तट पर पहुँचने पर ५ लाख दरहम तक की जकात देनी पड़ती थी। मुसलमानों के कानून के अनुसार जकात कर २½ रुपये प्रतिशत लिया जाता था। इस हिसाब से २ करोड़ दरहम का माल एक जहाज में लदा हुआ होता था। अर्थात् जो जहाज भारत से रवाना होता था उसके माल का मूल्य लगभग २ करोड़ दरहम मिलता था। आजकल के हिसाब से २ करोड़ दरहम २० लाख रुपये के बराबर होते हैं। इस समृद्ध व्यापार के कारण भारतवर्ष में लक्ष्मी कल्लोल करती रहती थी। यह कारण था कि महाराज बल्लभराय की राजधानी में अरबों को स्वर्ण निर्मित मन्दिर दिखाई देते थे, जिसमें सोने के सिंहासन पर १० हाथ ऊँची सोने की प्रतिमा थी। मन्दिर में सर्वत्र बहुमूल्य रत्न जड़े थे। यह केवल एक राजधानी का वर्णन है। इस प्रकार के अनेक राज्य दक्षिण भारत में वर्तमान थे। यह अनुमान करना अत्युक्ति नहीं होगी कि इतनी या लगभग इतनी ही सम्पदा प्रत्येक राज्य में होगी। समुद्र तट पर स्थिति राज्यों की सेनाओं में सैकड़ों और हजारों हाथी थे, हजारों सैनिक थे। सब को समय पर वेतन मिलता था। दक्षिण में एक राजा के यहां एक मुसलमान राज मन्त्री को पुरस्कार स्वरूप स्वर्ण ही इतना मिला था कि उसको लादने के लिये २०० बैलों की आवश्यकता हुई थी। यहां के खान पान पर अरब लोग मुग्ध थे। यहां के सुगन्धित पदार्थों और मिष्ठान्न ने उनको चकित कर दिया था। इस से इस बात का पता लगता है कि देश कितना सम्पन्न था।

उस समय की कला और कौशल : अरब लोगों ने भारतवर्ष की विभिन्न कलाओं को हर्ष और आश्चर्य से देखा था। इब्न नदीम ने बुद्ध भगवान की एक सुन्दर प्रतिमा का वर्णन किया है। दूसरे यात्री ने यहां की कला की प्रशंसा की है। यहां के संगीत का कई लोगों ने उल्लेख किया है। संगीत के कुछ ग्रन्थों का अनुवाद भी अरबी में किया गया था। हाथी दांत का काम यहां उस समय बड़ा अच्छा बनता था। नाना प्रकार के आभूषण बनाये जाते थे, जिनमें बहुमूल्य रत्न और नग जड़े रहते थे। मन्दिर के वैभव और निर्माण का जो अरब लोगों ने वर्णन किया है, उससे पता चलता है कि उनकी सुन्दरता पर ये लोग मुग्ध थे। यदि ये लोग भारत के अन्दर घुस कर अजन्ता और अलौरा की कला को देखते तो अवश्य ही दांतों तले अँगुली दबाते और उनकी भूरि भूरि प्रशंसा करते। इस युग में राष्ट्रकूट वंश के प्रसिद्ध महाराज कृष्ण का कैलाश मन्दिर तैयार हो चुका था और अजन्ता की गुफाओं के चमत्कारी चित्र कई शताब्दी पूर्व पूरे हो चुके थे। उत्तर भारत में भी गुप्त वंश का कला निर्माण यत्र तत्र वर्तमान था परन्तु वहां तक अरब लोग नहीं जा पाये थे।

धार्मिक प्रथायें : भारतीय दर्शन और धर्म उस युग में बहुत उन्नत थे। षड् दर्शन का निर्माण बहुत पहिले ही हो चुका था और गीता के कारण भारत का मस्तक ऊंचा था। ब्रह्म और आत्मा के स्वरूप का सूक्ष्म विवेचन ऋषि और मुनियों ने किया था। हमारे दार्शनिक सिद्धान्तों का महत्व अरब लोग स्वीकार करते हैं परन्तु यह सब बात ग्रन्थों में थी। इनको समझने वाले और इस समझ के अनुरूप अपने जीवन का संचालन करने वालों की गिनती बहुत कम थी। व्यवहार में धर्म शुद्ध, सूक्ष्म और सरल नहीं था। अगणित देवों और देवियों की पूजा होती थी। इसमें तामसिक देवों की प्रधानता बढ़ती जाती थी। बलि देने की प्रथा भी प्रचलित थी। कई लोग वैष्णव थे, कई सौगत थे और कई शैव, और फिर प्रत्येक सम्प्रदाय में अनेक उप सम्प्रदाय थे। पौराणिक धर्म के अतिरिक्त बौद्ध और जैन धर्म भी प्रायः देश के प्रत्येक भाग में फैला हुआ था। बौद्ध धर्म के कितने ही सम्प्रदाय थे। सातवीं शताब्दी में ही इसके १८, १६ सम्प्रदाय बन चुके थे और अब इनकी संख्या और बढ़ती जाती थी। लगभग ऐसी ही दशा जैन धर्म की थी। इनके मत मतान्तरों के जाल में विशुद्ध धर्म का पता नहीं लगता था। साधारण लोग भ्रान्त और भटके हुए से थे। गृहस्थी ही नहीं साधु लोग भी अनेक साम्प्रदायों में विभक्त थे। इनमें त्यागी और तपस्वी सब थे। परन्तु व्यवहार में सब भिन्न थे और दृष्टिकोण भी सबका भिन्न था। इनके दारुण तप और व्रत को देख कर अरब लोग दंग रह गये थे। ये लोग हँसते हँसते अपने जीवन का घोर यातनाओं के साथ अन्त कर दिया करते थे। इन लोगों में इस भिन्नता में भी एकता थी। सब सम्प्रदायों में एक बात समान थी, वह थी सच्चरित्रता और सत्यपरायणता। अरबी लोगों ने इसका कई बार उल्लेख किया है।

अन्य राज्य और राष्ट्र : सन् ७०० से १,००० तक भारतवर्ष में कोई ऐसा राज्य नहीं था जिसको किसी भी अंश में एकछत्र या सार्वदेशिक राज्य कहा जा सके। सब देश छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था। इनमें कोई बड़े राज्य थे और कोई छोटे। मुसलमानों को बल्लभराय का राज्य बड़ा प्रतीत हुआ था। इसके समकक्ष उत्तर भारत में और दक्षिण भारत में अनेक राज्य थे। दक्षिण में चालुक्य और राष्ट्रकूट, गुजरात में सोलंकी (चालुक्य), कन्नौज में प्रतिहार और अजमेर में चौहानों के बड़े राज्य थे। और ये सब सम्पन्न और समृद्ध थे। परन्तु परस्पर कलह और द्वेष के कारण सब एक प्रकार से क्षत विक्षत थे और अस्थिर थे। यही कारण था कि मोहम्मद कासिम ने दाहिर को हरा कर सिन्ध में अरबी राज्य स्थापित कर लिया और भारत के अन्य राजाओं ने अरबी लोगों को सिन्ध से निकाल भगाने का भी कोई प्रयत्न नहीं किया। यह राजनैतिक स्थिति एक प्रकार से मुसलमानों को आक्रमण के लिये निमन्त्रण दे रही थी। मुसलमानों की उठती हुई शक्ति इस दशा को अच्छी तरह से परख रही थी।

इस युग से पूर्व का भारतीय समाज : अरबों के आगमन के पूर्व भारतीय समाज को बाहर से कोई धक्का नहीं लगा था। यूनानी, सीथियन और हूण लोग यहाँ आये, लेकिन सबने भारतीय संस्कृति का महत्व स्वीकार कर भारतीय धर्म ग्रहण कर लिया, जिसके फलस्वरूप वे लोग भारतीय जनता में घुल मिल गये और कालान्तर में उन लोगों को पहिचानना असम्भव हो गया। इस प्रकार सातवीं शताब्दी के आरम्भ तक हिन्दू लोगों का संसार अपना ही संसार था। वर्ण व्यवस्था और जाति प्रथा को वे अनादि संस्थाएँ मानते थे और इस बात को स्वीकार नहीं करते थे कि उनके समान संसार में कोई सभ्य और उन्नत जाति और भी है। अरबी लोगों ने जब आठवीं शताब्दी के आरम्भ में सिन्ध पर आक्रमण किया तो वे लोग कट्टर मुसलमान बन चुके थे। लगभग एक शताब्दी से अरब ईरान और मिश्र आदि देशों में इस्लाम धर्म का प्रचार था। मुसलमान धर्म की कट्टरता में कई पुश्तें पल चुकी थीं। वंशक्रमानुगतरूपेण अरब लोग मानने लगे थे कि इस्लाम धर्म सबसे उन्नत, शुद्ध, सरल और ईश्वर का भेजा हुआ धर्म है। रसूल, अल्लाह कयामत और कुरान में उन लोगों का अटल विश्वास था। शेष संसार को मुसलमान बनाने की उनकी कामना थी। जब वे भारत में घुसे तो इस भावना से घुसे थे कि यहां की जनता मुसलमान बन जाये। उन्होंने इतने अत्याचार तो नहीं किये जितने तुर्कों ने २०० वर्ष बाद उत्तर भारत में किये, परन्तु वे हिन्दू धर्म या हिन्दू संस्कृति के महत्व को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं थे। उन्होंने हिन्दुओं के मन्दिरों पर गोला बारी की। हजारों नर नारियों को गुलाम बनाया। हिन्दुओं के सामने गौ हत्या की और अपने राज्य स्थापित होते ही हिन्दुओं को ज़ज़िया के भार से दबा दिया और गरीब लोगों के लिए असम्भव कर दिया कि

वे हिन्दू बने रहें। मुस्लिम विजय के इस सांस्कृतिक धक्के से हिन्दुओं का समाज चूर चूर हो गया। उनके लिए यह प्रलय बाढ़ थी। उन्होंने देखा कि मुसलमान न तो वर्ण व्यवस्था मानते हैं और न जाति पांति को ही स्वीकार करते हैं। हिन्दू शास्त्रों और देवताओं को वे आदर की वस्तु नहीं समझते हैं। हिन्दू गौ को माता के समान पूजते थे और मुसलमान उसकी हत्या करना अपने धर्म का एक अंग मानते थे। इन अपार आघातों के दृश्य से हिन्दू लोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। ब्राह्मण लोग जो भारत में सर्वोच्च माने जाते थे जिम्मी बन गये। क्षत्रिय लोग जो राज्य करते थे वे अरबों के सामने झुक गये। अरब व्यापारियों के सामने हिन्दू वैश्य दब गये। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था को केवल राजनैतिक धक्का ही नहीं लगा बल्कि सब प्रकार से धक्का लगा। सिन्ध के अतिरिक्त दक्षिण के पश्चिमी तट पर भी मुसलमानों का मस्तक ऊँचा हो गया। उन लोगों में अधिक गर्व और आत्म विश्वास जागृत हो गया और हिन्दुओं पर आक्रमण करने लगे। फिर ज्यों ज्यों सिन्ध में अरबी सैनिकों की शक्ति क्षीण होने लगी और हिन्दू राज्य पुनः स्थापित होने लगे तब अरब और हिन्दू लोग पूर्वापेक्षा अधिक मिल जुल कर रहने लगे। लेकिन फिर भी हिन्दू समाज का जख्म पुरा नहीं। वह ताजा का ताजा ही रहा। आठवीं और नवीं शताब्दी में कितने ही हिन्दू मुसलान बन चुके थे। जब वे पुनः हिन्दू धर्म में प्रवेश करना चाहते थे, तो हेमाद्रि आदि प्रायश्चित करवा कर पुनः उनको अपना लिया जाता था। परन्तु दसवीं शताब्दी में यह प्रथा कम हो गई। अब जो हिन्दू मुसलमान बन जाते थे, वे पुन: हिन्दू नहीं हो सकते थे। जो हिन्दू दास बन कर मुसलमान देश में भेज दिये गये थे, वे यदि किसी प्रकार लुक छिपकर भागकर पुन: अपने देश में आ जाते थे तो उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया जाता था। अलबरूनी ने लिखा है कि उनको हिन्दू धर्म में दुबारा दाखिल नहीं किया जाता था। इस्लाम धर्म स्वीकार करते ही इन लोगों के साथ मुसलमान बड़ा अच्छा व्यवहार करते थे। उनको समान राजनैतिक अधिकार तत्काल दे दिये जाते थे। परन्तु साथ ही गौ मांस आदि का व्यवहार करवा कर उनका पुनः हिन्दू धर्म में प्रवेश असम्भव कर दिया जाता था।

आगामी विजय के लिये मुसलमानों की तैयारियां : अरब लोग सिन्ध से आगे नहीं फैल सके। आठवीं और नवीं शताब्दी में सिन्ध के उत्तर में अर्थात् पंजाब में शक्तिशाली राजाओं के राज्य थे। पूर्व में गुहिवंशीय मेवाड़ के शासक बड़े कट्टर और वीर थे। गुजरात के राजवंश ने आरम्भ से ही अरबों की मुखालफत की। अरब लोग सिन्ध में तूफान की भांति घुस तो गये परन्तु इधर उधर अपने हाथ पांव नहीं फैला सके। इतना ही नहीं बल्कि शनैः शनैः उनकी सत्ता क्षीण होने लगी। बगदाद के घरेलू झगड़ों से तथा सिन्ध की दूरी से और हिन्दुओं की अनन्त लड़ाइयों से उनकी कठिनाइयां और बढ़ गई। क्षीण होते होते केवल एक दो अच्छे

मुसलमानों के राज्य सिन्ध में रह गये। शेष सब पुनः हिन्दुओं के हाथ में आ गये। परन्तु फिर भी लाखों अरबी सिन्ध में बस गये और लाखों हिन्दू मुसलमान हो गये। इस प्रकार से सिन्ध के समाज का रूपान्तर हो गया। सिन्ध, गुजरात और पश्चिमी तट पर बसे हुए मुसलमान कोई भारतवर्ष को अपना देश नहीं मानते थे और सब चाहते थे कि पुन: मुसलमान प्रबल हों और उनकी सत्ता स्थापित हो। मुसलिम देशों से व्यापारिक सम्बन्ध जारी था ही। उनमें भारतवर्ष की राजनैतिक और सामाजिक स्थिति से पश्चिमी ऐशिया के मुसलमान सदैव परिचित रहा करते थे। दसवीं शताब्दी के अन्त में जब तुर्क लोगों ने गजनी पर अधिकार किया तब वे लोग भारतवर्ष की विपुल सम्पत्ति, विविध जातियों और अनेक प्रकार की कमजोरियों की कहानी सुन चुके थे और वे यह भी जानते थे कि यदि आक्रमण किया जायेगा तो सिन्ध, गुजरात आदि देश में उनका स्वागत करने के लिये लाखों मुसलमान मौजूद हैं।

नवम अध्याय

राजपूत-काल

सन् ७०० से सन् १२०० तक

भारतवर्ष के इतिहास में सन् ७०० के बाद साधारणतः केवल तीन घटनाओं का उल्लेख किया जाता है। प्रथम सन् ७१२ में मोहम्मद बिन कासिम का सिन्ध प्रान्त पर आक्रमण, दूसरी ११वीं शताब्दी के आरम्भ में महमूद गजनी के २१ आक्रमण और तीसरी सन् ११९१ और ११९३ में शाहबुद्दीन गोरी के आक्रमण। मोहम्मद बिन कासिम के आक्रमण के परिणामस्वरूप प्रायः सम्पूर्ण सिन्ध प्रान्त में अरब लोगों का राज्य स्थापित हुआ। महमूद गजनी के आक्रमणों का स्थायी परिणाम यह हुआ कि लाहौर से पश्चिम के भाग पर मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया। शाहबुद्दीन गोरी के आक्रमणों के फलस्वरूप सारे उत्तर भारत में मुसलमानों का आधिपत्य हो गया और चौहान राजपूतों का साम्राज्य नष्ट हो गया। गुप्त काल में इसी प्रकार हूणों के हमले हुए थे और इससे पूर्व शक लोगों के और इससे भी पूर्व यूनानियों के। यूनानियों को महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य ने खदेड़ भगाया था। कुछ यूनानी सरदारों ने उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश में अपने छोटे छोटे राज्य स्थापित कर लिए थे परन्तु उन लोगों ने प्रायः हिन्दू संस्कृति स्वीकार कर ली थी और केवल सीमान्त प्रदेश तक वे लोग सीमित थे। इसलिए उनका प्रभाव देश की सभ्यता और संस्कृति पर कुछ नहीं पड़ा था। शक लोगों के आक्रमणों का स्थायी प्रभाव हुआ। उन्होंने मालवा और सौराष्ट्र में प्रवेश कर बड़े बड़े राज्य स्थापित कर दिए। परन्तु साथ ही उन्होंने हिन्दू धर्म और संस्कृति गृहण कर ली और सर्वांशतः वे लोग हिन्दू बन गये। हूण लोगों ने पुनः पुनः उत्तर भारत पर आक्रमण करके गुप्त साम्राज्य को नष्ट कर अपना राज्य स्थापित किया, परन्तु राजपूत राजाओं ने उनको जमने नहीं दिया। उन लोगों का साम्राज्य २० वर्ष भी नहीं टिका। जो छोटे-छोटे हूण सरदार जहाँ तहाँ अवशिष्ट रहे वे भारतीय क्षत्रियों में सम्मिलित हो गये। उनमें परस्पर विवाह सम्बन्ध होने लगे। हूण लोगों ने भारतीय धर्म को स्वीकार कर लिया और उनकी गणना भारतवर्ष के ३६ क्षत्रिय वंशों में होने लगी। परन्तु मुसलमानों के आक्रमणों का प्रभाव और ही प्रकार का हुआ। इन लोगों ने आठवीं शताब्दी के आरम्भ में सिन्ध प्रान्त पर विजय प्राप्त की। दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कई स्थानों पर लूटमार करके देवालयों का ध्वंस किया तथा पश्चिमी पंजाब पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और बारहवीं शताब्दी के अन्त में उत्तर भारत को अधिकृत कर लिया। इस दृष्टि से यूनानी, शक और हूणों के आक्रमणों की अपेक्षा

मुसलमानों के आक्रमणों का विशेष महत्व है। परन्तु फिर भी इन ५०० वर्षों के युग-प्रवाह में इन तीन घटनाओं का सर्वाधिक महत्व नहीं हो सकता। सिन्ध विजय और पश्चिमी पंजाब की विजय भारत के एक कोने की विजय थी। महमूद गजनी का हमला झंझावात के समान था। ये घटनाएँ हुईं परन्तु इनका परिणाम उस समय देश ने अनुभव नहीं किया। अखिल भारतवर्ष में संस्कृति का विकास और प्रवाह पूर्ववत् चलता रहा। इस युग में चन्द्रगुप्त, अशोक या समुद्रगुप्त जैसा शक्तिशाली और एकछत्र शासक कोई नहीं हुआ। देश कितने ही छोटे और बड़े राज्यों में विभक्त रहा। दो तीन बार देश के बहुत बड़े भाग पर एकछत्र राज्य अवश्य स्थापित हुआ परन्तु वह अधिक समय तक नहीं टिक सका। राजनैतिक दृष्टि से इस युग को उत्तम युग नहीं कहा जा सकता। परन्तु सांस्कृतिक और आर्थिक वैभव की दृष्टि से यह युग गुप्त काल की भाँति स्वर्ण युग कहा जा सकता है। इस युग में शासन सूत्र राजपूतों के हाथ में था। यह राजपूतों की उन्नति का युग था। समस्त देश पर राजपूतों का अधिकार था, इस युग में धर्म, साहित्य, कला आदि को बहुत संपोषण प्राप्त हुआ था। इसलिए इसको भारतीय वैभव का युग कहा जा सकता है।

इस युग में भारतवर्ष कई राज्यों में विभक्त था। इनमें कुछ अल्प समय तक टिके और कुछ अधिक समय तक। इनका विस्तार और स्थायित्व इनके संस्थापकों तथा भावी शासकों पर निर्भर था। कुछ क्षत्रिय वंशों ने देश के बहुत बड़े-बड़े हिस्सों पर सुदीर्घकाल तक राज्य किया। कुछ ऐसे राज्यों का भी उदय और अस्त हुआ, जो विस्तार में नगण्य थे परन्तु उनके शासकों का कार्य और उनकी देन सांस्कृतिक दृष्टि से विशेष महत्व की थी। इस छोटी-सी पुस्तक में इन सब राज्यों का विस्तृत वर्णन करने के लिए स्थान नहीं है, परन्तु जो विशेष उल्लेख के योग्य हैं, उनका परिचय देना आवश्यक है।

कनौज राज्य : महाराज हर्ष की मृत्यु के बाद कनौज साम्राज्य नष्टप्राय: हो गया। हर्ष के कोई पुत्र नहीं था, इसलिए उनकी मृत्यु के पश्चात् सम्पूर्ण उत्तर भारत में अराजकता फैल गई। प्रान्तों के अधिकारी स्वतन्त्र हो गये और महाराज हर्ष का अर्जुन नामक एक राज्य मन्त्री कनौज के राज्य सिंहासन पर बैठ गया। उस समय चीन से वांगह्यून्टसे नामक एक राजदूत हर्ष के दरबार में आ रहा था। मार्ग में ही उसका माल-असबाब लूट लिया गया, उसके साथियों को मारा और जो बचे उन्हें बन्दी बना लिया गया। तिब्बत से राजा की सैनिक सहायता से इस चीनी राजदूत ने अर्जुन को दो बार हराया और उसको बन्दी बना कर चीन ले गया। यह राजदूत सन् ६५७ में फिर भारतवर्ष आया और वैसाली तथा बौद्ध गया आदि पवित्र तीर्थ स्थानों की यात्रा करके हिन्दूकुश और पामीर के मार्ग से कपीसा और अफगानिस्तान में होता हुआ

स्वदेश को लौट गया। इसके पश्चात् लगभग ७० वर्ष तक का कन्नौज का इतिहास अन्धकार में है। सन् ७३१ में कन्नौज का राज्य यशोवर्मा नामक राजा के हाथ में था। इसने चीन में अपना राजदूत भेजा था। यह कला और साहित्य का बड़ा प्रेमी था। "मालती-माधव" "उत्तर रामचरित", और 'वीर चरित' इन तीन प्रसिद्ध संस्कृत नाटकों का लेखक भवभूति और प्राकृत लेखक वाक्पतिराज इसकी राज सभा को अलंकृत करते थे। कन्नौज के राजाओं को एक ओर काश्मीर के शासकों से और दूसरी ओर बंग देश के शासकों से युद्ध लड़ना पड़ता था। यशोवर्मा और उसके पश्चात् वज्रायुध और इन्द्रायुध को कभी काश्मीर और कभी बंग देश से युद्ध करने पड़े। इसके पश्चात् कन्नौज के राजा चक्रायुध को राजपूताने के प्रसिद्ध गुर्जर प्रतिहार नरेश नाग भट्ट ने अनेक बार हराया और कन्नौज पर अधिकार कर लिया। नाग भट्ट की राजधानी भीनमाल थी, जो इस समय जोधपुर राज्य में स्थित है। महाराज नाग भट्ट ने दक्षिण के राष्ट्रकूट नरेशों से और पश्चिम से आक्रमण करने वाले गुर्जरों से कई युद्ध किये। नाग भट्ट का पोता मिहिर भोज बड़ा शक्तिशाली राजा हुआ जिसने कन्नौज पर सन् ८४० से सन् ८९० तक राज्य किया। उसके समय के कन्नौज राज्य को साम्राज्य कहा जा सकता है। इसके साम्राज्य में सतलज नदी के पास के पंजाब के कुछ हिस्से, अधिकांश राजपूताना, प्रायः सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश और ग्वालियर प्रान्त सम्मिलित थे। मिहिरभोज के समय में सौराष्ट्र और काठियावाड़ भी कन्नौज राज्य में सम्मिलित हो गये थे। पूर्व में मिहिर भोज की विजयी सेना बंग और बिहार तक पहुँच चुकी थी। पश्चिम में उसका राज्य सिन्ध से मिला हुआ था। दक्षिण पश्चिम में उसके राज्य की सीमा राष्ट्रकूट राज्य से स्पर्श करती थी। दक्षिण में चन्देल राजपूतों के जैजकभुक्ति अर्थात् वर्तमान बुन्देलखंड राज्य से उसका राज्य सटा हुआ था। उसने स्वयं आदिवराह की पदवी धारण की थी। मिहिर भोज के बाद महेन्द्रपाल और महिपाल कन्नौज के राजा हुए। महीपाल के समय में राष्ट्रकूट नरेश इन्द्र तृतीय ने कन्नौज पर आक्रमण किया और कुछ समय के लिए इस नगर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया लेकिन उसको कुछ ही अर्से में वहां से हटना पड़ा और महिपाल का अधिकार पुनः स्थापित हो गया। महिपाल के पश्चात् देवपाल और उसके पश्चात् विजयपाल का राज्य स्थापित हुआ। परन्तु अब कन्नौज की शक्ति शनैः शनैः क्षीण होने लगी और सन् १०१९ में महमूद गजनी से हार कर राज्यपाल को कन्नौज छोड़ना पड़ा। उसने गंगा के तट पर बारी नामक गांव में निवास स्थान हेतु एक छोटी सी गढ़ी बनाई और वहां रहने लगा। दूसरे साल बारी से भी उसको भागना पड़ा। इसके पश्चात् लगभग ७० वर्ष तक फिर कन्नौज का इतिहास अन्धकार में चला जाता है। सन् १०९० के आस पास गहरवाड़ क्षत्रिय जाति के चन्द्रदेव नामक राजा ने कन्नौज पर अपना अधिकार स्थापित किया और वह बारहवीं शताब्दी के

अन्त तक वहां राज्य करता रहा। इस वंश के राजा जयचन्द को शाहबुद्दीन गोरी ने सन् ११९४ में हराया और तत्पश्चात् कन्नौज का वैभव सदा के लिए विलीन हो गया।

राष्ट्रकूटों का राज्य : आठवीं शताब्दी के मध्य तक दक्षिण में चालुक्य राजपूतों का राज्य था। फिर दंतिदुर्ग नामक एक राष्ट्रकूट सरदार ने चालुक्य वंश के कीर्ति वर्मा द्वितीय नामक राजा को पदच्युत करके अपने वंश का राज्य स्थापित किया। इसी वंश का राज्य दक्षिण में लगभग सवा दो सौ वर्ष तक चलता रहा। राष्ट्रकूटों का द्वितीय राजा कृष्ण बहुत प्रसिद्ध हुआ। चालुक्य वंश का जो कुछ भी अधिकार शेष रह गया था उसको भी इसने नष्ट कर दिया। इसका पुत्र गोविन्द हुआ और उसके पश्चात् उसका भाई ध्रुव राजा बना। इसने भीनमाल के गुर्जर वंशीय राजा वत्सराज को हराया। ध्रुव का पुत्र गोविन्द तृतीय राष्ट्रकूट वंश का बड़ा शक्तिशाली और पराक्रमी राजा हुआ। इसका राज्य विन्ध्यगिरि से दक्षिण में कांची नगर तक फैला हुआ था। इस समय राष्ट्रकूट वंश की एक शाखा गुजरात में राज्य करती थी। वहाँ अपने भाई इन्द्र राज को इसने शासन करने के लिए भेजा। इसके पश्चात् अमोघवर्ष गद्दी पर बैठा और इसने लगभग ६० वर्ष तक राज्य किया। इससे पूर्व राष्ट्रकूटों की राजधानी नासिक थी, अब इसने मानखेड़ को राजधानी बनाया। अरब लेखकों ने इसका नाम मानकर लिखा है। परन्तु यह स्थान मानखेड़ कहलाता है और हैदराबाद राज्य में स्थित है। अरब लेखकों ने लिखा है कि अमोघवर्ष (बल्हार) संसार के चार प्रसिद्ध राजाओं में एक है। वृद्धावस्था में अमोघवर्ष ने राज्य सिंहासन छोड़ कर अपने पुत्र कृष्ण द्वितीय को अभिषिक्त कर दिया था। अमोघवर्ष ने अपना शेष जीवन व्रत और तपस्या करते हुए व्यतीत किया। इसी वंश के इन्द्र तृतीय नामक एक नरेश ने कन्नौज पर आक्रमण किया था और थोड़े समय के लिए गुर्जर प्रतिहार नरेश महिपाल को राज्य भ्रष्ट कर दिया था। राष्ट्रकूट वंश का राज्य सन् ९७३ तक रहा। फिर चालुक्य वंश के एक वीर ने राष्ट्रकूटों से राज्य छीन कर अपने कुल का वैभव पुनः स्थापित किया। यह पुनः स्थापित चालुक्य वंश सन् ११९० तक राज्य करता रहा। इस वंश के राजाओं को सुदूर दक्षिण के चोल वंशीय राजाओं से निरन्तर युद्ध करना पड़ा, जिसके कारण दोनों ही राजवंशों की शक्ति नष्ट हो गई। इनकी राजधानी कल्याणी थी।

भीनमाल का राजवंश : सातवीं शताब्दी में गुर्जर प्रतिहार राजपूतों ने राजपूताने के अधिकांश भाग पर अपना राज्य स्थापित कर लिया था। इनकी राजधानी भीनमाल थी जो आबू पर्वत से उत्तर पश्चिम में लगभग ५० मील के अन्तर पर स्थित है। सन् ८०० के लगभग इसी वंश के नाग भट्ट नामक राजा ने कन्नौज पर विजय प्राप्त की और भीनमाल को छोड़कर इसको अपनी राजधानी बनाया। जब गुर्जर प्रतिहारों की राजधानी भीनमाल थी तब सिन्ध के अरब शासकों के साथ इनका संघर्ष रहा करता था और यही कारण था कि अरब लोग राजपूताने में प्रवेश नहीं कर

सके। फिर गुर्जर प्रतिहारों ने कन्नौज कोअपनी राजधानी बना लिया। तो भी यह संघर्ष बन्द नहीं हुआ, परन्तु कन्नौज और सिन्ध में बहुत फासला होने के कारण कुछ शिथिल हो गया। राष्ट्रकूट राजाओं की नीति इससे भिन्न थी। इन लोगों का अरबों के साथ मैत्री का भाव था। यही कारण था कि इनके राज्य में कई अरब यात्री आये जिन्होंने अपनी आँखों देखा वर्णन लिखा। अरब लेखकों ने शायद इस मित्रता के कारण ही राष्ट्रकूट वंश के राजा अमोघवर्ष की गणना संसार के चार परम प्रसिद्ध नरेशों में की है।

चौहान वंश : आठवीं शताब्दी के मध्य में इस वंश के एक वीर ने सांभर को अपनी राजधानी बनाकर आस पास के प्रदेश पर अपना राज्य स्थापित किया। इस राज्य के संस्थापक सामंत देव को अरब के मुसलमानों के साथ कई युद्ध लड़ने पड़े और संभव है इसके वंशजों को भी उनके साथ संघर्ष करना पड़ा हो। वहाँ से चौहानों के राजघराने शेखावाटी, अजमेर और मारवाड़ में फैल गये। इसी वंश का परम प्रसिद्ध राजा विग्रहराज चतुर्थ हुआ है। इसके समय में चौहानों के राज्य का विस्तार बहुत बढ़ गया था। दिल्ली के लौह स्तम्भ पर खुदे हुए लेख से पता चलता है कि इसका राज्य प्रायः सारे उत्तर भारत में भी फैला हुआ था। प्रसिद्ध नरेश पृथ्वीराज चौहान इसी वंश का था। उसने दिल्ली को अपनी राजधानी बनाकर, प्रायः समस्त उत्तर भारत में अपना राज्य स्थापित कर लिया था। कई नरेश उसके आधिपत्य को स्वीकार नहीं करते थे। परन्तु उस समय सर्वाधिक शक्तिशाली राजा पृथ्वीराज ही था। शाहबुद्दीन गोरी ने पृथ्वीराज को हराकर ही उत्तर भारत में अपना राज्य स्थापित किया था।

गुहिलोत वंश : आठवीं शताब्दी के आरम्भ में मेवाड़ में गुहिल ने अपना राज्य स्थापित करके चित्तौड़ को अपनी राजधानी बनाया। आरम्भ से उस को अरब के मुसलमानों से युद्ध करना पड़ा। इसीके वंश में बप्पा रावल भोज और शील बड़े पराक्रमी राजा हुए। इन तीनों ने और इनके वंशजों ने अरब लोगों से कई बार लोहा लिया। अरब के मुसलमानों ने नवीं शताब्दी में मेवाड़ पर आक्रमण किया। उस समय बहुत घोर संग्राम हुआ और अरब लोग हारकर वापिस भाग आये। इस वंश में एक राजा अल्लट हुआ जिसने राष्ट्रकूट वंश की महालक्ष्मी नामक राजकुमारी से विवाह किया। इसकी दूसरी रानी हूण वंश की राजकुमारी थी। उत्तर भारत में मुसलमानों का राज्य स्थापित हो जाने पर भी गुहिलोत वंशीय राजपूतों का राज्य मेवाड़ में अक्षुण्ण रूप में बना रहा।

चालुक्य या सोलंकियों का राज्य :—दसवीं शताब्दी के आरम्भ तक गुजरात और कन्नौज में गुर्जर प्रतिहार राजाओं का राज्य था। लेकिन ९१५-९१७ में राष्ट्रकूट नरेश इन्द्र तृतीय ने कन्नौज पर आक्रमण करके वहां के नरेश महिपाल को हराया। इससे कन्नौज साम्राज्य अस्त तो नहीं हुआ परन्तु जर्जर होने लग गया और

राष्ट्रकूट नरेशों के आक्रमण भी बन्द नहीं हुए। इस गड़बड़ के युग में गुजरात कन्नौज के हाथ से निकल गया। वहां पर चालुक्य वंशीय राजाओं ने दसवीं शताब्दी में अपना आधिपत्य स्थापित कर दिया। ये लोग आठवीं शताब्दी से ही गुजरात में इधर उधर फैले हुए थे। दसवीं शताब्दी की गड़बड़ को देख कर इन्होंने अपनी शक्ति को संगठित किया और गुजरात में अपना राज्य कायम कर लिया। गुजरात में चालुक्य वंश का राज्य स्थापित करने वाला मूलराज था जो बड़ा वीर और प्रतापी राजा था। इस वंश में सन् ६६१ से सन् १२४१ तक १२ राजा हुए। वर्तमान सौराष्ट्र और गुजरात में इनका आधिपत्य था। इन लोगों का सांभर के चौहानों से, सिंध के मुसलमानों से, धार के परमारों से, और नाडोल के चौहान नरेशों से संघर्ष रहता था। इस वंश के राजा भीम के समय में महमूद गजनवी ने सोमनाथ के मन्दिर पर चढ़ाई की थी और उसका ध्वंस किया था। महमूद गजनवी लूट मार करके वापिस चला गया तो भीम गुजरात में पुनः शासन करने लगा। इस राज्य की राजधानी अनहिलपाटन थी। उत्तर भारत में तेरहवीं सदी के आरम्भ में मुसलमानों का राज्य स्थापित हो जाने पर भी चालुक्य वंश का राज्य गुजरात में चलता रहा। अलाउद्दीन खिलजी ने सन् १३०४ में इनका राज्य छीन कर अपने राज्य में मिलाया।

चावड़ा वंश का राज्य :—इस वंश के क्षत्रिय कोई विस्तृत राज्य नहीं स्थापित कर सके। इनके छोटे छोटे राज्य गुजरात और मारवाड़ में कायम हुए। मारवाड़ में मंडोर का राज्य सबसे प्रसिद्ध था। मन्डोर जोधपुर से पांच मील के अन्तर पर स्थित है। चावड़ा वंश नरेशों के बनाये हुए किले का खण्डहर अभी वहां मौजूद हैं। इन लोगों के पास राज्य तो बड़ा नहीं था लेकिन इनका वीरत्व और पराक्रम प्रशंसनीय था। सिंध के अरब शासकों के साथ इनके कई युद्ध हुए। इन लोगों ने अरब लोगों का बड़ी वीरता के साथ सामना किया। इस संघर्ष में ही ये लोग स्वाहा हो गये परन्तु अरब लोगों को आगे नहीं बढ़ने दिया। इस वंश के नरेश जैसे वीर और प्रतापी थे वैसे ही धर्मनिष्ठ और त्यागी भी थे। अधिकांश नरेशों ने वृद्धावस्था में अपना राज्य अपने पुत्र को दे कर शेष जीवन तप व्रत, और भगवत् ध्यान में व्यतीत किया और अपना राज्य छोड़ कर हिमालय में जा बसे।

पाल और सेन वंश के राजा :—आठवीं शताब्दी के मध्य में बंग और बिहार में पाल वंशीय राजाओं ने राज्य स्थापित किया। ये लोग क्षत्रिय थे। इस वंश के सब राजाओं के नाम के पीछे पाल शब्द लगा हुआ है; इसलिये इतिहासकारों ने इस वंश का नाम पाल वंश रख दिया है। इस वंश का प्रथम राजा गोपाल था। कहा जाता है कि जनता ने अराजकता दूर करने के लिये इसको निर्वाचित करके अभिषिक्त किया था। इस वंश का अंतिम राजा गोवर्धन था जिसने बारहवीं शताब्दी के अन्त तक राज्य किया।

११ वीं शताब्दी के अन्त में जब पाल वंशीय राजाओं का प्रताप क्षीण होने लगा तो सामन्त देव नामक एक क्षत्रिय वीर दक्षिण भारत से बंग देश में आया और उसने अपने लिए एक छोटा सा राज्य स्थापित किया। उसके पुत्र विजय सेन ने अपने पैत्रिक राज्य को विस्तृत किया और वह स्वतन्त्र राजा बन गया। विजयसेन के पुत्र बल्हार सेन के शासन काल में बंग की सब प्रकार की उन्नति हुई। इसी वंश का अंतिम राजा लक्ष्मण सेन था। उसके शासन काल में महमूद बख्तियार खिलजी ने बगाल पर आक्रमण करके सेन वंश का अन्त किया था।

मालवा का परमार वंश :—परमार राजपूत सातवीं और आठवीं शताब्दी में आबू पर्वत के समीप चन्द्रावती और अचलगढ़ में रहते थे। आबू राजपूतों का उद्गम स्थान माना जाता है। सातवीं शताब्दी में इसी प्रदेश से यत्र तत्र जा कर राजपूतों ने भारतवर्ष में जहां तहां अपने राज्य स्थापित किया था।

नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में परमार वंश के उपेन्द्र नामक एक राजा ने मालवा प्रदेश पर अपना राज्य स्थापित किया। यह प्रदेश अत्यन्त उपजाऊ और उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत का प्रधान मार्ग है। इसलिये यह राज्य स्थापित करने के पश्चात् परमार वंश बहुत जल्दी प्रसिद्ध हो गया। इस वंश का सातवां राजा मुंज था जो कला और साहित्य के प्रेम के लिये अति प्रसिद्ध था। इसने तैल द्वितीय नामक चालुक्य वंश के राजा को छः बार हराया। लेकिन तैल भी धैर्य त्यागने वाला नहीं था। उसने सातवीं बार बड़ी तैयारी के साथ मुंज पर आक्रमण किया। मुंज भी चालुक्य राज्य की ओर बढ़ा। गोदावरी नदी को पार करने के पश्चात् उसका तैल के साथ सम्म युद्ध हुआ जिसमें उसने वीरगति प्राप्त की। यह घटना सन् ९९५ के लगभग हुई होगी। मुंज के पश्चात् उसका भतीजा भोज मालवे के राज सिंहासन पर बैठा। इस राज्य की राजधानी धारा नगरी थी, जो उस समय कला और साहित्य का केन्द्र मानी जाती थी। महाराज भोज को आस पास के हिन्दू राजाओं और फिर महमूद गजनी से युद्ध करना पड़ा। गुजरात और चेदी के शासक परमार वंश के प्रबल विरोधी थे। उनके संयुक्त आक्रमण को रोकते हुए महाराज भोज ने वीरगति प्राप्त की। भोज की प्रसिद्धि युद्ध कौशल और पराक्रम के लिये इतनी नहीं थी जितनी कला और साहित्य के प्रेम के लिए थी। वह विद्वानों का बहुत आदर करता था और विद्या को सब प्रकार से प्रोत्साहन देता था। महाराज भोज का देहावसान सन् १०६० के लगभग हुआ था। इसके पश्चात् परमार वंश का प्रताप क्षीण होता गया। केवल स्थानीय सरदारों की हैसियत से इस वंश के सामन्त मालवे में तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ तक कुछ हिस्से पर राज्य करते रहे परन्तु तंवर राजाओं ने इनका उन्मूलन करके अपनी शक्ति स्थापित की और तंवर क्षत्रियों को चौहान राजपूतों ने नष्ट किया।

जैजक भुक्ति का चन्देल वंश :—तेरहवीं शताब्दी से पूर्व यमुना और गोदावरी के मध्य का देश जैजकभुक्ति कहलाता था। यहां कभी जैजक नामक किसी पराक्रमी राजा का राज्य (भुक्ति) होगा जिससे यह प्रदेश जैजकभुक्ति कहलाने लगा। यहाँ सातवीं शताब्दी में गहरवाड़ राजपूतों का राज्य था। फिर प्रतिहार क्षत्रिय इस देश पर राज्य करने लगे और नवीं शताब्दी के आरम्भ में नन्नुक नामक एक चन्देल वंश के वीर राजा ने इस देश पर अपना आधिपत्य स्थापित किया।

चन्देल वंश के छः राजा उल्लेख के योग्य हैं। नवीं शताब्दी के अन्त में हर्ष चन्देल इतना शक्तिशाली हो गया था कि जब राष्ट्रकूट वंशीय महाराज इन्द्र तृतीय ने सन् ९१६ में कन्नौज के राजा महिपाल को राजगद्दी से उतार दिया तो उसने इसको अपना राज्य पुनः प्राप्त करने में सहायता दी। हर्ष का पुत्र यशोवर्मा भी प्रतापवान राजा था। उसका पुत्र धङ्ग इस कुल का सर्वाधिक यशस्वी नरेश हुआ। यह एक सौ वर्ष से भी अधिक जीवित रहा और पंजाब नरेश जयपाल का रण-निमंत्रण स्वीकार करके अमीर सुबुक्तगीं के विरुद्ध लड़ा। यह युद्ध बन्नू के पास हुआ था और इसमें अजमेर, कन्नौज आदि कई प्रदेशों के राजा सम्मिलित थे। इसमें भारत की हार हुई परन्तु भारतीय सेना बड़ी वीरता के साथ लड़ी। इसी प्रकार भारतीय राजाओं ने महमूद गजनी के विरुद्ध भी संघ बना कर सन् १००८ में युद्ध किया था। इसमें महाराज धङ्ग का पुत्र गंडा सम्मिलित था। गंडा का प्रपौत्र कीर्तिवर्मा था जिसका देहान्त सन् ११०० में हुआ। उसने अपने राज्य को विस्तृत किया और कला तथा साहित्य को प्रोत्साहन दिया। इस वंश का अन्तिम वीर किन्तु भाग्यहीन राजा परमाल (११६१-१२०३) हुआ। इसको पृथ्वीराज चौहान ने परास्त किया और कुतुबुद्दीन ने इससे कालंजर का दुर्ग छीन लिया।

चेदी का कलचुरी वंश :—जैजकभुक्ति से दक्षिण का प्रदेश चेदी कहलाता था। यहां कलचुरीवंश के राजपूतों ने लगभग ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त तक राज्य किया। इस कुल में दो राजा बड़े प्रतापी हुए, गांगेयदेव (१०१५-४०) और कर्णदेव (१०४०-७०)। गांगेयदेव की उत्तर भारत में बड़ी धाक थी। अपनी योग्यता और वीरता के कारण वह सबसे अधिक शक्तिशाली माना जाता था और दूर दूर के प्रदेश उसका आधिपत्य स्वीकार करते थे। उसका पुत्र कर्णदेव भी पिता के समान योग्य और वीर था। उसने गुजरात के राजा से मिल कर मालवा के प्रसिद्ध राजा भोज को परास्त किया और स्वयं ने मगध राज्य पर चढ़ाई की। अन्त में यह खुद कीर्ति-वर्मा चन्देल से हार गया। कलचुरीवंश ने चेदी पर सन् ११८१ तक राज्य किया। ऐसा अनुमान होता है कि बघेल राजपूतों ने इनके राज्य और वैभव का अन्त किया।

सुदूर दक्षिण के राज्य :—दक्षिण में तामिल देश में अति प्राचीन काल से तीन राजवंश राज्य करते थे—पांड्य, चोल और केरल। ये राज्य उत्तर में पेन्नार

नदी से दक्षिण में कन्या कुमारी तक और फिर वहां से पश्चिमी घाट की चन्द्रगिरि नदी के दक्षिण तक फैले हुए थे। वर्तमान मैसूर राज्य का और कुर्ग का भी कुछ भाग इनमें सम्मिलित था। इस प्रदेश के उत्तर में चोल राज्य था, मध्य में पांड्य और फिर पश्चिमी घाट में दक्षिण से उत्तर की ओर केरल राज्य था। इन राज्यों की सीमायें राजाओं के बाहुबल के अनुसार समय समय पर बदलती रहती थीं। इन तीनों राजवंशों के अतिरिक्त दक्षिण में एक पल्लव राजवंश की भी लगभग चार सौ वर्ष (४००-८००) तक बड़ी प्रसिद्धि रही। परन्तु इस वंश का राज्य किसी निश्चित प्रदेश पर नहीं था। पल्लव लोग लूट खसोट करते थे और उपरोक्त तीनों राज्यों में जहाँ कमजोरी देखते वहीं छापा मारते थे और हमले किया करते थे।

चोल राज्य :—यह राज्य अति प्राचीन था और चोल मंडलम् कहलाता था। महाराज अशोक की यहां के राजा से राजनैतिक मैत्री थी। इससे स्पष्ट है कि यह राज्य अशोक से काफ़ी समय पहले स्थापित हुआ होगा। पांड्य और केरल राज्य भी इसके सदृश अति प्राचीन राज्य थे। पहली और दूसरी शताब्दी में चोल राज्य अति सम्पन्न प्रदेश था। इसके जहाज केवल समुद्र तट के पास पास ही नहीं चलते थे बल्कि बंगाल की खाड़ी और हिन्द महासागर को पार करके इरावदी नदी के मुहाने और मलय द्वीप समूह तक पहुँचा करते थे। इस राज्य का संस्थापक करिकाल नामक राजा था। दूसरी शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक चोल राज्य के भाग्य में अनेक उतार चढ़ाव हुए। सातवीं शताब्दी में पल्लवों ने चोल राज वंश को दबा रखा था। परन्तु आठवीं शताब्दी के आरम्भ में चोल वंश का भाग्य फिर चमकने लगा। नवीं शताब्दी के मध्य में विजयालय नामक चोल राजा ने अपने वंश की राज्य श्री पुनः स्थापित की और फिर उसकी उन्नति ही होती गई। सन् ८५० से १२०० तक इस वंश में बीस से अधिक राजा हुए। इनमें आदित्य, परान्तक, राजराज, राजेन्द्र, राजाधिराज, राजेन्द्र परकेसरीवर्मा, वीर राजेन्द्र और विक्रम विशेष उल्लेख के योग्य हैं।

चोल नृपति :—आदित्य ने पल्लव राज्य का अन्त करके अपने वंश के राज्य को पुनः दृढ़ किया था। परान्तक ने पार्श्ववर्ती राज्यों को अपने राज्य में मिला कर लंका पर आक्रमण किया था। उसने पंचायत राज्य की अति सुन्दर व्यवस्था की थी। राजराज चोल ने अपना राज्य और भी विस्तृत किया और लंका पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। उसके पास शक्तिशाली नौ सेना थी जिसके द्वारा हिन्द महासागर स्थित लाखाद्वीप (लेकेडिव) और मलयद्वीप (मेलेडिव) टापुओं को उसने अपने राज्य में मिलाया। राजेन्द्र चोल ने नौसेना द्वारा सम्पूर्ण पीगू प्रदेश को जीत कर अपने राज्य में सम्मिलित किया, तथा नक्कवारम् (निकोबार) और अन्दमन टापुओं को जीता। राजाधिराज ने अपने पड़ोसी सब राजाओं से निरन्तर युद्ध किया और

अन्त में रणभूमि में ही वीरगति प्राप्त की। उसके भाई राजेन्द्र परकेसरीवर्मा ने युद्ध क्षेत्र में ही राजमुकुट अपने सिर पर धारण किया। वीर राजेन्द्र चोल ने चालुक्य वंश के गृह कलह में विक्रमादित्य चालुक्य को सहायता दी और उसके साथ अपनी बहिन का विवाह कर दिया। विक्रम चोल और उसके पुत्र ने अपने कुल की क्षीयमाण राज शक्ति को बनाये रखने के लिये पास के प्रबल राजाओं से कई युद्ध किये परन्तु स्थिति बिगड़ती ही गई। उनके पीछे तीन चार साधारण राजा और हुए परन्तु तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में चोल क्षत्रियों की राजलक्ष्मी विलीन हो गई।

पांड्य राज्य :—चोल राज्य की भांति यह भी अति प्राचीन राज्य था। ईसा के पांच सौ वर्ष पूर्व भी यह सम्पन्न अवस्था में था। इसका वैभव ह्वानचांग ने भी स्वयं देखा था। यहां राजा और प्रजा दोनों सम्पन्न थे। यह देश पूर्व और पश्चिम के सुदूर देशों के साथ खूब व्यापार करता था। सर्वाधिक लाभदायक व्यापार मोतियों का था। सातवीं शताब्दी के बाद यहाँ का राजवैभव क्षीण होने लगा। पांड्य राजाओं के प्रबल प्रयास से भी स्थिति सुधर नहीं सकी। लंका नरेश पराक्रमबाहु ने इस देश पर आक्रमण करने के लिये एक बड़ी सेना भेजी जिससे बारहवीं शताब्दी में इस राज-वंश का भाग्य अस्त हो गया। इस राजवंश के शासन काल में मदुरा नगर में साहित्य-संगम नामक एक सुव्यवस्थित संस्था थी जो साहित्य और कला की उन्नति तथा समा-दर के लिये प्रयत्न किया करती थी।

केरल राज्य :—यह भी उपरोक्त दो राज्यों की भाँति बहुत प्राचीन राज्य था परन्तु इसका क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता है और न यहां विशेष उल्लेख के योग्य कोई राजा हुआ। यह राज्य व्यापार के लिये ईसा से पांच सौ वर्ष पूर्व से छः सौ वर्ष बाद तक अर्थात् लगभग एक सहस्त्र वर्ष तक प्रसिद्ध था।

पल्लव :—यह पता नहीं चलता कि पल्लव लोग क्षत्री थे या किसी अन्य जाति के थे। यह भी धारणा है कि संभवत: ये लोग विदेशी लुटेरे हों जो इस सम्पन्न देश में आ घुसे हों और फिर कालान्तर में उन लोगों ने आर्य धर्म स्वीकार करके भारतीय संस्कृति को अपना लिया हो। परन्तु इस मत की कोई विद्वान पुष्टि नहीं करता और यह परीक्षा की कसौटी पर टिकता भी नहीं है। परन्तु इतना अवश्य जान पड़ता है कि ये लोग लंका से भारत में आये और कृष्णा नदी के सागर संगम के पास अपना राज्य जमाया। फिर यहां के लोगों में विवाह सम्बन्ध आदि द्वारा घुलमिल गये। कई शताब्दियों तक ये लोग चालुक्य राजाओं से युद्ध करते रहे। जब चालुक्य क्षीण हो गये तो ये लोग चोल, पांड्य और केरल राज्यों को खूंदने लगे। आठवीं शताब्दी से पूर्व पल्लव वंश में कई यशस्वी और कला प्रेमी राजा हुए परन्तु आठवीं शताब्दी से इनका प्रताप घटने लगा और दसवीं शताब्दी में तो ये प्राय: लुप्त ही हो गये। अतः राजपूत काल में इनका कोई महत्व नहीं है।

इस युग की विशेषतायें : १. युद्ध और आक्रमण—इन राजपूत राज्यों में एक भी राज्य ऐसा नहीं था जिसने शान्ति की नीति का अनुसरण किया हो। निर्बल राजा को तो शान्त रहना पड़ता ही था, परन्तु जिसमें कुछ भी शक्ति होती थी वह अपने पड़ोसी राज्य पर आक्रमण किया करता था। पारस्परिक कलह इन राजवंशों की परंपरागत नीति बन गई थी। इस काल में कन्नौज, काश्मीर, चालुक्य, राष्ट्रकूट, पाल, सेन, गुर्जरप्रतिहार और सोलंकियों के बड़े बड़े राज्य थे, परन्तु इनको अपनी सीमाओं से सन्तोष नहीं था। काश्मीर के और बंगदेश के कई नरेशों ने कन्नौज पर आक्रमण किये। कन्नौज ने जैजकभुक्ति को दबाया और समय पाकर जैजकभुक्ति ने कन्नौज पर हमला किया और एक राजा को मार भी डाला। मालवा और गुजरात में निरन्तर कलह रहा, और गुजरात तथा चेदी के राजाओं ने मिलकर मालवा के प्रसिद्ध राजा भोज का अन्त किया। राष्ट्रकूटों ने चालुक्यों पर और कन्नौज पर आक्रमण किया तथा पल्लवों को दबाया। गुर्जर प्रतिहार राजाओं ने भी कन्नौज पर आक्रमण किये और बंग देश पर धावा मारा। गुजरात के चालुक्य सिंध के अरब शासकों से प्रायः लड़ा करते थे किन्तु राष्ट्रकूट अरबों से मैत्री रखते थे। इस कारण राष्ट्रकूटों और इन चालुक्यों में युद्ध हुआ करते थे। मेवाड़ के गुहिलोत और भीनमाल के चावड़ा सिन्धी अरबों के आक्रमणों को रोकने में लगे रहते थे। इन राजवंशों में परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध होते थे, जिसके कारण कुछ समय के लिये मैत्री हो जाया करती थी, परन्तु ऐसी शान्ति अधिक समय तक नहीं रहा करती थी। युद्ध स्वाभाविक बात थी और शान्ति अस्वाभाविक। मध्य काल में यह स्थिति भारत में ही नहीं अन्य देशों में भी प्राय: सर्वत्र पाई जाती थी। इंगलैंड जैसा छोटा सा देश भी सात राज्यों में विभक्त था और सातों राजवंश परस्पर लड़ते झगड़ते रहते थे। यही दशा फ्रान्स, जर्मनी और इटली की थी। इन देशों में तो ऐसे युद्ध उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक होते रहते थे। फिर भी राजपूत काल में यदि अशोक या समुद्रगुप्त जैसे पराक्रमी दो तीन राजा होते तो हमारी संस्कृति और राजनीति का स्वरूप कुछ दूसरा ही होता। जब सिंध पर मोहम्मद कासिम ने आक्रमण किया तो राजा दाहिर ने अकेले ही मुसलमानों का सामना किया। दूसरे राजाओं ने उसकी सहायता नहीं की और मुसलमानों के आक्रमण से भारत के भविष्य पर जो घोर खतरा था उसका अनुभव नहीं किया। परन्तु शनैः शनैः सब नृपतिगण अनुभव करने लगे होंगे कि मुसलमानों के प्रवेश से हमारे देश में बड़ी राजनैतिक और सामाजिक उथल-पुथल हो जावेगी। इसीलिये अमीर सुबुक्तगीं और महमूद गजनी के आक्रमणों को रोकने के लिये उत्तर भारत के कुछ नरेश अपनी अपनी सेनायें लेकर पश्चिमी पंजाब में दो बार एकत्र हुए। या तो दूषित सेना विधि के कारण या पारस्परिक अविश्वास के कारण उन लोगों को विजय प्राप्त नहीं हुई, परन्तु यह विचारणीय बात है कि परस्पर का कुल क्रमानुगत वैर और द्वेष भुलाकर सब नृपतिगण विदेशी आक्रमण को रोकने के वास्ते प्रयत्नशील हुए।

२. नेतृत्व का अभाव :—इस काल में भारतवर्ष में कोई ऐसा एक राजा नहीं था जो सब नरेशों का नेतृत्व कर सकता हो। किसी का राज्य इतना विस्तृत नहीं था कि वह सम्राट कहला सके। कन्नौज और भीनमाल के राजाओं को उत्तर में और राष्ट्रकूट राजाओं को दक्षिण में कुछ समय के लिये यह गौरव प्राप्त हुआ सा प्रतीत होता था, परन्तु वह टिक न सका और उनका विरोध शान्त नहीं हो सका। उत्तर के अनेक राजाओं ने मिल कर दो बार मुसलमान आक्रमणकारियों का सामना किया परन्तु सफलता प्राप्त नहीं हुई। इसके कारण जानने के लिये हमारे पास पर्याप्त सामग्री नहीं है, परन्तु इसका एक प्रत्यक्ष और प्रबल कारण यह जान पड़ता है कि भारत में उस समय कोई ऐसा राजा नहीं था जिसका सब नरेश एक स्वर और एक मत से आधिपत्य और नेतृत्व सहर्ष स्वीकार करते। इसलिये इस युद्ध में हिन्दू पक्ष की वैसी ही स्थिति रही होगी जैसी समूहगढ़ की रणभूमि में औरंगजेब के विरुद्ध लड़ती हुई शाहजहाँ की सेना की। इस युग में स्वामी शंकराचार्य और स्वामी रामानुजाचार्य तथा कुमारिलभट्ट जैसे दिग्गज विद्वानों ने जन्म लिया और लाखों हिंदुओं ने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया। इनके व्यक्तित्व में तेज और वाणी में ओज था तथा तीनों में अद्भुत संघटन शक्ति थी। इनका प्रभाव देशव्यापी था और धार्मिक क्षेत्र में स्वामी शंकराचार्य जी महाराज ने वास्तव में दिग्विजय की थी, परन्तु ये लोग धर्म प्रचार के क्षेत्र से बाहर नहीं निकले। राजनैतिक उथल पुथल से और सांसारिक विषयों से या तो इनको साधूचित विरक्ति होगी या भारतवर्ष के उत्तर पश्चिम में जो काली घटायें उमड़ रही थीं और जिनके कारण देश में प्रलयङ्कर बाढ़ आने वाली थी उसका इन आचार्यों को पता नहीं होगा। चीन देश ने इस खतरे को भारत की अपेक्षा अधिक समझा था। चीन सम्राट ने मुसलिम झंझावात को रोकने के अभिप्राय से पश्चिमी तुर्किस्तान से सिंध तक जितने शक्तिशाली नरेश थे सबसे विशेष मित्रता स्थापित की थी। मुसलमानों से लड़ने में उसका साथ देने के वास्ते उसने उनका विशेष सत्कार किया था। इस प्रकार चीन सम्राट ने मुसलमानों के आक्रमणों को रोकने के वास्ते एक हिंदू-बौद्ध संघ का संघटन किया था। इसके फलस्वरूप मुसलमानों का विजयवेग कुछ समय के लिये रुका, परन्तु वह वापिस नहीं मोड़ा जा सका। इसके भी विशेष कारण थे। चीन सम्राट को तुर्किस्तान, काश्मीर, सिंध आदि देशों के राजा अपने से बड़ा अवश्य मानते थे परन्तु इन देशों के साथ चीन का सम्पर्क नहीं था। इन नरेशों ने चीन सम्राट से भेंट और सत्कार तो सहर्ष स्वीकार कर लिया और अवसर उपस्थित होने पर युद्ध करने का वचन भी दे दिया, परंतु यह सब औपचारिक व्यवहार था। इस प्रयत्न में ममत्व और तल्लीनता का अभाव था। इसके अतिरिक्त इस संघटन में कोई बौद्ध था, कोई शैव और कोई वैष्णव। इस विभिन्नता के कारण धर्म प्रचार या धर्म रक्षा की प्रेरक भावना भी इसमें नहीं थी। वास्तव में विषमता और भिन्नता इस युग की मुख्य विशेषतायें थीं।

३ मतमतान्तरों का जाल :—आर्य धर्म किसी व्यक्ति विशेष का प्रचलित किया हुआ नहीं है। यह अनेक युगों से विकसित हो रहा है। इसलिये इसमें असीम विचार स्वातन्त्र्य हैं। इस स्वातन्त्र्य के कारण भारत में अनेक दर्शनों का और अनेक सम्प्रदायों का उद्‌गम हुआ। इसी प्रवाह ने शैव, शाक्त और वैष्णव सम्प्रदायों को जन्म दिया और फिर प्रत्येक सम्प्रदाय के अनेक भेद तथा प्रभेद हो गये। यही दशा जैन और बौद्ध धर्म की हुई। राजपूत काल में इन सम्प्रदायों और प्रभेदों ने बहुत जोर पकड़ा, जिसके कारण सम्पूर्ण देश में मतमतान्तरों का एक जाल सा बिछ गया। हमारे धर्म में निस्सन्देह अपार सहिष्णुता है। विचार स्वातन्त्र्य पर किसी प्रकार का भी प्रतिबन्ध नहीं है। यहाँ तक कि नास्तिकता के लिये भी आर्य धर्म में स्थान है, किन्तु विचार स्वातन्त्र्य के साथ ही साथ व्यवहार स्वातन्त्र्य नहीं है। और सम्प्रदाय भेद से रहन सहन, खान पान आदि में व्यवहार भेद हो जाता है। इस व्यवहार भेद के कारण कभी कभी सम्प्रदाय भेद कटुता उत्पन्न कर देता है। राजपूत काल में इसके दृष्टान्त मिलते हैं। दक्षिण में जैनियों के साथ शैव राजाओं ने अत्याचार किये थे और शैव तथा वैष्णवों में भी परस्पर स्नेह नहीं रहा करता था। धर्म में प्रतिमा पूजन ने प्रधानता प्राप्त कर ली थी और अगणित देव-देवियों की मूर्तियां बनने लगी थीं। जनता मूर्ति पूजा के मूल सिद्धान्त को नहीं समझती थी। जब प्रसिद्ध मुसलमान विद्वान अलबरूनी ने ग्यारहवीं शताब्दी में भारतीय पंडितों के साथ मूर्ति पूजा पर बातचीत की तो उन लोगों ने उसको यह उत्तर दिया था कि प्रतिमा ईश्वर नहीं है। यह तो ईश्वर का एक प्रतीक मात्र है। परन्तु यह केवल शास्त्रीय या दार्शनिक विचार था। व्यवहारतः उपासक लोग प्रतिमा को ही ईश्वर, शिव, दुर्गा आदि मानते थे। इस प्रकार हमारा धर्म उस समय एक प्रकार का म्यूजियम बन गया था। इसमें अनेक विचार, अनेक दर्शन, असंख्य देव-देवियां और असंख्य पूजा विधियां मानी जाती थीं। इन भिन्नताओं और विषमताओं के कारण भारतवासियों को अपने धर्म से सार्वदेशिक संस्कृति की रक्षा करने के वास्ते प्राणप्रद प्रेरणा प्राप्त नहीं हुआ करती थी।

उपरोक्त विशेषताओं से यह नहीं समझना चाहिये कि राजपूत काल (७००-१२००) हीनता का युग था। इस काल में घोर क्षति यह हुई कि राजपूत नरेश मुसलमानों के आक्रमणों को नहीं रोक सके। गुप्तकाल में और उसके पश्चात् हर्ष के समय हूणों के आक्रमणों को बार बार रोका गया। अन्त में हूण भारत में घुस आये और उन्होंने यहां अपना साम्राज्य भी स्थापित कर लिया परन्तु वे केवल बीस वर्ष के लगभग भारत में टिक सके। भारतीय नरेशों ने परस्पर मिलकर उनका साम्राज्य नष्ट कर दिया और भारतीय समाज ने उनको आत्मसात् कर लिया। परन्तु राजपूत नरेशगण न तो मुसलमानों को रोक सके और न उनके राज्य या साम्राज्य को उखाड़ सके। इस युग का समाज मुसलमानों को न आत्मसात् कर सका और न अपने अंग प्रत्यंग

को कटने से बचा सका। जो बिछुड़ गये उनको भी पुनः अपनी गोद में नहीं बिठला सका। इसका परिणाम यह हुआ कि ग्यारहवीं शताब्दी पश्चात् कई सौ वर्षों तक भारत के समाज, धर्म और संस्कृति को घोर आघात सहने पड़े। भारतीय जीवन लोहूलुहान हो गया और हमारी संस्कृति का विकास अपने नैसर्गिक प्रवाह को छोड़कर दूसरी ओर मुड़ गया। परन्तु इस विप्लव का सम्पूर्ण दायित्व राजपूतकाल पर नहीं है। तत्कालीन असंगठित स्थिति केवल एक अंश तक इसके लिये जिम्मेवर है। इस अपूर्व उथल-पुथल के कारण केवल भारत में ही नहीं, भारत से बाहर, अरब, ईरान और तुर्किस्तान में भी जुटे थे। मुसलमान अपना धर्म फैलाने के लिये बढ़ रहे थे न कि दूसरों का धर्म स्वीकार करने के लिये। उनमें अपूर्व संगठन था और अद्भुत आवेश। वे लोग शक, पार्थियन और हूणों से बिलकुल भिन्न थे। यह कारण था कि भारतवर्ष में प्राचीन इतिहास की पुनरावृत्ति अब बन्द हो गई। इसके अतिरिक्त अन्य सब बातों में यह महान् युग था। इस काल में हिन्दू धर्म ने एक नवीन रूप धारण किया। बौद्ध धर्म के विलीन हो जाने से भारत की प्राचीन परम्परायें और आस्थायें पुनः स्थापित हो गईं। इसी काल में शंकर, रामानुज और कुमारिल ने वैदिक संस्कृति का पुनरुद्धार किया। शंकर ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन कर दर्शनज्ञान की पराकाष्ठा उपस्थित की। माघ, भवभूति, राजशेखर, आदि साहित्यकारों ने काव्य, नाटक, चम्पू आदि से संस्कृत साहित्य को सम्पन्न और पुष्ट किया। इसी प्रकार ज्योतिष, विज्ञान इतिहास गणित आदि विविध विषयों पर मौलिक ग्रन्थ लिखे गये। कला की इस युग में अद्भुत उन्नति हुई। व्यापार की खूब वृद्धि हुई और शासन व्यवस्था भी दृढ़ हुई। सब राजपूत नरेशों ने विद्या को प्रोत्साहन दिया।

इस युग का साहित्य और भाषा का विकास

सर्वाङ्गीण उन्नति : गुप्त काल की भांति राजपूत काल भी साहित्य, विज्ञान और कला की उन्नति तथा धार्मिक जागृति की दृष्टि से भारतवर्ष के इतिहास में सुवर्णयुग कहा जा सकता है। उत्तर भारत और दक्षिण भारत के नरेशों ने विद्वानों को खूब प्रोत्साहन दिया जिससे काव्य, व्याकरण, ज्योतिष, वेदान्त, विज्ञान, काव्य शास्त्र, नाट्य शास्त्र, राजनीति, समाज नीति, स्मृति आदि साहित्य के विविध अंगों की पुष्टि, हुई। उत्तर भारत में काश्मीर, कन्नौज, मालवा, गुजरात और अजमेर के नरेशों की राज सभायें अनेक विद्वानों और पंडितों से विभूषित रहती थीं। इस युग की राज भाषा और साहित्यिक भाषा संस्कृत थी। अतः सब ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखे गये।

कश्मीर में साहित्य वृद्धि : प्रसिद्ध इतिहास लेखक कल्हण कश्मीर का निवासी था। इसने राजतरंगिणी नामक इतिहास ग्रन्थ लिखा। इसके समान इतिहास का दूसरा ग्रन्थ संस्कृत भाषा में नहीं है। भौमक पंडित ने रामायण की एक कथा की इस प्रकार रचना की जिससे पाणिनि की अष्टाध्यायी नामक व्याकरण के नियम सरलता से

समझ में आ सकें। शिवस्वामी ने बौद्ध विषय पर कप्पणाभ्युदय नामक एक सुन्दर काव्य लिखा। रत्नाकर ने शैव विषयों पर कई ग्रन्थ लिखे और अभिनन्द ने कादम्बरी की कथा सरल संस्कृत में लिखी। क्षेमेन्द्र प्रतिभावान साहित्यकार था। इसने विविध विषयों पर अनेक सद्ग्रन्थों की रचना की। इनमें वृहत्कथा मंजरी सर्वाधिक प्रसिद्ध और सुन्दर है। इसके अतिरिक्त इसने रामायण, महाभारत और विष्णुपुराण की कथाओं के सहारे कई रोचक ग्रन्थ लिखे। अलंकार शास्त्र का भी यह अच्छा पंडित था। सोमदेव का कथासरितसागर भी रोचक ग्रन्थ है। इसकी लोक कथायें, विनोदोक्तियां, धार्मिक तथा नैतिक कहानियां सब मनोहर हैं। इस प्रकार कश्मीर में इन पांच सौ वर्ष में अच्छे साहित्य की सृष्टि हुई परन्तु इन ग्रन्थों में मौलिक ग्रन्थ राजतरंगिणी, कथासरितसागर आदि केवल चार पांच ग्रन्थ हैं, शेष प्राचीन ग्रन्थों के सहारे पर लिखे हुए हैं। उनमें चमत्कार और मौलिकता की कमी है। स्मरण रखने की बात यह है कि कश्मीर में सन् ५५० से ११०० तक संस्कृत भाषा में ग्रन्थ रचना होती रही।

कन्नौज नरेशों का साहित्य प्रेम : कन्नौज नरेश यशो वर्मा (७२५-५२) स्वयं अच्छा कवि था। कहा जाता है कि रामाभ्युदय नाटक इसी का लिखा हुआ है। इसकी राजसभा में विद्वानों को उदारता से आश्रय और सत्कार मिला करता था। महाकवि भवभूति और वाक्पति राज इसकी सभा के अमूल्य रत्न थे। भवभूति कविवर कालिदास का समकक्ष माना जाता है। कोई कोई साहित्य मीमांसक तो इसको कालिदास से भी ऊंचा मानते हैं। प्रसिद्ध बंगला नाटककार द्विजेन्द्र बाबू कालिदास और भवभूति को समकक्ष मानते हैं। भवभूति ने तीन प्रसिद्ध नाटक लिखे हैं—वीर चरित, उत्तर रामचरित और मालती माधव। इनमें उत्तर रामचरित सबसे प्रसिद्ध है। यह कालिदास के अभिज्ञान शकुन्तला की भांति मनोहर और अमर है। इसकी कथा है, राम का सीतात्याग, लवकुश का जन्म और सीता की अग्नि परीक्षा। वीरचरित भगवान राम का इससे पहिले का चरित है। मालती माधव लोक नाटक है। भवभूति की अमर कृतियों से पता लगता है कि वह उच्चकोटि का कवि, नाटककार और दार्शनिक था। वाक्पतिराज परमार क्षत्रिय था, उसने प्राकृत भाषा में रचना की है। वृद्धावस्था में उसने जैन धर्म ग्रहण कर लिया था और अनशन द्वारा अपनी जीवन लीला समाप्त की थी। उसके दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—महुमह विजय (मधुमथ विजय) और गौड़वहो।

कन्नौज के प्रतिहार नरेश महेन्द्रपाल के शासन काल में प्रसिद्ध पंडित राज शेखर हुआ। वह महेन्द्रपाल का गुरू था। महिपाल के दरबार में भी राज शेखर कुछ अर्से तक रहा। राज शेखर उच्च कोटि का साहित्यकार था। उसने कई ग्रन्थों की रचना की। इनमें कर्पूर मंजरी, बाल रामायण, विद्धासालभंजिका, बाल भारत और काव्यमिमांसा बहुत प्रसिद्ध हैं। कर्पूर मंजरी उसने अपनी पत्नी अवन्ति सुन्दरी के विनोदार्थ लिखी थी। यह देवी चौहान कुल की राज कुमारी थी। बाल रामायण में

सीता स्वयम्बर से लंका विजय के पश्चात् भगवान रामचन्द्र के अयोध्या में वापस आने तक की कथा बड़ी सुन्दर और सरस भाषा में लिखी हुई है। बाल भारत का दूसरा नाम प्रचण्ड पाण्डव है। महाराज महिपाल के राज्याभिषेक के अवसर पर इसका अभिनय हुआ था। इन पांच ग्रन्थों के अतिरिक्त राज शेखर ने भुवनकोष और हर्ष विलास ये दो ग्रन्थ और लिखे थे। परन्तु ये इस समय उपलब्ध नहीं हैं। इनका दूसरे ग्रन्थों में केवल नाम मिलता है।

कन्नौज के गहरवाड़ वंशीय महाराज गोविन्द चन्द्र के शासन काल में लक्ष्मी-धर नामक एक दिग्गज विद्वान हुआ। यह गोविन्द चन्द्र का सन्धि-विग्रहिक अर्थात् परराष्ट्रमंत्री था। इसने कानून और विद्या पर कितने ही ग्रन्थ लिखे थे जिनमें कृत्य-कृत्य-तरु प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में व्यवहार (मुकद्मा), विवाद, दान, और राज-धर्म का अच्छा वर्णन है। गोविन्द चन्द्र की राजसभा में लक्ष्मीधर के अतिरिक्त अन्य कई पंडित थे और स्वयं गोविंदचन्द्र भी विविध-विद्या-विचार-वाचस्पति कहलाता था। महाराज जयचन्द्र के शासन में विद्यापति नामक एक अच्छा पंडित हुआ जिसने पुरुष परीक्षा नामक एक सुन्दर कहानी की पुस्तक लिखी। लेकिन जयचन्द्र का नाम अमर करने वाला श्री हर्ष है। यह संस्कृत के तीन महाकवियों में गिना जाता है। दूसरे दो महाकवि कालीदास और माघ हैं। श्री हर्ष के बाप का नाम श्री हीर था और माता का नाम मामल्ल देवी था। इसका अमर काव्य नैषधचरित है। ऐसी किंवदन्ती है कि श्री हर्ष प्रसिद्ध काव्यमिमांसक और काव्यप्रकाश के कर्ता मंमट का भतीजा था। कहा जाता है कि नैषधचरित के सौ सर्ग लिख कर इसने मंमट को बतलाये, इसको देख कर मंमट ने उत्तर दिया कि तुमने यह ग्रन्थ मुझे पहिले नहीं बतलाया अन्यथा मुझे अपने ग्रन्थ के लिये काव्यदोष के दृष्टान्त इधर उधर नहीं ढूंढने पड़ते। मुझे सब दोष तुम्हारे इसी ग्रन्थ में मिल जाते। यह सुन कर श्री हर्ष को बड़ी ग्लानि हुई और उसने अपना ग्रन्थ नदी में बहा दिया। उसके शिष्यों ने नदी में से कुछ अंश निकाल लिये। वर्तमान नैषद् चरित इस प्रकार बचे हुए सर्गों का संग्रह है। नैषधचरित के अतिरिक्त श्री हर्ष ने अन्य कई ग्रन्थों की रचना की है। इस समय सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ खण्डन-खण्ड-खाद्य है। यह वेदान्त विषय का अति गम्भीर और जटिल ग्रन्थ है। अन्य ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं हैं।

चौहान वंश का साहित्य प्रेम :—इस वंश के राजाओं में विग्रह राज चतुर्थ बड़ा विद्वत् सेवी और साहित्य सेवी हुआ। उसके शासनकाल में विग्रहराज नाटक की रचना हुई और स्वयं उसने हरकेलिनाटक लिखा। ये दोनों ग्रन्थ इस समय नहीं मिलते हैं। विग्रह राज ने पत्थर के चौकों पर यह ग्रन्थ खुदवा दिये थे और अपने द्वारा स्थापित संस्कृत विद्यालय की दीवारों में जड़वा दिये थे। वहाँ इनको विद्यार्थी और अध्यापक सब चाव से पढ़ा करते होंगे। इस विद्यालय को शाहबुद्दीन गौरी ने

मसजिद के रूप में परिवर्तित किया और यह चौके वहां से निकलवा कर फिंकवा दिये, जो पत्थरों के ढेर में पड़े हुए इस शताब्दी के आरम्भ में मिले और इस समय अजमेर के ऐतिहासिक संग्रहालय में रक्खे हुए हैं। महाराज पृथ्वीराज के समय में पृथ्वीराजविजय नामक काव्य लिखा गया। यह ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। इसमें दी हुई चौहानों की वंशावली और पृथ्वीराज के शासनकाल का वर्णन विश्वसनीय है। काव्य की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ अच्छा है।

चालुक्य आदि राजाओं का साहित्य प्रेम :—गुजरात के चालुक्य या सोलंकियों में प्रायः सभी नरेश साहित्य के बड़े संपोषक थे। इनमें जयसिंह सिद्धराज (११००) अधिक प्रसिद्ध है। यह शैव सम्प्रदाय का अनुयायी था और विद्वानों का बहुत आदर करता था। इसकी राजसभा को प्रसिद्ध जैन विद्वान हेमचन्द्र अलंकृत करता था। यह विविध विषयों के पंडितों की प्रायः सभायें करवाया करता था और उनके प्रवचनों तथा भाषणों को बड़ी रुचि से सुना करता था। स्वयं शैव था परन्तु जैन, वैष्णव, शाक्त आदि सम्प्रदायों का समान आदर किया करता था। सोलंकियों के समान जैजकभुक्ति के चन्देल राजा भी कला और साहित्य के प्रेमी थे। प्रबोधचन्द्रोदय नामक नाटक महाराज कीर्तिवर्म देव चन्देल के शासन काल में लिखा गया था। इस नाटक के पात्रों के द्वारा अद्वैत वेदान्त का विवेचन करवाया गया है। इसका लेखक कृष्ण मिश्र कीर्तिवर्म देव की राज सभा का एक प्रकाशमान रत्न था। इसी युग में बंग देश के महाराज लक्ष्मण सेन के शासन काल में कविवर जयदेव ने गीत गोविन्द की रचना की। श्रृङ्गार और भावुकता की दृष्टि से यह संस्कृत साहित्य में अद्वितीय ग्रन्थ है। जयदेव का समकालीन धोयं था, जिसने पवन दूत नामक काव्य लिखा। इसकी रचना मेघदूत के आधार पर की गई है।

दक्षिण नरेशों का साहित्य प्रेम : (१) वेद पुराण :—उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में साहित्य की अधिक वृद्धि हुई। प्रायः सब राजाओं ने पंडितों को आश्रय दिया, और कई नरेशों ने स्वयं सुन्दर ग्रन्थों की रचना की। बहुत से ऐसे पंडित और महात्मा थे जिन्होंने राजाश्रय की इच्छा ही नहीं की। केवल आत्मसंतोष और लोक हित के लिये साहित्य सृष्टि की। महाराज परान्तक चोल के शासन-काल में वेंकट माधव नामक एक विद्वान पंडित ने ऋगार्थदीपिका नामक ग्रन्थ लिखा। दीर्घकाल से वेदों का पठन पाठन शिथिल हो गया था और वेदों का अर्थ अच्छे अच्छे पंडित भी नहीं जानते थे। अतः ऋगार्थदीपिका का विद्वानों ने उस समय (६०७-६५५) अभिनन्दन किया होगा। इस ग्रन्थ में बतलाया गया है कि ऋग्वेद की ऋचाओं का अर्थ किस प्रकार करना चाहिये। निघंटु और निरुक्त (७०० ई० पू०) के बाद इस विषय का शायद यह प्रथम ग्रन्थ था। इसका विद्वज्जगत् में कोई विशेष मान नहीं हुआ और वेदों के गूढ़ अर्थ को समझने के लिये लोगों ने इस ग्रन्थ से सहायता नहीं

ली। ब्राह्मण ग्रन्थ और सूत्र ग्रन्थों पर भी इस काल में दक्षिणात्य पंडितों ने कई टीकायें और दीपिकायें लिखीं। इन विद्वानों में भवस्वामी और षड्गुरु शिष्य के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रसिद्ध लोकप्रिय पुराण श्रीमद्भागवत की रचना भी दसवीं शताब्दी में किसी पंडित ने दक्षिण में ही की थी। इसमें विष्णु की भक्ति और अद्वैत सिद्धन्त का प्रतिपादन किया गया है, तथा ग्यारहवें स्कन्द में श्रीकृष्ण चरित का बड़े रोचक और सरल ढंग से वर्णन किया है। यह ग्रन्थ इतना मान्य हुआ कि भारत के प्रायः प्रत्येक गांव में इसका प्रचार हो गया। संस्कृत भाषा में इसकी कई टीकायें लिखी गईं और भारत की प्रायः प्रत्येक प्रान्तीय भाषा में इसका अनुवाद हुआ। छापे का आविष्कार होने पर विविध आकार और प्रकार में इसकी लाखों प्रतियां प्रकाशित हुईं। इसके कई अनुवाद और सारांश प्रान्तीय भाषाओं में छपे और अठारहवीं शताब्दी के अन्त में वारन हेस्टिंग्ज़ के शासन काल में पंडित लल्लूजीलाल ने कृष्ण चरित का ब्रजभाषा में अनुवाद किया। यह अनुवादग्रन्थ प्रेमसागर कहलाता है और हिन्दी गद्य के ग्रन्थों में आदि ग्रन्थ माना जाता है।

(२) दर्शन साहित्य :—दर्शन, विज्ञान और व्यवहार विषयों पर उस काल में अनेक सद्ग्रन्थ लिखे गये। विस्तार भय से यहां सब का पूर्ण विवरण नहीं दिया जा सकता, परन्तु स्वामी शंकराचार्य, स्वामी रामानुजाचार्य और कुमारिल भट्ट के ग्रन्थ विशेष उल्लेख के योग्य हैं। भारत के इतिहास में इन ग्रन्थों ने एक नये युग की सृष्टि की थी। शंकर के समय से जीव और ब्रह्म के विवेचन की एक नवीन विचार-धारा चली। शंकराचार्य ने कहा कि जीव और ब्रह्म एक हैं। नानात्व और भिन्नत्व अज्ञान या माया के प्रभाव से प्रतीत होता है। स्वामी रामानुजाचार्य ने यह मत स्वीकार नहीं किया। उनका सिद्धान्त है कि जीव और ब्रह्म विशेष दृष्टि से और विशेष अवस्था में एक माने जा सकते हैं परन्तु हैं वास्तव में भिन्न। शंकर का सिद्धान्त अद्वैतवाद कहलाता है और रामानुज का विशिष्टाद्वैत। स्वामी बल्लभाचार्य से पूर्व अर्थात् सोलहवीं शताब्दी तक भारत के दार्शनिक ही नहीं परन्तु सारा पंडित समाज या तो अद्वैतवाद को मानता था या विशिष्टाद्वैत वाद को। दोनों सम्प्रदाय संगठित थे और देश में सर्वत्र दोनों के अनुयायी थे। आठवीं शताब्दी में कुमारिल भट्ट ने साबरभाष्य की टीकास्वरूप तीन ग्रन्थ लिखे—श्लोक वार्तिक, तन्त्र वार्तिक और तुप्टीका। साबरभाष्य में ऋषि जैमिनी कृत पूर्व मीमांसा का अर्थात् वैदिक कर्मकांड का विवेचन है। शंकराचार्य ने उत्तर मीमांसा (ब्रह्मसूत्र) पर भाष्य लिखा। यह शांकर भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। पूर्वमीमांसा या उत्तरमीमांसा मूलरूप में समझ में नहीं आते। भाष्य से उनके सूत्रों का अर्थ स्पष्ट होता है। अतः एक अंश में मूल ग्रन्थ की अपेक्षा भाष्य का अधिक महत्व है। अपने भाष्य में स्वामी शंकराचार्य ने अद्वैतमत का प्रतिपादन किया है। अर्थात् ब्रह्म और आत्मा को एक बत-

लाया है। दर्शन साहित्य में शंकर भाष्य का बहुत ऊंचा स्थान है और गत बारह शताब्दियों से भारतीय दर्शन का यह प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है। इस पर अगणित टीकायें संस्कृत तथा प्रान्तीय भाषाओं में लिखी जा चुकी हैं; अंग्रेजी भाषा में भी इसके कई अनुवाद, सारांश और टीकायें लिखी गई हैं। नानक, कबीर, रैदास, दादू-दयाल, सुन्दर दास आदि प्रसिद्ध सन्तों ने अपने काव्यों द्वारा शांकर मत का ही प्रचार किया है। ब्रह्मसूत्रों के अतिरिक्त स्वामी शंकराचार्य जी महाराज ने उपनिषदों तथा भगवद्गीता का भाष्य किया है। ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और भगवद्गीता तीनों मिल कर 'प्रस्थान त्रयी' कहलाते हैं। ये ग्रन्थ भारतीय दर्शन साहित्य के शिरोरत्न हैं। इन तीनों ग्रन्थों की शांकर टीकायें भारत में बड़े आदर के साथ पढ़ी जाती हैं। परन्तु शंकर का अद्वैतवाद सर्वसम्मत सिद्धान्त नहीं है। शंकर से लगभग एक शताब्दी पश्चात् दार्शनिकों ने विशिष्टाद्वैतवाद की चर्चा करना शुरू किया। सर्वप्रथम दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में नाथ मुनि ने इस विषय पर 'योग रहस्य' और 'भावतत्व' नामक ग्रन्थ लिखे और यमुनाचार्य ने 'सिद्धित्रय', 'गीतार्थ संग्रह' और 'आगम प्रामाण्य' ग्रन्थों की रचना की। स्वामी रामानुजाचार्य ने ब्रह्मसूत्रों पर 'श्रीभाष्य' लिखा। इनके प्रचार से और इनके भाष्य के अध्ययन से हजारों विद्वान् विशिष्टद्वैत सम्प्रदाय के अनुयायी हो गये। इनमें सुदर्शन भट्ट विशेष प्रसिद्ध हैं। इसने बारहवीं शताब्दी के अन्त में श्रीभाष्य पर एक विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी जिसका नाम 'श्रुतप्रकाशिका' है। श्री मध्वाचार्य ने तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिख कर द्वैतवाद का प्रतिपादन तथा प्रचार किया अर्थात् जीव और ब्रह्म का पार्थक्य सिद्ध किया।

(३) व्यवहार और संगीतादि साहित्य—इस काल में याज्ञवल्क्य स्मृति पर दो पांडित्यपूर्ण टीकाओं की रचना हुई। विश्वरूप ने 'बालक्रीड़ा' लिखी और विज्ञानेश्वर ने 'मिताक्षरा'। कोंकण नरेश महाराज अपरार्क ने भी व्यवहार विषय पर एक उत्तम संग्रह तैयार किया। सबसे बड़ा ग्रन्थ हेमाद्रि का 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' है। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध 'मिताक्षरा' है। इसके अंग्रेजी भाषा में कई अनुवाद और भाष्य हो चुके हैं। हिन्दू कानून दीवानी का यह मुख्य आधार ग्रन्थ है। दक्षिणात्य पंडितों ने व्याकरण, कोश और संगीत आदि विषयों की भी उपेक्षा नहीं की। रामानुजाचार्य के गुरु यादवप्रकाश ने 'वैजयन्ती' नामक प्रसिद्ध कोश लिखा और एक दिगम्बर जैन पंडित ने 'नाममाला' कोश की रचना की। इसी काल में प्रसिद्ध 'अमरकोश' पर दो सुन्दर टीकायें तैयार की गईं। व्याकरण पर भी छोटे बड़े ग्रन्थ लिखे गये जिनमें हरदत्त की 'पद्ममंजरी' मुख्य है, परन्तु यह लोकप्रिय नहीं हुई। चालुक्य नरेश महाराज जगदेकमल्ल ने 'संगीतचूड़ामणि' नामक ग्रन्थ लिखा। और देवगिरि के यादव नरेश श्री सिंघण ने संगीत और नृत्य पर एक ग्रन्थ-रत्न की रचना की। इसका नाम 'संगीतरत्नाकर' है। इस ग्रन्थ में सात अध्यायों में संगीत और

नृत्य के विविध अंगों का बड़ा सुन्दर और प्रामाणिक विवेचन किया गया है। इसलिये यह बहुत लोकप्रिय है और अनेक प्रान्तीय भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। हिन्दी भाषा में इसका छन्दोबद्ध अनुवाद लगभग २०० वर्ष पूर्व हुआ था। मेवाड़ के वीर नरेश महाराणा कुम्भ ने इस ग्रन्थ पर संस्कृत भाषा में टीका लिखी थी। वर्तमान संगीत के लिये यह यह ग्रन्थ ही प्रामाणिक माना जाता है। जय सेनापति ने 'नृत्य-रत्नावलि' और हरपाल देव ने 'संगीत सुधाकर' की रचना की। जय सेनापति काकतीय वंश के महाराजा गणपति का सेनाध्यक्ष था और हरपाल चालुक्य वंशीय एक नरेश था। यह विचारणीय विषय है कि संगीत और नृत्य विषय के मूल लेखक और टीकाकार प्राय: नृपतिगण हैं। कारण यह हो सकता है कि ऐसी ललित कला के रहस्य में प्रवेश करने के लिये इन लोगों को ही फुरसत थी और अपनी शक्ति और वैभव के द्वारा ये लोग ही कला को प्रोत्साहन दे सकते थे। ब्राह्मणों का काम मुख्यत: ब्रह्मचिंतन था ; इसलिये उनकी इन विषयों में रुचि नहीं होती होगी। राजनीति पर सोमदेव सूरि नामक एक जैन साधु ने 'नीतिवाक्यामृत' लिखा। जैन धर्म की दृष्टि से तथा इस विषय के अन्य ग्रन्थों के आधार पर इसमें सोमदेव ने सरल भाषा में राजनीति के विविध पक्षों का वर्णन किया है। वह राजा की आवश्यकता तो समझता है, परन्तु मनु और चाणक्य का निरंकुश और अनियमित सत्तावान् नरेश उसको पसन्द नहीं है। इसलिये उसने राजशक्ति पर अनेक उचित प्रतिबन्धों का विधान किया है।

ललित साहित्य : स्वान्तः सुखाय और लोकरंजन के हेतु भी दक्षिण में विपुल साहित्य की रचना हुई। काव्य, नाटक, चम्पू, कथा और साहित्य-मीमांसा आदि सभी अंगों को परिपुष्ट किया। नरेशों और जनता दोनों ने साहित्य की वृद्धि की। एक राजमहिषी ने भी ग्रन्थ रचना की। कवियों में विल्हण, माधव भट्ट, वेदान्त देशिक और कुमारदास विशेष उल्लेख के योग्य हैं। नाटककारों में शक्तिभद्र प्रसिद्ध है। चम्पू लेखक दक्षिण में अनेक हुए। इनमें त्रिविक्रम भट्ट और सोमदेव सूरि की कृतियां उत्तम हैं। दण्डी, सोड्ढल, विद्याचक्रवर्ती आदि ने सुन्दर गद्य-ग्रन्थों की रचना की है। शारदा तनय ने साहित्यालोचन पर एक अमर ग्रंथ लिखा है। इसी लेखक ने संगीत विषय पर भी एक पुस्तक लिखी है। इनके अतिरिक्त अन्य कई लेखकों ने विविध विषयों पर रचनायें की हैं। इन साहित्यकारों में सब से ऊंचा स्थान है दण्डी का। संस्कृत साहित्य में कालिदास, भारवि, दण्डी और माघ ज्वाजल्यमान रत्न हैं। साहित्य के विद्वान कहा करते हैं कि कालिदास की उपमा, भारवि की अर्थ-गरिमा और दण्डी की पद-सुन्दरता सर्वोच्च हैं और माघ में ये तीनों गुण मिलते हैं। कालिदास और भारवि दोनों गुप्त-काल के कवि हैं और माघ तथा दण्डी ने राजपूत युग को अलंकृत किया है। दण्डी का अमर ग्रन्थ है 'दशकुमार चरित'। इस ग्रन्थ का पद-लालित्य, भाव-सौन्दर्य और

काव्य-गौरव अपूर्व है। इसके अनूठे गद्य को पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है मानो सागर की सुखद उर्मियों पर बिना पतवार के नाव चल रही हो। दण्डी का दूसरा ग्रन्थ है 'काव्यादर्श'। इसका विषय नाम से ही प्रकट है। इसमें काव्य के गुण और दोषों का वर्णन है और इस विषय का यह प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। शारदातनय का 'भाव प्रकाश' भी इसी विषय का ग्रन्थ है और आलोचनात्मक साहित्य में यह भी अपना स्थान रखता है। काव्यों में उसके दो काव्य सर्वोपरि हैं। माधव भट्ट कदम्ब वंशीय नरेश कामदेव का आश्रित था। उसके 'राघव पांडवीय' में काव्य के आवश्यक और साधारण गुण तो हैं ही परन्तु इसमें अद्भुत चमत्कार यह है कि आद्योपान्त समस्त रचना द्व्यर्थक है। एक पक्ष भगवान रामचन्द्र और दूसरा पांडवकुल तिलक महाराज युधिष्ठिर पर लागू होता है। इस शैली को कवि ने प्रत्येक श्लोक में निभाया है जिससे स्पष्ट प्रकट होता है कि संस्कृत भाषा पर उसका कितना अद्भुत अधिकार था। 'विक्रमांकचरित' में चालुक्य-वंशीय महाराज विक्रमादित्य चतुर्थ का चरित है। यह ग्रन्थ काव्यात्मक इतिहास है। मूल कथा तो ऐतिहासिक है परन्तु घटनाओं पर काव्य-कलेवर इतना चढ़ गया है कि कहीं कहीं मूल चमत्कृति और अतिशयोक्ति में डूब जाता है। वेदान्तदेशिक का 'याद-वाभ्युदय' ऐतिहासिक महाकाव्य है, इसमें श्रीकृष्णचरित का वर्णन है। सोलहवीं शताब्दी में प्रसिद्ध विद्वान अप्पय दीक्षित ने इस ग्रंथ पर टीका लिखी थी। इसी कवि ने कालिदास के 'मेघदूत' की शैली पर 'हंसदूत' काव्य लिखा है। परन्तु इसमें मेघदूत की कोमल मधुरता नहीं आ सकी। सोड्ढल की 'उदयसुन्दरीकथा' सुन्दर गद्यकाव्य है। यह गुजरात का निवासी एक कायस्थ था। होयसल राज्य के विद्याचक्रवर्ती ने 'गद्यकर्णा-मृत' लिखा है। यह भी अच्छा गद्यकाव्य है। शारदा तनय ने संगीत पर एक अच्छा छोटा सा ग्रन्थ लिखा है। इसका नाम 'शारदीय' है। कृष्ण मिश्र के 'प्रबोध चंद्रोदय' का पहिले उल्लेख किया जा चुका है। इसमें अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन है। इसका उत्तर देने के वास्ते शारदा तनय ने 'संकल्प सूर्योदय' नामक नाटक लिखा जिसमें विशिष्टा-द्वैत का महात्म्य बतलाया गया। चम्पू काव्यों में त्रिविक्रम भट्ट के दो चम्पू—'नल-चम्पू' और 'मदालसा चम्पू'—प्रसिद्ध हैं। सोमदेव सूरि का 'यशस्तिलक' चम्पू भी उल्लेख के योग्य है। इन ग्रन्थों में काव्य शैली का अनुसरण किया गया है परन्तु गद्य और पद्य दोनों का उपयोग हुआ है। परन्तु चम्पू काव्य होता है, नाटक नहीं। दक्षिण के विद्वानों ने नाटक नहीं लिखे और यदि लिखे तो उत्तर के नाटकों के महाप्रकाश में वे फीके पड़ गये और भुला दिये गये। केवल एक नाटक उल्लेख के योग्य है, वह है शक्तिभद्र का 'आश्चर्य चूड़ामणि'।

राजपूत युग की भाषा

संस्कृति

साहित्यसर्जन और राजकार्य के लिये इस समय संस्कृत का व्यवहार किया

जाता था। साहित्य का दिग्दर्शन ऊपर किया जा चुका है। राजकार्य में संस्कृत का ही उपयोग होता था, यह इस से सिद्ध है कि इस काल के जितने शिलालेख और दान पत्र प्राप्त हुए हैं वे सब संस्कृत भाषा में हैं और संस्कृत भी विशुद्ध और साहित्यिक है। इस समय संस्कृत का प्रचार भारतवर्ष में ही नहीं दक्षिण पूर्वी द्वीप समूह, ब्रह्मदेश, हिन्द चीन आदि में तथा तिब्बत और पश्चिमी तुर्किस्तान में भी था। राजपूत काल वास्तव में गुप्तकाल का ही द्वितीय अध्याय था। इस युग में भी धर्म, साहित्य, कला और ज्ञान विज्ञान की उन्नति प्रथम युग की भांति होती रही।

प्राकृत पर विलीनता

शिष्ट लोगों की भाषा सन् १२०० तक संस्कृत ही चलती रही परन्तु इस युग में प्रान्तीय या लोक भाषाओं का भी विकास होने लगा। इससे पूर्व भी सब लोग संस्कृत नहीं बोलते थे। संस्कृत की स्थिति गुप्त काल में और राजपूत काल में वैसी ही थी जैसी इस समय अंग्रेजी की है। बोल चाल की भाषा गुप्त काल में प्राकृत थी और यह भी सब प्रान्तों में एक सी नहीं थी। गुप्त काल के बाद प्राकृत भी संस्कृत की भांति साहित्य की भाषा मानी जाने लगी। प्राकृत में आरम्भ से ही उच्चारण की कोमलता और सरलता की ओर प्रवृत्ति थी। इसलिये संस्कृत के संयुक्त अक्षरों का तथा महाप्राण अक्षरों का उच्चारण प्राकृत में बदल दिया जाता था। इस प्रवृत्ति के कारण प्राकृत में तत्सम शब्दों का व्यवहार नहीं होता था और तद्भव शब्दों का व्यवहार बढ़ता जाता था। राजपूत काल के मध्य में भाषा विकास में एक दूसरी प्रवृत्ति शुरू हुई जिसके कारण प्राकृत का विकास बंद हो गया और वह साहित्य की भाषा मानी जाने लगी।

लोक भाषाओं का विकास

राजपूत काल वैदिक धर्म का और विशेषकर पौराणिक धर्म का प्रौढ़काल था। श्री शंकराचार्य और कुमारिलभट्ट के प्रचार से बौद्ध धर्म अस्त प्राय हो चुका था। जैन धर्म पौराणिक धर्म का प्रबल विरोधी नहीं था और राजपूत काल में जैन पंडित भी संस्कृत भाषा का व्यवहार करने लग गये थे और उनमें से कई ने संस्कृत भाषा में उत्तम ग्रंथों की रचना भी की थी। इस प्रकार जागृत, प्रबल और राजप्रजा-संसेवित पौराणिक धर्म की प्रतिद्वन्द्विता करने वाला धार्मिक क्षेत्र में अब कोई नहीं था। पौराणिक धर्म की भाषा शुद्ध संस्कृत थी। पुराणों का विवेचन तथा प्रचार करते समय पंडित लोग जब लोक भाषा का उपयोग करते होंगे तो संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अवश्य करते होंगे। इस प्रकार प्राकृत का व्यवहार कम होने लगा और ऐसी लोक भाषाओं का विकास होने लगा जिनका रूपान्तर होकर वर्तमान प्रान्तीय भाषायें बनने लगीं। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि उत्तर राजपूत काल में ये भाषायें बनने लग गई होंगी और वर्तमान रूप धारण करने लग गई होंगी। अभी

छापे का प्रचार जारी नहीं हुआ था और शिष्ट लोगों की भाषा संस्कृत ही मानी जाती थी। इसलिए प्रान्तीय भाषाओं का इस युग में ग्रन्थ रचना के लिये उपयोग नहीं हुआ। ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त तक धर्मोपदेश, शास्त्रार्थ, साहित्य सृष्टि आदि की भाषा संस्कृत बनी रही और रात दिन के बोलचाल में नव विकसित प्रान्तीय भाषाओं का उपयोग होने लगा। इनमें बंगला, पूर्वी हिन्दी, पश्चिमी हिन्दी, गुजराती और महाराष्ट्री प्रधान हैं। इन सब का विकास संस्कृत से हुआ है। सब में संस्कृत की क्रियाओं के विकृत रूपों का उपयोग होता है और शब्द प्राय सब तत्सम होते हैं। भाषा भेद केवल उच्चारण, क्रियारूप, सर्वनाम और विभक्ति का है। दक्षिण की भाषायें तामिल से विकसित हुई हैं, परन्तु पौराणिक काल में और राजपूत युग में इनमें भी संस्कृत शब्दों का प्रचुरता से उपयोग होने लगा। इनमें तामिल भाषा प्राचीनतम है और वह संस्कृत पर आश्रित भी नहीं है। इसमें संस्कृत शब्दों का अनुपात बहुत कम है। ब्राह्मणों और विद्वानों की तामिल में संस्कृत के शब्द कुछ अधिक होते हैं और जनता की तामिल में कम। अन्य तीन भाषाओं में, अर्थात् तेलगू, कन्नाडी और मलयालम में संस्कृत शब्दों का अधिक प्रयोग होता है। सब से अधिक संस्कृत शब्दों का अनुपात तेलगू में है। इसका कारण है कि आन्ध्र देश उधर उड़ीसा से और इधर महाराष्ट्र तथा खान देश से मिला हुआ है। इस प्रकार यह संस्कृताधार भाषा भाषी प्रान्तों से सटा हुआ है। ज्यों ज्यों हम इस प्रकार के प्रान्तों से दूर जाते हैं त्यों त्यों दक्षिण की भाषाओं में संस्कृत शब्दों का व्यवहार कम होता जाता है।

प्रान्तीय भाषाओं का प्रयोग शिष्ट समाज में सन् १२०० के पश्चात् होने लगा। अनुमान से ऐसा विदित होता है कि रातदिन के परस्पर व्यवहार में तथा पत्र व्यवहार में आधी संस्कृत और आधी प्रान्तीय भाषायें चलती थीं। मराठी भाषा का प्राचीनतम शिलालेख, जो अति संक्षिप्त है, सन् १११५ का प्राप्त हुआ है। इसी भाषा का कुछ बड़ा शिलालेख सन् १२०७ का है। इस समय यह भाषा कुछ निश्चित स्वरूप धारण करने लग गई थी। पश्चिमी हिन्दी अर्थात् राजस्थानी भी इसी काल में निखरने लगी थी। चन्द बरदाई के पृथ्वीराज रासो के विषय में विद्वानों ने विभिन्न मतों का जाल बिछाया है। यहां तक कि एक विद्वान् तो इसको १८ वीं शताब्दी की रचना मानते हैं। इस विवाद में प्रवेश किये बिना इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि इसका मूल भाग तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में लिखा गया होगा। उस समय कुछ लोग विशेषतः चारण, भाट और राव आदि लोक-काव्य के लिये प्रान्तीय भाषा का उपयोग करने लग गये थे। यह विचारणीय विषय है कि राजपूत काल के अन्त तक ही नहीं बल्कि पन्द्रहवीं शताब्दी तक ब्राह्मण ही क्या राजपूत भी साहित्य के लिये संस्कृत का ही उपयोग करते थे। इस युग में उत्तर और दक्षिण के नरेशों ने जो कुछ लिखा वह संस्कृत में लिखा, केवल दो तीन ग्रन्थों की रचना प्राकृत में हुई।

इतना ही नहीं राजमहिषियां भी संस्कृत पढ़ती थीं। एक देवी ने तो संस्कृत में ग्रन्थ रचना भी की थी। इसका नाम विजय भट्टारिका था और यह प्रसिद्ध चालुक्य नरेश महाराज पुलकेसिन द्वितीय की स्नुषा अर्थात् पुत्रवधू थी। ब्राह्मण धर्म के प्रचारक थे और राजपूत उसके सम्पोषक थे। इसलिये ये दोनों वर्ग संस्कृत का विशेष अध्ययन करते थे, परन्तु शेष वर्ग इस कर्त्तव्य से विमुक्त थे। साथ ही साहित्यिकता इनमें भी थी। इसलिये संस्कृत और प्राकृत में न सही, ये लोग लोक भाषा में कविता करते थे और तेरहवीं शताब्दी से इस भाषा में किंचित् ग्रन्थ-प्रणयन भी होने लगा था। यह पश्चिमी हिन्दी अर्थात् राजस्थानी का पूर्व रूप था। पूर्वी हिन्दी का आदि कवि यदि विद्यापति को न माना जावे तो मलिक मोहम्मद जायसी तो है ही। इसने अपने पद्मावत की रचना सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में की थी परन्तु अवधी भाषा का काव्य के लिये प्रयोग लगभग दो सौ वर्ष पूर्व होने लग गया होगा। मलिक मोहम्मद जायसी मुसलमान थे। शायद वह तत्सम शब्दों का उच्चारण भी नहीं कर सकते होंगे। इसलिये पद्मावत में उन्होंने तद्भव शब्दों का अधिक प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त छन्दपूर्ति और काव्य प्रवाह के लिये तथा मात्राओं की पूर्ति के लिये भी शब्दों को बिगाड़ा होगा। परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि राजपूत युग के अन्त में अवधी, भोजपुरी, व्रजभाषा आदि का बोल चाल में अधिक प्रयोग होने लगा था और कोई कोई लोग इनमें कविता भी करने लग गये थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय इन भाषाओं को बोलते समय तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक करते होंगे और अन्य लोग कम। इसकी पुष्टि गुसाईं तुलसीदास जी की रामायण से होती है जिसकी रचना सोलहवीं शताब्दी में हुई थी।

आरम्भ में बंगाली पूर्वी मागधी से बहुत मिलती जुलती थी। साहित्य के लिये इसका प्रयोग उत्तर राजपूत काल में होने लग गया होगा। उस समय का कोई ग्रंथ अब उपलब्ध नहीं है। प्राचीनतम बंगला ग्रन्थ चण्डीदास का है जिसमें कृष्ण-भक्ति के भजन हैं। कन्नाडी का विकास भी दसवीं शताब्दी में होने लगा था। उस समय की कन्नाडी में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है और उसका छन्दशास्त्र तथा व्याकरण भी संस्कृत के आधार पर बना हुआ है। लगभग इसी समय तेलगू का विकास होने लगा था। महाराज विष्णुवर्धन (१०२२-१०६०) ने इसको बड़ा प्रोत्साहन दिया था। इसकी सभा में तेलगू का आदि कवि नन्नय भट्ट था जिसने इस भाषा में महाभारत लिखा और प्राचीनतम व्याकरण बनाया।

राजपूत युग की कला

उत्तमता की पराकाष्ठा : इस युग में कला की अपूर्व उन्नति हुई। कला का विकास मौर्य काल में शुरू हुआ था। महाराज चन्द्रगुप्त और अशोक के महलों को देखकर फाहियान चकित हो गया था। अशोक के स्तूप, स्तम्भ, सिंह, अश्व और

वृषभों की प्रतिमायें भी अपूर्व थीं। कालान्तर में विकसित होते होते राजपूत काल में कला पराकाष्ठा पर पहुँच गई। इस युग में राजप्रासाद या अन्य प्रकार के निवास-स्थानों के निर्माण पर राजा या प्रजा किसी का ध्यान नहीं था। इस युग में धर्म की प्रधानता थी, इसलिये देवस्थानों के निर्माण के लिये लोगों ने उदारता के साथ दान दिया और कलाविदों तथा शिलाविदों ने अपने कला चातुर्य को मन्दिरों को भव्य, दिव्य और अपूर्व बनाने में बरसाया। अतः इस युग में विशेषतः मन्दिर निर्माण कला का विकास हुआ और ऐसे अद्भुत मन्दिर निर्मित हुए कि वे अब भी संसार को चकित कर रहे हैं।

दो प्रकार के मन्दिर : मन्दिर दो प्रकार के बनाये गये। उत्कीर्ण (कटे हुए) मन्दिर और रचित (चुने हुए) मन्दिर। उत्कीर्ण मन्दिरों का विकास अशोक के समय में होने लगा था। उस समय बौद्ध भिक्खुओं के निवास के हेतु गुफायें बनाई जाने लगी थीं। पत्थरों की चट्टानों को छीनी से काट काट कर उनके अन्दर इन साधुओं के रहने के वास्ते स्थान निकाल दिया जाता था। ऐसी ही गुफाओं में जैन श्रावक (साधु) भी रहा करते थे। धीरे धीरे ये गुफायें अधिकाधिक सुन्दर बनने लगीं। देश के कारीगर और कलाकार इन पर अपने चातुर्य का प्रदर्शन करने लगे। कई शताब्दियों तक तो ये गुफायें केवल बौद्ध भिक्खुओं के वास्ते बनाई जाती थीं, कभी कभी जैन श्रावकों के वास्ते भी इनका निर्माण होता था, परन्तु राजपूत युग में हिन्दू मन्दिरों के लिये भी इस शैली का अनुकरण होने लगा और इस पांच सौ वर्ष के युग में अत्यन्त अद्भुत उत्कीर्ण मन्दिरों का निर्माण हुआ। रचित मन्दिर पत्थर और चूने से बनाये गये। इनकी विशेषता है शिखर, गर्भगृह और मंडप। पत्थरों को सटाने में कुछ चूने का उपयोग किया होगा परन्तु अब चूना दिखाई नहीं देता है। कोई कोई पत्थर खांचे काट कर भी सटाये हुए हैं।

शिखरबंद मन्दिरों की तीन शैलियां : हमारे देश के इस युग के मंदिर तीन शैलियों में विभक्त किये जा सकते हैं। सूक्ष्मता से देखने पर तो काल, प्रकार और देश के अनुसार कई शैलियां प्रतीत होती हैं, परन्तु यह विशेषज्ञों का क्षेत्र है। संस्कृति के विद्यार्थियों के लिये तो इन समस्त मंदिरों को तीन शैलियों में विभक्त करना ही पर्याप्त है। उत्कीर्ण मंदिर तो केवल दक्षिण में ही पाये जाते हैं। इनमें कुछ बौद्ध मंदिर हैं, कुछ शैव और कुछ वैष्णव। स्थूलतः इन सबको एक कोटि में रखना उचित है। रचित और शिखरबंद मंदिरों की तीन शैलियां हैं। दक्षिणात्य, औदिच्य और मिश्रित। दक्षिणात्य मंदिरों के शिखर विशेष प्रकार के हैं। ये उत्तर के मंदिरों से भिन्न हैं। गर्भ-गृह के ऊपर एक प्रकार का 'पिरेमिड' बनाया जाता है। जब यह पन्द्रह बीस फुट की ऊंचाई तक पहुँच जाता है तो इसके ऊपर दूसरा छोटा 'पिरेमिड' खड़ा किया जाता है। इस प्रकार कई 'पिरेमिड' का एक शिखर बनता है। शिखर के ऊपर का हिस्सा

नोकदार नहीं होता बल्कि चपटा होता है। शिखर के पार्श्व (पक्ष) नाना देवों की प्रतिमाओं से तथा पौराणिक कथाओं की प्रतिमाओं से अलंकृत रहते हैं। गर्भगृह, मंडप और स्तम्भ तथा मंदिर का आसन प्रायः उत्तर के मंदिरों के से ही होते हैं। केवल किंचित नगण्य भेद होता है। उत्तर के मंदिरों के शिखर भी गर्भगृहों पर बनाये गये हैं। गर्भगृह प्रायः चौकोर होता है परन्तु शिखर का आधार गोल बनाकर शिखर को गोल कर दिया जाता है। शिखर की ऊंचाई निश्चित नहीं है, यह मन्दिर के आकार प्रकार और गर्भगृह के ऊपर निर्भर है। शिखर को बड़ी कला और चतुरता के साथ ज्यों ज्यों वह ऊपर चढ़ता है त्यों त्यों आकर्षक रूप से सुकड़ाया जाता है। ऊपर का हिस्सा चपटा नहीं रखा जाता। इस पर कमल के आकार का एक वर्तुल पत्थर, जिसका किनारा कमल की पंखुड़ियाँ बतलाने के लिये उत्कीर्ण होता है, रखा जाता है। इसके ऊपर एक तुम्बी सटाई जाती है और उसके ऊपर तीन कलश। प्रथम, द्वितीय और तीसरा कलश उत्तरोत्तर कलात्मक रीति से अनुपाततः छोटा किया जाता है। सब के ऊपर एक ऐसा पात्र बना दिया जाता है, जिसके ऊपर एक नालिका सी होती है। इसमें त्रिशूल लगा दिया जाता है। बड़े मंदिरों में कलश और सुराही सोने की बनाई जाती थी। शिखर को चारों ओर देव प्रतिमाओं से अलंकृत किया जाता है, या छोटे छोटे शिखरों से सजाया जाता है। इस प्रकार के शिखरबंद मंदिर उड़ीसा से कश्मीर तक उत्तर भारत में मिलते हैं। तृतीय शैली दक्षिण की उपत्यिका पर पाई जाती है। आरम्भ में यहां कोई विशेष शैली नहीं थी। कोई मंदिर दक्षिण शैली का था और कोई उत्तर शैली का। यदि किसी उत्तर के दानी ने बनवाया और उत्तर के ही शिलाविद ने बनाया को उत्तर की शैली का बन गया। परन्तु यदि दानी और शिला-विद दक्षिण के हुए तो दक्षिण शैलो का बन गया। यह ढंग नवीं शताब्दी तक चलता रहा, परन्तु उसके पश्चात् एक मिश्रित शैली का विकास होने लगा। इनमें कुछ विशेषतायें उत्तर से आईं और कुछ दक्षिण से। इस प्रकार दोनों प्रकार के तत्वों के घुलने मिलने से मिश्रित शैली विकसित हुई। इस शैली में दक्षिण के तत्व अधिक हैं और उत्तर के कम। अइहोल बादामी और पट्टडकल के मंदिरों में कोई उत्तर शैली का है और कोई दक्षिण शैली का। इस समूह में बहुत आसानी से यह पता चल जाता है कि कौन मंदिर किस शैली का है। दशवीं शताब्दी के पश्चात् यह बात नहीं रही। फिर दोनों शैलियों के सम्मिश्रण से जो मिश्रित या मध्यवर्ती शैली विकसित हुई उसके अनुसार इस प्रदेश में मंदिरों का निर्माण होने लगा।

उत्कीर्ण मंदिर, कैलाश मंदिर :—इस शैली के मंदिर सातवीं शताब्दी में बनने लग गये थे ; लेकिन अभी यह आरम्भ मात्र था। इस काल के अनेक बड़े बड़े भवन विद्यमान हैं। ये एक पहाड़ को काट कर उसी में बनाये गये हैं ; अर्थात् सम्पूर्ण भवन एक ही शिलाखण्ड में से तराशा गया है। इसी खंड में से इसके स्तम्भ निकाले

गये हैं। इसी समय के सप्त पगोड़ा या रथ हैं। इनमें भी प्रत्येक एक ही शिलाखण्ड में से तराशा गया है। हर एक का स्वरूप रथ जैसा है, इसलिये इनको रथ कहते हैं। ये मद्रास से दक्षिण की ओर ३५ मील के अन्तर पर मामल्लपुरम के निकट स्थित हैं। यह शैली और कला आठवीं शताब्दी में चरम सीमा पर पहुँची। राष्ट्रकूट वंशीय महाराज कृष्ण ने आठवीं शताब्दी में एलोरा में कैलाश मंदिर बनवाया। यह भवन निर्माण कला का एक अद्‌भुत चमत्कार है। समस्त विशेषज्ञ इसको देख कर मुग्ध हुए हैं। ऐसी किंवदन्ती है कि इसका स्वरूप बनाने वाले ने जब इसको बना हुआ देखा तो वह स्वयं अवाक् रह गया। उसने देखा कि उसकी कल्पना साकार हो कर उसके सामने खड़ी आ हुई। कहते हैं कि जब इसका उद्‌घाटन हुआ तो देवी देवताओं ने गद्‌गद् हो कर पुष्प वर्षा की। ये तो किंवदन्तियां और जनश्रुतियां हैं परन्तु इस मंदिर की कला और सुन्दरता वास्तव में वर्णन से परे है और इसकी जितनी प्रशंसा की जावे थोड़ी है। एक पहाड़ी का बहुत बड़ा खंड, २८० फुट लम्बा और १६० फुट चौड़ा काट कर पहाड़ी से अलग किया गया है और फिर टांकी और हथौड़े के द्वारा वह खंड एक भव्य और दिव्य मंदिर में परिवर्तित कर दिया गया है। एक ही शिलाखंड में से तोरण, मंडप, पार्श्वद्वार, स्तम्भ, गर्भगृह और शिखर निकाले गये हैं। शेष अंश को टांकी से काट काट कर निकाल दिया गया है। मंदिर के चारों ओर इसी प्रकार पत्थर को काट काट कर खुला स्थान निकाला गया है। इस स्थान के चारों ओर जो पहाड़ी का भाग है उसमें भी काट काट कर कई विश्राम गृह बनाये गये हैं। इनमें साधु सन्त और यात्री लोग ठहरा करते थे। स्तम्भों पर नाना प्रकार की प्रतिमायें खुदी हुई हैं। द्वार पत्तों पर मनोहर बेलबूटे बनाये गये हैं। शिखर को भी अनेक प्रतिमाओं से तथा पौराणिक कथाओं से विभूषित किया है। तोरण के दोनों ओर एक-एक हाथी बना हुआ है। मंदिर के स्वरूप में और विन्यास में कहीं कोई दोष नहीं आया है। रेखायें, बिन्दु और कोण सब गणित के अनुसार हैं। उत्कीर्ण प्रतिमाओं में निर्माण की अनोखी कोमलता है और उनके प्रभाव में अद्‌भुत सजीवता तथा याथातथ्य है। वास्तव में समस्त मंदिर कला का एक साकार या मूर्तिमान स्वप्न है। इसको जितना देखा जावे उतना ही इसका सौन्दर्य प्रकट होता है। बगल से देखने से प्रतीत होता है कि यह रथाकार बनाया गया है। दोनों हाथियों का समावेश भी रथ की कल्पना में हो जाता है। पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिये कि कैलाश मंदिर और उसकी धर्मशालायें सब एक पत्थर है, अर्थात् कैलाश मंदिर और उसके उपकरण एक विशाल शिलाखंड की एक विशाल प्रतिमा है।

एक अंग्रेज विशेषज्ञ ने इस पर मुग्ध हो कर लिखा है—"कैलाश चट्टान का विशाल ताना बाना है। इससे बढ़ कर संसार में कला का कोई नमूना नहीं है। पेन्थियन, एथेन्स में पार्थियन, रोम में सेंट पिटर्स या हमारा सेंट पाल बनाना विज्ञान

और परिश्रम का कार्य है परन्तु हमको पता है कि यह कार्य कैसे आरम्भ होता है, कैसे आगे बढ़ता है और कैसे पूर्ण होता है। परन्तु जब यह विचार किया जाता है कि चाहे जितने मनुष्यों ने काम किया हो और चाहे जैसी उमंग के साथ, और चाहे जितने उनके पास साधन हों परन्तु इस १०० फुट ऊँची चट्टान को किस प्रकार तराशा, और शनैः शनैः टाँकी के द्वारा ऐसा मन्दिर निकाला, जिसमें बरामदे हैं, जीने हैं, अनन्त प्रतिमायें हैं और संगतराशी का इतना काम है, तो यह कार्य अविश्वसनीय प्रतीत होता है और आश्चर्य से सिर चकराने लगता है।" प्रसिद्ध विद्वान् विशेषज्ञ फर्गुसन ने भी इस मंदिर की बहुत प्रशंसा की है। विन्सेंट स्मिथ ने लिखा है कि यह मंदिर स्थापत्य कला का अद्‌भुत चमत्कार है। अन्य कई देशीय और विदेशीय विशेषज्ञ इसके निर्माण, विन्यास, सौन्दर्य और श्रम पर मुग्ध हो चुके हैं। इसी युग में कैलाश मंदिर के पास दूसरे पौराणिक मन्दिर और जैन मंदिर इसी प्रकार काटे गये परन्तु कैलाश मंदिर सब की चरम सीमा है। एलोरा औरंगाबाद से उत्तर पश्चिम की ओर सोलह मील पर तथा दौलताबाद से उत्तर की ओर दस मील पर स्थित है।

बम्बई के निकट एलीफेन्टा और सालसेट नामक टापुओं के पौराणिक मंदिर भी ७ वीं से ६ वीं शताब्दी के मध्य में बनाये गये हैं। इनके निर्माण में भी एलोरा और मामल्लपुरम् की निर्माण विधि का अनुसरण किया गया है। स्वरूप और विन्यास तथा अलंकरण की दृष्टि से ये कैलाश की समानता नहीं कर सकते। परन्तु इनकी प्रतिमायें कैलाशकी प्रतिमाओं से भी बढ़ कर हैं। इनमें एक त्रिमूर्ति शिव की प्रतिमा अत्यन्त भव्य है। मूर्ति कला का यह अति मनोहर उदाहरण है। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में जब पोर्तुगाली लोग व्यापार करने के वास्ते भारत में आये तो उन्होंने हिन्दू मंदिरों को विशेषकर एलीफेन्टा के मंदिरों और प्रतिमाओं को बहुत नुकसान पहुँचाया। मुसलमानों की भांति इन लोगों को भी प्रतिमा दर्शन से बड़ा रोष और आवेश आया करता था, और उनको तोड़ने में यह अपना शौर्य समझते थे। शायद यह भी मानते हों कि ऐसा करने से प्रभु ईसा प्रसन्न होता है। आश्चर्य यह है कि प्रतिमा पूजन तो उस समय पोर्तुगाली लोग भी करते थे। परन्तु ये लोग अपनी प्रतिमा-पूजन को तो धर्म समझते थे और हमारे प्रतिमा-पूजन को पाप। दो संस्कृतियों का संघर्ष प्रायः ऐसा ही रूप धारण कर लिया करता है।

उत्तर के निर्मित मंदिर : राजपूत काल में उत्तर भारत में सर्वत्र सुन्दर शिखरबंद मदिरों का निर्माण हुआ था। उड़ीसा से काश्मीर तक और काश्मीर से गोदावरी तक सम्पूर्ण प्रदेश इनकी भव्यता से अलंकृत था। परन्तु मुसलमानों ने इनमें से अधिकांश मंदिरों को नष्ट करके खुदा को खुश किया और सबाब लूटा। जो मंदिर दुर्गम स्थानों पर बने हुये थे वे इस भयंकर भूकम्प से बच गये। जहां हिंदुओं

ने संगठित हो कर दृढ़ता से सामना किया वहां भी इनकी रक्षा हो गई। इस समय तत्कालीन मंदिरों में से कुछ मंदिर उड़ीसा, खजुराहो, राजस्थान और ग्वालियर में बचे हुए हैं। इनके सर्वोत्तम सुन्दर उदाहरण उड़ीसा में हैं। भुवनेश्वर में तीस शिखरबंद मंदिर हैं परन्तु इनमें तीन मंदिर विशेष उल्लेख के योग्य हैं अर्थात् मुक्तेश्वर, राजराणी और लिंगराज के मंदिर। इनमें लिंगराज मंदिर का शिखर १६० फुट ऊँचा है और नवीं शताब्दी का बना हुआ है। पुरी में जगन्नाथ का मंदिर सन् १११० में महाराज अनन्त वर्मा चोडगंग ने बनवाया था। यह ऊंचे आसन पर बना हुआ है और इसका शिखर २०० फुट ऊंचा है। यह कई मील की दूरी से आस पास दिखाई देता है। भुवनेश्वर के मंदिरों के शिखर, मंडप, गोपुर और आसन सब अपनी विशेषतायें रखते हैं। इनके निर्माण और विन्यास में अद्भुत भव्यता और विशालता है। इनकी कला का सौन्दर्य अनुभव का विषय है, वर्णन का नहीं।

खजुराहो के मंदिर : यह स्थान झांसी से दक्षिण पूर्व में लगभग १०० मील की दूरी पर स्थित है। यह जैजकभुक्ति के चंदेल राजपूतों के राज्य में सम्मिलित था। उन्होंने सन् ६५०-१०५० के अर्से में यहां एक झील बनवाई और उसके तट पर तीस मंदिर निर्मित हुए। इनमें कुछ मंदिर शैव हैं, कुछ वैष्णव और कुछ जैन। इन विभिन्न सम्प्रदायों के मंदिरों के सामीप्य से यह भी स्पष्ट है कि भगवत् प्राप्ति के विभिन्न मार्गों में कोई द्वेष नहीं था। कहीं कहीं और कभी कभी कुछ कटुता हो जाती थी परन्तु भारतीय सम्प्रदाय मिल जुलकर रहना जानते थे। भुवनेश्वर के मन्दिरों की भांति ये मंदिर भी आर्यावर्त शैली के शिखरबंद मंदिर हैं। इनका सौन्दर्य विशालता में नहीं किन्तु निर्माण में है। प्रत्येक मंदिर दृढ़ और ऊँचे आसन पर बनाया गया है। शिखरबंद मंदिर के लिये यह अत्यावश्यक है कि उसका आसन या आधार दृढ़, अत्यन्त ठोस और मंदिर के आकार के अनुपातानुसार लंबा, चौड़ा तथा ऊँचा हो। प्रत्येक मंदिर के चार मुख्य भाग हैं—गोपुर, मंडप, गर्भगृह और शिखर। शिखरबंद मंदिर की यही व्यापक शैली है। गोपुर, मंडप और गर्भगृह की छत विशेष कलात्मक अनुपात से एक दूसरे से ऊंची होती हैं। गोपुर और मंडप की छत गोलार्ध होती हैं और गर्भगृह की शिखराकार। गोपुर और मंडप में प्रायः तीन द्वार होते हैं, और आवश्यकतानुसार अनेक स्तम्भ। इस विन्यास के अतिरिक्त स्तम्भ, चौखट, द्वारपार्श्व और आसन के तीनों पख (पक्ष) तथा शिखर कला और चातुरी से अलंकृत किये जाते हैं। इन अलंकरणों की कोमलता और तद्रूपता से ही मंदिर की भव्यता अंकित की जाती है। मुख्य मंदिर के समीप ही एक उपमंदिर बनाया जाता है। यह मुख्य मंदिर की कुछ अंशों में अनुकृति है। यह शायद पंचायतन के भाव को व्यक्त करता है। खजुराहो के मंदिर समूह में विश्वनाथ का शिव मंदिर और चतुर्भुज का वैष्णव मंदिर विशेष उल्लेख के योग्य हैं। इसके मंडप का व्यास २२ फुट है और परिधि ७० फुट के लगभग। शिखर की ऊंचाई १०० फुट है। इसके मंडप और शिखर से शैलशृंग की छटा

प्रकट होती है। इसके स्तम्भों पर गोल उतरंगे सुंदर प्रतिमाओं से विभूषित हैं। इनके सौंदर्य का यहां वर्णन नहीं दिया जा सकता। प्रत्येक मंदिर के मध्यस्थ गोलार्द्ध के अंदर का भाग अत्यंत मनोहर मूर्तियों से अलंकृत है। चतुर्भुज का मंदिर भी विन्यास, कला और निर्माणकौशल तथा आकार और प्रकार में विश्वनाथ के मंदिर के समान है। इस समूह में छः जैन मंदिर हैं। इनमें और पौराणिक मंदिरों में भेद केवल इतना ही है कि इनकी दीवारों में चैत्याकार खिड़कियां नहीं हैं। इससे इनका बाह्य भाग एक सा और कुछ नीरस प्रतीत होता है। उसमें कृति वैचित्र्य न होने से चमत्कार नहीं है। अन्य अंशों में ये मंदिर पौराणिक मंदिरों के समान हैं।

मथुरा के शिखरबन्द मन्दिर : दसवीं शताब्दी में उत्तरभारत के श्रद्धालु और उदार निवासियों ने मथुरा में अनेक मनोहर, विशाल और भव्य मंदिरों का निर्माण करवाया। मथुरा भगवान कृष्ण के जीवन से विशेषतया सम्बद्ध है। यहां कंस का वध करके भगवान् ने धर्म-मर्यादा पुनः स्थापित की थी। इसलिये भारत-वासी लोग इसको पवित्र नगरी मानते थे और इसीलिये उन्होंने इसको सुन्दर मंदिरों से सजाने में विपुल धन राशि खर्च की थी। इस ख्याति को सुन कर महमूद गजनवी ने मथुरा पर आक्रमण किया। वह मंदिरों को ध्वंस करके पवित्रता की कहानी को नष्ट करना चाहता था और हिन्दुओं के दिलों पर अपनी बहादुरी का सिक्का जमाना चाहता था। मथुरा के मंदिरों की विशालता और सम्पन्नता को देख कर वह दंग रह गया। अलउत्तबी उसका प्राइवेट सेक्रेटरी था और अच्छा लेखक था। उसने महमूद के आक्रमणों का वर्णन लिखा है जो प्राय: विश्वसनीय है। मथुरा के मंदिरों के विषय में उसने लिखा है कि—"शहर के दरमियान सबसे बालातरीन और उम्दह बुतगाह है जिसका न बयान किया जा सकता है न नक्काशी। इसके बाबत सुलतान ने लिखा है कि अगर कोई इनसान इसके मानिन्द इमारत बनाना चाहे तो दस करोड़ सुर्ख दीनार खर्च किये बिना नहीं बना सकता, और निहायत तजुर्बेकार और माहिर अफराद के तफहर के बावजूद भी इसकी तामीर में दो सदी सर्फ होंगी। बुतों में पांच खालिस सोने की बनी हुई थीं, हर एक पांच गज लम्बी थी और बिला सहारे हवा में टिकी हुई थीं। इन बुतों की आंखों में ऐसी बेशबहा लालें जड़ी हुई थीं कि अगर उनको फरोख्त किया जावे तो हर एक की कीमत पचास हजार दीनार उभर सकती है। एक बुत में हीरा जड़ा हुआ था जो पानी के मुकाबिले में ज्यादा साफ था। और निहायत चमकदार था। इसका वजन साढ़े चारसौ मिसकल था। एक बुत के महज दो पैरों का ही वजन साढ़े चार हजार मिसकल था। तमाम बुतों के सोने का वजन अठानवे हजार और तीन सौ मिसकल था। चांदी की बुतें दो सौ के करीब थीं लेकिन उनका वजन टुकड़े टुकड़े किये वगैर नहीं किया जा सकता था। सुलतान ने हुक्म दिया कि तमाम मंदिर आतिश और नैपथा से जला कर जमींदोज कर दिये जावें।"

इस बर्बर प्रवृत्ति के कारण आर्यावर्त के सम्पूर्ण मन्दिर धराशायी कर दिये गये। इनमें कितनों ही के तो ध्वंसावशेष भी अब नहीं मिलते। जो कुछ मन्दिर इस घोर प्रलय से और आगामी सात शताब्दियों के विनाश से बच गये हैं उनको देख-कर हम तत्कालीन कला के ऐश्वर्य का अनुमान कर सकते हैं।

ग्वालियर और राजस्थान : ग्वालियर के दुर्ग में इस युग के तीन सुन्दर मंदिर हैं। इनमें दो सास बहू के मंदिर और एक तैली का मंदिर कहलाता है। इन नामों का रहस्य समझ में नहीं आता। ये तीनों ग्यारहवीं शताब्दी की समाप्ति से पूर्व पूर्ण हो चुके थे। इनमें सास बहू के मंदिरों में इस युग की निर्माण परंपराओं का पालन किया गया है। सबसे बड़े मंदिर के मरगोल तथा उतरंगें धीरे-धीरे फटते जाते हैं इससे स्पष्ट है कि राजपूत काल के इंजिनियरों को इस बात का पूरा ज्ञान नहीं था कि किस आकार के पत्थर पर कितना भार संभल सकता है। सबसे बड़े मंदिर का गर्भगृह और शिखर गिर पड़ा है और केवल मंडप रह गया है।

राजस्थान में इस युग के अनेक मंदिर हैं। चन्द्रभागा (झालावाड़) के मंदिरों का आकार तो छोटा है, परन्तु इनकी कला अति उत्कृष्ट है। इनमें सब से बड़ा शिव मंदिर है। इसका विन्यास इस युग की परंपरा के अनुकूल है और यह दसवीं शताब्दी का प्रतीत होता है। शेष तीन मंदिरों में से केवल एक में प्रतिमायें हैं। यह देवी का मंदिर है। इसके स्तम्भ, गर्भगृह और कुछ मंडप का अंश रह गया है। शेष नष्ट हो गया। इसके दरवाजे के चौखट के पार्श्वों पर जो खुदाई का काम है वह अनोखा है। पुष्प, पशु और मनुष्यों की बेलें बड़ी कला के साथ खोदी गई हैं। इनमें पदार्थों का अनूठा सामंजस्य है उसको देखकर मन गद्गद् हो जाता है। इसी प्रकार की बेलें अजन्टा की गुफाओं में गर्भगृहों के द्वारपत्रों पर बनी हुई हैं। यह सातवीं और आठवीं शताब्दी की कला परंपरा यहां से झालावाड़ आ पहुँची। इससे भार-तीय संस्कृति की एकता प्रकट होती है। कोटा नगर से उत्तर की ओर लगभग ३० मील के अन्तर पर चम्बल नदी के दायें तट पर बाड़ोली गांव के निकट एक शिव मंदिर स्थित है। इसके पास छोटे-छोटे दो तीन मंदिर और हैं जो या तो इसी के साथ या कुछ पीछे निर्मित हुए होंगे। इस शिव मंदिर के सामने एक चपटी छत का और कई स्तम्भों का मंडप बना हुआ है। मंदिर के चतुरदिक् मीलों तक सघन और बीहड़ जंगल हैं। यह मंदिर नवीं शताब्दी का प्रतीत होता है। स्थानीय किंवदन्ती है कि इसको किसी हूण राजा ने बनवाया था। इसका निश्चय करने के तो कोई साधन उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु यह राजपूत शैली का मंदिर है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसका गोपुर, मंडप और शिखर सब कला की दृष्टि से अद्भुत हैं। इसके स्तम्भों पर भव्य प्रतिमायें तथा बेल-बूटे उत्कीर्ण हैं। प्रतिमाओं की सजीवता, अंग विन्यास और लालित्य देखते ही बनता है। कोटा राज्य के दक्षिण की ओर अकलेरा तहसील

में एक छोटी सी नदी के तट पर सघन वन के अन्दर एक मनोहर मंदिर समूह है। इनमें कुछ अधूरे, कुछ विनष्ट और कुछ बचे हुए हैं। बचे हुए मन्दिरों में एक छोटा सा शिव मंदिर है जो उस बन की परम शोभा है। इसका प्रत्येक पत्थर कला से अलंकृत है इसकी शोभा गर्भगृह के द्वार पर, गर्भगृह के आसन पर और मंडप पर केन्द्रित है। कोटा राज्य में ही उत्तर पूर्व की ओर ६७ मील की दूरी पर मांगरोल तहसील में रामगढ़ के पास गोलाकार पर्वत श्रेणी के ठीक मध्य में एक शिव मंदिर है। यह राजपूत शैली का है और नवीं शताब्दी का जान पड़ता है। इस समय यह जीर्ण दशा में है परन्तु इस समय भी इसकी आदि दिव्यता का अनुमान हो जाता है। इस मंदिर का आसन, शिखर, मंडप, गोपुर और मंडप के पार्श्वद्वार तथा मंडप के स्तम्भ सब अलंकरणों से उत्कीर्ण हैं। प्रतिमाओं में अद्भुत सफाई और कोमलता है। दूर से इस जीर्ण अवस्था में भी यह मंदिर ऐसा मालूम होता है मानो इस वन में एक अति बहुमूल्य नग जड़ दिया गया हो। विन्यास की भव्यता के अतिरिक्त इस मंदिर के प्रत्येक पत्थर पर ललित कला का प्रदर्शन किया गया है। कोटा से लगभग ६० मील के अन्तर पर पश्चिम की ओर एक ऊजड़ नगरी है जो विलास कहलाती है। यहां कितने ही पौराणिक और जैन मंदिरों के खंडहर हैं। कोई भी मन्दिर इस समय खड़ा नहीं है परन्तु स्तम्भ, उतरंगे और मरगोल कई के अभी तक ज्यों के त्यों हैं। इनसे इस नगर की कला का अनुमान होता है। इन सब पर विविध प्रकार के बेल-बूटे और पशु तथा पक्षियों की प्रतिमायें बड़ी कला और चातुरी से उत्कीर्ण की गई हैं। आबू में विमलशाह का मन्दिर सुन्दर श्वेत पत्थर का बना हुआ है। यह ९८ फुट लंबा और ४३ फुट चौड़ा है। इसका मण्डप बहुत बड़ा है परन्तु स्तम्भ अपेक्षाकृत कोमल प्रतीत होते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि ये स्तम्भ इतना भार नहीं झेल सकते परन्तु गत एक सहस्र वर्ष से झेले हुए हैं। इस मन्दिर की ललित कला का अनुमान बाहर से नहीं होता, परन्तु अन्दर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है मानो इसके स्वरूपकार और विवरणकार ने कला की यहां झड़ी लगा दी हो। मन्दिर के स्तम्भ, छत, उतरंगे आदि सब पर अत्यन्त बारीकी की खुदाई की गई है। कहीं एक फुट लम्बा चौड़ा पत्थर भी खाली नहीं छोड़ा गया है, खुदाई में बेल बूटे ठीक नाप और आकार के हैं। कहीं अणुमात्र भी अन्तर नहीं मिलता। छतों से लटकते हुए कई लटकन बनाये गये हैं जिनके कौशल को देखकर अक्ल दंग रह जाती है। सब कौशल को देखकर ऐसा अनुभव होता है मानो कला और सौन्दर्य की झड़ी लग रही हो। देखते देखते कौतूहल भी अघा जाता है। सब काम केवल श्वेत पत्थर का है जिससे अन्दर का भाग रजत भवन से भी अधिक सुन्दर जान पड़ता है। इस शैली के अन्य मंदिर राजस्थान और गुजरात में उस समय बने परंतु इनमें अधिकांश प्रायः शीर्ण अवस्था में हैं। मारवाड़ में किराडू के समीप इस प्रकार के पांच मंदिरों

का समूह है। इनमें विष्णु मंदिर सब से प्राचीन है परंतु सोमेश्वर का मंदिर अभी अधिक शीर्ण नहीं हुआ है।

कश्मीर और बंगदेश के मंदिर : कश्मीर में मन्दिरों की शैली आर्यावर्तीय शैली से भिन्न थी। यह वास्तव में गान्धार शैली की अनुकृति थी। इस शैली के मन्दिरों में गोपुर और मण्डप नहीं होता, केवल गर्भगृह होता है और उसके ऊपर चपटी सी छत। छत आर्यावर्तीय शैली की नहीं बनती थी और न विशेष ऊंची होती थी। इन मंदिरों के स्तम्भ भी सादा और रोमन शैली के बनाये जाते थे। वास्तव में कश्मीर की स्थापत्य शैली का विकास कश्मीर में ही हुआ और गान्धार कला समीप होने से उस ढङ्ग का इस पर प्रभाव पड़ा। कश्मीर नरेश ललितादित्य और अवन्ति वर्मा ने ८ वीं तथा ९ वीं शताब्दी के मध्य में मंदिर कला का बड़ा पोषण किया। श्रीनगर से लगभग पन्द्रह मील की दूरी पर रुद्रेश का मंदिर एक शाही इमारत है, शायद सर्व प्रथम इसका ही निर्माण हुआ होगा। झेलम के तट पर और श्रीनगर के पास ही तख्त-सुलेमान पर श्री शंकराचार्य का मंदिर है। मार्तण्ड का मंदिर कश्मीर में सर्वोत्तम है, यह आयताकार मंदिर है। गोपुर मुख्य मंदिर से पृथक् है। इसका स्वरूप और विन्यास अत्यन्त सुव्यवस्थित है। उस समय यह मंदिर कश्मीर में सर्वोत्तम माना जाता होगा। अवन्ति वर्मा के शासन काल में अवन्तेश्वर और अवंतस्वामी के मंदिर बने। पहला शैव मंदिर है और दूसरा वैष्णव। दोनों जीर्ण अवस्था में हैं। खण्डहरों से इनके क्षेत्रफल का तथा विधान का अनुमान होता है। बंगदेश में मुसलमानों के आक्रमणों से पहिले के कोई खड़े हुए मंदिर नहीं मिलते। इस प्रदेश में उड़ीसा शैली के कई मंदिरों का निर्माण हुआ था, परन्तु मुसलमानों ने उनका ध्वंस कर दिया। अब उनके केवल भग्नावशेष पड़े हुए हैं जो उनके विलीन वैभव की याद दिलाते हैं।

मूर्ति कला : इस युग की मूर्ति कला गुप्त काल की प्रतिमा कला के समान उन्नत नहीं है। परन्तु उत्तर भारत में और विशेष कर दक्षिणी-पूर्वी राजस्थान में क्षीनता के कोई विशेष चिन्ह नहीं दिखाई देते। दक्षिण भारत में जो मूर्तियां बनीं, वे उत्तम कोटि की नहीं कही जा सकतीं। लेकिन धातु प्रतिमायें वहां भी बड़ी मनोहर बनीं। नटराज शिव की धातु प्रतिमा, जो दक्षिण में प्राप्त हुई है और जिनकी अनुकृतियां फिर यत्र तत्र कई स्थानों पर तैयार की गईं, अति उत्तम और सुन्दर है। जैन लोगों ने भी अपने तीर्थङ्करों और आचार्यों तथा देवियों की प्रतिमायें बनाईं परन्तु कला की दृष्टि से ये सब नगण्य हैं। हां श्रवण वेलगोला (मैसूर) में गोमत आचार्य की जो अति विशाल प्रतिमा है वह वास्तव में अद्भुत है। यह ५७ फुट ऊंची और २६ फुट चौड़ी है और एक ही शिलाखण्ड में से तराशी गई है। अनुपाततः इसके विभिन्न अंग यथाव्यवस्थित हैं और मुख मुद्रा तो आश्चर्यकारिणी है। इस पर आचार्योचित शांति और गम्भीरता के साथ अत्याकर्षक मन्द मुसकान है। वेलगोला के अतिरिक्त

अन्यत्र कहीं भी जैन मूर्ति कला में इतनी सफलता प्राप्त नहीं हुई। पौराणिक प्रतिमाओं में उत्तम प्रतिमायें खजुराहो, कोटा और झालावाड़ तथा मेवाड़ प्रदेश में मिलती हैं। इनमें तीन प्रकार की प्रतिमायें मिलती हैं। स्वतन्त्र प्रतिमायें, अलंकार प्रतिमायें, और कथा प्रतिमायें। जो प्रतिमायें स्वतन्त्र रूप से स्थापित की गई हैं, जिनकी या तो पूजा होती थी या बड़े मंदिरों के विशिष्ट भागों में रखी गई थीं वे स्वतन्त्र प्रतिमायें हैं। मंदिरों के आसन के चतुर्दिक् भाग, शिखर, मंडप, स्तम्भ आदि को अलंकृत करने के वास्ते जो प्रतिमायें बनाई गई हैं वे अलंकरण प्रतिमायें हैं। गंगा और यमुना का अवतरण, धनुष भंग, कालिया दमन आदि घटनाओं की प्रतिमाओं को कथा प्रतिमायें कहा जाता है। प्रतिमायें वैदिक और पौराणिक दोनों देवों या देवियों की बनाई गई हैं परन्तु अग्नि, इन्द्र, वरुण, वायु, सूर्य आदि वैदिक देवों की प्रतिमाओं में कोई विशेष कला नहीं है। शिलाविदों ने अपनी सब कला और निपुणता उमा-महेश्वर और विष्णु पर बरसा दी है। दक्षिण-पूर्वी राजस्थान में उमा-महेश्वर की प्रतिमायें विविध मुद्राओं में बनी हुई हैं। इनमें नवीं और दसवीं शताब्दियों में तैयार की हुई प्रतिमायें सब दृष्टियों से अति भव्य और मनोहर हैं। ऐसी ही विष्णु की प्रतिमायें हैं। लक्ष्मी, गंगा, यमुना, सरस्वती आदि देवियों की प्रतिमायें सब एक सी हैं। शिलाविदों ने इनमें अंगानुपात, अंग विन्यास और मुख मुद्रायें बड़ी कुशलता से उत्कीर्ण की हैं। पत्थर को तराश कर बिलकुल चिकना किया है। आंखों में विभिन्न भाव बतलाये हैं और मुखमुद्रा से गाम्भीर्य, औदार्य, करुणा और वात्सल्य आदि प्रकट किये हैं। शाहबाद (कोटा) और बाड़ोली में शेषशायी विष्णु की प्रतिमायें अद्भुत और अनुपम हैं। दोनों प्रतिमायें गुप्त काल की ऐसी प्रतिमा से किसी अंश में कम नहीं हैं, बल्कि विन्यास और अनुपात की दृष्टि से यह अधिक मनोहर और निर्दोष हैं। इसी इलाके के अटरू, कृष्ण-विलास, रामगढ़, तारज आदि स्थानों पर अनेक देव और देवियों की सुन्दर और कलात्मक प्रतिमाय हैं। ये सब सन् १२०० के पूर्व की बनी हुई हैं और राजपूत काल की कला की उत्कृष्ट द्योतक हैं। बाड़ोली की अलंकरण प्रतिमायें ऐसी प्रतीत होती हैं मानो दर्शकों से मुस्करा कर बात करना चाहती हों। इन मूर्तियों में गन्धर्व, अप्सरा, चौरीहस्ता, परिचारिका, द्वारपाल आदि की मूर्तियां भी उत्कृष्ट हैं। इन्हीं स्थानों के बेलबूटे, पुष्प, पक्षी और पशुओं की आकृतियां बहुत सुन्दर खुदी हुई हैं। अटरू और कृष्ण विलास में वराह की प्रतिमायें हैं। ये दोनों मध्य राजपूत काल की प्रतीत होती हैं और गुप्त काल की वराह प्रतिमा से अधिक सुन्दर हैं। कृष्ण विलास की प्रतिमा अति विशाल किन्तु आनुपातिक, सुडौल, सजीव और तद्रूप है। इस पर देव देवियों और ऋषि मुनियों की आकृतियां खुदी हुई हैं। वराह विष्णु का अवतार है। विष्णु की कुक्षि अर्थात् गर्भ से समस्त जगत् का निवास है, यह बात इस प्रतिमा में दरसाई गई है। ऐसी ही विशाल और

भव्य वराह मूर्त्ति सारथल (कोटा) के निकट उजार नदी के तट पर स्थित एक वैष्णव मंदिर के समीप प्राप्त हुई है। वह भी इसी काल की है। कृष्ण विलास और सारथल की वराह प्रतिमायें इतनी विशाल हैं कि एक बैलगाड़ी में दो अच्छे बैलों से नहीं खिंच सकतीं। दोनों एकान्त और दुर्गम बन में स्थित हैं। इसलिये इनको विशेष प्रयास के बिना म्यूजियम में नहीं लाया जा सकता। इन स्थानों की देवी प्रतिमाओं में लावण्य और आकर्षण के अतिरिक्त केशविन्यास, परिधानकला और आभूषणों की सूक्ष्मता और यथातथ्यता के कारण भी अद्भुत माधुर्य है। देवियों का स्वरूप केवल वाहनों से जाना जा जाता है। ऐसी सुन्दर प्रतिमायें इस युग के भारत में अन्यत्र नहीं हैं। इस काल में राजस्थान को छोड़ कर अन्यत्र सुन्दर प्रतिमायें नहीं बन सकीं। इसका कारण यह है कि तत्कालीन संगतराशों ने शास्त्रों के वचन का पालन किया। पौराणिक और जैन शास्त्रों में देव और देवियों के शरीर का विचित्र वर्णन है। देवों के कान मानव कान से बहुत बड़े हैं। उनके हाथ घुटनों से नीचे पहुँचते हैं। उनकी आँखें कानों से मिली हुई हैं। वाराही देवी का मुख वराह जैसा है। तीर्थङ्करों की लंबाई कई योजन है। शिलाविदों ने इस बात का यत्न किया कि धारणाओं और मर्यादाओं का पालन किया जावे। वास्तव में इन मर्यादाओं की चिन्ता नहीं करनी चाहिये थी। महाभारत में शकुन्तला का उपाख्यान बिलकुल साधारण कथा है। यदि कालिदास इसमें नृत्य और सन्दर्भ नहीं मिलाते तो शकुन्तला नाटक ऐसी अपूर्व और आकर्षक कृति नहीं बन सकता था। इसी प्रकार शेक्सपियर ने भी प्राचीन उपाख्यानों को रस की निष्पत्ति के लिये और आकर्षण उत्पन्न करने के हेतु बहुत तोड़ा मरोड़ा है। कलाकार के लिये यह आवश्यक है कि आधार मात्र परम्परा से लिया जा सकता है परन्तु कल्पना स्वयं उसी की होती है। तभी मनोहर और आकर्षक तत्वों की सृष्टि हो सकती है। गुप्त काल के शिलाविदों ने इस सिद्धान्त का अनुसरण किया था। उन्होंने शास्त्रों को अक्षरशः नहीं माना। यही बात गान्धार कला के सृष्टाओं के विषय में कही जा सकती है। इसलिए तत्कालीन प्रतिमाओं में चमत्कार और चातुरी है, तथा कला का प्रदर्शन है। राजपूत युग के कलाकार शास्त्र वचन से बंधे रहे, जैसा शास्त्रों में पढ़ा या पंडितों से सुना ठीक वैसी मूर्तियां बनाने का प्रयत्न किया। वे प्रायः आज्ञाकारी कार्यकर्त्ता थे कलाकार नहीं। अतः उनकी कृतियां दर्शन मात्रेण आल्हाद की गुदगुदी उत्पन्न नहीं करतीं, वे शास्त्रों की स्मृति दिलाती हैं। फिर भी कला कभी कभी मर्यादाओं को तोड़ कर निकल पड़ी है। यह कैलाश मंदिर के रावण की भित्ति प्रतिमा से और राजस्थान की उपरोक्त कलात्मक कृतियों से स्पष्ट होता है।

चित्रकला : अजन्टा की चित्रकला भारतीय चित्रकला का पर्यवसान है। यह ईसा से तीन शताब्दी पूर्व आरम्भ हुई और सातवीं शताब्दी तक चलती रही। इस प्रकार लगभग आठ सौ वर्ष तक अजन्टा की पहाड़ियों पर कला की वर्षा होती

रही। इस कला को बौद्धों से या उदार पौराणिक नरेशों से आश्रय और प्रोत्साहन प्राप्त होता था। जब बौद्ध धर्म क्षीण हो गया और उदार नरेशों का अन्त हो गया तो अजन्टा की कला में विराम आ गया और इस कला की धारा और परम्परा समय के फेर से प्रायः बन्द सी हो गई। राष्ट्रकूट नरेश के बनवाये हुए कैलाश मन्दिर की दीवारों पर अनेक चित्र बनवाये गये थे। ये नवीं शताब्दी में या उससे कुछ आगे तैयार किये गये होंगे। अब तक अजन्टा की कला-स्मृतियां और उनके उदाहरण सजीव रूप से विद्यमान थे। इसलिये ये चित्र अजन्टा शैली से ही बनाये गए थे। कैलाश मन्दिर के समीप जो जैन और पौराणिक उत्कीर्ण मन्दिर हैं उनमें भी चित्र बनाये गये थे। ये चित्र अधिकांश नष्ट हो गए हैं; कुछ धुंधली सी रेखायें कहीं कहीं दृष्टिगत होती हैं। जो चित्र काल की क्रूरताओं से बचे हुए हैं वे भी फीके पड़ गए हैं। न उनमें रंग की ताजगी है और न रेखाओं की स्पष्टता। तो भी उनकी तत्कालीन भव्यता का अनुमान किया जा सकता है। अजन्टा की परम्परायें दसवीं शताब्दी में विलीन हो गईं। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी के चित्र उपलब्ध नहीं हैं। इस काल में रचे हुए ग्रन्थों में कुछ चित्र अवश्य होंगे परन्तु वे लुप्त हो गए। तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों के सचित्र ग्रन्थ मिलते हैं। ये सब जैन ग्रन्थ हैं। इनके चित्र सब गुजराती जैन शैली के हैं। इनमें न कला की विशेषता है और न रंगों का समन्वय। इनका विशेष विवरण यहां आवश्यक नहीं क्योंकि राजपूत काल की अवधि सन् १२०० तक निश्चित की गई है।

संगीत कला : यह कला अत्यन्त प्राचीन है। इसको अनादि कहा जावे तो भी कोई अत्युक्ति नहीं है। ऋग्वेद का रचना काल अब तक निश्चित नहीं हो सका है। इसको अत्यन्त प्राचीन माना जाता है। इसकी ऋचायें सस्वर गाई जाती हैं। कौन से सूक्त का किस स्वर से पाठ किया जावे यह सूक्त के शीर्षक में दिया रहता है और सूक्त का नाम भी बतलाया जाता है। यह संगीत परम्परा हमारे देश में टूटी नहीं। वैदिक काल के स्वर तद्वत् अब तक प्रचलित हैं और संगीत के सदैव आधार तथा प्राण माने गये हैं। बौद्ध और जैनियों ने संगीत को प्रोत्साहन नहीं दिया परन्तु पौराणिक संम्प्रदायों ने वैदिक काल की संगीत परम्पराओं को एक नया जीवन देकर अधिक प्रगतिशील बना दिया। शिव का डमरू संगीत स्वरों का उद्गम स्थान माना जाने लगा। शिव वाद्य और नृत्य के संगम हैं, इसीलिये वे नटराज हैं। सरस्वती की वीणा प्रसिद्ध है ही। उसके एक हाथ में वीणा और दूसरे में पुस्तक है। इस प्रकार साहित्य और संगीत का अभिन्न सम्बन्ध बतलाया गया है। भगवान् कृष्ण ने गोवर्धन तो केवल एक बार ही धारण किया परन्तु वंशी से उनके कर-कमल और अरुण बिम्बफल सदृश होठ निरन्तर विभूषित रहते थे। दुर्गा भी डमरू धारण करती है। भैरव और वैतालों के नृत्य में भी ढोल और ताल की आवश्यकता मानी गई है।

शैव और वैष्णव मन्दिरों में संगीत और नृत्य भक्तिरस की निष्पत्ति के लिए आवश्यक माना जाता था। महाराज समुद्रगुप्त परम भागवत अर्थात् वैष्णव थे। अतः उनको वाद्य और गीत से प्रेम था। वे स्वयं वीणा बजाते थे और अपनी मुद्राओं (सिक्कों) में वे वीणा बजाते हुए दिखाये गये हैं। यह संगीत प्रेम की परम्परा चतुर्थ शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक अनवच्छिन्न रूपेण पुष्ट होती गई। स्त्री और पुरुष दोनों राजपूत काल में संगीत सीखते थे। राज परिवार की महिलायें भी नृत्य, वाद्य और संगीत में नैपुण्य प्राप्त करती थीं। महाराज होयसल बल्लाल की राणी नृत्य और संगीत की विशेषज्ञा थी, कलचुरी वंशीय महाराज सोवीदेव की राणी सोवल देवी भी संगीत और नृत्य में पारंगत थी और विशेष अवसरों पर सामन्त, विद्वान और कलाविदों के समक्ष अपनी कला का प्रदर्शन किया करती थी। जिस युग में संगीत और नृत्य के प्रति समस्त लोगों में इतना प्रेम हो वहां यह उन्नत और प्रचलित क्यों न होते। इस कला का इतना महत्व माना जाता था कि साहित्य और संगीत कला से विहीन व्यक्ति पशुतुल्य समझा जाता था। इस काल में संगीत कला पर कई सुन्दर प्रामाणिक ग्रन्थ लिखे गये। इनके लेखक प्रायः राजपूत नरेश थे। इन ग्रन्थों में सर्वाधिक प्रचलित और प्रसिद्ध ग्रन्थ संगीत रत्नाकर है। वर्तमान संगीत पद्धति प्रायः इस ग्रन्थ में बतलाये हुए सिद्धान्तों और नियमों पर आश्रित है। राजपूत काल में रागों के स्वर, स्वरों के भेद, प्रभेद, रागों की संतति, गीत या राग के लक्षण, स्वरविस्तार आदि सब निश्चित हो चुके थे और संगीत शास्त्र अति गहन एवं विस्तृत अध्ययन और अभ्यास का विषय बन चुका था। राग और रागनियों के अनन्त विस्तार के अतिरिक्त ताल और वाद्य का ज्ञान भी परिपूर्ण हो गया था। इस युग में तबले, मृदंग, पखावज, वीणा, सितार, करताल आदि अनेक वाद्यों का प्रचार था और सन् १२०० में ये वाद्य लगभग १५०० वर्ष पुराने हो चुके थे। इनके अतिरिक्त ढोल, नौबत करनाल, भेरी पणवक, गोमुख आदि सेनावाद्य प्रचलित और प्रसिद्ध थे।

नृत्य कला : इस कला का पौराणिक धर्म से अभिन्न सम्बन्ध है। इन्द्र लोक में अप्सराओं का नृत्य होता था। गान्धर्व लोगों का समय जीवन की रंगरेलियों में और नृत्य संगीत में कटा करता था। शिव को नृत्य से बड़ा प्रेम था। स्वयं शिव का नृत्य तांडव कहलाता है। जब वे पार्वती के साथ नाचते हैं तो वह लास्य है। कृष्ण तो नाचते नाचते कभी थकते ही नहीं थे। राधा के साथ और गोपियों के साथ उनका रास प्रसिद्ध है। रणचंडी दुर्गा का नाच भयंकर है और ऐसा ही भैरव और भवानी का है। जब सम्पूर्ण देवों को नाच प्रिय था तो उनके भक्तों को क्यों न प्रिय होता। प्रत्येक वर्ग के लोग इसको पसन्द करते थे और राजसभाओं में नर्तकियों का ऊंचा स्थान और सम्मान था। इतना ही नहीं राजकुल की महिलाओं के लिये यह अच्छा गुण समझा जाता था। राजकुमारियों को नृत्य सिखाने के वास्ते कुशल और योग्य

शिक्षक रखे जाते थे। नृत्य कला पर इस युग में कई ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इसका संगीत से अभिन्न सम्बन्ध है इसलिये संगीत ग्रन्थों में ही नृत्य कला का विवेचन किया गया है। एक दो ग्रन्थ केवल नृत्य पर भी लिखे गये थे। संगीत और नृत्य के ग्रन्थ प्रायः राजाओं ने लिखे हैं।

राजपूत युग का धर्म

राजपूत युग का धर्म गुप्त काल का अधिक विकसित और प्रौढ़ धर्म था। इसमें वैदिक धर्म के तत्त्व केवल नाम मात्र को रह गये थे। अब यह सर्वांशतः पौराणिक धर्म बन गया था। इसके मुख्य स्वरूप थे विविध देव और देवियों की पूजा, नाना प्रकार की मूर्तियों का निर्माण, विशाल देव मंदिरों का विधान और पुराणों का महत्त्व। इस युग की सब से बड़ी धार्मिक क्रान्ति थी—बौद्ध धर्म का लोप और जैन धर्म की जागृति।

बौद्ध धर्म का लोप : मौर्य साम्राज्य का पतन होते ही बौद्ध धर्म का ह्रास होने लग गया था। यह स्थिति प्रसिद्ध चीनी यात्री ने देखी थी और अपने ग्रन्थ में उसने इसका वर्णन किया था। सातवीं शताब्दी में ह्वानचांग ने (६२६-६४५ ई०) भारत में भ्रमण किया तो उसने देखा कि बौद्धों के विशाल मठ और विहार उजड़ चुके हैं और बौद्ध भिक्षुक और भिक्षुणियां तितर बितर हो गई हैं। पौराणिक धर्म की जागृति से बौद्ध धर्म पहिले ही निर्बल हो चुका था परन्तु ५ वीं शताब्दी से भारत पर हूणों के आक्रमण होने लगे और इन्होंने अनेक बौद्ध विहारों का ध्वंस किया और लाखों बौद्ध भिक्षुकों का कत्ले आम किया। जो भिक्षुक इनकी बर्बरता से बच गये थे वे इधर उधर एकांत स्थानों में जा छिपे। हूणों के आक्रमणों के कारण पेशावर से मथुरा तक बौद्धों के धर्म और शिक्षा के केन्द्र नष्ट हो गये। इन केन्द्रों के नष्ट होने से बौद्ध धर्म का प्रचार बन्द हो गया। बौद्ध विहार शिक्षा और धर्म के केन्द्र थे और बौद्ध भिक्षु समाज के और धर्म के अवैतनिक प्रचारक थे। इन पर वज्राघात होने से बौद्ध धर्म की बड़ी क्षति हुई। हूणों के आक्रमणों के पश्चात् बौद्ध धर्म के रक्षक और संपोषक केवल बंग देश के पाल वंशीय राजा रह गये। इससे पहिले महाराज हर्षवर्धन ने भी बौद्ध धर्म को प्रोत्साहित किया था परन्तु इससे वह पुनर्जागृत नहीं हो सका। तत्कालीन बौद्ध छटा केवल एक झलक थी। पाल वंशीय राजाओं की सहायता से वह लगभग ४०० वर्ष तक बंगाल और बिहार में जीवित रहा और तिब्बत में उसका प्रचार हुआ। परन्तु फिर भी वह दिन प्रतिदिन क्षीण होता ही गया और उसमें जो कुछ जीवन था वह अब बुद्धगया, नालंद, ओदन्तपुरी और विक्रमशिला के मठ और विहारों में शेष रह गया। १२ वीं शताब्दी के अन्त में मोहम्मद बखत्यार खिलजी ने बिहार और बंगाल पर आक्रमण किया और बौद्ध धर्म के जो कुछ चिन्ह इस प्रान्त में अब तक अवशिष्ट थे उसने उनको भी नष्ट कर डाला। स्वयं मुसलमान इतिहास-

कारों ने ही लिखा है कि मोहम्मद बखत्यार खिलजी ने बुद्धगया के विशाल विहार को बिल्कुल धराशायी करवा दिया और उसके सम्पन्न पुस्तकालय को भस्मीभूत कर दिया। वहां निवास करने वाले हजारों अध्यापकों और विद्यार्थियों को मौत के घाट उतार दिया। इसी लेखक ने लिखा है कि उस पुस्तकालय की विपुल ग्रन्थराशि में से दो तीन ग्रन्थ जलते जलते बच गये थे। इनको देख कर बखत्यार खिलजी को कौतूहल हुआ कि इनमें क्या विषय है। तब उसने ऐसे भिक्षुओं को तलाश करवाया जो इनको पढ़ सकें, परन्तु बहुत तलाश करने पर भी गया में ही नहीं वरन् आसपास भी कोई भिक्षुक नहीं मिला। कारण यह था कि हजारों भिक्षुक पहिले ही मरवा दिये गये थे और उस भगदड़ में यदि कुछ इने गिने भिक्षुक बच गये होंगे तो अपने प्राणों की रक्षा करने के लिये वे लोग किसी एकांत स्थान में जा छिपे होंगे। इस वृत्तान्त से प्रकट होता है कि मुसलमानों ने बौद्ध विद्वानों का, विद्यार्थियों का, ग्रन्थों का और विहारों का किस प्रकार सर्वनाश किया। मोहम्मद बखत्यार खिलजी के आक्रमण के पश्चात् बौद्ध धर्म भारतवर्ष से सदा के लिये विलीन हो गया। यहां तक कि इसके धर्मस्थान, इसके कला केन्द्र और यत्र तत्र छिपे हुए इसके ग्रन्थ-रत्न भी भारतवर्ष ने भुला दिये। वास्तव में यह विचित्र बात है कि जिस धर्म का भारतवर्ष में इतना महत्व और वैभव था और जिसने राजा और प्रजा दोनों के जीवन को इतना प्रभावित किया था वह भारत से ऐसा लुप्त हुआ कि उसकी कहानी भी नहीं बची। अठारहवीं शताब्दी में जब भारतीय संस्कृति में शोध होने लगा और विद्वानों को एक अवैदिक और प्राकृत-प्रधान धर्म का पता लगा तो उन्होंने समझा कि जैन धर्म और बौद्ध धर्म एक ही हैं। इस भ्रान्ति के निवारण करने में यूरोपीय पंडितों को भारतीय विद्वानों से कोई सहायता नहीं मिली। इससे प्रकट होता है कि बौद्ध धर्म के विषय में हमारी विस्मृति कितनी गहन हो गई थी। विदेशियों के आक्रमणों के अतिरिक्त बौद्ध धर्म के लोप के अन्य कारण भी थे। इनमें मुख्य हैं—(१) बौद्ध धर्म का पौराणिक धर्म में सम्मिश्रण। (२) कुमारिल भट्ट और स्वामी शंकराचार्य जी महाराज का प्रचार। (३) बौद्धों का दूषित दृष्टिकोण।

(१) बौद्ध धर्म का पौराणिक धर्म में सम्मिश्रण : बौद्ध धर्म का महायान सम्प्रदाय अति उदार था। इसके अनुयायी भारत में ही नहीं देश देशान्तरों में थे। ये सब लोग बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्तों को अवश्य स्वीकार करते थे परन्तु इन्होंने अपनी प्राचीन धर्म परम्पराओं को भी नहीं छोड़ा था। भारतवर्ष के अनुयाइयों में और भी विशेषता थी। ये लोग महायान के अनुयायी थे और साथ ही पौराणिक धर्म को भी मानते थे। इतना ही नहीं गौतमबुद्ध को ये लोग अवतार मानने लग गये थे और २४ अवतारों में उनका समावेश कर दिया गया था। पौराणिक देव, देवियां और महायान सम्प्रदाय के देव, देवियां परस्पर घुल मिल गये थे। साधारण लोगों को यह भी पता नहीं था कि अमुक देव बौद्ध हैं या पौराणिक।

महायान सम्प्रदाय की भाषा भी अब प्राकृत नहीं थी। नवीन ग्रन्थों के निर्माण के हेतु महायानी पंडित अब संस्कृत का प्रयोग करते थे। कारण यह था कि विदेशों में प्राकृत का प्रचार कठिन था। इसका उच्चारण तिब्बत, तुर्किस्तान, खोतान और चीन आदि देशों में नहीं हो सकता था, परन्तु संस्कृत का व्याकरण शुद्ध और निश्चित होने के कारण सर्वत्र प्रचलित हो सकता था और संस्कृत का उच्चारण भी उतना कठिन नहीं था, जितना प्राकृत में अनुभव होने लगा था। इसके अतिरिक्त आठवीं शताब्दी के पश्चात् भारतवर्ष में प्राकृत प्रतिष्ठित भाषा नहीं मानी जाती थी। बोल-चाल में इसका व्यवहार कम होता जाता था। इसका स्थान प्रान्तीय भाषायें लेने लग गई थीं। पंडित लोग संस्कृत को ही प्रतिष्ठित और सार्वदेशिक भाषा मानते थे और इसी में ग्रन्थों की रचना करते थे। इस स्थिति में बौद्ध विद्वान अपनी प्राचीन भाषा परम्परा को नहीं निभा सकते थे। अतः उन लोगों ने भी बौद्ध धर्म विषयक ग्रन्थों की रचना संस्कृत में करना आरम्भ किया। दिङ्नाग, नागार्जुन, धर्मकीर्ति आदि प्रकांड बौद्ध विद्वानों ने संस्कृत में गहन ग्रन्थों की रचना की। साधारण जनता जब संस्कृत के ग्रन्थों को सुनती थी तो उनको पौराणिक कथा ही समझती थी। इस प्रकार बौद्ध धर्म का पार्थक्य और विशेषत्व जाता रहा। उसको पौराणिक धर्म शनैः शनैः निगलने लगा और कालान्तर में उसको आत्मसात् कर लिया।

(२) कुमारिल भट्ट और स्वामी शंकराचार्य का प्रचार : आठवीं शताब्दी में पहिले कुमारिल भट्ट और फिर शंकर बड़े विद्वान, त्यागी और तपस्वी, धार्मिक नेता उत्पन्न हुए। कुमारिल भट्ट पूर्वमीमांसा और शंकर उत्तर मीमांसा के प्रकांड विशेषज्ञ थे। कुमारिल भट्ट के और शंकर के ग्रन्थ इन विषयों पर भारतीय धार्मिक साहित्य में प्रकाश स्तम्भ हैं। दर्शन शास्त्र में शंकर का स्थान सर्वोच्च है। इन दोनों विद्वानों में अद्भुत नेतृत्व शक्ति थी। इनके व्यक्तित्व में अपूर्व प्रभाव था और इनका पांडित्य अप्रतिम था। दोनों ने ही परम्परागत भारतीय धार्मिक मर्यादा तथा ज्ञान को पुनर्जाग्रत और पुनःस्थापित करने का तथा बौद्ध धर्म को भारत से उन्मूलन करने का प्रबल प्रयत्न किया और दोनों को ही बड़ी सफलता प्राप्त हुई।

(३) बौद्धों का दूषित दृष्टिकोण : गत कई शताब्दियों से उत्तर के बौद्ध धर्म का अर्थात् महायान का दृष्टिकोण ऐसा बनता जाता था जिसको वेदानुयायी पसन्द नहीं कर सकते थे। बौद्ध लोग गौतमबुद्ध से पूर्व के इतिहास की उपेक्षा करने लगे थे। इनका इतिहास बुद्ध के जन्म से आरम्भ होता था और इनके साहित्य का श्रीगणेश भी उसी समय से माना जाता था। इस प्रकार बौद्ध लोग, हजारों वर्षों में जिस सुन्दर संस्कृति का विकास हुआ था, उसको भुलाना चाहते थे अर्थात् ये लोग प्राचीन परम्पराओं को भुला कर नवीन परम्परायें स्थापित करना चाहते थे। यह भारतीय संस्कृति के लिये बड़े खतरे की बात थी। पौराणिक भारत इस विस्मृति या लोप के लिये तैयार नहीं था। बौद्धों का दृष्टिकोण भी भारतीय नहीं बल्कि सार्व-

देशिक बनता जाता था। कारण यह था कि इस धर्म के अनुयायी जापान से सिन्ध तक और पश्चिमी तुर्किस्तान से पूर्वी द्वीप समूह तक फैले हुए थे। अतः यह विस्तृत और विशाल भूखंड एक प्रकार का बौद्धस्तान बन गया था। इस कारण बौद्धों को भारत भूमि से रागात्मक ममत्व नहीं था। यदि केवल इतनी ही बात होती तो भी विशेष आपत्ति नहीं थी परन्तु इस दृष्टिकोण के कारण भारत म एक प्रकार का राजनैतिक खतरा उत्पन्न हो गया था। बौद्ध लोग भारतीय वर्ण-व्यवस्था को नहीं मानते थे और एक नवीन प्रकार की संस्कृति के संपोषक और अनुयायी थे। इसलिये उनमें और पौराणिक लोगों में गहरा मतभेद था। पौराणिक लोग बौद्धों को हीन समझते थे और बौद्ध लोग पौराणिकों को संकुचित तथा संकीर्ण। यही कारण था कि जब सिन्ध देश पर अरब के मुसलमानों ने आक्रमण किया तो वहां के बौद्धों ने मुसलमानों का साथ दिया। इसके पश्चात् बौद्धों के प्रति भारत में घृणा और विद्वेष और भी बढ़ गया होगा। ऐसी स्थिति में जब कुमारिल और शंकर ने बौद्ध धर्म को उच्छिन्न करने का प्रयत्न शुरू किया तो पौराणिक जनता ने उनका अभिनन्दन किया और पांडित्य और व्यक्तित्व के प्रभाव तथा आकर्षण के कारण असंख्य बौद्धों ने पौराणिक धर्म स्वीकार किया तथा कितने ही दिग्गज बौद्ध विद्वानों ने शास्त्रार्थ में अपनी हार मानी। शंकर का प्रचार बौद्ध धर्म के लिये एक प्रकार का प्रचण्ड तूफान था जिसके आगे उसका जीवित रहना कठिन था। शस्त्र के प्रहारों से धर्म की क्षति तो होती ही है लेकिन कभी कभी इससे उसमें नवीन जीवन का भी संचार होने लगता है। इंगलैंड में जब पादरी लेटिमर को महारानी मेरी ने जीवित जलाया था और औरंगजेब ने हकीकतराय और उसके भाई को जीवित दीवार में चुनवा दिया था तो इन उत्पीड़ित शहीदों की मृत्यु से उनके धर्म की हानि नहीं हुई बल्कि उसको और शक्ति प्राप्त हुई। परन्तु बुद्धि और ज्ञान के बल से जो धर्म परास्त हो जाता है वह पुनः जीवन प्राप्त नहीं कर सकता। शंकर के ज्ञान और तर्क के प्रहार से बौद्ध धर्म जमींदोज हो गया। उसके बाद वह संभल कर खड़ा न हो सका।

जैन धर्म : दक्षिण भारत में ह्वानचांग के समय में जैन धर्म उन्नत दशा में था। वहां कई राजवंशों का इसको आश्रय प्राप्त था। कई नरेश स्वयं जैन मतावलंबी थे। कई राजमहिषियां इस धर्म को मानती थीं। धनाढ्य लोगों के दान से इसके श्रावक और श्राविकाओं का पोषण होता था तथा इसके विविध प्रकार के मन्दिर बनाये जाते थे। शैव, वैष्णव और जैन प्रायः मिल जुल कर रहते थे परन्तु कभी कभी कट्टरता के कारण द्वेष बढ़ जाता था और रक्तपात भी हो जाता था, परन्तु ऐसे अवसर बार बार नहीं आते थे। एक दो घटनायें ऐसी हुईं जिनमें घोर बर्बरता का प्रदर्शन किया गया, अन्यथा धर्म के नाम पर भारत में सहिष्णुता ही रही। चालुक्य, कलचुरी और होयसल वंश के राजाओं ने जैन धर्म ग्रहण कर लिया था और इसको बहुत प्रोत्साहन दिया था। चोल और पांड्य वंश के नरेश कट्टर शैव थे। उन्होंने जैन जनता

के साथ अत्याचार किये और विशेष कर पांड्य नरेश सुन्दर ने उनका बहुत उत्पीड़न किया। कहा जाता है कि उसने आठ हजार जैन धर्मानुयायियों का बड़ी नृशंसता और क्रूरता के साथ वध करवाया था। संभवतः इस प्रकार के उत्पीड़न से त्रस्त होकर ही जैन लोग दक्षिण से कुछ गुजरात में और कुछ राजस्थान में आगये होंगे। गुजरात के सोलंकी (चालुक्य) नरेशों ने और राजस्थान के सब राजाओं ने इनको अपने अपने राज्यों में प्रेम और सम्मान के साथ आश्रय दिया। जैजक भुक्ति, गुजरात और राजस्थान के प्रायः प्रत्येक राज्य में जैन धर्म का अच्छा प्रचार हुआ। दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में जैन धर्म के कितने ही सुन्दर और विशाल मन्दिरों का यत्र तत्र निर्माण हुआ। पंजाब और उत्तर प्रदेश में भी जैन मन्दिर बनवाये गये होंगे परन्तु मुसलमानों के ध्वंसधर्म के कारण ये नष्ट और लुप्त हो गये। लेकिन गुजरात और राजस्थान के तथा जैजक भुक्ति के विशाल जैन मन्दिर इस प्रलय से प्रायः बच गये। इन प्रान्तों के जैन मन्दिरों की कला और सुन्दरता से प्रकट होता है कि इस युग में यहां जैन धर्म का अच्छा प्रचार और विस्तार हुआ। राजस्थान के और गुजरात के बड़े नगरों में ही नहीं किन्तु छोटे छोटे कस्बों में भी जैन मन्दिर, जैन उपासरे और नसियां आदि स्थान मिलते हैं। विशेषता यह है कि जैन मन्दिर किसी एकान्त स्थान में नहीं बनाये गये हैं, और जहां मिलते हैं वहां केवल जैन मन्दिर ही नहीं मिलते हैं। खजुराहो के मन्दिर समूह में शैव और वैष्णव मन्दिरों के पास ही जैन मन्दिर भी बने हुए हैं। आबू पौराणिक तीर्थ स्थान है और जैनियों का भी पवित्र धाम है। राजस्थान के प्रत्येक नगर और कस्बे में पौराणिक मन्दिर हैं और जैन मन्दिर भी। पौराणिक मन्दिरों की संख्या अधिक है और जैन मन्दिरों की कम, परन्तु जैन मतावलंबियों की संख्या को देखते हुए जैन मन्दिरों की संख्या भी अच्छी है। इनमें कितने ही मन्दिरों का निर्माण राजपूत युग में अर्थात् ७०० से १२०० ईस्वी के मध्य में हुआ है। यही स्थिति गुजरात और काठियावाड़ में है। ऐसा अनुमान होता है कि उत्तर भारत में सर्वत्र इसी प्रकार यत्र तत्र जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ होगा, परन्तु मुसलमानों ने पौराणिक मन्दिरों के साथ जैन मन्दिरों का भी ध्वंस कर डाला। राजस्थान और गुजरात में यह झंझावात इतने जोर के साथ नहीं पहुँचा। उत्तर भारत, राजस्थान और गुजरात में शैव, वैष्णव और जैनियों में कभी पारस्परिक कलह या द्वेष नहीं रहा। राजपूत नरेशों ने जैन समाज को अपने राज्यों में आदर पूर्वक बसाया और जैन धर्म का विशेष लिहाज किया। राजपूत नरेशों के यहां कितने ही जैन राज-मंत्री और उच्च राज्य-कर्मचारी नियुक्त हुए। जैन विद्वानों ने राजपूतों के इतिहास पर सुन्दर ग्रन्थों की रचना की। जैन व्यापारियों ने विविध राज्यों के व्यापार और आर्थिक जीवन को ऊंचा उठाया। जैन धर्म के संसर्ग से पौराणिक धर्म में अहिंसा और कायाक्लेश का स्थान ऊंचा हुआ। वास्तव में जैन और पौराणिक धर्म दैनिक व्यवहार और दृष्टिकोण में घुल मिल कर एक हो गये। पौराणिक और जैन जीवन में कोई विशेष अन्तर नहीं

रहा। यही कारण था कि उत्तर भारत में इस युग में जैन धर्म अच्छा नहीं फला फूला। इसको यहां आन्तरिक खतरा कोई नहीं था। बाहर का तूफान हिन्दू और जैन दोनों को एक ही समझता था। उसके लिये दोनों काफिर थे क्योंकि दोनों ही प्रतिमा पूजक थे। इसलिये दोनों ही "काबिले कत्ल" थे। दोनों के ही मन्दिरों की भव्यता और सम्पन्नता इनकी आंखों में खटकती थी। इसलिये वे विनाश के योग्य थे। दोनों ही की विपुल संपत्ति लूट लेने के काबिल थी।

शैव सम्प्रदाय : पौराणिक धर्म के मुख्य देव थे शिव, विष्णु और शक्ति। गुप्तकाल में ही इनकी पूजा होने लग गई थी, परन्तु राजपूत काल में इनका और अधिक विकास और प्रचार हुआ। प्रत्येक देव की पूजा ने सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया। प्रत्येक सम्प्रदाय का पृथक् साहित्य बन गया, पृथक् पूजा विधि और पृथक् भक्ति शैली प्रचलित हो गई। अब भी लोग वेदों का सम्मान करते थे, परन्तु वैदिक धर्म प्रायः लुप्त सा हो गया था। वैदिक कालीन श्रद्धा और ज्ञान का स्थान अब धर्म ने ले लिया था। यज्ञों के बजाय अब इन देवों के उत्सव मनाये जाते थे। यज्ञ मंडप के स्थान में अब विशाल मन्दिर बनाये जाते थे। अगणित देवों के स्थान पर अब केवल तीन देवों का प्राधान्य रह गया था। इन तीनों देवों में भी शिव का सर्वाधिक महत्व था। शैव सम्प्रदाय काश्मीर से कन्याकुमारी तक और बंगदेश से बलूचिस्तान तक प्रचलित था। समस्त देश में प्रायः प्रत्येक गांव में शिव के छोटे बड़े मन्दिर बन गये थे और नदी, पर्वत और दुर्गम जंगल सब शिवालयों से अलंकृत हो गये थे। इस सम्प्रदाय के अनुयायी विभिन्न राज परिवारों के और प्रजा के प्रत्येक वर्ग के लोग थे। लाखों ब्राह्मण इस सम्प्रदाय को मानते थे। इनमें हजारों विद्वान और पंडित थे। स्वामी शंकराचार्य स्वयं बड़े शिव भक्त थे और इस सम्प्रदाय के दृढ़ तथा संगठित करने में उनका बहुत बड़ा योग था। स्वामी रामानुजाचार्य मुख्यतः शैव नहीं थे परन्तु इस सम्प्रदाय के साथ उनको भी कुछ ममत्व था। हजारों मंदिरों के पुजारी भी ब्राह्मण थे। ब्राह्मण ही शिव आगम और पुराण के रचयिता थे, परन्तु फिर भी शैव सम्प्रदाय में ब्राह्मणों का विशेष महत्व नहीं था। हजारों मंदिरों में ब्राह्मणेतर लोग पुजारी थे। वास्तव में इस सम्प्रदाय का विकास और प्रचार शूद्रों में ही हुआ। फिर ब्राह्मणों ने इसको अपना लिया और शैव साहित्य की रचना करके इस सम्प्रदाय को प्रतिष्ठित कर दिया। शनैः शनैः इसमें योग, तन्त्र, भक्ति, वैराग्य, संन्यास का प्रवेश हो गया और यह आर्य धर्म बन गया। वेद के रुद्राध्याय से शिव का सम्बन्ध जोड़ कर पंडितों ने अज्ञानवश या जानबूझ कर इसको परम प्राचीन धर्म ही नहीं अपितु वैदिक धर्म बना दिया। ज्यों ज्यों इसका प्रचार और विस्तार बढ़ता गया त्यों त्यों इसमें भेद प्रभेद अर्थात् उप सम्प्रदाय भी बनने लगे। धर्म विकास में यह भारतीय परम्परा थी। बौद्ध धर्म और जैन धर्म में भी इसी

प्रकार अनेक सम्प्रदाय और उप सम्प्रदाय चल पड़े थे। फिर शैव सम्प्रदाय इस प्रवृत्ति से कैसे मुक्त रह सकता था।

शैव सम्प्रदाय के भेद : इस सम्प्रदाय के अनेक भेद थे। इनमें मुख्य थे पाशुपत, कापालिक, कालमुख, लिंगायत और काश्मीर का शैव मत। पाशुपत मत में योग विधि के विविध भेदों पर, समाधि पर तथा ध्यान और आत्म शुद्धि पर जोर दिया जाता था। इस सम्प्रदाय में जप का विशेष स्थान था। मोक्ष प्राप्ति के निमित्त कई प्रकार की क्रियाओं का विधान था। प्रातः सायं शिव की पूजा की जाती थी। इसमें भस्म धारण, हर हर उच्चारण और हुङ्कारा आदि विचित्र चेष्टायें भी चल निकली थीं जिसके कारण लोग इस सम्प्रदाय का उपहास किया करते थे। प्रत्येक सम्प्रदाय में वाह्याडम्बर कालान्तर में बढ़ ही जाता है। उसी विकास के सिद्धान्तानुसार पाशुपत मत में भी विचित्र चेष्टायें और क्रियायें प्रचलित हो गईं। लेकिन इन क्रियाओं का इसके मूल सिद्धान्तों में समावेश नहीं है। कापालिक और कालमुख सम्प्रदाय की क्रियायें भयंकर हैं और इनमें कुछ अश्लील भी हैं, इसके अनुयायी मृतक भस्म का शरीर पर लेप करते हैं, भस्म को खाते भी हैं, नर-कपाल में भोजन करते हैं, एक मद्यपात्र साथ रखते हैं और इसी प्रकार की अनेक क्रियायें करते हैं जिनको देख कर साधारण लोगों को आश्चर्य और घृणा होती है। काश्मीर का शैव मत इस प्रकार का नहीं है। यहां नवीं तथा दसवीं शताब्दियों में दो शैव मत प्रचलित हुए। दोनों में ही आध्यात्मवाद, आत्मदर्शन और योगाभ्यास पर जोर दिया गया। इनमें अन्य मतों की भांति भयंकर और घृणोत्पादक हठयोग की क्रियायें नहीं थीं। यहां के शैव सम्प्रदाय पर स्वामी शंकराचार्य का प्रभाव था। वे तत्व पर जोर देते थे, वाह्य आडम्बर पर नहीं। इसलिये यहाँ योग के नाम पर जघन्य क्रियाओं का प्रचार नहीं हुआ। दक्षिण में अनेक शैव सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ परन्तु इनमें विशेष उल्लेख के योग्य लिंगायत या वीरशैव सम्प्रदाय हैं। यह सम्प्रदाय कलचुरी नरेश बिज्जल के प्रधान मन्त्री बसव ने प्रचलित किया था। इसमें लिंगोपासना और नन्दी की प्रधानता है। इस सम्प्रदाय में भक्ति, आत्मसमर्पण, सत्य, सच्चरित्र आदि पर बहुत जोर दिया गया है। परन्तु यह ब्राह्मणों का विरोध करता है। यह सम्भव है कि यह सम्प्रदाय किसी शूद्र ने प्रचलित किया हो और इसीलिए इसमें ब्राह्मणों का विरोध होता हो, परन्तु इसके इतिहास का कुछ भी पता नहीं है। यह बात अवश्य है कि यह सम्प्रदाय ब्राह्मण वर्ग की परम्पराओं का आदर नहीं करता। इसके अनुयाइयों में विधवा विवाह होता है और पुरुष यज्ञोपवीत नहीं धारण करते। उसके स्थान पर ये लोग अपने गले में धागे से शिव लिंग लटकाये रहते हैं। ये लोग गायत्री का जाप नहीं करते। ये एक शैव मन्त्र का जाप किया करते हैं। इसका महत्व ये गायत्री से अधिक समझते हैं। अन्य शैव सम्प्रदायों में भी ब्राह्मणों की उपेक्षा की गई है। ये लोग तो यहां तक कहते कि यज्ञोपवीत संस्कार के द्वारा किसी भी वर्ण का पुरुष ब्राह्मण बनाया जा सकता है।

भारत में कोई भी धार्मिक सम्प्रदाय इतना प्रचलित नहीं हुआ जितना शैव सम्प्रदाय। इसके उप सम्प्रदायों में जटिलता, विचित्रता, भयंकरता और कट्टरता तथा क्रूरतायें रही हैं और इसके युग के बाद भी उनका अन्त या लोप नहीं हुआ। परन्तु वैसे शैव मत सरल, सुबोध और आकर्षक है। मानव हृदय को सन्तोष देने वाले और आकर्षित करने वाले इसमें सब तत्त्व मौजूद हैं। राजपूत युग में ऐसे शैव साहित्य का भी निर्माण हुआ जिसका पंडितों में आदर हो। योगाभ्यास और हठयोग इसके प्रधान अंग माने जाने लगे। विविध योगासनों का विकास और प्रचार शैवमत के द्वारा ही हुआ। भक्ति भाव भी शैवमत में उच्च और कठोर तथा तीव्र शैली का था। शैव सम्प्रदायने कला का भी अपूर्व पोषण किया। शिव प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा और स्थापना के लिए शक्तिशाली नरेशों और धनाढ्य लोगों ने भव्य और विशाल मंदिर देश के कोने कोने कोने में बनवाये। राष्ट्रकूट नरेशों ने और कलचुरी नृपतियों ने भव्य और विशाल शैव मंदिर बनवा कर देश को अलंकृत किया। शैवमत से संगीत और चित्रकला को भी बड़ा प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। यह माना जाने लगा कि शिव के डमरू से ही सप्त स्वरों का स्फोट हुआ है। कई राग और रागनियों के स्वरूप का विधान स्वयं शिव ने किया है। नृत्यकला का आविर्भाव इतिहास क्षेत्र से बाहर शिव से ही माना जाता है। शिव का ताण्डव नृत्य और और लास्य हमारा शास्त्रीय नृत्य है। शिव का अट्टहास कल्पना की चर्म सीमा है। शिव पार्वती का प्रणय, विलास और संवाद कलित काव्य का ललित विषय है। शिव और पार्वती हमारी चित्रकला के प्राण हैं। शिव परिवार, शिव परिकर, शिव निवास, शिव परिधान, शिवोपकरण, सब काव्य कल्पना के सहज प्रेरक हैं। शिव में सब रस हैं। पार्वती का वात्सल्य, शिव की समाधि, प्रेमलीला, मुंडमाला, रणभेरी, रणनाद सब चित्र और काव्य के प्रिय विषय हैं। शिव, पार्वती और गणेश तथा नन्दी की विविध प्रतिमायें, विविध कला से तैयार की हुई यत्र तत्र मिलती हैं। इनके चित्र राजपूत काल में भारत के करोड़ों गृहस्थ घरों और धर्मस्थानों के अलंकरण थे और इस समय भी हैं। शिवधाम कैलाश चित्रकला, मूर्तिकला और स्थापत्यकला को उत्प्राणित करता है। भारत में सर्वोत्तम मंदिर राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण का बनवाया हुआ कैलाश मंदिर है; प्राय: सर्वोत्तम प्रतिमा वहीं रावण द्वारा कैलाश का उत्तोलन और चालन है, सर्वोत्तम धातु प्रतिमा नटराज है और शिव पार्वती के चित्र भी अत्युच्च कोटि के हैं। कालिदास और भवभूति ने शिव की स्तुति की है, सुबन्धु और बाणभट्ट ने प्रायः इसी काल में शिव स्त्रोत्र द्वारा अपने ग्रन्थों का मंगलाचरण किया है। कृष्ण राष्ट्रकूट शशांक और हर्षवर्धन ने शिवभक्ति का आदर्श उपस्थित किया है। शिव का आकर्षण सर्वव्यापी है। शैव सारल्य सर्व ग्राह्य है। शैव साहित्य अति गहन है और अति बाल-बोध भी। शिव श्मशान में, खेत में, पर्वत में, नदी तट पर और रणभूमि में सर्वत्र उपस्थित माना गया है। समाधिस्थ योगियों ने इसका जप किया है और रणवीरों ने हर हर

महादेव का उच्चारण और रण निनाद करते हुए अपने प्राणों का उत्सर्ग किया है। सन् १२०० ई० से पूर्व उत्तर भारत के प्रायः प्रत्येक गांव में, चाहे मंदिर में या चाहे चबूतरे पर शिव प्रतिमा स्थापित हो चुकी थी। प्रायः यही स्थिति दक्षिण भारत में थी। इतना ही नहीं पूर्वी द्वीप समूह और ब्रह्मदेश तथा चम्पा आदि देशों में भी शिव मंदिरों का निर्माण हो गया था और पश्चिमी तुर्किस्तान और खोतान में भी शैव सम्प्रदाय से लोग अनभिज्ञ नहीं थे। अर्थात् खीवा, बुखारा और काशगर से फिलिपाइन द्वीप तक बारहवीं शताब्दी में शैव सम्प्रदाय का थोड़ा या बहुत प्रचार था। ज्ञानी, ध्यानी, कृषक, सैनिक आदि सब वर्गों के लोग इस सम्प्रदाय से प्रभावित थे। वैष्णव धर्म और बौद्ध धर्म में इसका प्रवेश हो गया था। ये दोनों धर्म किसी न किसी रूप में इसके महत्व को स्वीकार करते थे। १० वीं, ११ वीं और १२ वीं शताब्दियों में शिव और विष्णु की सम्मिलित प्रतिमायें बनने लगी थीं और इस अद्वैत की प्रतिध्वनि तत्कालीन धार्मिक साहित्य में भी होने लगी थी। हिमालय की तराई और नैपाल में उस समय महायान धर्म वज्रयान और तन्त्रयान में परिवर्तित होने लग गया था। इन सम्प्रदायों में मन्त्र तन्त्र और उसके भेद प्रभेद का माहात्म्य था और भगवान बुद्ध मंत्र के आदिदेव या अधिष्ठिता माने जाने लग गये थे। बुद्ध के इस रूप का ऐसा रूपान्तर हुआ कि बुद्ध और शिव में कुछ भेद न रहा और कई दृष्टि से बुद्ध का स्थान शिव ने ले लिया। जैन धर्म का दुर्गद्वार इतना दृढ़ है कि उसमें दूसरे धर्म का प्रवेश नहीं हो सकता और साथ ही जैन धर्म में यह आकांक्षा भी नहीं है कि वह दूसरे धर्म के प्राचीर में कोई रन्ध्र तलाश करे। उसका सिद्धान्त और स्वरूप इतना परिमार्जित और परिशुद्ध है कि संकरता की उसमें कोई गुंजायश नहीं है। इसीलिये शैव मत जैन धर्म में अपना प्रवेश नहीं कर सका। शिव और पार्वती ने जैन देव और देवियों के समाज में जाना पसन्द नहीं किया।

वैष्णव सम्प्रदाय : वैष्णव धर्म भी प्रायः शैव मत के समान इस युग में प्रचलित था। इसका प्रचार, प्रभाव और प्राबल्य शैवमत से कुछ कम था, परन्तु प्रत्येक वर्ग और प्रदेश में इसका प्रवेश था। शिव सम्प्रदाय का आविर्भाव तो सिन्ध युग से माना जा सकता है परन्तु वैष्णव मत का आविर्भाव ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी से अधिक प्राचीन नहीं मालूम पड़ता। संभव है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल से इसका कुछ विकास होने लगा हो परन्तु इसकी विद्यमानता के स्पष्ट प्रमाण द्वितीय शताब्दी से मिलते हैं। गुप्त वंशीय नरेश सब वैष्णव थे। वे सब अपने को परम भागवत कहते थे। इससे पूर्व भी वेसनगर का राजा सौभाग्यसेन वैष्णव था और शायद उसके प्रभाव से ही यवन नरेश एन्टियालकिदास के राजदूत हेलियोडोरस ने बेसनगर में वैष्णव मंदिर के पास एक गरुड़ध्वज धर्मोपार्जनार्थ खड़ा किया था। गुप्त काल में इस मत का खूब प्रचार और विस्तार हुआ। वैष्णव धर्म की आधार शिला है अवतारवाद। वैष्णवों को विश्वास है कि धरणीतल पर जब जब दुष्टों के

कारण पापभार की वृद्धि हुई तो उसका निवारण करने के हेतु विष्णु भगवान ने पृथ्वी पर अवतरण किया और आवश्यकतानुसार राम, कृष्ण, वामन, मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह आदि के रूप में जन्म ले कर दैत्य दलन किया और धरा का भार हलका किया। इस प्रकार लीला कर के पुनः भगवान अपने मूल रूप में जा मिले। आरम्भ में माना जाता था कि विष्णु के चार या पांच अवतार हुए हैं। फिर अवतारों की संख्या बढ़ने लगी। कालान्तर में चौबीस अवतार माने जाने लगे और फिर इनकी संख्या उन्तालीस तक जा पहुँची। वास्तव में जिसके जीवन में विशेष किन्तु अपूर्व चमत्कार देखा, लोग उसको ही अवतार मानने लगे। इस विचार शैली ने भूतकाल के महापुरुषों को भी विष्णु के अवतारों में सम्मिलित कर दिया। यही कारण था कि गौतमबुद्ध भी विष्णु के अवतार माने जाने लगे और यही उपाधि जैनियों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को भी दे दी गई। इस प्रकार पौराणिक धर्म ने सब सम्प्रदायों को अपने स्नेहांक में स्थान दे कर उदारता का ही परिचय नहीं दिया बल्कि तत्कालीन विभिन्न मतों का एकीकरण करना चाहा। ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में अवतारवाद पूर्णरूपेण विकसित और प्रौढ़ हो चुका था। राम, कृष्ण, नृसिंह, वराह और दत्तात्रेय के तो मंदिर बन गये थे और शेष अवतारों की प्रतिमायें मंदिरों के अलंकरणों का काम देने लगीं थीं।

सर्वाधिक प्रसिद्ध और प्रचलित अवतार राम और कृष्ण हैं। राम मर्यादा पुरुषोत्तम माने जाते हैं। इसीलिये उनके जीवन में गांभीर्य और अटलता है। परन्तु कृष्ण के अवतार में अद्भुत आकर्षण है। एक ग्वाल के घर में उनका लालन-पालन हुआ। उन्होंने अनेक उग्रकर्मा राक्षसों का वध किया और धर्म पुनः स्थापित किया। केवल यह कथा ही आकर्षण से भरी हुई है। परन्तु उनके जीवन चरित को और उनकी लीला को और अधिक आकर्षक बनाने के लिये उसमें तीन बातें और जोड़ दी गईं। पहिली बात है उनका बाल जीवन या बाल लीला। इसी को कृष्ण लीला कहते हैं। अनुमान किया जाता है कि यह तत्व आभीर लोगों ने कृष्ण चरित में समाविष्ट किया है। ये लोग उत्तर महाराष्ट्र के निवासी थे। दूसरी शताब्दी में इन्होंने सौराष्ट्र और मालवा के शक शासकों से कई युद्ध किये थे और उनके राज्य का अन्त करने में इनका बड़ा हाथ था। आभीर लोग कृष्ण लीला बहुत पसन्द करते थे और कृष्ण को बालमुकुन्द के रूप में देखना इनको बहुत पसन्द था। परन्तु इस बात का इतिहास को पता नहीं चला है कि इन लोगों में यह प्रवृत्ति क्यों और कहां से आई और क्यों पुष्ट हुई। दूसरी शताब्दी से पुष्ट और विकसित होते होते राजपूत युग के मध्य में यह खूब प्रचलित हो गई। दसवीं शताब्दी में श्रीमद्भागवत पुराण की किसी विद्वान ने दक्षिण भारत में रचना की। इसके ग्यारहवें स्कन्द में कृष्ण चरित का वर्णन अत्यन्त मनोहर भाषा में किया गया है। इसकी बाल लीला अत्यन्त सरल और आकर्षक है। दैत्य दलन, पूतना वध, गोवर्धन धारण और माखन चोरी तथा कालिया-

दमन की कथायें माधुर्य और सौन्दर्य से भरी हुई हैं। भक्त जन इन कथाओं को सुन कर तथा इनकी झाँकियां देख कर मुग्ध हो जाया करते हैं। राजपूत युग के अन्त से पूर्व ही ये लीलायें भारतवर्ष के प्रायः प्रत्येक प्रान्त में प्रचलित और लोकप्रिय हो चुकी थीं और उत्तर तथा दक्षिण के कृष्णभक्ति साहित्य का ये ललित विषय बन गई थीं। दूसरा तत्व है गोपियों के साथ कृष्ण की लीला और रास। यह शृंगार रस से आप्लावित है और इसके कई अंग कभी कभी अश्लीलता तक पहुँच जाते हैं। इसमें चीर हरण लीला प्रधान है। यह तत्व भी आरम्भ में कृष्ण चरित का अंग नहीं था। नवीं या दसवीं शताब्दी में यह किसी कारण से स्फुटित हुआ है। भागवत में इसका सुन्दर और आकर्षक वर्णन है। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में यह खूब पुष्ट और प्रतिष्ठित हो चुका था। इस समय कृष्ण भक्तों से यह कहा जावे कि बाल लीला और चीर हरण आदि लीलायें आरम्भ में कृष्ण चरित का अंग नहीं थीं तो वे मानेंगे नहीं। इसी प्रकार राधा भी एक पहेली है। दसवीं शताब्दी तक कृष्ण चरित में राधा का कहीं उल्लेख नहीं है। उसके पश्चात् यह कभी कभी प्रकट होने लगी और शायद तेरहवीं शताब्दी के आरम्भमें यह कृष्ण की अभिन्न सहचरी बन गई।

वैष्णव सम्प्रदाय भी प्रायः समस्त भारतवर्ष में प्रचलित हुआ और पूर्वी द्वीप समूह में भी पहुँच गया। यह भक्ति प्रधान सम्प्रदाय है। मोक्ष प्राप्ति का साधन आत्मसमर्पण माना जाता है। दक्षिण में सावर स्वामी और कुमारिल भट्ट ने और उनके पश्चात् स्वामी शंकराचार्य ने पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा पर जोर दिया, उससे वैष्णव सम्प्रदाय के प्रचार में कुछ रोक लगी। परन्तु वैष्णवों में भी बड़े बड़े विद्वान नेता हुए जिनके पांडित्य और तप से इस सम्प्रदाय को बड़ा बल प्राप्त हुआ। इनमें विशेष उल्लेख के योग्य हैं नाथमुनि, यमुनाचार्य और रामानुज। इनके बाद तेरहवीं शताब्दी में श्री मध्व या आनन्दतीर्थ हुए। इन आचार्यों के प्रचार और उच्च जीवन के कारण वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा खूब बढ़ी। इन्होंने कई सद्ग्रन्थों का निर्माण किया और अपने सम्प्रदाय को पांडित्य और विद्वत्व का विषय बना दिया। वैष्णव उपासकों ने भी शैवों की भाँति मंदिर निर्माण पर अपार धनराशि खर्च की। किसी किसी उदार भक्त ने शिव और विष्णु दोनों के मन्दिर बनवा दिये। वैष्णव सम्प्रदाय प्रायः शान्त मार्गी रहा। इसके अनुयायियों ने कभी विक्षोभ या उत्पात उत्पन्न नहीं किया। वैष्णव धर्म से संगीत को विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। कृष्ण लीलायें और विशेषकर राधा कृष्ण का प्रेम और विलास और कृष्ण की गोपियों के साथ अठखेलियां संगीत का प्रधान विषय बन गया। बारहवीं शताब्दी के गाने अब उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु ऐसा अनुमान होता है कि राधा कृष्ण सम्बन्धी शृङ्गार रस उस समय अच्छा प्रचलित हो गया होगा। इस विषय के तत्कालीन लोक गीत भाषा परिवर्तन के प्रवाह में लुप्त हो गये। कृष्ण साहित्य में श्रीमद्भागवत् और गीत

गोविंद अमर कृतियां हैं। इनका घर घर में प्रचार हो गया था और इस समय भी ये ग्रन्थ श्रद्धा और रुचि से पढ़े जाते हैं।

शैव और वैष्णव दोनों सम्प्रदायों की पुष्टि और प्रचार तथा भक्तों की आत्माभिव्यक्ति के निमित्त संस्कृत और लोक भाषाओं में विपुल साहित्य की सृष्टि हुई। इस विषय का उत्तर भारतीय लोक साहित्य तो नष्ट हो गया परंतु दक्षिणात्य साहित्य विद्यमान है। दक्षिणात्य भाषाओं में भी विशेषतः तामिल और कन्नड़ भाषा में इन सम्प्रदायों का साहित्य खूब बना। शैव साहित्य की रचना और अभिवृद्धि में नायनार और वैष्णव साहित्य की उन्नति में आलवार लोगों का मुख्य स्थान है। नायनार वर्ग में माणिक्कवाशगर का सर्वोच्च स्थान है। इसके भक्ति गीत करुण रस से आप्लावित हैं। उनकी सरसता और मधुरता कठोर हृदय को पिघला देती है। यह सन्त पूर्व राजपूत काल में हुआ है और इसने तामिल भाषा में लिखा है। इस समय भी तामिलनाड प्रदेश में इसके भक्ति गीत बड़ी श्रद्धा से गाये जाते हैं। भक्त गण गाते गाते तल्लीन और आत्मविस्मृत हो जाते हैं। माणिक्कवाशगर को दक्षिण का सूरदास कहा जा सकता है। अन्तर यह है कि सूरदास ने कृष्ण लीला का वर्णन किया है और तामिल सन्त ने शिव भक्ति का। नायनार लोगों में ६३ सन्त मुख्य माने जाते हैं। इनमें कई स्त्रियां भी हैं और सन्तों में सब वर्णों के लोग हैं। कुछ चाण्डाल तक हैं परन्तु शैव समाज में सब का समान आदर है। पेरिय पुराणम नामक तामिल ग्रन्थ में इन सन्तों की जीवनियां दी हुई हैं। इसी प्रकार आलवारों में भी सब वर्ग और सब जाति के लोग सम्मिलित थे। इनमें राजा थे और रंक भी, ब्राह्मण थे और अस्पृश्य शूद्र भी। भक्त रामानन्द की वाणी कि "हरि को भजे सो हरि का होई, जाति पाँति पूछे नहीं कोई" दक्षिण में आठवीं और नवीं शताब्दी से ही चरितार्थ कर दी गई थी। यह आश्चर्य है कि इतने पर भी दक्षिण में धर्म के नाम पर ऐसी अस्पृश्यता क्यों बनी रही। आलवारों में सन् ९०० से पूर्व राजपूत काल में बहुत सन्त हुए परन्तु प्राधान्य केवल बारह का माना जाता है। इनकी प्रधान और प्रसिद्ध कृतियों को एक ग्रन्थ के रूप में संग्रहित किया गया है जिसका नाम नालायिर प्रबंधम् है। श्री वैष्णव अर्थात् रामानुज के अनुयायी लोग इसके चार प्रसिद्ध काव्यों को चार वेद कहते हैं, इसी प्रकार दूसरी छः कवितायें छः वेदांग माने जाते हैं। मालाबार का एक नरेश राज्य का परित्याग करके इस आलवार संत मण्डल में सम्मिलित हो गया था। उसका नाम कुलशेखर था। उसकी कृतियां भी भक्ति रस से सराबोर हैं। उनकी तुलना गीत गोविंद से की जाती है और यह बात ठीक भी है। तामिल साहित्य तो अति प्राचीन है ही परन्तु उसके पश्चात् कन्नड़ साहित्य परिगणित होता है। इसका विकास नवीं शताब्दी से पहिले ही आरम्भ हो गया था परन्तु प्रथम प्रतिष्ठित ग्रन्थ कविराजमार्ग है जो राष्ट्रकूट वंशीय प्रसिद्ध और प्रतापी महाराजा अमोघवर्ष ने नवीं शताब्दी के

उत्तर भाग में लिखा था। इस भाषा में भी कई सन्तों ने राजपूत काल में शिव और कृष्ण की भक्ति के बड़े सरल और मधुर गीत लिखे हैं जो इस समय भी गाये जाते हैं।

शाक्त सम्प्रदाय : इसी युग में देवी उपासना का विकास हुआ है। यह उपासना संसार में सर्वाधिक प्राचीन मानी जाती है और हड़प्पा तथा मोहनजोदाड़ो में कई छोटी छोटी ऐसी प्रतिमायें प्राप्त हुई जो देवी की जान पड़ती हैं और कुछ ऐसी हैं जिन से भक्त जन देवी को पशुबलि देते हुए दिखाई देते हैं। यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से हमारे देश में विकसित नहीं हुई परन्तु ऐसा भी मान लिया जावे कि किसी न किसी रूप में और किसी न किसी वर्ग में देवी पूजा भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से विद्यमान है तो ऐतिहासिक दृष्टि से यह सर्वांशत: असत्य या असंगत बात नहीं होगी। इसको पुष्टि और प्रौढ़ता राजपूत काल में ही प्राप्त हुई है। गुप्तकाल में यह स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगी और राजपूत काल में इस की गणना मुख्य और प्रधान देवों में होने लगी। पूर्व काल में देवी पूजा का और रूप था। उसका स्वतंत्र अस्तित्व था परन्तु वह सर्वशक्तिमती नहीं मानी जाती थी। इस युग में देवी पूजा का विकास अन्य और अपूर्व रीति से हुआ और अन्त में वह परम स्वतन्त्र और सर्वशक्तिसम्पन्ना मानी जाने लगी, यहां तक कि विश्व की सृष्टि, स्थिति और प्रलय के लिये भी भक्तजनों ने किसी अन्य देव या देवता की आवश्यकता नहीं समझी। सम्पूर्ण सत्ता देवी को प्राप्त हो गई। देवी पूजा के विकास का शैवसम्प्रदाय से बड़ा सम्बन्ध है। ज्यों ज्यों शिव का प्रभुत्व बढ़ा त्यों त्यों उमा के माहात्म्य में भी वृद्धि हुई। जब शिव ने काल भैरव और विकट भैरव का रूप धारण किया तो उमा भवानी बन गई। जब भैरव तन्त्रयान में बुद्ध बन गया तो उमा तारा हो गई। हर हालत में उमा ने शिव का साथ नहीं छोड़ा। एवं शिव के साथ उमा, भैरव के साथ भवानी और बुद्ध, अपलोकितेश्वर या वज्रपाणि के साथ तारा भी पुजती रही। उमा कन्या के रूप में भी उग्र और तीव्र तप कर चुकी थी, अत: वह कुमारी के रूप में पूजी जाने लगी थी और इसने ललिता आदि कई रूप धारण कर लिये थे। भैरव का रूप विकराल और विकट माना जाता है। भवानी नें अपना रूप तो नहीं बदला लेकिन वह महिष मर्दिनी, चामुण्डा और सिंह वाहिनी बन गई। इस प्रकार उसका माहात्म्य और विस्तार बढ़ जाने पर भक्तों ने उसके पिता या पति की चिन्ता करना छोड़ दिया और उसको स्वतन्त्र रूपेण सृष्टि, स्थिति और प्रलय की अधिष्ठात्री बना दिया। उसके स्वरूप और कर्म की विभिन्न कल्पनायें की गईं। किसी ने उसको "वेजिटेरियन" माना और किसी ने उसको बलि प्रिया। दुर्गा और चामुण्डा के रूप में दैत्य दलन और संहार उसका मुख्य धर्म बन गया। देवी के साथ उपदेवियां भी कितनी ही बन गईं। देवी के यशोगान के लिये देवी पुराण और दुर्गासप्तशती आदि ग्रन्थों का निर्माण हो गया जो धार्मिक साहित्य में प्रतिष्ठित ग्रन्थ माने जाने लगे। देवी की पूजा विधि भी एक अलग ढंग

की बन गई। इस प्रकार प्राचीन और अर्वाचीन विचारधाराओं के सम्मिश्रण और समन्वय से उमा ने अगणित रूप धारण कर लिये, अपनी सखियों और परिचारिकाओं की संख्या बढ़ा ली और स्वतन्त्र साम्राज्य की सृष्टि कर ली। इस विषय में राधा ने कोई प्रयत्न नहीं किया, अतः वह वरदा शक्तियों में सम्मिलित नहीं हुई। देवी-पूजा जब एक व्यवस्थित संस्था बन गई तो उसने शक्ति धर्म का रूप धारण कर लिया। इस सम्प्रदाय में अनेक प्रकार के मंत्र तंत्र प्रविष्ट हो गये और मंत्र शास्त्र तथा तंत्र शास्त्र एक बहुत बड़ा साहित्य बन गया। मंत्र और तंत्र में अनेक प्रकार की क्रियायें विकसित हो गईं और समय पाकर वे इतनी जटिल और कठिन हो गईं कि उनमें गति प्राप्त करने के वास्ते अच्छे गुरु की आवश्यकता होने लगी। शक्ति धर्म की क्रियाओं में न्यास, मुद्रा, आसन और कीलक तथा बीजों का प्राधान्य हो गया। समस्त देश में यत्र तत्र विविध प्रकार की देवियों के मंदिर बन गये। इनके पुजारी प्रायः सत्शूद्र होने लगे। आरम्भ में शाक्त और शैव धर्म का प्रचार शूद्रों में ही हुआ होगा, ऐसा अनुमान होता है। कुछ समय तक ब्राह्मणों ने इसकी उपेक्षा की होगी परन्तु जब देखा कि इसका प्रभाव अति प्रचलित होता जाता है और इसको न अपनाने से वे लोकधर्म से पीछे रह जावेंगे, तब उन्होंने भी इसको स्वीकार कर लिया। परन्तु अब पूजा परम्परा प्राचीन हो चली थी, इसलिये पुजारी शूद्र ही होते रहे। फिर कहीं कहीं देवी मन्दिरों के पुजारी ब्राह्मण होने लगे परन्तु बाहुल्य शूद्रों का ही रहा। वही प्रथा इस समय भी प्रचलित है।

शिव की विविध रूपों में पूजा हुई। कहीं केवल लिंग की, कहीं लिंग और पार्वती की, कहीं शिव और उनके समस्त परिवार की अर्थात् पार्वती, गणेश और स्वामी कार्तिकेय की। इनमें प्रत्येक की पृथक् पृथक् पूजा भी प्रचलित हो गई। शिव तो प्रधान हैं ही। पार्वती ने दुर्गा या शक्ति का स्वतन्त्र रूप धारण कर लिया। गणेश के अगणित स्वतन्त्र मंदिर बन गये। गणेश की पूजा वैष्णव और शाक्त तथा शैव सब घरों में प्रचलित हो गई। गृहद्वार पर गणेश प्रतिमा स्थापन करने का प्रायः समस्त भारत में और विशेष कर गुजरात, राजस्थान और महाराष्ट्र में प्रचार हो गया। विष्णु के अनन्त भेद हैं परन्तु मुख्य अवतार चौबीस हैं। इनमें राम, कृष्ण, नृसिंह और वराह की पूजा प्रचलित हुई और इनमें भी सर्वाधिक प्रचार केवल प्रथम दो अवतारों का हुआ। कृष्ण के विभिन्न रूप यथा बाल कृष्ण, बालमुकुन्द, गोवर्धनधारी, गोपी कृष्ण आदि पूजे जाने लगे। नृसिंह के भी कुछ मंदिर बने। इनमें वत्तूर आन्ध्र देश का सिंहाचलम् का मंदिर प्रसिद्ध और सुन्दर है। वराह के केवल दो चार मंदिर बने। शेष अवतारों की प्रतिमायें केवल अलंकरण के काम में लाई जाती थीं, इनकी पूजा नहीं हुआ करती थी। वैदिक काल के देवों का अर्थात् इन्द्र, वायु, कुबेर और अग्नि आदि का यही काम रह गया था। इस युग में इनकी मनोहर प्रतिमायें बनाई गईं परन्तु इनका उपयोग किया गया शैव और वैष्णव मंदिरों के अलंकरण के लिये।

केवल सूर्य की कहीं कहीं पूजा होती थी परन्तु यह प्रचलित नहीं हुई। दुर्गा की पूजा अनेक रूपों में प्रचलित हुई। परन्तु इसके लिये विशाल मंदिरों का निर्माण नहीं हुआ। यह छोटे छोटे मंदिरों से, यहां तक कि साधारण से चबूतरों से ही सन्तुष्ट हो जाती थी। शैव मंदिर तो बहुत ही विशाल और भव्य बने, परन्तु शैव सम्प्रदाय जब गांव गांव और घर घर में फैल गया तो सर्वत्र सुन्दर मंदिर नहीं बन सकते थे। अतः अनेक प्रकार के और अनेक आकार के शैव मंदिर बने। जिन गांवों में किसी प्रकार का मंदिर नहीं बनाया जा सकता था वहां एक केवल छतरी ही बना दी गई और जहां यह भी नहीं हो सकता था वहां चबूतरा खड़ा कर दिया गया—यह भी कहीं कच्चा और कहीं पक्का। कहीं कहीं तो एक दो साधारण पत्थर जमा कर उस पर शिव प्रतिमा स्थापित कर दी गई। राजस्थान के गांवों में यह प्रथा अब भी चली आ रही है परन्तु इसका आरम्भ हुआ था राजपूत काल में। उस समय उत्तर भारत के प्रत्येक गाँव में इसी प्रकार शिव प्रतिमायें स्थापित की गई थीं परन्तु मुसलमानों के हमलों में और उनके शासन में ये सब नष्ट कर दी गई। विष्णु की पूजा भी सर्वत्र प्रचलित थी परन्तु इस सम्प्रदाय की पूजा विधि उतनी सरल नहीं थी जितनी शाक्त पूजा या शैव पूजा। विष्णु का काम मंदिर के बिना नहीं चल सकता था। मंदिर चाहे छोटा हो या बड़ा परन्तु होना चाहिये। कारण यह था कि विष्णु प्रतिमा को वस्त्र और आभूषण पहनाये जाते हैं और अन्य कई उपकरण एकत्र किये जाते हैं। इनके वास्ते बन्द मकान की आवश्यकता होती है। इसलिये वैष्णव प्रतिमा चबूतरे पर स्थापित नहीं की जा सकती। वैष्णवों ने अपने घरों में छोटे छोटे मंदिर बनाये, या घरों की ताकों में प्रतिमायें स्थापित कर दीं, या धातुओं के या काष्ट के छोटे छोटे सिंहासन बनवा कर उसमें प्रतिष्ठित कर दीं परन्तु चबूतरों पर नहीं रक्खीं। शाक्त और शैव मंदिरों में कौन घुस सकता है और कौन नहीं, यह भी उस समय प्रश्न नहीं था। जब शूद्र पुजारी बन सकता है और देवी को पशु बलि चाहिये तो यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इसके अतिरिक्त जिस देव की प्रतिमा चबूतरे पर स्थापित की जा सकती है और जिसके सामीप्य में कोई भी, यहाँ तक कि पशु भी जा सकता है, उसके मंदिर में कौन जावे और कौन न जावे—यह प्रश्न विचित्र है।

राजपूत युग की शिक्षा

राज कर्त्तव्य : शिक्षा के प्रचार या विस्तार के निमित्त प्राचीन भारत में राज का कोई विभाग या महकमा नहीं हुआ करता था। मुसलमानों ने भी इसके लिये कोई महकमा कायम नहीं किया। योरोप में भी अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक लोक शिक्षा जनता के ही हाथ में थी। उन्नीसवीं शताब्दी में शासकों ने इसको अपने हाथ में लेना शुरू किया और शनैः शनैः शिक्षा राजनीति और शासननीति का अंग बन गई। इस समय सरकार यह देखती रहती है कि राष्ट्र के बालकों को कहीं

ऐसी शिक्षा तो नहीं दी जाती और वे ऐसी पुस्तकें तो नहीं पढ़ते जो सरकार की नीति के विरुद्ध हों। राष्ट्र के भावी नागरिकों के चरित्र निर्माण में सर्वत्र इस समय यह मुख्य बात मानी जाती है कि वे सरकार के भक्त हों। अच्छा नागरिक वह है जो अपने देश के खिलाफ कोई कार्य न करे। देश भक्ति और सरकार भक्ति प्रायः पर्यायवाची से शब्द माने जाने लगे हैं। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय खिंचाव और तनाव में यह आवश्यक भी है कि नवयुवकों की दृष्टि अत्यधिक अन्तर्राष्ट्रीय बन कर कहीं ऐसा रूप धारण न करले जो देश के लिये हानिकर हो। ऐसी परिस्थिति में सरकार को शिक्षा पर नियन्त्रण रख कर सदैव देखते रहना पड़ता है कि राष्ट्र के बच्चे क्या पाठ पढ़ते हैं, विद्यार्थियों के पुस्तकालयों में क्या क्या पुस्तकें हैं और वाचनालयों में कौन कौन से पत्र या पत्रिकाएं मंगवाई जाती हैं। ऐसी स्थिति में सरकार शिक्षा को संगठित और व्यवस्थित करती है और इसके लिये शिक्षा विभाग का संचालन सरकार के द्वारा होता है। मुसलमान शासकों ने भी आत्मरक्षार्थ भारत में ऐसी नीति का अवलम्बन किया था जिससे हिन्दू शिक्षा लुप्त हो जावे, परन्तु उन्होंने अपने ढंग की शिक्षा का कोई विशेष प्रचार नहीं किया। ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त तक हमारे देश में शिक्षा का निराला ही स्वरूप था। विद्यार्थी अपनी इच्छा, योग्यता और रुचि के अनुसार जो चाहे, पढ़ सकता था। अध्यापकों को अपने जीवन-निर्वाह की आवश्यकता नहीं थी। शिक्षा का प्रबन्ध प्रत्येक गाँव, कस्बे और नगर में था और शिक्षा के प्रत्येक अंग का ध्यान था। शिक्षा की व्यवस्था राजा और प्रजा दोनों करते थे, परन्तु नियन्त्रण किसी के हाथ में नहीं था। राजा शिक्षा को सहायता दिया करता था, विद्वानों को आश्रय देता था, विद्यार्थियों का पालन करता था और विद्यालयों का निर्माण करवाता था। परन्तु विद्या या शिक्षा के क्षेत्र में वह किसी प्रकार का दखल नहीं देता था। शिक्षा से सम्बन्ध छात्रों का था या शिक्षकों का। राजा या श्रीमन्तों का काम केवल इतना था कि वे व्यवस्था में सहायक हों। यही राजा का और जनता का कर्त्तव्य था।

ग्राम शिक्षा : तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था का वर्णन तो अब कहीं उपलब्ध नहीं है लेकिन गत चार पांच शताब्दी से जो राजस्थान के कुछ भागों में परम्परा चली आ रही है उसके आधार पर यह अनुमान लगता है कि यह राजपूत काल की अति प्राचीन परम्परा है। इन भागों में प्रत्येक गांव में एक ब्राह्मण परिवार ऐसा होता है जिसका मुखिया ग्राम-गुरु कहलाता है। यह उस ग्राम में विवाहादि सब संस्कार करवाता है, यही मंदिर की पूजा करता है और यही गांव के होनहार बालकों को पढ़ाया करता है। ग्राम के कृषक परिवार दोनों फसलों के समय पर अपनी श्रद्धा और हैसियत के अनुसार इसको अन्न दिया करते हैं जिससे इसके परिवार का निर्वाह होता है। वर्षा ऋतु में जब खेत जोते जा चुकते हैं या निरन्तर वर्षा के कारण कृषि कार्य बन्द रखना पड़ता है तो यह गांव-गुरु अपनी योग्यतानुसार पूरे भागवत पुराण

की, गीता की, या इनके किसी अंश की या रामायण महाभारत की कथा गांव वालों को सुनाता है और भक्त लोग अपनी श्रद्धानुसार कथा समाप्ति पर भेंट चढ़ाते हैं। कथा के अन्त में गांव-गुरु को पालकी या घोड़ी पर बिठा कर सम्मानपूर्वक अपने घर पर पहुँचा दिया जाता है। गांव-गुरु सदैव इतना योग्य नहीं होता कि संस्कार, शिक्षा और कथा तीनों कार्य साथ साथ अर्थात् स्वयं कर सके। इस अवस्था में जो उससे होता है वह करता है और शेष अन्य कोई ब्राह्मण करता है। छोटे मोटे गांव में कहीं गांव-गुरु होता है और कहीं नहीं। ऐसी अवस्था में दो या तीन समीपवर्ती गांवों का एक गांव-गुरु होता है। जो बड़े कस्बे हैं उनमें एक से अधिक गांव-गुरु हुआ करते हैं। ग्राम निवासियों से फसल, कथा, संस्कार आदि अवसरों पर जो गांव-गुरु को प्राप्ति होती है उसके अतिरिक्त प्रायः प्रत्येक गाँव-गुरु को राज की ओर से कर-मुक्त भूमि दी हुई होती है। यह मुआफी या डोहली कहलाती है। कई ब्राह्मण कुलों के पास चार सौ वर्ष पुराने मुआफी के पट्टे देखे गये हैं और ऐसे प्राचीन पट्टे भी कभी कभी और अधिक प्राचीन पट्टों के आधार पर जारी किए गये हैं। ऐसी अधिकांश मुआफियां चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण या अन्य पर्वों पर दानार्थ दी गई हैं परन्तु दी उन्हीं ब्राह्मणों को हैं जो संस्कारादि धार्मिक कार्य और शिक्षा या कथा आदि लोक-हित के कार्य करते थे। पद्धति यह थी कि चतुर्मास में बालकों को पढ़ाया जाता था और शेष समय में वे कृषि आदि कुलक्रमानुगत कार्य करते थे। दूसरे वर्ष पुनः उनकी पढ़ाई शुरू कर दी जाती थी। इस प्रकार उनको साधारण लिखना पढ़ना तथा हिसाब करना और पहाड़े आदि पढ़ा दिये जाते थे। यह पाठ्यक्रम दो तीन वर्ष में समाप्त हो जाया करता था। कथायें भी वर्षा ऋतु में ही सुनाई जाती थीं। इसमें विशेषतः प्रौढ़ और वृद्ध सम्मिलित होते थे परन्तु छोटे बच्चे भी अपने माता पिता के साथ जाया करते थे। एवं बालकों को अक्षरज्ञान, गणित और धर्म तथा इतिहास की शिक्षा साथ साथ मिला करती थी। कथा-श्रवण का आयोजन प्रायः प्रति वर्ष किया जाता था जिससे स्मृति सदैव जागृत रहा करती थी। साधारण ग्रामीण जनता के लिये और बालकों के लिये यह शिक्षा पर्याप्त थी। कथा भाग मुख्यतः प्रौढ़ और वृद्धों के वास्ते था और शिक्षण भाग बालकों के वास्ते। यदि कोई बालक इससे अधिक पढ़ना चाहते थे तो फिर संस्कृत शुरू होती थी। इसके वास्ते उपयुक्त गुरु को तलाश करना पड़ता था। यदि गांव-गुरु में इतनी योग्यता होती थी तब तो उसके घर या समीपस्थ मंदिर में पाठशाला लग जाती थी, वरना दो तीन गांवों के बालक एक गांव में एकत्र हो जाया करते थे। संस्कृत शिक्षा शब्दरूपावली, धातु-रूपावली, अमरकोश और लघु सिद्धान्त कौमुदी से आरम्भ होती थी और रघुवंश के द्वितीय और तृतीय सर्ग पर समाप्त हो जाती थी। इसके अतिरिक्त कुछ नीति के श्लोक कंठस्थ करवाये जाते थे। ब्राह्मण बालकों को संस्कार विधि, किंचित् ज्योतिष, किंचित् आयुर्वेद और किंचित् शालिहोत्र भी पढ़ाया जाता था परन्तु यह सब संयोग

और अवसर पर अवलंबित था। शिक्षा की कोई निश्चित श्रेणियां नहीं थीं। कोई बालक कहीं तक पहुँचता था और कोई कहीं तक। परन्तु उपरोक्त शिक्षा अच्छे ब्राह्मण कुलों के बालकों के लिये साधारण किन्तु पर्याप्त समझी जाती थी। प्राय: प्रत्येक ब्राह्मण परिवार के पास हस्तलिखित ग्रन्थों का छोटा या बड़ा संग्रह रहा करता था। यह इस परिवार की निधि थी और इसकी ध्यान तथा चिंता के साथ रक्षा की जाती थी। इस संग्रह में व्याकरण, काव्य, ज्योतिष, कर्मकांड, आयुर्वेद और शालिहोत्र के ग्रन्थ हुआ करते थे। किसी के पास दस पांच, किसी के पास चालीस पचास और किसी के पास सौ दो सौ ग्रन्थ रहा करते थे। इससे बड़े संग्रह नगरों में विशिष्ट और प्रतिष्ठित ब्राह्मण कुलों में मिलते थे। छापे के जारी होने से पहिले ग्रंथ दुर्लभ थे। एक ग्रंथ को सुन्दर अक्षरों में और सावधानी से लिखने में बहुत समय लगता था। इसलिये प्रत्येक हस्तलिखित ग्रन्थ के अन्त में लिखा रहता था कि "मुझे तैल से बचाओ, जल से बचाओ, भली भाँति बाँध कर रक्खो और मूर्ख के हाथ में न दो।" व्याकरण और साहित्य में कुछ गति प्राप्त करने के पश्चात् जिनको स्वाध्याय में रुचि होती थी, वे पढ़ते रहते थे। हस्तलिखित ग्रन्थ ब्राह्मण कुलों में और मंदिरों में प्राप्त हो जाया करते थे।

प्रौढ़ शिक्षा : ग्राम, कस्बे और नगर में पौराणिक कथायें प्रौढ़ों की शिक्षा थी। सब लोग इनको श्रद्धा और भक्ति से सुनते थे। अत: कथाओं में अच्छी भीड़ हुआ करती थी और लोग उनको याद रखना धार्मिक कर्त्तव्य समझते थे। पौराणिक पात्रों के पवित्र और उच्च जीवन को लोग आदर्श समझते थे, जिससे इनके जीवन भी उच्च और पवित्र बनते थे। लोगों को अक्षर ज्ञान न होते हुए भी ग्रन्थ ज्ञान और धर्म ज्ञान हो जाया करते थे। इस व्यवस्था से लोग बहुश्रुत बनते थे। धार्मिक त्यौहारों पर और श्रावण मास में धार्मिक उत्सव मनाये जाते थे और कृष्णचरित की झांकियां दिखाई जाती थीं। रामनवमी, विजयदशमी, कृष्णाष्टमी, नृसिंहचतुर्दशी पर जो भगवत् लीलायें होती थीं उससे जनता को बड़ी शिक्षा मिला करती थी। रामलीला तो अब तक हमारा राष्ट्रीय त्यौहार है ही। इन लीलाओं से शिक्षा मिलती थी और मनोविनोद भी होता था। इस समय भी प्रौढ़ शिक्षा का यही मूल सिद्धान्त माना जाता है। भेद यह है कि उस समय शिक्षा धर्म प्रधान थी और अब है केवल ज्ञान प्रधान। ज्ञान प्राय: शुष्क होता है। बड़ा कुशल विशेषज्ञ ही शुष्क ज्ञान को सरस और आकर्षक बना सकता है। धर्म हृदय को स्पर्श करता है। अत: श्रद्धा और और भक्ति के आकर्षण या आवेश से लोग धर्म के साथ ज्ञान भी प्राप्त करते हैं और इस ज्ञान को पवित्र मानते हैं।

उच्च संस्कृत शिक्षा : नगरों में उच्च शिक्षा की भी व्यवस्था थी। आचार्य और महन्तों के मठों में उत्तर भारत में तथा पल्लियों में दक्षिण भारत में प्राय: विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त किया करते थे। इन संस्थाओं के अध्यक्ष प्राय: विद्वान होते थे

और उनके आश्रय में एक दो या अधिक पंडित और रहा करते थे। नगर के दानी लोगों के तथा राजा के दान से इनका निर्वाह हुआ करता था। सम्पन्न घरों के विद्यार्थी समय समय पर भेंट स्वरूप इनको द्रव्य, अन्न और वस्त्र दिया करते थे। विद्या समाप्ति पर प्रत्येक विद्यार्थी अपनी अपनी सामर्थ्य के अनुसार इनको दक्षिणा भेंट करता था। अन्य विद्यार्थी इनकी सेवा करते थे। इस प्रकार महन्त, आचार्य और पंडित अपने जीवन-निर्वाह के विषय में चिन्ता-मुक्त रहते थे और सब प्रकार के विद्यार्थियों को भी ज्ञानप्राप्ति के लिये अवसर मिल जाता था। प्रत्येक मठ या पल्ली में छोटा बड़ा पुस्तकालय रहा करता था। यहां विद्यार्थियों को ही नहीं अन्य विद्या-व्यसनी नागरिकों को भी पढ़ने के वास्ते ग्रन्थ मिल जाया करते थे। प्रातः सायं इन स्थानों में सत्संग हुआ करता था जिनमें ज्ञान चर्चा हुआ करती थी। इसी प्रकार का वायुमंडल प्राय: बौद्ध विहारों में था। नवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म प्राय: भारत से विलीन हो गया था परन्तु बौद्धों के विहार अभी यत्र तत्र चल रहे थे। इनमें बचे खुचे बौद्ध भिक्खु उदार नागरिकों के दान पर अपना निर्वाह करते थे और विद्यार्थियों को शिक्षा दिया करते थे। ऐसा अनुमान होता है कि अब बौद्धशास्त्रों का पठन पाठन बंद होता जाता होगा और अधिकांश-विद्यार्थी काव्य, पुराण या दर्शनादि विषय पढ़ते होंगे। बौद्ध विहारों में पहिले जोर बौद्ध शास्त्रों पर ही दिया जाता था परन्तु यह बात अधिक समय तक नहीं चल सकी। इन संस्थाओं का निर्वाह केवल बौद्ध जनता के दान से नहीं हो सकता था। अत: इनको पौराणिक जनता के दान पर भी अवलंबित रहना पड़ता था। भिक्खुओं को यह भी अनुभव होता जाता था कि संस्कृत सार्वदेशिक और सर्वकालिक है। पाली या प्राकृत में यह शक्ति नहीं है। उसका स्वरूप गौतमबुद्ध के समय से अब तक कई बार बदल चुका था। परन्तु संस्कृत एकरस और एकरूप थी, अत: इसको ग्रहण करना अधिक उचित था। इस-लिये बौद्ध विहारों की भाषा भी अब संस्कृत बनती जाती थी। संस्कृत के अध्ययन के लिये पाणिनि का व्याकरण और कालिदास के काव्य और नाटक आवश्यक थे। इस प्रकार बौद्धों और पौराणिक बालकों का एक पाठ्यक्रम हो गया और विहारों में यह प्रणाली चल निकली।

उच्च विद्यालय : बड़ी बड़ी राजधानियों में विविध विषयों की शिक्षा देने के लिये और भी उच्च विद्यालय बने हुए थे। मुसलमानों के सर्वनाशक आक्रमणों में ये नष्ट और विलीन हो गये परन्तु दो प्रसिद्ध विद्यालयों के भग्नावशेष इस समय भी विद्यमान हैं। मालवा के परमार नरेशों की राजधानी धारानगरी में एक प्रसिद्ध संस्कृत विद्यालय था जो सरस्वती कण्ठाभरण कहलाता था। इसमें सरस्वती की प्रतिमा स्थापित की गई थी। यहां धारानगरी के ही नहीं समस्त परमार राज्य के और कुछ बाहर के विद्यार्थी भी शिक्षा प्राप्त करने आया करते थे। परमार वंश के तीनों नरेश, मुंज, सिन्धुराज और भोज बड़े विद्यानुरागी थे और स्वयं बड़े विद्वान और लेखक थे। मुंज

अच्छा कवि था। भोज ने ज्योतिष, काव्य और स्थापत्य कला पर ग्रन्थों की रचना की थी। इसने कितने ही सुन्दर मन्दिरों का निर्माण करवाया था परन्तु वे सब विलीन हो गये। इसका सब से बड़ा काम था भोजताल जिसका क्षेत्रफल २५० वर्ग मील था। इससे सिंचाई की जाती थी, और मालवा प्रान्त के जलवायु पर इसका अच्छा प्रभाव हुआ था। पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में मालवा के सुलतान होशंगशाह ने इसकी पाल को तुड़वा डाला और तालाब का पानी निकाल दिया। इस समय यह २५० वर्गमील भूमि उपजाऊ क्षेत्र है और इसके बीच में होकर रेल की लाइन निकलती है। भोज के सरस्वती कण्ठाभरण विद्यालय की भी यही गति हुई। मुसलमान सुलतान ने इस भव्य विद्यालय को तोड़ फोड़ कर एक मसजिद का रूप दे दिया और इसका नाम कमाल मोअल्ला रखा। इस नाम से यह स्थान सदियों तक प्रसिद्ध रहा, लेकिन परम्परा से लोग यह भी जानते थे कि इसमें महाराज भोज की पाठशाला थी। जब ऐतिहासिक खोज शुरू हुई तो इस मसजिद के पास ही पत्थरों के ढेर में मध्यकालीन ब्राह्मी लिपि में खुदा हुआ महाराज भोज का शिलालेख प्राप्त हुआ जिससे विदित हुआ कि यह पहिले सरस्वती कण्ठाभरण विद्यालय था। इसका वाह्यरूप मसजिद से किंचित मिलता जुलता है परन्तु इसकी निर्माण कला उत्तर राजपूत काल की है जो अन्दर के भाग से और उसमें स्तम्भ, कीर्तिमुख आदि से स्पष्ट प्रकट होती है।

इसी प्रकार का विद्यालय चौहानवंशीय नरेश महाराज विग्रहराज चतुर्थ ने अजमेर में बनवाया था। इसमें भी अनेक विद्यार्थियों को विविध विषयों की शिक्षा दी जाती थी। राजाश्रय से यह विद्यालय चलता था। जब शहाबुद्दीन गोरी के सेनानायक ने अजमेर पर आक्रमण किया तो सब से पहिले इस कालेज का उसने ध्वंस किया और इसको एक मसजिद के रूप में परिवर्तित कर दिया। इसके द्वार को तोड़ फोड़ कर मुसलमानी रूप दे कर उस पर कुरान के वाक्य खुदवा दिये। फिर भी यह स्थान सर्वांशतः मसजिद न बन सका। अन्दर घुसते ही प्रकट होता है कि यह पहले मन्दिर होगा। राजपूत काल में विद्यालय की कल्पना सरस्वती के मन्दिर की थी। अतः यह संभव है कि इसमें भी सरस्वती कण्ठाभरण की भांति सरस्वती की मूर्ति स्थापित की गई हो। यहां भी पत्थरों के ढेरों में पत्थरों के कुछ चौके प्राप्त हुए हैं, जिन पर महाराज विग्रहराज के रचे हुए एक संस्कृत नाटक के अंश खुदे हुए हैं। इनसे इस भव्य भवन के इतिहास का पता लगा है। ये प्रस्तर खंड इस समय अजमेर के ऐतिहासिक संग्रहालय में रखे हुए हैं।

बादामी के चालुक्य और कांची के पल्लव नरेशों ने भी इस प्रकार के कई कालेज स्थापित किये थे। बेलगाम में ऐसे विद्यालय का नाम ब्रह्मपुरी था। साधारणतया इस प्रकार के विद्यालय दक्षिण में घटिक कहलाते थे। कांची और बाहुर में ऐसे कालेज तद्देशीय नरेशों ने बनवाये थे। करनाटक में सलटगी नामक नगरी में ऐसा कालेज सन् ६४५ में राष्ट्रकूट महाराज कृष्ण के एक राज-मंत्री ने स्थापित किया था और इसके

संचालन के लिये उसने पर्याप्त धन दिया था। उस प्रदेश में यह प्रसिद्ध और सम्पन्न विद्यालय था। कई जनपदों के विद्यार्थी यहां शिक्षा ग्रहण करने आया करते थे। नागई में एक घटिका सन् १०५८ में स्थापित की गई थी। इसमें छः अध्यापक और एक पुस्तकाध्यक्ष रहा करता था। इनके निर्वाह के वास्ते पूरा प्रबन्ध था। यहां २५० विद्यार्थियों के लिये व्यवस्था थी। इनमें २०० विद्यार्थी वेद का अध्ययन करते थे और ५० अन्य शास्त्रों का। एण्णायिरम (दक्षिण अरकट) में महाराज राजेन्द्र चोल ने एक घटिका स्थापित की थी जिसमें ३४० विद्यार्थियों के वास्ते व्यवस्था थी। इसी के निकट त्रिभुवनी की घटिका में बारह अध्यापक और २६० विद्यार्थियों के लिये व्यवस्था थी। वीर राजेन्द्र चोल के एक शिलालेख (१०६७) से विदित होता है कि उसने चिंगलपट जिले में स्थित तिरुमुक्कुडल नगर में एक घटिका और चिकित्सालय स्थापित किया था। यहां विद्यार्थियों के निवास और भोजन की अच्छी व्यवस्था थी। तिरुवाडतराई में एक आयुर्वेद विद्यालय था जिसमें मुख्यतः अष्टांग हृदय और चरक संहिता का अध्ययन करवाया जाता था। तिरुवोरियूर की घटिका में केवल पाणिनि की अष्टाध्यायी का अध्ययन करवा कर व्याकरण के विशेषज्ञ तैयार करवाये जाते थे। देवगिरि के यादव नरेशों ने भी इस प्रकार के विद्यालय की स्थापना की थी और ज्योतिष तथा स्मृतियों के अध्ययन को विशेष प्रोत्साहन दिया था।

विभिन्न देशों के नरेशों की राज सभाओं में पंडितों को संस्कृत और ज्ञान तथा विद्या को उन्नत किया जाता था। प्रत्येक राजसभा में पांच प्रसिद्ध और विद्वान पंडित हुआ करते थे। राज में इनका सम्मान होता था और इनके जीवन-निर्वाह के वास्ते अच्छी व्यवस्था की जाती थी। इस काल के प्रसिद्ध कवि, नाटककार, ज्योतिषी, गणितज्ञ, इतिहासकार आदि सबको राजाओं से सम्मान प्राप्त हुआ था और सबको उदारतापूर्वक आश्रय दिया गया था। कश्मीर नरेश मातृगुप्त की राजसभा अनेक विद्वान पंडितों से अलंकृत रहा करती थी जिनमें मेण्ठराज प्रसिद्ध था। अब भी श्लोक संग्रहों में उसका नाम आता है। महाराज अवन्तिवर्मा के आश्रय में भी कितने ही विद्वान पंडित रहा करते थे। काश्मीर का प्रसिद्ध कवि बिल्हण चेदी, अन्हिलवाड़ और कल्याणी के प्रतापशाली नरेशों के यहां राजकवि था। धार के परमार नरेशों का विद्यानुराग तो भारत में घर घर की कहानी है। महाराज मंजु स्वयं अच्छे कवि थे। इनकी रचनायें श्लोक संग्रहों में इस समय भी मिलती हैं। मेरुतुंग की प्रबन्ध चिन्तामणि में मंजु का बहुत उल्लेख आता है। नव साहसांक चरित का प्रणेता पद्मगुप्त, दशरूपक का लेखक धनंजय, और धनंजय का भाई धनिक इसी नरेश की सभा के रत्न थे। महाराज भोज पंडितों का प्रसिद्ध आश्रयदाता था और स्वयं अच्छा विद्वान् था। बारहवीं शताब्दी में गुजरात नरेश सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल ने कितने ही विद्वानों को आश्रय दिया। इसके अतिरिक्त जयसिंह ने अपने सरस्वती

भण्डार के वास्ते कितने ही ग्रन्थों की प्रतिलिपियां तैयार करवाईं और भारत के विभिन्न प्रान्तों के विद्वानों को भेंट कीं। इसने इक्कीस जैन भण्डार स्थापित किये और प्रत्येक भण्डार में कल्पसूत्र की प्रतिलिपि रखी गई जो सुनहरी अक्षरों में लिखी हुई थी। इन नरेशों के यहां ग्रन्थों की नकल करने के लिये तीन सौ लेखक नियत थे। इसी प्रकार अन्य नरेश भी विद्यालय स्थापित करके पंडितों को आश्रय दे कर तथा ग्रन्थों की नकल करवा कर विद्या का प्रचार और उन्नति करते थे। छोटे से छोटे राज्य में भी एक सरस्वती भण्डार होता था। इसमें हस्तलिखित प्राचीन ग्रन्थों और चित्रों का संग्रह होता था और लेखकों द्वारा यह संग्रह सदैव अधिकाधिक सम्पन्न हुआ करता था।

विश्वविद्यालय—तक्षशिला : भारतवर्ष के व्यापक ज्ञान और पांडित्य को देखते हुए यह अनुमान होता है कि यहां कई विश्वविद्यालय होंगे, जहां बहुत बड़े बड़े ग्रन्थसंग्रह होंगे और जहाँ विविध गहन विषयों का सूक्ष्म अध्ययन किया जाता होगा। परन्तु काल और विस्मृति ने इनको निगल लिया। अब इतिहास को केवल इने गिने विश्वविद्यालयों के नाम मालूम हैं। इनमें सबसे प्राचीन विश्वविद्यालय तक्ष-शिला का था। यह भारत की उत्तर पश्चिम सीमा पर स्थित था। यहां अनेक विषयों की, विशेषतः दर्शन, ज्योतिष और आयुर्वेद की, शिक्षा दी जाती थी और चीन, तुर्किस्तान तथा पश्चिमी एशिया के सैकड़ों विद्यार्थी यहां विद्याध्ययन करने आया करते थे। कुछ विद्वानों ने ऐतिहासिक खोज से यह भी पता लगाया है कि ईसा ने इसी विश्वविद्यालय में शिक्षा पाई थी और इसीलिये बाइबिल में अनेक ऐसे विचार हैं जो मूल रूपेण भारतीय हैं और ईसा की व्याख्यान प्रणाली कई अंशों में गौतम बुद्ध की शैली से मिलती जुलती है। यह निष्कर्ष सही भी हो सकता है और गलत भी। ईसा के जीवन के विषय में इतनी प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है कि इस विषय की भली प्रकार जांच की जा सके और किसी निर्विवाद परिणाम पर पहुंचा जा सके। चौथी शताब्दी में जब फाहियान खैबर के मार्ग से भारत में आया तो उसने यह विश्व-विद्यालय देखा था। इससे पहिले इस मार्ग से भारत पर यूनानियों, पार्थियनों और शकों के आक्रमण हो चुके थे। इन तूफानों के कारण इस संस्था का वैभव विलीन होता जाता था। पांचवीं शताब्दी में हूणों के आक्रमण हुए। ये लोग पिछले आक्रमण-कारियों से भी अधिक नाशक और जंगली थे। इनके आक्रमणों में तक्षशिला का विश्वविद्यालय नष्ट और लुप्त हो गया।

नालंद : पांचवीं शताब्दी में नालंद का विद्यालय प्रसिद्ध हुआ। यहां भी भारत के प्रसिद्ध विद्वान अध्यापन कार्य करते थे और देश के कोने कोने से यहां विद्यार्थी आया करते थे। ह्वानचांग ने इस विश्वविद्यालय में कई वर्ष तक अध्ययन किया था। अपने भ्रमण वृत्तान्त में उसने इस संस्था का वर्णन किया है। वह लिखता है कि "भारतवर्ष में हजारों बड़ी बड़ी विद्या संस्थायें हैं परन्तु नालन्द के

वैभव की समानता कोई नहीं कर सकती। यहां दस सहस्र विद्यार्थी हैं जो केवल बौद्ध साहित्य के विविध अंगों का ही अध्ययन नहीं करते हैं किन्तु वेद, अथर्ववेद, न्याय, व्याकरण, आयुर्वेद, सांख्य दर्शन आदि भी पढ़ते हैं। प्रतिदिन एक सौ आसनों से व्याख्यान दिये जाते हैं। कई पीढ़ियों से नरेश इस संस्था को दान देते आये हैं जिससे यहां कई भव्य छात्रावास और व्याख्यान भवन निर्मित हो गये हैं और इस विशाल छात्रसमूह के निर्वाह के लिये सब आवश्यक पदार्थ सुलभ हैं। लगभग एक सौ गांवों का लगान इस संस्था को दिया जाता है, और इन गांवों के दो सौ गृहस्थ विद्यार्थियों और अध्यापकों के निर्वाह के निमित्त उदारता से दान देते हैं। इस पुष्कल दान और उदारता के कारण यहां के छात्रों को भोजन, वस्त्र, औषधि और बिछौने की कमी कभी अनुभव नहीं होती। यहां गम्भीर विषयों पर इतने प्रश्नोत्तर हुआ करते हैं कि दिन छोटा जान पड़ता है। वास्तव में छात्रों और पण्डितों का सारा समय विविध विषयों के विवेचन में ही व्यतीत हुआ करता है। वृद्ध और युवक एक दूसरे की सहायता में लगे रहते हैं। यहां भिक्षु और छात्र दोनों बड़े योग्य हैं। इनकी ख्याति दूर दूर तक फैली हुई है। बहुत दूर के स्थानों से यहां अनेक लोग अपने शंका-समाधान के निमित्त आया करते हैं। यहां के विद्यार्थी सर्वत्र सम्मान और यश प्राप्त करते हैं। विद्याध्ययन करते करते जब छात्र की अवस्था तीस वर्ष की हो जाती है तो माना जाता है कि उसके ज्ञान और चरित्र परिपक्व हो गये। इनमें कई ऐसे हैं जिन्होंने प्राचीन शास्त्रों में अगाध पांडित्य प्राप्त किया है, जो संसार से विरक्त हैं और अत्यन्त सादा जीवन व्यतीत करते हुए केवल ज्ञान की खोज में लगे रहते हैं। न इनको यश की अभिलाषा है और न अयश से द्वेष है। इनकी कीर्ति इतनी फैली हुई है कि नरेशगण इनके सत्संग के इच्छुक हैं और इनको अपनी राजसभाओं में बुलाना चाहते हैं लेकिन ये लोग नहीं जाना चाहते। उनके ज्ञान और चरित्र के कारण यहाँ का राजा उनका आदर करता है और सब लोग उनको प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखते हैं। ज्ञान विज्ञान की निरन्तर खोज करते हुए ये थकते नहीं हैं। चरित्र उनका सहारा है और ज्ञान संग्रह उनका व्यवसाय। ये लोग प्राय: पैदल यात्रा करते हैं। और पैदल पैदल १५० मील का सफर करना साधारण काम समझते हैं। अच्छे धनाढ्य कुलों में उत्पन्न हो कर भी ये लोग वैभव से दूर रहते हैं और भिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह करते हैं। ये सत्यान्वेषण में सम्मान का अनुभव करते हैं और निर्धनता से इनको कोई ग्लानि नहीं होती।"

ऊँचा चरित्र: इस प्रकार की शिक्षा से भारत का मस्तक संसार में ऊंचा था। चरित्र की उज्ज्वलता और आत्मदर्शन लाखों व्यक्तियों का जीवन-ध्येय बना हुआ था। सारे वायु मंडल में सादगी और सत्यप्रियता अभिव्याप्त हो रही थी। ह्वानचांग लिखता है कि "ब्राह्मण और क्षत्री बड़े निर्मल चरित्र वाले हैं। इनमें

दिखावा नाम को भी नहीं है। इनका जीवन निर्मल और सरल है। ये लोग थोड़े पर निर्वाह कर लेते हैं। ये लोग स्वतः ही चरित्रवान् बनते हैं, किसी के बनाने से या दबाव से नहीं। साधारण जनता में इतना गाम्भीर्य नहीं है परन्तु वे भी सच्चे और ईमानदार हैं। रुपये पैसे के मामले में वे छल कपट नहीं करते और विवाद के विषय में वे बड़े न्यायप्रिय हैं। अपने व्यवहार में वे धोखा देने का या धूर्तता करने का यत्न कभी नहीं करते। वे अपने वचन पर दृढ़ रहते हैं। अपनी प्रतिज्ञा कभी भंग नहीं करते हैं। इनके शासननियमों में सत्यशीलता है और व्यवहार में मधुरता तथा शिष्टता है।"

कलाकौशल की शिक्षा : हर एक गांव में बढ़ई, लोहार, चमार आदि लोग रहते थे। बढ़ई (खाती) और लोहार के एक या दो कुटुम्ब होते थे और चमारों के अधिक। बढ़ई और लोहार के बिना कृषि कार्य नहीं चल सकता था, इसलिये इनका प्रत्येक गांव में होना आवश्यक था। खाती हल, गाड़ियां और खाटें बनाता था। यही चरखे बनाया करता था। अधिक चतुर होता वह मामूली पेटियां और सन्दूकें भी बना दिया करता था। इसी प्रकार लोहार भी हल गाड़ी में लोहे का काम करता था। चमार पशुओं का चमड़ा उतारते थे, चड़स, रस्से, और नाड़ियां बनाते थे और जूते तैयार करते थे। वास्तव में गांव के लोगों को किसी काम या वस्तु के लिये बाहर नहीं जाना पड़ता था। बड़े बड़े गांवों में बुनकर गांवों की आवश्यकतानुसार कपड़े भी बुन लिया करते थे। इन व्यवसायों को सीखने के वास्ते गांवों में कोई पाठशाला नहीं हुआ करती थी। ये धन्धे सब कुलक्रमानुगत थे। बच्चे अपने पिता का काम देखते देखते और फिर उसके साथ कार्य करते करते अपना व्यवसाय सीख जाया करते थे। अपनी अपनी बुद्धि और क्षमता के अनुसार कोई अधिक योग्य होता था और कोई कम, परन्तु क्रम अनवच्छिन्न रूप से चलता रहता था। बड़े कस्बों और गाँवों में अधिक चतुर और कुशल खातियों और लोहारों तथा चमारों की मांग रहती थी। यहां के सम्पन्न निवासियों को अच्छे पलंग, तख्त, कुर्सियाँ, सुन्दर किवाड़ और सन्दूकों की आवश्यकता रहती थी। इसी प्रकार लोहे, तांबे, पीतल, चांदी और सोने के बर्तन तथा आभूषण बनाने वाले भी नगरों में ही रहा करते थे। इनकी बनाई हुई चीजों की मांग और खपत नगरों में ही होती थी। गांव के लोग भी इन चीजों को खरीदने के वास्ते नगरों में आया करते थे। ये व्यवसाय सब वंशक्रमानुगत थे। हां, ऐसा प्रायः हुआ करता था कि जो बढ़ई, लोहार या सोनार आदि अच्छा कुशल होता था उसके पास दूसरे बढ़ई आदि के लड़के काम सीखने जाया करते थे। कुम्हार, तेली आदि का काम कुलक्रमानुगत तो था ही परन्तु इनकी श्रेणियों या संघों में भी काम सीखने की व्यवस्था हुआ करती थी। नगर में गृह-निर्माण कला की भी अच्छी मांग रहा करती थी। इस काम में तत्कालीन भारतीय बड़े दक्ष थे। इस काल में

उत्कीर्ण और निर्मित मंदिरों की कला देखने से विदित होता है कि उस समय के शिलाविद् और स्वरूपकार बड़े कुशल थे। ये कौशल कुलक्रमानुगत भी हो सकता है परन्तु सम्भव है कि प्रख्यात और निपुण शिल्पकार के पास कई उम्मीदवार एकत्र हो जाया करते हों। जहां वह काम किया करता था वहां ये लोग उसके कौशल को देखते रहा करते होंगे और उसके बतलाये हुए काम को उसकी देख रेख में किया करते होंगे। जो लोग एक स्थान पर काम समाप्त कर दिया करते थे वे ही दूसरे स्थान पर नियुक्त हो जाया करते होंगे और साथ ही इनमें नवयुवक भी कुछ कमाते हुए काम सीखा करते होंगे। इसी प्रकार शिक्षा पाने वालों में ऐसे निपुण इंजीनियर हुए जिन्होंने कैलाश मंदिर का स्वरूप बनाया और एक ही शिलाखण्ड में से उसको निकाल कर आश्चर्यकारी सुन्दर प्रतिमाओं से अलंकृत कर संसार को चकित कर दिया। ऐसे लोगों ने ही अजन्टा की अमर और अलौकिक चित्रकारी की होगी और ऐसों ने ही भोज के सरस्वती कण्ठाभरण के समीप पड़ा हुआ लगभग साठ सत्तर मन लोहे का स्तम्भ तैयार किया होगा। खजुराहो के मंदिर, कृष्ण विलास की प्रतिमायें, आबू के जैन मंदिर, ऐलोरा का कैलाश मंदिर, अन्य उत्कीर्ण देवालय तथा अजन्टा और एलोरा के चित्र इस बात को प्रकट करते हैं कि उस समय कला कौशल सिखाने की अच्छी व्यवस्था थी। इस व्यवस्था में सौन्दर्य यह था कि यह अत्यन्त सस्ती और सुलभ थी।

नाना प्रकार के व्यवसाय : यह कला कौशल की शिक्षा का संकेत मात्र है। यह नहीं समझ लेना चाहिये कि इस युग में केवल उपरोक्त पांच सात ही व्यवसाय थे और जीवन में सादगी के कारण लोगों को विभिन्न पदार्थों की आवश्यकता ही नहीं हुआ करती थी। वास्तव में यह बात नहीं थी। राजपूत काल भारत में अपार वैभव का काल था। इस समय देश धन धान्य से परिपूर्ण था। विदेशों के साथ विपुल व्यापार होता था। इसलिये लोगों का रहन सहन बहुत ऊंचा था। स्त्रियां नाना प्रकार के सूती और रेशमी तथा ऊनी कपड़े पहिनती थीं। अनन्त प्रकार के चांदी, सोने और रत्नजटित आभूषणों का उपयोग होता था। नाना प्रकार के उबटन और सुगन्धित पदार्थ काम में लाये जाते थे। प्रत्येक प्रान्त में जूते ही भांति भांति के बनते थे। राजाओं के अन्तःपुर में अनेक स्त्रियां होती थीं जिनको कई प्रकार के विलास पदार्थों की आवश्यकता होती थी। युद्धों में कितने ही प्रकार के शस्त्रास्त्रों का प्रयोग होता था। कवच अनेक प्रकार के बनते थे। घोड़ों की जीन और हाथियों के पालानों के सिवाय इनके भी कवच बनते थे। घोड़े और हाथी अनेक प्रकार के आभूषणों तथा झूल आदि वस्त्रों से त्यौहारों पर सजाये जाते थे। युद्ध में, राजसभाओं में और जनता के प्रमोद अवसरों पर कई प्रकार के वाद्यों का उपयोग होता था। चित्रकारी और कपड़ों की रंगाई तथा छपाई के वास्ते अनेक रंग तैयार किये जाते थे। उच्चकुलीन पुरुष और स्त्रियां पालकी, महायान और रथों में आते जाते थे। ये भी कई प्रकार के

बनते थे। नरेशों के यहाँ विविध प्रकार के बहुमूल्य वाहन काम में आते थे और जनता में लोग अपनी स्थिति के अनुसार पालकी और रथ बनवाया करते थे। इन सब चीजों के बनाने के लिये कौशल और अभ्यास की जरूरत थी। यह सब शिक्षा, और योग्यता वंश-परम्परा से प्राप्त हुआ करती थी। ये सब धन्धे और व्यवसाय ब्राह्मणों के वास्ते नहीं थे। इनके लिये व्यवसायों का शास्त्रीय निषेध था। वैश्य भी व्यापार करते थे। ये उपरोक्त धन्धे छोटे माने जाते थे और केवल शूद्रों के ही लिये थे। इस प्रकार कला कौशल सब शूद्रों के हाथ में था और इससे इनको अच्छी आय होती थी। अतः ये लोग सम्पन्न अवस्था में थे। इनके धन्धे को कोई दूसरा नहीं करता था और न कर सकता था, इसलिये ये लोग कभी व्यवसाय-हीन नहीं हुआ करते थे। हमारे देश में यह धारणा गलत फैली हुई है और विदेशियों ने अपने स्वार्थ के लिये गलत फैलाई है कि शूद्र लोग भारत में दलित वर्ग हैं, इनको जीवन में बढ़ने के वास्ते मौका नहीं दिया जाता है और इसलिये यह अत्यन्त दीन और हीन अवस्था में हैं। दक्षिण की स्थिति कुछ भिन्न है परन्तु उत्तर भारत में स्पर्शास्पर्श का प्रश्न भी केवल भंगी और चांडालों तक ही सीमित था और इनको भी शैव और शाक्त प्रतिमाओं के दर्शन करने में कोई काठिन्य नहीं था।

राजपूत युग का आर्थिक अभ्युदय

भारतीय व्यापार : मौर्य काल के आरम्भ से राजपूत काल के अन्त तक का युग अर्थात् ईसा से ३०० वर्ष पूर्व से सन् १२०० तक का पन्द्रह सौ वर्ष का युग भारतवर्ष में प्रभूत सम्पत्ति और ऐश्वर्य का युग था। यह अभ्युदय पार्श्ववर्ती देशों और टापुओं से तथा दूरस्थ महाद्वीपों से व्यापार करने से प्राप्त हुआ था। उस समय कारोमंडल समुद्रतट से और बंगतट से भारतीय वस्तुओं से लदे हुए हिन्दू जहाज बंग सागर को पार करते हुए पूर्वी द्वीप समूह और मलय अन्तरीप में पहुँचा करते थे और वहां से भारतीय माल चीन प्रदेश में पहुंच जाया करता था। इसी प्रकार पश्चिमीय तट के जहाज ईरान की खाड़ी और लाल समुद्र तक जाते थे और वहां से भारतीय माल योरोप और अफ्रीका महाद्वीप में पहुंच जाया करता था। भारत के अन्दर भी अन्तः प्रादेशीय व्यापार खूब चलता था। भारत से विदेशों को कई प्रकार की चीजें बाहर भेजी जाती थीं जिनके मूल्य के रूप में भारत को बहुत सोना, चांदी और मोती मिला करते थे। अरब लोगों के अभ्युदय और इसलाम के प्रचार और विस्तार से पूर्व जहाज का काम भारतवर्ष के हाथ में था। अरब सागर और बंग सागर में भारतवर्ष के ही जहाज चला करते थे। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वानचांग भारत की यात्रा समाप्त करके बंग तट से लंका, लंका से यवद्वीप (जावा) और वहां से चीन देश को भारतीय जहाज में गया था। नवीं शताब्दी के अन्त तक बंग सागर में पूर्वी द्वीप समूह तक और कभी कभी चीन तक भारतीय जहाज चला करते थे। जब अरब लोगों

का अभ्युदय हुआ और इसलाम धर्म के प्रचार से इनमें नये जीवन और उत्साह का संचार हुआ तो इन लोगों ने जहाजी व्यापार पर अपना प्रभुत्व जमाना शुरू किया। शनैः शनैः समस्त हिन्द सागर में अपना एकाधिकार सा जमा कर ये लोग उसके स्वामी बन गये। इस प्रकार ग्यारहवीं शताब्दी में यह व्यापार भारत के हाथ से जाता रहा।

श्रेणियां और संघ : व्यापार का संगठन, विस्तार, संरक्षण और प्रचार करने के वास्ते बड़े बड़े नगरों में व्यापारियों ने श्रेणियां या संघ बना रखे थे। श्रेणी के सैकड़ों व्यापारी सदस्य होते थे। इसमें अधिकारी लोग नियत या निर्वाचित होते होंगे। अलग अलग व्यापार के लिये पृथक् पृथक् श्रेणियां बनाई जाती थीं यथा अन्न के व्यापारियों की श्रेणी, तेल के व्यापारियों की श्रेणी, कपड़े के व्यापारियों की श्रेणी आदि। श्रेणी के भण्डारों में बनी हुई या तैयार की हुई वस्तुओं का संग्रह किया जाता था। यहां से ये उचित और मुनासिब भाव पर बेची जाती थीं। संग्रहों की यथोचित रक्षा की जाती थी। इसलिये श्रेणी की ओर से सिपाही नियत किये जाते थे। जब संग्रह या संग्रह का अंश दूसरे स्थान पर भेजा जाता था तो उसके साथ भी संरक्षक रहा करते थे। कई प्रकार के माल पर श्रेणी की छाप या अन्य प्रकार का चिन्ह रहता था, जिससे मालूम हो सके कि अमुक माल किस श्रेणी का है। इससे श्रेणी की साख और प्रतिष्ठा बढ़ती थी। लोग अपना रुपया इन श्रेणियों में जमा कर देते थे और श्रेणियां इन पर ब्याज दिया करती थीं। इस प्रकार श्रेणियां बैंकों का भी काम करती थीं। श्रेणियों में नवयुवक काम सीखा करते थे। ऐसा अनुमान होता है कि श्रेणियों के प्रमुख सदस्य एक स्थान पर मिल कर काम किया करते थे और जो माल इस प्रकार उत्पन्न होता था वह श्रेणियों के भंडारों में जमा कर दिया जाता था और श्रेणी द्वारा ही उसके विक्रय की व्यवस्था की जाती थी। उम्मीदवार इन लोगों के पास काम सीखा करते थे। जो श्रेणियां बहुत बड़ी, सुसंगठित और सम्पन्न होती थीं वे अपना सिक्का भी चलाया करती थीं। जैसे इस समय बड़े बड़े नगरों में "चेम्बर आफ कामर्स" बने हुए हैं उसी प्रकार उस समय भी बड़े बड़े नगरों में व्यापारियों के संघ बने हुए थे। श्रेणियां एक एक व्यवसाय के लिये बनती थीं परन्तु व्यापार संघ का सब प्रकार के व्यापार से सम्बन्ध था। किसी किसी संघ के सदस्यों की संख्या ५०० तक होती थी। कहीं कहीं प्रादेशिक संघ भी बने हुए थे जिनमें अठारह भुक्तियों के और उन्नीस जिलों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुआ करते थे। समुद्र तट के निवासियों का मुख्य व्यापार विदेशों के साथ था और देश के अन्दर के भाग में निवास करने वाले प्रायः अन्तः प्रान्तीय व्यापार करते थे। तत्कालीन भारतीय साहित्य में ऐसे सेठों का उल्लेख है जो दूर दूर के देशों से विविध वस्तुओं का व्यापार करते थे और जो अपार धन-राशि के स्वामी थे। इन कहानियों में प्रायः समुद्र यात्रा का वर्णन

आता है। यह आश्चर्य की बात है कि बारहवीं शताब्दी के पश्चात् समुद्र यात्रा का इतना कठोर निषेध क्यों होने लगा और समस्त देश में यह किस प्रकार व्याप्त हो गया।

विपुल वैभव : तत्कालीन भारतीय सम्पदा की विपुलता का अनुमान करते हुए इस समय बुद्धि चकराती है और जिन लेखकों ने आँखों देखा वर्णन लिखा है उस पर विश्वास नहीं होता। भारतीय सम्पदा का वर्णन अरब यात्रियों ने और तुर्की इतिहासकारों ने किया है। अरब यात्री प्रायः सौदागर थे। तुर्की लेखक महमूद गजनी के साथ आये थे। अरब लेखकों ने जो कुछ लिखा है वह सत्य होना चाहिये। उन्होंने जान बूझ कर अत्युक्ति की हो और भारत को अत्यन्त धनाढ्य देश बतलाया हो इसका कोई कारण नहीं जान पड़ता। यह संभव है कि तुर्की लेखकों ने भारतीय सम्पदा का चित्र अतिरंजित किया हो। वे लोग यह प्रकट करना चाहते होंगे कि महमूद गजनी को अपने पराक्रम और पुरुषार्थ से कितनी अपार सम्पदा प्राप्त हुई है। इस सम्पदा का वर्णन करने तथा लूट का लोभ देकर शायद ये लेखक मुसलिम नवयुवकों को महमूद की सेना में भरती होने के लिये आकर्षित करना चाहते हों। परन्तु महमूद की सेना में इन आक्रमणों के समय हजारों सिपाही थे। भारत की सम्पदा उन लोगों ने भी आँखों से देखी थी। उनके सामने इन लेखकों ने कहां तक अत्युक्ति की होगी और यदि की तो क्या उनकी अकीर्ति न हुई होगी यह विचारणीय बात है। अरब सौदागरों और यात्रियों ने राष्ट्रकूट राज्य और भारत के पश्चिमी तट पर स्थित छोटे छोटे राज्यों के वैभव का वर्णन किया है। वे लोग चाँदी के मंदिरों का और स्वर्णनिर्मित बड़ी बड़ी देव प्रतिमाओं का तथा तटस्थ राज्यों के सोने चाँदी और मोतियों का जो वर्णन करते हैं वह स्वप्न प्रतीत होता है। नगरकोट की लूट का वर्णन करते हुए एक लेखक जो महमूद के साथ था और जिसने अपनी आँखों से लूट का माल देखा था लिखता है कि लूट में ७००,००० सोने की मोहरें मिलीं, ७०० मन सोने और चाँदी की चद्दरें हाथ लगीं, ८०० मन सोने की ईंटें, २००० मन चाँदी के ढेले और २० मन जवाहरात लूटी गई। यह केवल एक स्थान की लूट का वर्णन है। मथुरा के मंदिरों के ऐश्वर्य और वैभव का वर्णन अलउतबी की कलम से पहिले दिया दिया जा चुका है। सोमनाथ के मंदिर में महमूद को इतना धन मिला कि उसका हिसाब ही नहीं किया जा सकता। महमूद भारत की सम्पदा को खूब देख चुका था, फिर भी वह अनुमान नहीं कर सकता था कि सोमनाथ के मंदिर में उसको इतनी दौलत मिलेगी। काँगड़ा की लूट का वर्णन करते हुए एक तत्कालीन लेखक लिखता है कि लूट के माल को गजनी ले जाने के वास्ते महमूद के पास काफी ऊंट नहीं थे, इसलिये चारों ओर से लूट लूट कर मंगवाये गये। हर एक ऊंट धन के भार से झुका जाता था, तो भी पूरा खजाना नहीं लादा जा सका था। जो बचा वह सैनिकों को दे दिया गया। केवल सोने की मोहरें ही सात करोड़ थीं और सोने चाँदी की

छूटे अनुमानतः सात लाख मन थीं। गजनी लौट कर जब महमूद ने भारत की लूट का माल कालीनों पर जमा कर मुसलमानों को दिखाया तो दूर दूर के लोग इसको देखने के लिये आये और ऐसी विपुल धन राशि को देख कर सब चकित हुए और कहने लगे कि ऐसी दौलत का हाल तो किसी ने कहानी किस्सों में भी न पढ़ा है और न सुना है। जब देवगिरि के यादव नरेश ने अलाउद्दीन खिलजी के साथ सन्धि की तो उसने सुलतान को बहुत धन भेंट किया। उसमें ६०० मन मोती और सैकड़ों मन चाँदी सोना था। यह ध्यान में रखने की बात है कि देवगिरि के यादवों के पास कोई लम्बा चौड़ा साम्राज्य या राज्य नहीं था, वे साधारण से और छोटे से राज्य के स्वामी थे।

राजपूत युग का समाज और रीति रिवाज आदि

नई जातियां : चार मुख्य वर्णों के अतिरिक्त इस काल में अनेक नई जातियां बन गई थीं। इनमें उच्च जातियों में कायस्थ मुख्य थे। गांवों में खाती, लोहार, कुम्हार, चमार आदि जातियां ग्रामीण या कृषक जीवन का आवश्यक अंग हो गई थीं। नगरों में स्वर्णकार, मालाकार, शस्त्रकार, दर्जी, शिलाविद्, ओढ, नट, आदि का प्रादुर्भाव हो कर वह निश्चित और अटल रूप धारण कर चुका था। विवाह सम्बन्ध अपनी अपनी जाति में होता था, बाहर नहीं। अपनी जाति से बाहर का विवाह विवाह नहीं माना जाता था। वास्तव में शास्त्र के बन्धन इन जातियों के लिये नहीं थे, फिर भी ये लोग ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्यों की मर्यादा को स्वतः ही मानते थे और यह दृढ़ और अटल परम्परा बन चुकी थी। कई जातियां इस युग से पूर्व और इस युग में आईं वे भारतीय समाज में सम्मिलित तो हो गई थीं परन्तु इसका अभिन्न अंग नहीं बनी थीं। उनका खान पान, विवाहादि सब अपनी ही जाति में सीमित था परन्तु उनका रहन सहन, धर्म और संस्कृति आदि सब भारतीय हो चुके थे। इन विदेशियों के प्रवेश के कारण भी कई नई जातियां बन गई थीं। इनमें विशेष उल्लेख के योग्य हैं गुर्जर और आभीर। गुर्जर बाहर से आये हुए माने जाते हैं। कालान्तर में जब ये लोग भारतीय समाज में सम्मिलित हुए तो इनमें विद्वान लोग गुजराती या गूजर गौड़ ब्राह्मण कहलाने लगे, सैनिक और शासक गुर्जर प्रतिहार राजपूत माने जाने लगे और कुछ समय पश्चात् वे केवल प्रतिहार ही कहलाने लग गये। जिन लोगों ने भेड़ बकरी पालना और कृषि कार्य करना शुरू किया वे वैश्य नहीं कहलाये किन्तु गूजर कहलाने लग गये। इससे स्पष्ट होता है कि नई नई जातियां किस प्रकार बनती गईं। मीणे, धाकड़, कराड़, लोधा, गड़रिया आदि जो विशेषतः राजस्थान में मिलते हैं, आकृति, शारीरिक शक्ति, व्यवसाय, बुद्धि और व्यवहार तथा रीति रिवाज में गूजरों से मिलते जुलते हैं। इन सब में विधवा विवाह होता है, परित्याग (तलाक) दोनों पक्षों से किया जा सकता है, परित्यक्त और परि-

त्यक्ता दोनों पुनर्विवाह कर लेते हैं। पहिले विवाह के बच्चे अपनी माता के साथ दूसरे घर जाते हैं। पुनर्विवाह की विधि अत्यन्त सरल है। स्त्री दूसरे पुरुष के घर में पानी का घड़ा लेकर जाती है और वह पुरुष घड़े को उसके सिर से उतार लेता है। बस यही विवाह संस्कार है। दूसरी विधि यह है कि स्त्री को पुरुष अपनी तरफ से चूड़ा पहिना देता है और कपड़े बनवा देता है। पुनर्विवाह में किसी और विधि या संस्कार की आवश्यकता नहीं मानी जाती है। जो कुछ संस्कार होता है वह केवल प्रथम विवाह के समय किया जाता है। ये रिवाज गत सौ दो सौ वर्ष के बने हुए नहीं हैं, तीन सौ वर्ष पुराने सरकारी कागजों में इनका उल्लेख है जिससे अनुमान होता है कि ये प्रथायें अत्यन्त पुरानी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जो जातियाँ हिंदू समाज में सम्मिलित हुईं उन्होंने भारतीय देव देवियों और कुछ रहन सहन को तो स्वीकार कर लिया परन्तु अपने रिवाजों को भी उन्होंने नहीं छोड़ा। ये जातियां कहां से आईं ? ये भारतीय हैं या विदेशी ? इन प्रश्नों का पूर्णतः सन्तोषप्रद उत्तर नहीं दिया जा सकता, परन्तु यह तो निर्विवाद प्रतीत होता है कि ऋग्वेद में जिन दस्यु या दासों का उल्लेख आता है, वे ये लोग नहीं हैं।

ऊपर के तीन वर्णों की उपजातियां बनना अभी शुरू नहीं हुआ था। ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य सब अपने अपने वर्ण में समान थे। न इनमें भिन्नता थी और न छोटा ब्राह्मण या ऊंचा ब्राह्मण आदि भेद अभी शुरू हुए थे। ब्राह्मणों का परिचय अपनी शाखा तथा गोत्र से दिया जाता था। जहाँ किसी ब्राह्मण का उल्लेख है तो उसकी शाखा दी गई है और गोत्र बतलाया गया है। इस युग में पंच द्राविड़ और पंच गौड़ ब्राह्मणों का भेद नहीं था, और न उस समय ब्राह्मण कान्यकुब्ज, ब्रजवासी, मैथिल आदि कहलाते थे। देश भेद से नाम भेद कुछ कुछ बारहवीं शताब्दी में आरम्भ हुआ था और तेरहवीं शताब्दी में पुष्ट और दृढ़ हुआ था। तब जो कान्यकुब्ज प्रदेश के रहने वाले थे वे कान्यकुब्ज, जो सरयू नदी के उस पार निवास करते थे वे सूर्यपाटी, जो गौड़ देश के निवासी थे वे गौड़ कहलाने लगे। यहां तक कि नगर और जिले की दृष्टि से भी उपजातियां बनने लगीं। राजस्थान में जो श्रीमाल के रहने वाले थे वे श्रीमाली ब्राह्मण और जो पुष्कर से सम्बन्धित थे वे पुष्करणा ब्राह्मण हो गये। किसी प्रदेश के साथ अपना नाम जोड़ने से तो कुछ सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का अनुमान होता है, सम्भवतः इसीलिये देश के अनुसार ब्राह्मणों की उपजातियां बनी हों। परन्तु किसी नगर विशेष के नाम पर जाति बनना विचित्र है। मुसलमानों में यह रिवाज था कि गजनी का रहने वाला गजनवी, खिलज में रहने वाला खिल्जी और गोर में रहने वाला गोरी कहलावे। शायद इसी प्रवृत्ति को ले कर श्रीमाली ब्राह्मणों का तेरहवीं या चौदहवीं शताब्दी में प्रादुर्भाव हुआ है। परन्तु इसकी पुष्टि के वास्ते अभी और ऐतिहासिक खोज की आवश्यकता है। कुछ ऐसे ही कारणों से इस युग में ब्राह्मणों की अनेक उपजातियाँ बनने लगीं। बारहवीं

शताब्दी के अन्त में उत्तर के ब्राह्मण पंच गौड़ और दक्षिण के पंच द्राविड़ कहलाने लग गये थे। फिर पंच गौड़ों के अनेक भेद हो गये और उसी प्रकार पंच द्राविड़ों में भी कई उपजातियां बन गईं। यही दशा गुजरात और काठियावाड़ में हुई। क्षत्रियों के भेदोपभेद इस प्रकार नहीं हुए। प्राचीन काल में क्षत्रियों के भेद थे सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी, यदुवंशी आदि परन्तु अब और प्रकार के भेद होने लगे। सूर्यवंशियों और चन्द्रवंशियों के अनेक भेद हो गये परन्तु ये देशभेद के अनुसार नहीं हुए। क्षत्रियों में ऐसी प्रथा चली कि यदि किसी वंश में कोई महापराक्रमी और शक्तिशाली पुरुष उत्पन्न हुआ तो उसके वंशज सब उसके नाम से विख्यात होने लगे। जैसे एक राजपूत वंश में गुहिल बड़ा प्रतापी हुआ तो उसके वंशज गुहिलोत कहलाने लगे। इसी प्रकार चहमान के वंशज चौहाण और प्रतिहार के वंशज पडिहार कहलाने लगे। कुछ राजपूत अपने देश और गांव से भी विख्यात हुए। और कभी ऐसा हुआ कि शासकों के नाम पर देश का नाम हो गया। राजपूतों के अब छत्तीस कुल माने जाने लगे परन्तु इनमें जाति भेद उत्पन्न नहीं हुआ। केवल यह रिवाज चला कि चौहाण का विवाह चौहाणों में नहीं हो सकता और इसी प्रकार राठोड़, कछावा आदि का विवाह भी अपनी अपनी जाति में नहीं हो सकता। चौहाण का विवाह राजपूतों में होना चाहिये परन्तु अपनी जाति या कुल के बाहर। वैश्यों में ब्राह्मणों की भांति प्रायः देश-भेद से जातियां बनने लगीं। अग्रवाल, खंडेलवाल, ओसवाल आदि वैश्यों की उप-जातियां सब इसी युग के उत्तर काल की देन हैं।

इतिहासकारों ने राजपूतों की उत्पत्ति के विषय में एक बड़ा किन्तु व्यर्थ विवाद खड़ा कर रखा है। अंग्रेज इतिहासकारों ने यह मन्तव्य प्रकट किया कि राजपूत हूण और सीथियन जाति के हैं जो भारतवर्ष पर आक्रमण करने के लिये बाहर से आये थे, परन्तु कालान्तर में हिन्दुओं ने अपने समाज में मिला लिया। इनमें से कुछ गौड़ और भील भी बतलाये जाते हैं। दूसरा मत यह है कि राजपूतों में कुछ प्राचीन क्षत्रिय हैं और कुछ हूण तथा सीथियन। तीसरा मत यह है कि राजपूत प्राचीन क्षत्री हैं लेकिन इन लोगों ने हूणों को भी समकक्ष मान लिया था और उनके साथ विवाह सम्बन्ध करके उनको आत्मसात् कर लिया था। इस पुस्तक में इस विवाद का विशद विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है। केवल इतना जान लेना पर्याप्त है कि राजपूतों में कुछ हूण और सीथियनों का भी रक्त हो सकता है।

इस युग में स्पर्शास्पर्श कुछ चल पड़ा था। जो लोग किसी न किसी प्रकार मुसलमान बना लिये जाते थे उनको कुछ अर्से तक तो अपने समाज में ले लेना हिन्दुओं ने जारी रक्खा किन्तु ग्यारहवीं शताब्दी से यह प्रथा बदलने लगी और जो मुसलमान हो गये थे सदा के वास्ते अलग हो गये। खाने पीने के विषय में मुसल-मानों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं था। हिन्दू लोग मुसलमानों को अपने बर्तनों में खाना नहीं खिलाते थे। इसके लिये पत्तल, दोने या मिट्टी के पात्र काम में लाये जाते थे जो फेंक दिये जाते थे। हिन्दू लोग भी अपनी अपनी जाति के बाहर अन्य

किसी के साथ भोजन नहीं किया करते थे। शूद्र का अन्न निषिद्ध था। परन्तु अभी नियम कठोर नहीं हुए थे। यज्ञोपवीत से पहिले ब्राह्मण बालक किसी द्विज के हाथ का बना हुआ भोजन कर सकता था, और आवश्यकता होने पर सत्शूद्रों के यहाँ भी ब्राह्मण भोजन कर सकता था। इस समय भी राजस्थान में दो तीन जातियों के सिवाय, जिनकी संख्या अत्यन्त अल्प है, अन्य किसी के साथ भोजन या पानी के स्पर्शा-स्पर्श का विशेष धार्मिक निषेध नहीं है।

विवाह के विषय में भी अभी पूरी कठोरता नहीं थी। अच्छे और अभिनन्द-नीय विवाह तो वे ही माने जाते थे जो अपनी जाति में हों। ब्राह्मणों की उपजातियों ने अभी निश्चित रूप धारण नहीं किया था। शास्त्रीय दृष्टि से ब्राह्मण का विवाह किसी भी ब्राह्मण कन्या से हो सकता था परन्तु प्रथा यह बनती जाती थी कि विवाह सम्बन्ध अपने ही प्रान्त या प्रदेश में हो। जब आवागमन के साधन सुलभ नहीं थे और सारा देश अनेक छोटे बड़े राज्यों में विभक्त था तो यही व्यवहार की बात थी कि विवाह सम्बन्ध दूर देश में नहीं किया जावे। प्रादेशिक जातियां बनने का यह भी एक मुख्य कारण था। क्षत्री ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक समर्थ और सम्पन्न थे, इस-लिये उनके विवाह दूरस्थ स्थानों में भी हो सकते थे। इसके अतिरिक्त क्षत्रीवर्ग का जातीय संगठन भी अपने ही ढंग का था। इनमें देश के अनुसार नहीं किन्तु प्रायः वंश या कुल के अनुसार जातियां बनी थीं। इसलिये अपनी ही जातियों में विवाह नहीं हो सकता था। क्षत्रियों में छत्तीस कुल माने जाते थे। एक वंश या जाति का क्षत्री शेष पैंतीस कुलों में जहाँ निश्चय हो सके वहाँ विवाह कर सकता था। ब्राह्मण के लिये शास्त्राज्ञा थी कि वह ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों में विवाह कर सके। क्षत्री भी क्षत्री, वैश्य और शूद्र वर्ण में विवाह कर सकता था। इसी प्रकार वैश्य अपने तथा शूद्र वर्ण की कन्या के साथ विवाह कर सकता था। परन्तु शर्त यह रखी गई थी कि पहिले अपने वर्ण में विवाह किया जावे तदनन्तर अपने से नीचे वर्ण में विवाह किया जा सकता है। इस प्रकार का विवाह अनुलोम विवाह कहलाता था। इससे उत्पन्न होने वाली सन्तानों को उत्तराधिकार आदि में कोई बाधा नहीं थी। ज्यों ज्यों जाति बंधन अधिक कठोर होते गये त्यों त्यों शूद्र वर्ण में विवाह करना द्विजों में हीन माना जाने लगा। फिर यह भी प्रथा चली कि अनुलोम विवाह में क्षत्राणी से या वैश्य या शूद्र पत्नी से उत्पन्न हुए बालक माता के वर्ण में शामिल किये जावें, पिता के वर्ण में नहीं। इस युग के प्रसिद्ध कवि और विद्वान् राजशेखर के दो पत्नियां थीं—एक ब्राह्मणी और दूसरी क्षत्राणी। ब्राह्मणी से उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण माने गये और क्षत्राणी से उत्पन्न क्षत्री। यह भी संभव है कि क्षत्रियों ने इन पुत्रों को सर्वांशतः कुलीन और शुद्ध नहीं माना हो। राजशेखर बड़ा प्रसिद्ध विद्वान् था और राजकुलों में उसका सर्वत्र सम्मान था। क्षत्राणी से उत्पन्न उसके पुत्र कई गांवों के स्वामी और सामन्त बने। परन्तु यह उसके व्यक्तिगत प्रभाव की बात थी। साधा-रणतया ऐसे सम्बन्ध बहुत अच्छे नहीं माने जाते थे। लोग उनको सहन करते थे परन्तु

उनका अभिनन्दन नहीं करते थे। यदि छोटे वर्ण वाला पुरुष अपने से उच्च वर्ण की कन्या से विवाह करता था तो यह प्रतिलोम विवाह कहलाता था और अत्यन्त हीन तथा हेय माना जाता था। वास्तव में उत्तर राजपूत काल में अर्थात् ग्यारहवीं शताब्दी के पश्चात् अनुलोम और प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाह प्रायः बन्द हो गये थे। विशेष अवस्था में तत्कालीन स्मृतिकारों ने पतित्याग का विधान किया है परन्तु द्विजों में इसका प्रचार नहीं हुआ। जाति बंधन ग्यारहवीं शताब्दी के पश्चात् अधिकाधिक कठोर ही होते गये, ढीले नहीं पड़े। शायद इसका कारण होगा मुसलमानों के आक्रमण, अत्याचार, रक्तपात और लूट-खसोट।

राजपूत युग का शासन और प्रबन्ध

राजपूत युग में सर्वत्र एकतंत्र राज्य स्थापित हो चुका था। समस्त भारतवर्ष अनेक राज्यों में विभक्त था। इनमें कोई बड़े थे और कोई छोटे। परन्तु शासन और प्रबन्ध की व्यवस्था प्रत्येक राज्य में प्रायः एक सी थी। भेद केवल इतना ही था कि बड़े राज्य में आवश्यकता के अनुसार कई प्रान्त होते थे और छोटे राज्य में केवल एक दो प्रान्त और यदि वह बहुत ही छोटा हुआ तो उसमें प्रान्त की आवश्यकता ही नहीं हुआ करती थी। राज्य के आकार और आय के अनुसार राज्य कर्मचारियों की संख्या अधिक या कम निर्धारित की जाती थी और इसी के अनुसार राजा का ठाट-बाट हुआ करता था। गौतम बुद्ध के जन्म से गुप्त साम्राज्य की स्थापना तक अर्थात् लगभग एक हजार वर्ष तक हमारे देश में कई गणतन्त्र राज्य थे परन्तु गुप्त साम्राज्य की स्थापना पर ये सब विलीन हो गये। राजपूत काल में इनकी स्मृति भी नहीं रही और एकतन्त्र शासन ही एकमात्र सर्वमान्य शासन प्रणाली रह गई। इसके लिये गुप्त साम्राज्य का शासन आदर्श माना जाता था। उसके पश्चात् उत्तर भारत में जो राज्य या साम्राज्य स्थापित हुए, सबने अपना ढांचा उसी आदर्श के अनुसार बनाया और इसी का अनुकरण दक्षिण भारत के राष्ट्रकूट, चालुक्य, पल्लव और चोल राज्यों में स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार कुछ हेर-फेर के साथ किया गया।

राजा : एकतन्त्र राज्य में सर्वोच्च स्थान राजा का था। वास्तव में राजा के बिना राज्य की कल्पना ही असंभव मानी जाती थी। यह परम्परागत विचार बन गया था कि जहाँ राज्य है वहाँ राजा होना ही चाहिये। राज्य को यदि एक भव्य और विशाल भवन मान लिया जावे तो राजा उसका सुन्दर और स्वर्णनिर्मित कलश था। इसलिये राजा के रहन-सहन में और गति-विधि में बड़ा ठाट-बाट और ऐश्वर्य आवश्यक माना जाता था। राज्य की सम्पदा का बहुत बड़ा भाग कर के रूप में राजधानी में केन्द्रित हुआ करता था। इसलिये प्रत्येक राज्य में राजधानी का वैभव और ऐश्वर्य निराला ही होता था। इसमें सर्वाधिक भव्य और सम्पन्न स्थान राजप्रासाद का होता था। इसी में राजा का अन्तःपुर, राजसभा, सरकारी दफ्तर, हाथी व घोड़ों के तबेले,

शस्त्रागार आदि के लिये स्थान बने हुए होते थे। इसीलिये राजप्रासाद स्वयं एक नगर सा बन जाता था। तत्कालीन कला और कौशल इसके निर्माण पर निछावर किया जाता था। इसीलिये मौर्य साम्राट के महलों को देख कर फाहियान अवाक् हो गया था और आश्चर्य के साथ कह उठा था कि ये भवन मनुष्यों ने नहीं वरन् भूत-प्रेतों ने बनाये होंगे। यही परम्परा राजपूत काल में भी बनी रही। लेकिन इस काल में अधिक ध्यान और द्रव्य मंदिरों के निर्माण पर व्यय किया गया। इस समय गुर्जर-प्रतिहार, राष्ट्रकूट, चालुक्य और शैव तथा पाल वंशीय राजाओं के राजप्रासादों का पता नहीं चलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मुसलमानों ने इनको बिल्कुल नष्ट कर दिया या कालान्तर में ये स्वतः ही नष्ट हो गये, परन्तु यह अनुमान किया जा सकता है कि कन्नौज, बादामी, कल्याणी और कांची आदि राजधानियों में अवश्य ही सुन्दर और विशाल राजभवन होंगे।

राजा छोटा हो या बड़ा उसका विरुद् बहुत बड़ा हुआ करता था। यह प्रथा कुशान राजाओं ने प्रचलित की थी। उन लोगों को लम्बे और ऐश्वर्यसूचक नामों से प्रेम था। उनका अनुकरण गुप्त वंशीय राजाओं ने किया और फिर यह परम्परा नहीं टूटी। यहाँ तक कि ऐसे छोटे राज्यों के स्वामी भी जिनका क्षेत्रफल डेढ़ सौ मील से भी कम था, कल परसों तक महाराजाधिराज कहलाते थे। गुप्त वंशीय शासकों का विरुद् था महाराजाधिराज, परमभागवत, परमेश्वर, विक्रमादित्य आदि। इसी प्रकार के लंबे विरुद् कन्नौज के सम्राटों ने और दक्षिण भारत के राष्ट्रकूट और चालुक्य शासकों ने धारण किये थे। यही परंपरा भारत के मुगल शासकों ने भी ग्रहण कर ली थी। बाबर महाराजाधिराज, परमेश्वर आदि कहलाते थे। दक्षिण के राजाओं के विरुद् भी इसी से मिलते जुलते थे। राजा परंपरा से ईश्वर का अंश माना जाता था, इसलिये राज्य का कोई दूसरा व्यक्ति उसका समकक्ष नहीं हो सकता था। सिद्धान्ततः वह राज्य के जन और धन का स्वामी था। अतः शासन का संचालन उसकी इच्छानुसार हुआ करता था। इस युग में राजशक्ति के विषय में मनु का सिद्धान्त सर्व सम्मत हो गया था। मनु ने लिखा है कि ईश्वर ने लोकरक्षा के लिये राजा की सृष्टि की है। वह आठों दिक्पालों का सत्व लेकर बनाया गया है। उसके क्रोध में मृत्यु का और प्रसन्नता में लक्ष्मी का निवास है। चाहे वह बालक हो तो भी वह देववत् आदर का अधिकारी है। राजा से दूसरा स्थान अग्रमहिषी का था और लगभग वही स्थान युवराज का। ये दोनों अपनी ओर से अपने कृपा-पात्रों को भूमि दान कर सकते थे, परन्तु इनके हुक्म पर राजा की अनुमति आवश्यक मानी जाती थी। छोटे छोटे राजा बड़े राजा के सामन्त बन जाते थे। ये लोग राजा को अपना स्वामी मान कर अपनी अधीनता को सूचित करने के लिये उसको कर भेंट करते थे। विजित राजाओं के विषय में यह भारत की परंपरागत नीति थी। पराजित राजा को समूल नष्ट नहीं किया जाता था। उसको राज्य का प्रतिष्ठित सामन्त बना लिया जाता था। प्रत्येक बड़े और छोटे राज्य में ऐसे कई सामन्त होते थे। कन्नौज राज्य में भी ऐसे कितने

ही सामन्त थे। इनमें कोई पराजित राजा थे, कोई सम्राटों के बन्धु थे और कोई ऐसे प्रसिद्ध योद्धा थे जो अपने शौर्य और पराक्रम के कारण सामन्त पद पर प्रतिष्ठित हो गये थे। सामन्त मंडल से परिवेष्ठित रहना राजा की शोभा थी। उसकी राजसभा में सामन्तों का मुख्य स्थान था, परन्तु राज्य के शासन से सामन्तों का कोई सम्बन्ध नहीं माना जाता था।

शासन कार्य में राजा को सहायता और परामर्श देने के लिये एक मंत्रिमंडल होता था। विभिन्न विभागों के लिये पृथक् पृथक् मंत्री होते थे और इनके नाम भी जुदा जुदा होते थे। पुरोहित का पद भी मंत्री के समान माना जाता था। मंत्रियों से दूसरे दर्जे के अधिकारी भी कई होते थे। इनमें प्रतिहार, सेनाधिपति, भांडागारिक, अक्षपटालिक, भिषक्, नैमित्तिक और अन्त:पुरिक और कृत विशेष उल्लेख के योग्य हैं। ये सब प्राय: राजधानी में रहते थे और राजा के साथ इनका सीधा सम्बन्ध था। प्रतिहार राजप्रासाद की रक्षा करता था। उसकी आज्ञा से ही वहां प्रवेश होता था। भांडागारिक सब राजसी सामान की देखरेख करता था। अक्षपटालिक राजाज्ञाओं को सुरक्षित रखता था। यह पद बड़ा सम्मानित समझा जाता था। किसी विषय पर विवाद उपस्थित होने पर इसी से पूछा जाता था कि राजाज्ञा क्या हुई थी। नैमित्तिक उस समय ज्योतिषी को कहते थे। प्राय: प्रत्येक कार्य को करने से पहिले राजा इस कर्मचारी से मुहूर्त, शकुन या लग्न पूछा करता था। अन्त:पुरिक राजा के अन्त:पुर या रनवास का प्रबन्ध करता था। प्राय: एक राजा के कई रानियां होती थीं। हर एक रानी के कई दासियां हुआ करती थीं। इनमें किसी को क्या आवश्यकता होती थी और किसी को क्या। इसके अतिरिक्त रानियों में और दासियों में पारस्परिक द्रोह और द्वेष भी रहा ही करता होगा। रानियों को वस्त्र आभूषण खरीदने की सदा ही जरूरत पड़ती होगी। इन तमाम टंटों के वास्ते राजा को समय मिलना कठिन था। इसलिये अन्त:पुर का एक अध्यक्ष अर्थात् अन्त:पुरिक हुआ करता था। शेष अर्थात् सेनापति और भिषक् की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। इनका पद और कर्त्तव्य स्पष्ट हैं।

इनके अतिरिक्त छ: और अधिकारियों का विशेष महत्व था। ये लोग राजधानी में रहते होंगे और ऐसे ही अधिकारी या इनसे दूसरे दर्जे के ऐसे अधिकारी भुक्ति (प्रान्त), विषय (डिविजन) और अधिष्ठान (जिले) में रहा करते होंगे। अग्रहार (तहसील) और ग्राम में ये लोग कभी कभी जाया करते होंगे। इनमें प्रथम दो को तो गांव या तहसीलों में जाने का काम भी नहीं पड़ता होगा। इन राजकर्मचारियों के नाम हैं (१) कर्याधिकार पुरुष, (२) तुर्गाधिकार पुरुष, (३) पट्टनाधिकार पुरुष, (४) आकराधिकार पुरुष, (५) स्थानाधिकार पुरुष, (६) गोकुलाधिकार पुरुष, और (७) कायस्थ या कर्णिक। इनमें कर्याधिकार पुरुष करी अर्थात् हाथियों का प्रबन्ध करता

था और दुर्गाधिकारी घोड़ों का। ये दोनों अधिकारी राजधानी में रहा करते होंगे। पट्टनाधिकार पुरुष नगर का प्रबन्ध करता था। यह राज्य के प्रत्येक नगर में नियत रहता होगा और राज्य में जितने नगर होते होंगे उतने ही पट्टनाधिकार पुरुष नियत किये जाते होंगे। इसके कर्त्तव्य का वर्णन नहीं मिलता परन्तु इसके नाम से ही स्पष्ट है कि यह क्या काम करता होगा। ऐसा जान पड़ता है कि जो काम आजकल "म्युनिसिपल बोर्ड का एग्जिक्यूटिव आफीसर" करता है लगभग वही काम यह भी करता होगा। यह भी संभव है कि मुगल बादशाहों में जो काम शहर कोतवाल करता था, उससे मिलता जुलता इस अधिकारी का काम होगा। आकराधिकार पुरुष लोहे, चांदी, सोने आदि की खानों का अध्यक्ष था। राज्य में जहां जहां किसी धातु की खान होती होगी वहीं काम के अनुसार एक या दो आकराधिकार पुरुष नियत किये जाते होंगे। इस प्रकार राज्य में कई आकराधिकार पुरुष होते होंगे। स्थानाधिकार पुरुष प्रत्यक्षतः पुलिस का साधारण अधिकारी हुआ करता होगा। इसकी नियुक्ति प्रत्येक नगर और बड़े कस्बे में हुआ करती होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि स्थानाधिकार से ही थानादार शब्द बना है और उसके कर्त्तव्य में भी कोई अन्तर नहीं आया। गोकुलाधिकार पुरुष नाम से ही स्पष्ट है। इसका काम था गौ, बैल आदि की सब प्रकार से रक्षा तथा उन्नति करना। ये सब भुक्ति, विषय या अधिष्ठान के कर्मचारी प्रतीत होते हैं।

राज्य अपने विस्तार के अनुसार कई भुक्तियों में विभक्त होता था और भुक्ति विषयों में तथा विषय अधिष्ठानों में। एक अधिष्ठान में कई अग्रहार होते थे और अग्रहार कई गांवों के समूह को कहा जाता था। भुक्ति, विषय, अधिष्ठान, और अग्रहार को क्रमशः प्रान्त, डिविजन, जिला और तहसील कहा जा सकता है। भुक्ति का अध्यक्ष कोई सामन्त, महासामन्ताधिपति, महादण्डनायक और महाप्रतिहार तथा महाराजाधिराज तक कहलाते थे। प्रान्त में सामन्त एक प्रकार का राजा ही था। उसके अधिकार स्वभावतः बड़े विस्तृत थे। वह अपनी ओर से भूमिदान भी कर सकता था परन्तु इसके लिये राजा की अनुमति या पुष्टि आवश्यक होती थी। अपनी भुक्ति में शान्ति बनाये रखने के वास्ते सामन्त के पास सेना होती थी। यह सेना भुक्ति में ऐसे स्थानों पर रखी जाती थी जो सैनिक दृष्टि से उपयुक्त हों। भुक्ति में यदि कोई गड़बड़ होती थी तो भुक्ति सामन्त इस सेना के द्वारा उसका शमन कर देता था। इसीलिये उसको तन्त्रपाल या महादण्डनायक भी कहा जाता था। राज्य की सीमाओं पर और विशेष कर ऐसे स्थलों पर जहां से राज्य में प्रवेश करने का मौका हो वहां सेना अवश्य रखी जाती थी। इस प्रकार की सेना के नायक को कोट्टपाल (दुर्गाध्यक्ष), मर्यादाधुर्य या धुरोधिकारी कहा जाता था। गांव के मुखिया का नाम उस काल में गामगामिक था। बड़े बड़े गांवों के मुखिये महत्तर और महत्तम भी कहलाते थे। गांव का समस्त प्रबन्ध गामगामिक के हाथ में था। राजकर्मचारी को किसी गांव के विषय में जो कुछ करना धरना हो वह गामगामिक के द्वारा किया जाता

था। दक्षिण भारत में प्रत्येक गांव में एक संस्था होती थी जो उर कहलाती थी। यह ग्रामनिवासियों की पंचायत थी जो गांव का सब प्रकार का प्रबन्ध करती थी और सुख तथा शान्ति का पूरा ध्यान रखती थी। अग्रहार के गांवों में जितने ब्राह्मणों के पास भूमि होती थी उनकी भी एक पंचायत बनाई जाती थी। यह सभा कहलाती थी। इसमें ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य जाति के लोग नहीं हुआ करते थे। तीसरी संस्था थी नगरम्। यह अग्रहार के व्यापारियों और सेठों की सभा थी। ये तीनों संस्थायें साथ साथ काम करती थीं और पारस्परिक सहयोग के द्वारा तालाबों, सड़कों, और मंदिरों की रक्षा तथा मरम्मत करवाया करती थी। इनका काम यह भी था कि ग्राम के कृषकों को अपनी कृषि के लिये नहरों से पर्याप्त मात्रा में तथा यथासमय पानी मिला करे। ये संस्थायें अपने कार्य संचालन के लिये नियम बनाती थीं, आवश्यकतानुसार उपसमितियां नियुक्त या निर्वाचित करती थीं और कर्मचारी नियत करती थीं।

मुसलमानों के आक्रमण

अरबों का सिंध राज्य और प्रभाव : अरब लोगों ने सिंध पर आठवीं शताब्दी के आरम्भ में अपना प्रभुत्व तो स्थापित कर लिया, परन्तु न तो वे सिंध प्रान्त में अपने शासन को दृढ़ कर सके और न सिंध से बाहर भारत में वे अपनी शक्ति का विस्तार कर सके। दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में राजपूत नरेशों ने उनको नहीं बढ़ने दिया और सिंध के अन्दर स्वयं अपनी निर्बलताओं तथा मतभेदों के के कारण वे अपनी स्थिति को दृढ़ नहीं कर सके। दसवीं शताब्दी में सिंध के दो भाग हो गये। दक्षिण में एक मुसलिम घराना राज्य करता था और उत्तर में दूसरा। उत्तर के शासक एक नये मुसलिम सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इनमें और सुन्नी मुसलमानों में गहरा मतभेद था। सिंध की आन्तरिक स्थिति ऐसी निर्बल थी कि यदि खैबर की घाटी से नये मुसलमान भारत पर आक्रमण नहीं करते तो शनैः शनैः सिंध से मुसलमान राज्य विलीन हो जाता। यदि कन्नौज के प्रतिहार, या गुजरात के चालुक्य भी सिंध पर आक्रमण करते तो इन जीर्ण और शीर्ण राज्यों को नष्ट कर सकते थे परन्तु पारस्परिक द्वेष के कारण वे विदेशी शक्ति का सामना करने से डरते थे। सिंध में लगभग तीन सौ वर्ष तक अरब लोगों का राज्य रहा। भारत की इससे यह क्षति हुई कि उसका एक अंग टूट गया और मुसलमानों के लिये भारत में प्रवेश करने के लिये दरवाजा खुल गया। कई इतिहासकारों का मत है कि सिंध विजय एक महत्वहीन और फलहीन घटना थी। परन्तु यह मत ठीक नहीं है। सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से इससे मुसलिम जगत को बहुत लाभ हुआ। भारत का कला-कौशल और गणित, ज्योतिष तथा साहित्य आदि का ज्ञान पश्चिम एशिया में पहुँचा और भारतीय व्यापार से अरब लोगों को विपुल लाभ हुआ। भारत महासागर पर अरब नाविकों का एकाधिकार सा हो गया। वे लोग अपने जहाजों

द्वारा चीन तक पहुँचने लगे और अरब देश सम्पन्न तथा मालामाल हो गया। भारत में अरब यात्री और सौदागर यत्र तत्र घूमने लगे। एक अरब विद्वान ने कई वर्ष तक काशी में संस्कृत पढ़ने के लिए निवास किया। पश्चिमीय समुद्रतट के नगरों और कस्बों में मुसलमानों की अच्छी बस्तियां बस गईं। आरम्भ में ये लोग केवल व्यापार के लिये बसे थे परन्तु अब सिन्धी शासकों के प्रभाव का लाभ उठा कर ये अपनी स्थिति दृढ़ करने लगे। कई स्थानों पर मसजिदें बन गईं। बस्तियों में काजी नियुक्त हो गये। मुसलिम जनता के मुकदमे काजी लोग ही फैसल करने लगे। इस प्रकार कई स्थानों पर मुसलमानों का प्रभाव जम गया। इन लोगों की कई पीढ़ियां भारत में व्यतीत हो चुकी थीं। धर्माभिमान के कारण ये लोग अपने को किसी प्रकार हीन नहीं मानते थे, बल्कि ब्राह्मण और क्षत्रियों की बराबरी करते थे और मुसलिम देशों को अर्थात् अरब और ईरान को अपनी शक्ति का स्रोत समझते थे। अतः नवीं शताब्दी के अन्त में जब भारत पर खैबर की घाटी से मुसलमानों के आक्रमण होने लगे तो भारतीय मुसलिम जनता में अपूर्व उमंग और उल्लास उत्पन्न हुआ होगा। लगभग बीस वर्ष में सुबुक्तगीं और महमूद गजनी के तूफानी आक्रमणों से सम्पूर्ण उत्तर भारत और गुजरात तथा काठियावाड़ में घोर त्रास व्याप्त हो गया और समस्त पंजाब पर मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया।

तत्कालीन पंजाब और उसकी संस्कृति : दसवीं शताब्दी में पंजाब पर ब्राह्मणों का राज्य था और काबुल इनकी राजधानी थी। इनका राज्य-विस्तार काबुल से लगभग सतलज तक था। इस प्रकार पंजाब पूर्व की ओर कन्नौज राज्य से मिला हुआ था और पश्चिम की ओर मुसलिम जगत् से। काबुल, वाहिन्द, पेशावर, लाहौर और जलंधर इसके मुख्य नगर थे। काबुल को राजधानी इसलिये बनाया होगा कि उधर पंजाब की रक्षा करना अधिक आवश्यक था। भारत पर जितने आक्रमण हुए अधिकांश खैबर की घाटी से हुए थे। यूनानी, पार्थियन, शक, सीथियन और हूण सब इसी मार्ग से पंजाब में घुसे थे। इससे पंजाब की संस्कृति वास्तव में आर्य संस्कृति नहीं किन्तु एक मिश्रित संस्कृति बन गई थी। यों तो यह देश वैदिक सभ्यता का उद्गम स्थान था। ब्रह्मर्षि देश और ब्रह्मावर्त देश में ही ऋषि और मुनियों ने गूढ़ तत्वों पर मनन और चिन्तन किया था, परन्तु गत तेरह सौ वर्ष में पंजाब का रूपान्तर हो चुका था। जब कोई विदेशी आक्रमण होता था तो उसका धक्का सबसे ज्यादा पंजाब को लगता था और उसका प्रभाव भी सबसे अधिक इसी प्रान्त पर पड़ता था। इसीलिए पश्चिमी पंजाब में यत्र तत्र कहीं लोगों में यूनानी खून था, कहीं पार्थियन, कहीं सीथियन और कहीं हूण। भारत के अन्दर के भागों में भी यह मिश्रण हुआ परन्तु उतना नहीं, जितना पंजाब में। इसके अतिरिक्त मालवा, राजस्थान, गुजरात और काठियावाड़ में आर्य सभ्यता की प्रधानता थी,

इसलिये विदेशी तत्व भारतीयता में घुल-मिल गये और आर्य संस्कृति ने सबको आत्मसात् कर लिया, बल्कि अपने को और अधिक पुष्ट कर लिया। यह बात पंजाब में नहीं हुई और न हो सकती थी। यहां से आर्य संस्कृति और आर्य शक्ति का केन्द्र दूर था। कन्नौज, पाटलिपुत्र, काशी, उज्जैन, नासिक, मानखेड, धार, कांची आदि सब सैकड़ों मील दूर थे। और अरेकोशिया, जड्रोशिया, ईरान, बोकट्रिया और तुर्किस्तान काबुल से पास थे। इसलिये काबुल से गान्धार तक ऐसी बड़ी बड़ी बस्तियां थीं जो कहने को हिन्दू थीं परन्तु जिनके व्यवहार और विचार हिन्दुओं जैसे नहीं थे। न इनमें दृढ़ता थी न निष्ठा। इनका दृष्टिकोण जितना भारतीय था उतना ही विदेशीय भी था।। जब मुसलिम धर्म का उदय हुआ और संसार में इसलाम का प्रचार हुआ तथा तलवार के बल से अन्य धर्मावलंबियों को मुसलमान बनाना मुसलिम शासकों का और जनता का जीवनोद्देश्य बन गया तो पश्चिमी पंजाब में बहुत से मुसलमान आ घुसे होंगे। उस समय पासपोर्ट आदि का प्रबन्ध नहीं था। इसलिये कोई व्यापार करने, कोई केवल घूमने और कोई कुछ हुनर के बहाने पंजाब में आ बसे होंगे। इस प्रकार की मिश्रित जनता और मिश्रित संस्कृति एक दृष्टि से चाहे वांछनीय मानी जावे, परन्तु विदेशी आक्रमणों के समय यह आशा नहीं की जा सकती कि ऐसे लोग प्राणपण से आत्म-रक्षा करेंगे।

तुर्कों के आक्रमण : दशवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में तुर्क लोग पंजाब के ब्राह्मण शासकों के राज्य पर आक्रमण करने लगे। आरम्भ में पंजाब की पश्चिमी सीमा पर कुछ छेड़छाड़ हुई होगी, फिर काबुल पर आक्रमण हुआ और पंजाब के शासकों को काबुल छोड़ कर सिन्ध नदी के पूर्व की ओर वाहिन्द नगर को अपनी राजधानी बनाना पड़ा। फिर भी मुसलमानों का काबुल पर अधिकार स्थापित नहीं हुआ। विशेष अवसरों पर पंजाब के शासक वाहिन्द से काबुल जाते रहे और एक दो बार उनके राज्याभिषेक भी वहां हुए, परन्तु यह बात अधिक अर्से तक नहीं निभ सकी। जब अल्पतगीं नामक एक तुर्क ने गजनी पर अधिकार कर के उसको अपने नवनिर्मित राज्य की राजधानी बनाया तो पंजाब राज्य की सीमा पश्चिम की तरफ धीरे धीरे दबाई जाने लगी। सन् ६८० के लगभग अलप्तगीं के पुत्र सुबुक्तगीं ने जयपाल के राज्य पर चढ़ाई की। घमासान युद्ध हुआ और मुसलमान हारने लगे। इस युद्ध में महमूद गजनी अपने बाप सुबुक्तगीं के साथ था। उस समय वह केवल पन्द्रह वर्ष का था परन्तु उसकी बुद्धि और वीरता अपूर्व थी। उसने अपने पिता को सलाह दी कि युद्ध बन्द कर दिया जावे और युद्धस्थल के पास ही जो पीने का केवल एकमात्र चश्मा है उसमें खूब शराब डाल दी जावे। महमूद जानता था कि जयपाल और उसके सैनिक मद्यमिश्रित जल नहीं पियेंगे और प्यास से मर जावेंगे। उसने भारत की रीति रिवाज का अध्ययन कर रखा था। वह हिन्दुओं की निर्बलताओं को भली भांति समझता था। उसकी सलाह के अनुकूल चश्मे में बहुत सी शराब डाली

गई और हिन्दू युद्ध-शिविर में वास्तव में एक विकट समस्या उपस्थित हो गई कि क्या किया जावे। हिन्दू सैनिक प्यास से मरने लगे। इन तृषाकुल सैनिकों पर सुबुक्तगीं की सेना ने प्रबल आक्रमण किया और विजयश्री प्राप्त की। यह शराब की बात आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। जयपाल ब्राह्मण था। इस राजवंश का संस्थापक लल्लिय नामक एक ब्राह्मण वीर था जिसने पंजाब पर अपना प्रभुत्व कायम करके काबुल को अपनी राजधानी बनाया था। इस वंश में भीम देव, जयपाल देव कई वीर राजा हुए। जयपाल पांचवां राजा था। ये लोग वर्ण से ब्राह्मण थे परन्तु व्यवहार में राजपूतों जैसे ही थे। इनके विवाह सम्बन्ध राजपूतों में होते थे। इसलिये इनके परिवार में खानपान के विषय में विशेष प्रतिबन्ध नहीं माने जाते होंगे। जयपाल के सैनिक भी सब ब्राह्मण नहीं होंगे। शायद एक दो दिन युद्ध चलता तो ये लोग उस चश्मे के पानी को पीने भी लग जाते। कुछ घंटे ये निर्णय नहीं कर सके होंगे कि क्या किया जावे। यह स्थिति देख कर मुसलमानों ने आक्रमण कर दिया और स्थिति से लाभ उठाया। शास्त्रों में मांस-भक्षण इतना बड़ा पाप नहीं माना गया है जितना मद्यपान, परन्तु राजपूतों में सब कुछ चलता था। इस कहानी पर इसलिये विश्वास करना पड़ता है कि यह मुसलमान इतिहासकार ने लिखी है। यह उसका आंखों देखा वर्णन तो नहीं है, परन्तु इस घटना के लगभग पच्चीस वर्ष पश्चात् उसने अपना ग्रन्थ लिखा था और उस समय ऐसे सैकड़ों मुसलिम सैनिक जीवित थे जो इस युद्ध में लड़े थे।

समस्त पंजाब पर मुसलिम प्रभुत्व : इस युद्ध में जयपाल हार तो गया परन्तु उसके राज्य का अन्त नहीं हुआ। इसलिये महमूद गजनी ने सन् १००१ में उस पर आक्रमण किया और पेशावर के पास युद्ध हुआ जिसमें जयपाल और उसका परिवार बन्दी बना लिये गये। जयपाल को कुछ दिन बाद छोड़ दिया परन्तु वह पराजय से इतना लज्जित हुआ कि उसने अपने प्राणों का अन्त कर डाला। तब महमूद ने उसके पुत्र आनन्दपाल को मुक्त कर राज्य करने की इजाजत दे दी। परन्तु तुर्कों की आर्थिक मांगों और धार्मिक कट्टरताओं को अनन्दपाल सहन नहीं कर सका। अतः पेशावर के पास ही पुनः युद्ध हुआ जिसमें उसका रण-निमंत्रण स्वीकार करके धार, ग्वालियर, कालिंजर, कन्नौज, दिल्ली और अजमेर के नरेशों ने उसकी सहायता के लिये सेना भेजी थीं। इस युद्ध में मुसलमानों के पैर उखड़ गये थे और वे रण-भूमि को छोड़ कर भागने ही वाले थे कि अचानक स्थिति बदल गई और वे हारते हारते जीत गये। आनन्दपाल का हाथी मुसलमानों के शस्त्र और अस्त्रों की वर्षा से आहत हो कर युद्ध क्षेत्र से भाग निकला जिसको देखकर उसकी सेना में भगदड़ मच गई। महमूद गजनी ने इस स्थिति में हिन्दुओं पर जोर से आक्रमण किया और विजय प्राप्त की। इसके पश्चात् भी आनन्दपाल राज्य करता रहा परन्तु यह निभने वाली बात नहीं थी। कुछ वर्ष बाद फिर युद्ध हुआ जिसमें आनन्दपाल ने वीरगति

प्राप्त की और उसका पुत्र त्रिलोचनपाल राजसिंहासन पर बैठा परन्तु वह थोड़े ही समय राज्य कर सका। महमूद गजनी की विजय-बाढ़ रुकने वाली नहीं थी। अतः खलिलय के राजवंश का अन्त हो गया और समस्त पंजाब पर मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया।

अन्य स्थानों पर आक्रमण : उस समय गोर में भी हिन्दुओं का राज्य था। महमूद ने उस पर हमला किया और वहां के राजा को हरा कर हिन्दू जनता को मुसलमान बना लिया। इसी प्रकार सिन्धु नदी से पश्चिम में रहने वाले सब हिन्दुओं को तलवार के बल से मुसलमान बना कर उसने अपने राज्य की नींव दृढ़ की और शेष पंजाब के विषय में भी इसी नीति का अनुसरण किया, परन्तु पेशावर से ज्यों ज्यों वह पूर्व की ओर बढ़ता था त्यों त्यों हिन्दुओं में धार्मिक दृढ़ता अधिक पाई जाती थी। इसलिये यह बात असंभव थी कि समस्त हिन्दुओं को सामूहिक रूप से मुसलमान बनाया जा सके। इस प्रकार धर्म-परिवर्तन करवाने में मुसलमान शासकों के दो मुख्य उद्देश्य पूरे होते थे। प्रथम तो ज्यों ज्यों इसलाम का प्रचार होता जाता था त्यों त्यों मुसलिम शासक की मुसलमान जगत में कीर्ति बढ़ती जाती थी क्योंकि मुसलमान जनता इस बात पर कभी विचार नहीं करती थी कि प्रचार किस विधि से किया गया है। इसलाम के प्रचार के लिये बल प्रयोग करना और गैर मुसलिम देशों को तबाह करना भी पुण्य कार्य माना जाता था। मुसलमानों के धार्मिक ग्रन्थों में कुछ भी लिखा हो परन्तु आम जनता का विचार तथा मन्तव्य यही था और इसी नीति के अनुसार महमूद गजनी ने भारत को पुनः पुनः लूटा और नष्ट किया था। पंजाब पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के बाद महमूद ने भारत पर कई आक्रमण किये। प्रतिवर्ष उसका यही धन्धा था कि मुसलमान लुटेरों की सेना तैयार करके किसी सम्पन्न नगर या मंदिर पर आक्रमण करे, और वहां से विपुल धन राशि लूट कर अपने देश को ले जावे। इस उद्देश्य से उसने मुलतान के मुसलिम राज्य पर आक्रमण किया और वहां के मुसलमान शासकों का उन्मूलन कर अपना राज्य स्थापित किया। फिर उसने नगरकोट, थानेश्वर, मथुरा, कन्नौज, कालिंजर, ग्वालियर और सोमनाथ पर धावे किये। इन आक्रमणों में उसने राजपूत राजवंशों को नष्ट किया, नगरों को तबाह किया, मंदिरों का ध्वंस किया, देव-प्रतिमाओं को तोड़ा, असीम धन राशि लूटी और असंख्य बच्चों तथा स्त्रियों को गुलाम बना कर गजनी में बेचा। उसकी लूट के माल का जो मुसलमान इतिहासकारों ने वर्णन किया है उस पर आजकल विश्वास नहीं होता। हजारों मन सोना, सैकड़ों मन मोती, लाल, पन्ना और जवाहरात, चांदी के बने हुए कमरे और हजारों मन वजन के बर्तन, बहुमूल्य आभूषण और वस्त्र आदि का वर्णन पढ़ कर सिर चकराने लगता है। सबको यदि रुपयों में आंका जावे और उन सैकड़ों मंदिरों के मूल्य का अनुमान किया जावे जो उसने ध्वंस किये थे, तो महमूद के आक्रमणों से होने वाली भारत की क्षति कई लाख अरब रुपये होनी चाहिये। इससे भारत के असीम वैभव का अनुमान होता है।

भारत की पराजय के कारण : प्रत्यक्ष में यह आश्चर्य की बात मालूम होती है कि विपुल ऐश्वर्य से सम्पन्न, अगणित वीर योद्धाओं से परिपूर्ण और ज्ञान विज्ञान से विभूषित भारत को एक लुटेरे ने कैसे लूट लिया। यह मानना भूल है कि तत्कालीन राजपूत नरेशों को पारस्परिक द्वेष के कारण देश रक्षा की चिन्ता नहीं थी और इसलाम की प्रलयंकर बाढ़ का पता नहीं था। यदि ऐसा होता तो सिन्ध के अरब शासकों को समस्त देश में फैल जाने से क्यों और किसने रोका? और महमूद गजनी के विरुद्ध युद्ध करने के लिये आनंदपाल को उत्तर भारत के नरेश सैनिक सहायता क्यों देते? वास्तव में भारत में न तो सैनिकों का अभाव था और न सेनानायकों का और न राजपूत शासकों को देश-रक्षा के प्रति उपेक्षा थी। परन्तु सबसे मुख्य बात यह थी कि तत्काल भारत में महमूद गजनी के समान रणचतुर और साहसी सेनानायक कोई नहीं था। दक्षिण के राष्ट्रकूट नष्ट हो चुके थे, चोल और चालुक्य बहुत दूर थे। बंगदेश के सेनवंशीय राजा दुर्बल और साहसहीन थे। कन्नौज के प्रतिहारों के पास सेना थी और साधन भी, किन्तु आदि वराहभोज के बाद इस राज्य में भी कोई प्रतापी राजा नहीं हुआ। शेष राज्य छोटे छोटे थे और सब को अपनी अपनी चिन्ता भी थी। फिर भी सबने सेना भेज कर आनंदपाल का साथ दिया और महमूद के छक्के छुड़ाये परन्तु भारत के दुर्भाग्य ने बनी बात बिगाड़ डाली और राजपूत जीतते जीतते हार गये। इसके पश्चात् सबका साहस भंग हो गया और महमूद की धाक जम गई। फिर भी बिना लड़े किसी ने कहीं भी आत्म-समर्पण नहीं किया, परन्तु महमूद की निरन्तर विजय होती गई और उसकी लूट के लोभ से मुसलिम देशों के अच्छे अच्छे वीर सिपाही उसकी सेना में खिंच खिंच कर आते रहे। महमूद में अपूर्व साहस था, स्वाभाविक नेतृत्व बल था और सैनिकों को उत्प्राणित करने का उसमें अद्भुत कौशल था। जैसे नैपोलियन जहाँ गया वहीं उसको सफलता मिली उसी प्रकार महमूद के पराक्रम और तूफानी आक्रमणों से भारत के लोग त्रस्त हो गये और समझने लगे कि उससे कोई नहीं जीत सकता। इसके अतिरिक्त मुसलमानों में अद्भुत धार्मिक आवेश था। उनको सिखाया गया था कि इसलाम का प्रचार करना और गैरमुसलिमों के प्राण और धन का अपहरण करना पुण्य कार्य है। मामूली सैनिक इसको अपने जीवन का परम लक्ष्य समझता था। इस प्रकार के विचारों का प्रचार करने में महमूद गजनी जैसे सेनानायकों का भी हित था। इस आवेश के कारण मुसलमानों में अपार उमंग थी। उनका सा रणोल्लास भारतवीरों में नहीं था। भारत के धर्म में भक्ति और आत्मसमपर्ण था, ज्ञान और वैराग्य था, चिन्तन और मनन था, तथा ध्यान और समाधि थी। ये तत्व इसलाम में भी होंगे परन्तु इनका प्रचार नहीं हुआ और यदि हुआ तो वह फकीरों और दरवेशों तक ही सीमित रहा। वह मुसलमानों की रग रग में प्रवेश न कर सका। मुसलमान सैनिक कहता था 'कलमा पढ़ो या गला

कटवाओ'। हिन्दू धर्म में यह भावना नहीं थी। इससे मुसलमानों को आवेश प्राप्त हुआ और हिन्दुओं को नैराश्य। और महमूद गजनी को इससे बड़ी मदद मिली।

महमूद गजनी के वंशज : महमूद गजनी ने पंजाब में मुसलमानी ढंग का शासन स्थापित किया और कन्नौज आदि के राजाओं से खिराज़ लेना शुरू किया। यह पता नहीं चलता कि उसने जज़िया कर जारी किया या नहीं। उसको भारत से अपार सम्पत्ति प्राप्त हो चुकी थी परन्तु उसकी धन-तृष्णा भी अनन्त थी। इससे अनुमान होता है कि उसने जज़िया कर अवश्य लगाया होगा। महमूद ने भारत में अपने नये सिक्के जारी किये। इनका प्रचलन बहुधा पंजाब में ही था परन्तु व्यापार के लिये भारत के अन्य भागों में भी इनके द्वारा लेन देन हुआ करता होगा। उसके चांदी के सिक्कों पर उसका नाम एक तरफ अरबी अक्षरों में उत्कीर्ण है और दूसरी ओर देव-नागरी के अक्षरों में, भाषा संस्कृत है। अधिकांश सिक्कों पर लिखा है 'अव्यक्त महम्मद अवतार नृपति महमूद'। और कुछ पर लिखा है 'अयं टंक महमूदस्य संवत ४१२'। इससे अनुमान होता कि उसका कुछ पंडितों से भी सम्पर्क था। उसकी सेना में हिन्दू सैनिक भी भरती किये गये थे। जयपाल की ओर से दो हजार हिन्दू सैनिक सुबुक्तगीं की सेना में रहा करते थे और पश्चिमी एशिया के कई युद्धों में ये लोग लड़े थे। महमूद के लड़के ने एक नाई को सेनानायक नियुक्त किया था। जब लाहौर के मुसलमान सूबेदार ने बगावत की तो इस हिन्दू सेनापति ने उसका दमन किया था। महमूद के बाद उसके वंशजों ने लगभग ७० वर्ष तक राज्य किया परन्तु उनमें एक भी महमूद के समान साहसी तथा पराक्रमी नहीं था। उत्तरोत्तर उसके वंशज निर्बल होते गये और अन्त में गौर के मुसलमान सरदारों ने उनको नष्ट कर दिया।

महमूद के बाद की दो शताब्दियां : महमूद तूफान की भांति भारत में आया और तूफान की भांति विलीन हो गया। यह एक भयंकर झंझावात था जिसने भारतीय समाज की जड़ें हिला दीं, उसके धार्मिक खोखलेपन को प्रकट कर दिया, समस्त राजवंशों की प्रतिष्ठा भंग कर दी, भारत के एक बड़े भाग पर मुसलिम राज्य स्थापित कर दिया और मुसलिम सेना के बल और पराक्रम की धाक सर्वत्र फैला दी। उसके पुत्र के एक सेनानायक ने पुनः भारत पर आक्रमण किया, काशी को लूटा, देवमंदिरों का ध्वंस किया और नगर निवासियों के धन का अपहरण करके वापिस चला गया। कन्नौज के प्रतिहार नरेशों ने गजनी के शासकों की अधीनता स्वीकार कर ली और उनको खिराज़ या जज़िया देना शुरू कर दिया। कन्नौज राज्य में यह 'तुरुष्क दण्ड' कहलाता था और जनता से वसूल किया जाता था। इस प्रकार उत्तर भारत के और विशेषकर कन्नौज राज्य के बच्चे बच्चे को अनुभव होने लगा था कि मुसलिम शक्ति सर्वोपरि है और हिन्दू राजा अपनी प्रजा की या धार्मिक संस्थाओं की रक्षा नहीं कर सकते। जब कन्नौज के विस्तृत साम्राज्य की यह दशा थी तो अन्य छोटे

गई और हिन्दू युद्ध-शिविर में वास्तव में एक विकट समस्या उपस्थित हो गई कि क्या किया जावे। हिन्दू सैनिक प्यास से मरने लगे। इन तृषाकुल सैनिकों पर सुबुक्तगीं की सेना ने प्रबल आक्रमण किया और विजयश्री प्राप्त की। यह शराब की बात आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। जयपाल ब्राह्मण था। इस राजवंश का संस्थापक लल्लिय नामक एक ब्राह्मण वीर था जिसने पंजाब पर अपना प्रभुत्व कायम करके काबुल को अपनी राजधानी बनाया था। इस वंश में भीम देव, जयपाल देव कई वीर राजा हुए। जयपाल पांचवां राजा था। ये लोग वर्ण से ब्राह्मण थे परन्तु व्यवहार में राजपूतों जैसे ही थे। इनके विवाह सम्बन्ध राजपूतों में होते थे। इसलिये इनके परिवार में खानपान के विषय में विशेष प्रतिबन्ध नहीं माने जाते होंगे। जयपाल के सैनिक भी सब ब्राह्मण नहीं होंगे। शायद एक दो दिन युद्ध चलता तो ये लोग उस चश्मे के पानी को पीने भी लग जाते। कुछ घंटे ये निर्णय नहीं कर सके होंगे कि क्या किया जावे। यह स्थिति देख कर मुसलमानों ने आक्रमण कर दिया और स्थिति से लाभ उठाया। शास्त्रों में मांस-भक्षण इतना बड़ा पाप नहीं माना गया है जितना मद्यपान, परन्तु राजपूतों में सब कुछ चलता था। इस कहानी पर इसलिये विश्वास करना पड़ता है कि यह मुसलमान इतिहासकार ने लिखी है। यह उसका आंखों देखा वर्णन तो नहीं है, परन्तु इस घटना के लगभग पच्चीस वर्ष पश्चात् उसने अपना ग्रन्थ लिखा था और उस समय ऐसे सैकड़ों मुसलिम सैनिक जीवित थे जो इस युद्ध में लड़े थे।

समस्त पंजाब पर मुसलिम प्रभुत्व : इस युद्ध में जयपाल हार तो गया परन्तु उसके राज्य का अन्त नहीं हुआ। इसलिये महमूद गजनी ने सन् १००१ में उस पर आक्रमण किया और पेशावर के पास युद्ध हुआ जिसमें जयपाल और उसका परिवार बन्दी बना लिये गये। जयपाल को कुछ दिन बाद छोड़ दिया परन्तु वह पराजय से इतना लज्जित हुआ कि उसने अपने प्राणों का अन्त कर डाला। तब महमूद ने उसके पुत्र आनन्दपाल को मुक्त कर राज्य करने की इजाजत दे दी। परन्तु तुर्कों की आर्थिक मांगों और धार्मिक कट्टरताओं को अनन्दपाल सहन नहीं कर सका। अतः पेशावर के पास ही पुनः युद्ध हुआ जिसमें उसका रण-निमंत्रण स्वीकार करके धार, ग्वालियर, कालिंजर, कन्नौज, दिल्ली और अजमेर के नरेशों ने उसकी सहायता के लिये सेना भेजी थीं। इस युद्ध में मुसलमानों के पैर उखड़ गये थे और वे रणभूमि को छोड़ कर भागने ही वाले थे कि अचानक स्थिति बदल गई और वे हारते हारते जीत गये। आनन्दपाल का हाथी मुसलमानों के शस्त्र और अस्त्रों की वर्षा से आहत हो कर युद्ध क्षेत्र से भाग निकला जिसको देखकर उसकी सेना में भगदड़ मच गई। महमूद गजनी ने इस स्थिति में हिन्दुओं पर जोर से आक्रमण किया और विजय प्राप्त की। इसके पश्चात् भी आनन्दपाल राज्य करता रहा परन्तु यह निभने वाली बात नहीं थी। कुछ वर्ष बाद फिर युद्ध हुआ जिसमें आनन्दपाल ने वीरगति

पुनर्निर्माण के लिये नरेशों तथा धनाढ्यलोगों से प्रार्थना की। इस प्रयत्न के फलस्वरूप सोमनाथ का मंदिर तथा अन्य कई ध्वंसित मंदिर फिर खड़े कर दिये गये, परन्तु इससे न तो हिन्दू धर्म सजीव और जागृत हुआ और न हिन्दुओं को देश और धर्म की रक्षा के लिये कोई प्राणपद प्रेरणा प्राप्त हुई। इस युग में वेदान्त पर और उसके विविध भेदों पर गहन साहित्य की रचना हुई। पौराणिक साहित्य की वृद्धि हुई। शैव और शाक्त धर्म पर विविध आगम और तन्त्र ग्रन्थों की सृष्टि हुई। यह सब सुन्दर साहित्य था परन्तु इसमें नये खतरे की उपेक्षा थी और पुराने जख्मों की विस्मृति। इस युग में शैव, वैष्णव और जैन धर्म का कुछ रूपान्तर और विस्तार हुआ। पूर्व भारत में प्रायः सर्वत्र मुख्यतः वैष्णव धर्म का प्रचार हो गया और अहिंसा इसका भी प्रधान सिद्धान्त बन गया। बौद्धों और जैनियों का शैव और वैष्णव धर्म के प्रति मुख्य आक्षेप यह था कि इन धर्मों में अहिंसा को प्राधान्य नहीं दिया जाता और अहिंसा ही वास्तव में मुख्य और परम धर्म है। इस समय अहिंसा सिद्धान्त सर्वमान्य सा हो चुका था और इसका विरोध करना किसी सम्प्रदाय के लिये संभव नहीं था। इसलिये वैष्णव धर्म में ही नहीं, शैव धर्म में भी अहिंसा परम धर्म माना जाने लगा। अब दक्षिण में शैव और पूर्व में वैष्णव धर्म का आधिपत्य जम गया और दोनों धर्मों ने अहिंसा का सिद्धान्त तथा व्यवहार स्वीकार कर लिया। दक्षिण में शैवों का एक नया सम्प्रदाय बना जो वर्णव्यवस्था को नहीं मानता था, स्त्रियों को सब भांति पुरुषों के समान समझता था, शिखासूत्र में विश्वास नहीं करता था, नई गाय का उपयोग करता था और जिसमें भिक्षावृत्ति का निषेध तथा परिश्रम की महिमा थी। यह लिंगायत सम्प्रदाय कहलाता था, इसके अनुयायी शिवलिंग गले में लटकाये रहते थे। अहिंसा को ये लोग भी मानते थे। यह सब दृष्टियों से क्रान्तिकारी सम्प्रदाय था। यह धर्म, समाज, और परम्पराओं को पुनर्व्यवस्थित करना चाहता था, परन्तु नये खतरे के निवारण के लिये इसके पास भी कोई सन्देश नहीं था। यह तो संभव नहीं है कि लिंगायतों को मुस-लिम आक्रमणों का पता ही न हो। सोमनाथ मंदिर के ध्वंस की करुण कहानी दक्षिण में अवश्य पहुँच गई होगी और दक्षिण के पश्चिम तट पर मुसलमानों की कई बस्तियां थी। इनके आचार विचार और दृष्टिकोण की विदेशीयता से भी लिंगायत लोग अवश्य परिचित होंगे, परन्तु रक्तपात, ध्वंस और अपहरण इन्होंने या इनके पूर्वजों ने अपनी आंखों से नहीं देखा था, शायद इसीलिए उसकी प्रलयंकर भयंकरता का इनको अनुभव नहीं हुआ हो। जैन धर्म दशवीं शताब्दी से पूर्व दक्षिण में बहुमान्य था। राजवंशों में और जनता में सर्वत्र इसके अनुयायी थे। एक दो राजाओं ने जैन सम्प्रदाय को नष्ट करने के लिये अत्याचार और नृशंसता भी की परन्तु इन जघन्य साधनों से धर्म नष्ट नहीं हुआ करता है। जैन धर्म दबा नहीं बल्कि इसमें और भी नवीन प्राण आ गये। ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में शैव धर्म भी त्याग, तपस्या और अहिंसा को प्रधानता देने लगा। तब जैन धर्म में कोई विशेष आकर्षण नहीं रहा और इसको

वहां से हटना पड़ा। इस युग में इसका गुजरात, सौराष्ट्र, राजस्थान और मालवा में विशेष प्रचार हुआ। इसका श्रेय मुख्यतः हेमचन्द्र आचार्य को है। यह गुजरात निवासी प्रकाण्ड पंडित था और सर्वस्व त्याग कर आचार्य पद प्राप्त करके जैन धर्म के प्रचार में लग गया था। गुजरात के सोलंकी नरेशों ने इसको धर्म प्रचार में बड़ी सहायता दी। वे स्वयं शैव थे परन्तु उदार हृदय थे और हेमचन्द्र के प्रकाण्ड पांडित्य तथा तपोमय जीवन का उन पर बड़ा प्रभाव था। उनकी सहायता से जैन धर्म ने गुजरात और राजस्थान में अपने लिये अच्छा स्थान बना लिया और यहां से यह उत्तर भारत के अन्य स्थानों में भी पहुँचा। वैदिक धर्म के उद्धार में जो कुमारिल भट्ट और स्वामी शंकराचार्य का स्थान है, लगभग वही स्थान जैन धर्म के प्रचार में आचार्य हेमचन्द्र का है। और वही स्थान वैष्णव धर्म के प्रचार में स्वामी रामानुजाचार्य का मानना चाहिये। इस प्रकार समस्त देश बारहवीं शताब्दी में तीन मुख्य सम्प्रदायों में विभक्त हो गया था। दक्षिण में शैवमत की, पूर्व में वैष्णवमत की और पश्चिम में जैनमत की प्रधानता थी। यह नहीं समझ लेना चाहिये कि इन भागों में दूसरे मत थे ही नहीं। वास्तव में तीनों धर्मों के सम्प्रदाय भारत के प्रत्येक प्रान्त में मिलते थे परन्तु प्राधान्य उपरोक्त प्रकार से था। अहिंसा तीनों सम्प्रदायों में परम धर्म माना जाता था। तप, त्याग और संयम पर शैव जोर देते थे। परन्तु वैष्णवमत का दृष्टिकोण इससे भिन्न था। वैष्णवों में कृष्णचरित्र का महत्व बहुत बड़ा था और कृष्णचरित्र में गोपियों का विहार बड़ा लोकप्रिय हो गया था। इससे वैष्णवों के जीवन में विलासिता आ गई थी। इस युग के लोक साहित्य में विलासिता भरी हुई है। काव्य शास्त्र पर जितने ग्रन्थ तैयार हुए उनमें नायिका भेद मुख्य विषय है। अलंकार, रस और ध्वनि को समझाने के वास्ते लेखक उपयुक्त नायिका ढूंढ़ते हैं और उसके हाव भाव और अंग विन्यास का सजीव वर्णन करने में अपना पांडित्य प्रकट करते हैं। इस प्रकार के श्रृङ्गारी साहित्य का और धर्म के नाम पर अश्लील लीलाओं का तथा लोक गीतों का जनता पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता था। आश्चर्य है कि घोर संकट के समय जनता में इस प्रकार की सर्वव्यापिनी विलासिता का विकास क्यों हुआ। शैव और और जैन तपस्या के द्वारा मोक्ष की खोज में थे और विलासी वैष्णव आत्मसमर्पण द्वारा गोलोक की तलाश में। जीवन लक्ष्य था नैराश्य या विलास। जैन धर्म का दृष्टिकोण सदा से अति उदार रहा है और वैष्णवों में द्वेष चलता रहता था। ग्यारहवीं शताब्दी से यह कम अवश्य होने लग गया था, और विचारशील लेखक तथा प्रचारक इस द्वेष का अन्त करना चाहते थे। यत्र तत्र यह प्रवृत्ति क्रियात्मक रूप धारण करने लग गई थी। एलोरा का कैलाशमंदिर शैवमंदिर है परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी में इसमें रामायण के चित्र भी बनाये गये और एक चित्र जैन सम्प्रदाय का भी जान पड़ता है। संभव है इस मंदिर में और भी वैष्णव और जैन चित्र बनाये गये हों परन्तु कालान्तर

में वे अति धुंधले हो गये हैं जिससे पहिचानने में नहीं आते। बंगाल नरेश महाराज विजयसेन ने भी वैष्णव और शैव धर्म को मिलाने का प्रयत्न किया था। उसने एक सुन्दर मंदिर बनवाकर उसमें प्रद्युम्नेश्वर की प्रतिमा प्रतिष्ठित करवाई थी। यह प्रतिमा ऐसी बनवाई थी कि विष्णु और शिव के साथ साथ दर्शन होते थे। इसी प्रकार की प्रतिमायें राजस्थान के हाडोती प्रदेश में भी मिली हैं। यह प्रवाह इस बात का द्योतक है कि दोनों सम्प्रदायों में एक प्रकार का समन्वय करके इनके पारस्परिक द्वेष हटाने का व्यापक प्रयास किया गया था। इसकी बड़ी आवश्यकता थी, परन्तु इससे भी बड़ी आवश्यकता थी धर्म की रक्षा करने की। इसके लिये तत्कालीन नेताओं ने कोई प्रयत्न नहीं किया।

सैनिकों की कमी : प्रत्यक्षतः ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवर्ष की विपुल जन-संख्या में सैनिकों की क्या कमी थी और इनकी विपुलता में ही मुसलमानों को दब जाना चाहिये था, परन्तु वस्तुतः यह बात नहीं थी। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में असंख्य जातियां बन चुकी थीं, ये सब अपने अपने व्यवसायों के साथ कठोरता से बंध गई थीं। व्यवसाय परिवर्तन असम्भव तो नहीं था किन्तु यह अच्छा नहीं माना जाता था। बहुत से ब्राह्मण और क्षत्री कृषि कार्य करते थे। कुछ वैश्य भी इस व्यवसाय में लगे हुए थे। अधिकांश वैश्य केवल व्यापार करते थे। बौद्ध और जैन धर्म के प्रभाव से उन्होंने कृषि कार्य छोड़ दिया था क्योंकि इस व्यवसाय में जीव-हिंसा होती थी। इस प्रकार सब जातियों के लोग अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार वर्ण-विहित खतरा देख कर तथा सैनिकों की कमी को अनुभव करके स्मृतिकारों ने यह विधान तो कर दिया था कि देश और धर्म की रक्षा के लिये सब जातियों के लोग शस्त्र ग्रहण कर सकते हैं परन्तु इस विधान में न भावना थी और न आकर्षण। इसलिये सैनिकता केवल राजपूतों का ही व्यवसाय बना रहा। अन्य जातियों के लोग भी सैनिक बनते थे और सेनानायक भी कोई विरला अन्य जाति में से बन जाता था परन्तु इससे प्राचीन और परम्परागत व्यवस्था में कोई अन्तर नहीं आया। अतः भारत देखने में तो जनसंकुल था परन्तु यहां सैनिकों की विपुलता नहीं थी। राजपूत सैनिकों में भी वह उमंग, उत्साह और उल्लास नहीं था जो मुसलमानों में था। मुसलमान अल्लाह के हुक्म से काफिरों के खिलाफ लड़ते थे और पुण्य लूट रहे थे, परन्तु राजपूत स्वामिभक्ति से लड़ते थे और अपना क्षत्रियोचित कर्त्तव्य पालन कर रहे थे। उल्लास और उन्माद का कर्त्तव्यपरायणता क्या मुकाबला कर सकती थी। इसके अतिरिक्त मुसलमानों को लूट का आकर्षण था। गरीब सैनिक को भी धनवान बनने का मौका था, इसलिए मुसलिम युवक सेना में भरती होने के लिये आतुर रहा करते थे। राजपूत सैनिकों के लिये कोई आकर्षण नहीं था। वे केवल अपनी वृत्ति और अपने स्वामी के लिये लड़ते थे। अतः भारतीय सेना में भरती होने के वास्ते

राजपूत भी आतुर या अधीर नहीं रहा करते थे। उनका यह कुलक्रमानुगत सर्व सम्मत व्यवसाय था, केवल इसलिये वे सैनिक बनते थे।

शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमण : बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गोर के सुलतानों ने गजनी पर आक्रमण किया। महमूद के वंशज वहां से भाग निकले और गोर के सुलतान ने गजनी को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। इतना ही नहीं, उसने महमूद और उसके लड़कों की कबरों को खुदवा कर उनकी हड्डियों को फिकवा दिया। इस प्रकार गजनी पर अधिकार स्थापित करने के पश्चात् शहाबुद्दीन ने पहले पंजाब पर आक्रमण किया और गजनी सुलतानों के शासन का अन्त करके वहां अपना प्रभुत्व स्थापित किया। तदनन्तर उसने पृथ्वीराज चौहान के राज्य पर आक्रमण किया। पृथ्वीराज ने थानेश्वर के समीप तलावड़ी नामक ग्राम से कुछ दूरी पर उसका सामना किया। गोरी बुरी तरह से हारा और आहत हो कर पृथ्वीराज का बन्दी बन गया। मुसलिम सेना भाग निकली परन्तु राजपूतों ने अपनी प्राचीन युद्ध मर्यादा के अनुसार भागते हुए सैनिकों का पीछा नहीं किया। दूसरे दिन पृथ्वीराज ने शहाबुद्दीन गोरी को भी मुक्त कर दिया और वह अपनी सेना में जा मिला। दूसरे वर्ष गोरी और अधिक सेना ले कर भारत पर चढ़ आया और पुनः उसी स्थान पर पृथ्वीराज के साथ घमासान युद्ध हुआ जिसमें पृथ्वीराज ने वीरगति प्राप्त की और भारत की श्री और शोभा उसी के साथ विलीन हो गई। यह सन् ११९२ का वर्ष भारतवर्ष का अन्तिम स्वातन्त्र्य वर्ष था। इसके बाद लगभग आठ सौ वर्ष तक भारत विदेशियों के क्रूर और शोषक शासन से आक्रान्त हो कर कराहता रहा। इसके बाद दिल्ली, मेरठ, अजमेर, कन्नौज और काशी पर मुसलमानों ने हमले किये और वहां अपना राज्य स्थापित किया। प्रत्येक स्थान पर राजपूत वीरतापूर्वक लड़े परन्तु केवल कर्त्तव्य पालन करने के वास्ते। अब शहाबुद्दीन गोरी और उसके सेनानायकों की उत्तर भारत में धाक जम चुकी थी और राजपूत स्वयं समझ चुके थे कि मुसलमानों का आधिपत्य अवश्यम्भावी है। तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में कालिंजर, लखनौती, रणथंभोर, ग्वालियर, भीलसा और उज्जैन पर भी मुसलमानों ने अधिकार कर लिया। मेवाड़ की राजधानी नागदा को उन्होंने नष्ट कर डाला और गुजरात की राजधानी अनहिलपाटन पर भी छापा जा मारा, परन्तु उस पर अधिकार स्थापित नहीं कर सके। इस प्रकार लगभग पच्चीस वर्ष में अखिल उत्तर भारत पर मुसलमानों ने अपना राज्य जमा कर सदियों पुराने और प्रतिष्ठित अनेक राजवंशों को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। अगले सौ वर्ष में गुजरात और दक्षिण के राजघराने भी नष्ट हो गये और सन् १३०० के लगभग समस्त भारत में मुसलमानों का डंका बज गया। परतन्त्र और पदाक्रान्त भारत के लिये अगले सात सौ वर्ष का समय सहन और संघर्ष का युग बन गया।

संकट युग

१२०६ से १४१४

युगलक्षण : एबक कुतुबुद्दीन सन् १२०६ में दिल्ली के तख्त पर बैठा। उत्तर भारत से उसी समय हिन्दुओं का गौरव और वैभव विलीन हो गया। अगली दो शताब्दियों में मुसलमानों ने भारत का कोना कोना टटोल डाला और बचे हुए सम्पन्न हिन्दू राज्यों को नष्ट करके हजारों मन सोना, चांदी तथा जवाहिरात लूट लिये। प्रति-वर्ष लड़ाइयां और लूट-खसोट हुआ करती थी। हजारों स्त्री-पुरुष गुलाम बना लिये जाते थे। लोगों के सोने, चांदी और आभूषण लूट लिये जाते थे। जहां तहां हजारों नर-नारी कत्ल कर दिये जाते थे। मंदिरों का और मूर्तियों का तोड़ना रात दिन का काम था। लोगों को डरा कर, सता कर या फुसला कर मुसलमान बनाया जाता था। बीसियों प्रकार के करों से हिन्दू जनता त्रस्त और उत्पीड़ित थी। हिन्दुओं को राज्य में किसी प्रकार के कोई अधिकार नहीं थे। प्रतिष्ठा और सम्मान केवल मुसल-मानों के लिये ही थे। हिन्दुओं का पद पद पर अपमान होता था। जज़िया कर से हिन्दू लोग रात दिन सिसकते रहते थे। यह स्थिति सारे उत्तर भारत में खैबर की घाटी से बंगाल की पूर्वी सीमा तक थी। ग्वालियर, रणथंभोर और कालिंजर के किले भी कुतुबुद्दीन ने जीत लिये थे, परन्तु उसके मरते ही ये फिर हिन्दुओं के हाथ में आ गये थे। अभी राजपूतों का पूर्ण दमन नहीं हुआ था। वे कभी हारते थे और कभी जीतते थे। इसलिये इस युग में ये किले कभी मुसलमानों के हाथ में रहते थे और कभी हिन्दुओं के हाथ में। राजपूताने में भी अभी मुसलमानों का प्रवेश नहीं हुआ था। दक्षिण भारत सारा स्वतन्त्र था। वहां हिन्दुओं के चार बड़े बड़े राज्य थे। इनका विदेशों के साथ खूब व्यापार होता था। इससे दक्षिण भारत अच्छा सम्पन्न था। यह स्थिति लगभग एक सौ वर्ष तक रही। सन् १३०० के बाद मुसलमानों ने दक्षिण भारत पर भी आक्रमण शुरू किये और कुछ ही वर्ष में समस्त हिन्दू राज्य नष्ट कर डाले। चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में सम्पूर्ण भारतवर्ष मुसलमानों के अधीन हो गया। हिन्दुओं की संस्कृति धारा सर्व भांति कुण्ठित हो गई। उनका धर्म, उनकी भाषा, उनकी संस्कृति और सभ्यता हेय दृष्टि से देखी जाने लगी। कहां तो वे लोग सोने, चांदी और मोतियों के आभूषणों से लदे रहते थे, और कहां अब उनका पेट पालन भी कठिन हो गया। मुसलमानों के शासन का ध्येय था हिन्दुओं के धन का शोषण और उनके धर्म का अपमान।

मुसलमान वंश : भारतवर्ष में मुसलमान राज्य स्थापित करने वाले तुर्क मुसलमान थे। फिर इनमें अफगान मुसलमान आ सम्मिलित हुए। इन तुर्क अफगानों के पांच वंशों ने भारत पर १२०६ से १५२७ तक अर्थात् लगभग तीन सौ

वर्ष तक राज्य किया। इन पांच वंशों के नाम हैं—गुलामवंश, खिलजीवंश, तुगलकवंश, सैयदवंश और लोदीवंश। गुलाम वंश ने १२०६ से १२९० तक, खिलजी वंश ने १२९० से १३२० तक और तुगलक वंश ने १३२० से १४१४ तक राज्य किया। शेष दो वंशों ने १४१४ से १५२७ तक दिल्ली का तख्त अपने हाथ में रक्खा परन्तु इनका राज्य इतना संकुचित हो गया था कि दिल्ली एक प्रकार की रियासत मालूम होने लगी थी।

रणथम्भोर और चितौड़ की विजय : खिलजीवंश में अलाउद्दीन खिलजी बड़ा शक्तिशाली सुलतान हुआ। इसने उज्जैन, मांडू, धार और चंदेरी जीत कर अपने राज्य में मिलाये और फिर रणथंभोर के किले का घेरा डाला। यह दुर्ग उस समय चौहान राजपूतों के अधिकार में था। इसके घेरे में अलाउद्दीन का सेनापति नसरत खां मारा गया और अलाउद्दीन स्वयं दिल्ली से आता हुआ घायल हुआ। पूरे एक वर्ष तक महाराज हमीरदेव और उनके वीर राजपूतों ने दुर्ग की रक्षा की परन्तु अन्त में लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुए और दुर्ग पर अलाउद्दीन का अधिकार हो गया। इसके पश्चात् उसने चित्तौड़ पर आक्रमण किया। महाराणा रतनसिंह ने वीरतापूर्वक लड़ते हुए हजारों राजपूतों के साथ वीरगति प्राप्त की और महारानी पद्मिनी ने भी सैकड़ों वीरांगनाओं के साथ जौहर करके अपने सम्मान की रक्षा की। रणथंभोर में भी क्षत्राणियों ने इसी प्रकार जौहर किया था। चित्तौड़ पर अधिकार करके अलाउद्दीन ने सन् १३०३ में चित्तौड़ का नया नाम खिज्राबाद रक्खा और अपने पुत्र खिज्रखां को वहां नियत किया। परन्तु आठ वर्ष बाद ही उसको वहां से भागना पड़ा। वहां न मुसलमानी नाम चला और न मुसलमानी शासन।

दक्षिण भारत की लूट : दक्षिण भारत में उस समय चार राजपूत राज्य अति प्रसिद्ध थे—देवगिरि के यादवों का राज्य, वारंगल के काकतीयों का राज्य, मैसूर के होयसलों का राज्य और सुदूर दक्षिण में पांड्यों का राज्य। ये चारों राज्य अपार वैभव से सम्पन्न थे परन्तु चारों में परस्पर कलह और द्वेष रहा करता था। उस समय पांड्यों के राज्य में तो घरेलू लड़ाई भी थी, यह अलाउद्दीन के लिये स्वर्ण अवसर था। उसको धन की अपार तृष्णा थी। इसलिये उसने दक्षिण भारत पर आक्रमण करके वहां की सम्पूर्ण लक्ष्मी को लूटने के वास्ते अपने अत्यन्त विश्वसनीय वीर सेनापति मलिक काफूर को एक बड़ी सेना के साथ रवाना किया। देवगिरि के महाराज रामचन्द्र ने अपने राज्य का विनाश और अग्निकांड देख कर अलाउद्दीन की अधीनता स्वीकार कर ली। यह राजनैतिक सम्बन्ध एक पीढ़ी तक चला। अलाउद्दीन के लड़के मुबारक ने रामचन्द्र देव के लड़के हरपाल पर चढ़ाई की और उसको घोर यन्त्रणा के साथ मार कर देवगिरि का सारा राजकोष लूटा और वहां एक मसजिद का निर्माण करवाया। वारंगल के काकतीय नरेश महाराज प्रताप रुद्रदेव पर भी अलाउद्दीन ने एक भारी सेना चढ़ाई परन्तु वह हार कर वापिस आ गई। दुबारा

मलिक काफूर को रवाना किया। उसको अलाउद्दीन ने आदेश दिया कि प्रतापरुद्र-देव को मारना या उसका राज्य छीनना उद्देश्य नहीं है, उद्देश्य यह है कि उसका समस्त राजकोष हस्तगत कर लिया जावे और यह भी वचन लिया जावे कि आगामी वर्ष की भी सम्पूर्ण आय सुलतान अलाउद्दीन को दे दी जावेगी। राजा ने हार कर तथा विवश हो कर अपना सारा राजकोष तथा हाथी घोड़े काफूर को समर्पण कर दिये। एक सौ हाथी, सात सौ घोड़े, और सोने चांदी के सिक्कों की तथा हीरे मोतियों की एक बहुत बड़ी राशि तथा अन्य प्रभूत सम्पत्ति उसके हाथ लगी। इस तमाम सम्पत्ति को एक हजार ऊंटों पर लाद कर दिल्ली भेजा गया। अमीर खुसरो ने लिखा है कि "वैभव के भार से ऊंटों की पीठ लचकती जाती थी।"

देवगिरि और वारंगल का द्वेष : जब देवगिरि पर मुसलमानों ने आक्रमण किया तो महाराज रामचन्द्र ने महाराज प्रतापरुद्रदेव से सैनिक सहायता मांगी थी, परन्तु वह पुराने द्वेष को नहीं भूला और उसने सहायता नहीं दी। हारकर रामचन्द्र ने अलाउद्दीन की अधीनता स्वीकार कर ली और वह भी वारंगल की विपत्ति की प्रतीक्षा करने लगा। जब मलिक काफूर ने प्रतापरुद्रदेव पर चढ़ाई की तो रामचन्द्र ने मुसलमानों को सैनिक सहायता दी और वारंगल के विनाश को सन्तोष के साथ देखा।

दोरा समुद्र की लूट : सन् १३१० में अलाउद्दीन ने दो मुसलमान सेनानायकों को एक बड़ी सेना देकर दोरा समुद्र के होयसल नरेश महाराज वीरबल्लाल पर आक्रमण करने के लिये रवाना किया। इन्होंने दोरा समुद्र का घेरा डाला और वीरबल्लाल ने प्रभूत मुसलमान सेना के विरुद्ध युद्ध करना निष्फल समझ कर आत्म-समर्पण कर दिया तथा अपना सम्पूर्ण राजकोष मुसलमान सेनापतियों को सौंप दिया। मुसलमान इससे ही सन्तुष्ट नहीं हुए, उन्होंने मंदिरों की अपार धन-राशि को लूटा और ३६ हाथी छीन लिये। ये हाथी-घोड़े, सोना-चांदी तथा हीरे-मोती दिल्ली रवाना कर दिये गये। होयसल नरेश दिल्ली के अधीन हो गये।

पांड्य नरेश पर आक्रमण : उस समय पांड्य राज्य में महाराज कुलशेखर के दो पुत्रों में राज्य प्राप्ति के हेतु भ्रातृकलह चल रहा था। एक राजकुमार का नाम सुन्दर पांडेय था और दूसरे का नाम वीर पांडेय। इस स्थिति से लाभ उठा कर मुसलमानों ने हमला कर दिया। साथ ही सुन्दर पांडेय ने भी उनसे सहायता मांगी। मुसलमानों का उद्देश्य किसी को सहायता देना नहीं था। वे तो धन लूटना चहाते थे। मुसलिम सेना ने मदुरा नगर पर धावा किया। सुन्दर पांडेय पहिले ही त्रस्त हो कर भाग गया था। मुसलमानों ने राजधानी और राजकोष को लूट लिया। अमीर खुसरो ने लिखा है कि "५१२ हाथी, ५००० घोड़े और ५०० मन हीरे, मोती, पन्ना आदि जवाहरात मुसलमानों के हाथ लगे।" उस समय मुसलमानों के देशों में तथा भारत में मन के अनेक तौल प्रचलित थे। अरब का मन

तो केवल ७१ तोले का माना जाता था। यह पता नहीं चलता कि हीरे मोती तोलने के वास्ते कौन से मन का उपयोग किया जाता था।

दक्षिण के हमलों का परिणाम : उत्तर भारत को महमूद गजनी ने लूटा था और अब एक सौ वर्ष बाद दक्षिण भारत को उसी प्रकार अलाउद्दीन खिलजी ने लूटा। इन दोनों आततायियों की क्रूर लूट से सारा देश धनहीन और तेजहीन हो गया। दोनों की लूट में इतनी सम्पत्ति थी कि उसके मूल्य का अनुमान करना अति कठिन है। हीरे, पन्ने और लाल तथा मोती का वजन ही सैकड़ों हजारों मन था। यदि उनको अरबी सेर से तोला गया हो तो भी इनका मूल्य कितने ही अरब रुपये होना चाहिये। इसी प्रकार सोने चांदी का तोल भी हजारों मन था। आश्चर्य यह है कि यह अतोल धन कहां और किस प्रकार विलीन हो गया। महमूद के बाद गजनी से और अलाउद्दीन के कुछ अर्से बाद दिल्ली से भी यह ऐश्वर्य लुप्त हो गया।

मुसलमानों ने हरपाल को खाल उतार कर घोर यन्त्रणा के साथ मारा, सैकड़ों मंदिरों के असीम धन को लूटा, अनेक भव्य नगरों का ध्वंस किया और हजारों धनाढ्य हिन्दू कुलों को दरिद्र बना दिया। इनके जबरदस्त आक्रमण हिन्दुओं से रुके नहीं। विशाल और संगठित तुर्क सेनाओं के सामने उनको मस्तक नवाना पड़ा, परन्तु हिन्दुओं का इससे पूर्ण दमन नहीं हो सका। वे लोग मुसलमानों को लुटेरे और आततायी ही समझते रहे और अपनी शक्ति को पुनर्जीवित और संगठित करने के लिये अवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

मोहम्मद तुगलक की तरंगें : खिलजियों के राज्य (१२९०-१३२०) के बाद तुगलक मुसलमानों का राज्य स्थापित हुआ। इनमें मुहम्मद तुगलक (१३२५-१३५१) प्रसिद्ध है। वह अरबी, फारसी, गणित, ज्योतिष, दर्शन आदि अनेक विषयों का अच्छा ज्ञाता था। विद्वानों की संगति उसको अच्छी लगती थी। उसकी बातचीत में पांडित्य था और व्यवहार में शिष्टता तथा सज्जनता। परन्तु वह दूरदर्शी नहीं था, इसलिये उसने अपने शासनकार्य में अनेक भूलें कीं। उसको जो तरंग आती थी उसी को वह कार्य रूप में परिणत करना चाहता था। इसलिये उसने हुक्म दिया कि राजधानी देवगिरि (दौलताबाद) होनी चाहिये, दिल्ली नहीं। इतना ही नहीं, उसने दिल्ली के समस्त नागरिकों को हुक्म दिया कि फौरन देवगिरि में जा कर बसें। इससे सहस्रों नर-नारियों और बच्चों को घोर यातनायें सहनी पड़ीं और देवगिरि में रोग फैल गया। तब उसने हुक्म दिया कि सब लोग वापिस दिल्ली चलें। इसी प्रकार उसने चीन को विजय करने के लिये एक बड़ी सेना भेजी जो पर्वतों के मार्ग में अनेक कष्ट पाकर क्षीण होकर वापिस आ गई। खुरासान को जीतने के वास्ते भी उसने एक बड़ी सेना तैयार की परन्तु हमला नहीं किया। इस सेना को लगभग एक वर्ष तक यों ही वेतन देना पड़ा। जब उसका राजकोष खाली

हो गया तो उसने सोना चांदी बचाने के वास्ते तांबे का सिक्का चलाया। वह चाहता था कि तांबे का सिक्का सोने के सिक्के के बराबर माना जावे। तब घर घर में ये सिक्के बनने लगे। उसको यह नहीं सूझा कि सब सिक्के सरकारी टकसाल में तैयार किये जावें और अन्य किसी को सिक्के बनाने का अधिकार न हो। नये सिक्के के कारण राज्य की आर्थिक स्थिति और भी बिगड़ गई और जनता को राज्य की क्षमता पर बिलकुल विश्वास नहीं रहा। धन प्राप्ति के हेतु मुहम्मद तुगलक ने यमुना और गंगा के बीच के प्रदेश में भूमि-कर बहुत बढ़ा कर उपज का आधा कर दिया। इससे जनता में हाहाकार मच गया। जब कृषक इतना भारी कर नहीं दे सके तो बादशाह ने उनके साथ बड़ी सख्तियां कीं, यहां तक कि हजारों आदमियों को गोलियों से पशुओं की भांति मार दिया गया।

फीरोज तुगलक का कुरानी शासन: (१३५१-१३८८)—इस बादशाह ने प्रजा के साथ बुरा बर्ताव नहीं किया। वह सीधा सच्चा, प्रभुभक्त मुसलमान था और राज्य का शासन अक्षरशः कुरान के नियमों के अनुसार करता था। परन्तु वह मुल्लाओं की बात बहुत मानता था। ये लोग उससे ऐसे काम करवाते थे जिससे केवल मुसलमानों का ही हित हो। इसलिये लाखों मुसलमानों का पुण्यार्थ पालन किया जाता था। फीरोज स्वभावतः दयालु था। इसलिये वह अच्छा सेनानायक नहीं था। वह किसी को और विशेषकर मुसलमानों को किसी प्रकार का कष्ट नहीं देना चाहता था। इसलिये उसके शासन में मुसलमान उच्छृङ्खल हो गये और शासन मर्यादा का सर्वत्र लोप होने लगा।

तैमूरलंग का हमला: फीरोज तुगलक के बाद तुगलक वंश में कोई योग्य शासक नहीं हुआ। सन् १३८८ से १४१३ तक छोटे से अर्से में छः बादशाह हुए परन्तु सब केवल नाम के ही बादशाह थे। न इनके पास शक्ति थी और न बुद्धि और राज्य भी संकुचित होते होते केवल पंजाब और दिल्ली के आसपास ही रह गया था। इस खानदान का अन्तिम बादशाह महमूद तुगलक था (१३९४-१४१४)। इसके शासन काल में एक भयंकर तूफान आया जिसने तुगलक साम्राज्य की अन्त्येष्टि कर डाली और उत्तर भारत सारा क्षतविक्षत हो गया। यह तूफान तैमूर का आक्रमण था। यह समरकंद का बादशाह था। सन् १३९८ में इसने भारत पर आक्रमण किया। ईरान, ईराक और अफगानिस्तान में यह पहिले ही लूटमार कर चुका था। अब यह भारत की अपार सम्पत्ति की कहानियां सुनकर यहां लूट खसोट करने आया था। अपने लुटेरे मन को छिपाने के लिये वह इस्लाम धर्म की आड़ लेता था और कहता था कि आक्रमण का उद्देश्य काफिरों को दंड देना और उनको सत्य मार्ग पर लाना है। सिंधु नदी के बाद झेलम, चिनाब और रावी नदियां इसने पार कीं। पंजाब के गांवों और नगरों को लूटता तथा जलाता हुआ और हिन्दुओं को कत्ल करता हुआ या बन्दी और गुलाम बनाता हुआ वह दिल्ली के निकट आ पहुँचा। महमूद तुगलक

ने बहुत बड़ी सेना के साथ उसका सामना किया परन्तु उसकी हार हुई और वह गुजरात की ओर भाग गया। इस युद्ध के आरंभ से एक दिन पहिले उसने एक लाख हिन्दुओं का वध करवाया था। ये लोग उसके लश्कर के साथ बन्दी थे। दिल्ली में पांच दिन तक उसने नागरिकों को कत्ल करवा कर बाजार तथा गलियां लाशों से पाट दीं और हजारों बच्चों तथा स्त्री पुरुषों को गुलाम बनाया और अपार सम्पत्ति लूट ली। तदनन्तर उसने अल्लाह को अपनी विजय के लिये धन्यवाद दिया और खुशियां मनाईं। फिर मेरठ, हरिद्वार आदि नगरों को उजाड़ता हुआ और जलाता हुआ तथा निरपराध लोगों को मारता हुआ वह वापिस अपने देश को लौट गया।

सैयदवंश और लोदीवंश—(१४१४-१५२६) : सैयदवंश के बादशाह केवल नाम के शासक थे। एक प्रकार से ये लोग तेमूर के वंशजों के सामन्त मात्र थे और सामन्त भी अयोग्य और असमर्थ। इनके समय में दिल्ली साम्राज्य सिकुड़ते सिकुड़ते राजधानी के आसपास केवल दो-पांच कोस तक रह गया था। इस वंश का अन्तिम बादशाह शाहआलम था। उसके राज्य के विषय में दिल्ली में यह कहावत प्रचलित हो गई थी कि "सलतनते शाह आलम, अज़ देहली ता पालम।" इस वंश का राज्य केवल ३७ वर्ष रहा। फिर लोदीवंश का राज्य स्थापित हुआ और इसमें तीन बादशाह हुए। बहलोल लोदी और सिकंदर लोदी वीर और योग्य शासक थे। इनके समय में मुसलिम शक्ति पुनर्जीवित हुई और बंगाल की सीमा तक पुनः दिल्ली का दबदबा कायम हो गया, लेकिन सिकन्दर लोदी ने मुल्लाओं की सलाह में पड़ कर हिन्दुओं को बहुत सताया जिसके कारण मुसलिम राज्य की नींव दृढ़ नहीं हो सकी। इब्राहीम लोदी वीर और साहसी था परन्तु उसके स्वभाव में तीव्रता और अविश्वास था। उसकी कठोरता के कारण बड़े बड़े सामन्त उसके विरोधी हो गये और अनेक प्रकार के प्रपंच चलने लगे। इससे पुनर्जीवित राज्य पुनः डगमगाने लग गया और स्थिति इब्राहीम के वश से बाहर हो गई। इसको अपने लिये अनुकूल अवसर समझ कर बाबर ने भारत पर आक्रमण कर दिया और इब्राहीम लोदी को पानीपत के रणक्षेत्र में मार कर भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना की।

दिल्ली का साम्राज्य छिन्न-भिन्न : मोहम्मद तुगलक की भूलों के कारण राजकोष खाली हो गया था और साम्राज्य डगमगाने लग गया था। फिरोजशाह तुगलक के शासन काल में भी स्थिति सुधरी नहीं, बल्कि बिगड़ती ही गई। तेमूर ने नाम शेष साम्राज्य का भी अन्त कर डाला और सारे उत्तर भारत में त्राहि २ मचा दी। इस स्थिति से लाभ उठा कर कितने ही मुसलमान वीरों ने अपने अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिये, राजपूताने के राजपूत शासक पुनः स्वतंत्र हो गये। इनमें मेवाड़ के महाराणा अग्रगण्य थे। दक्षिण में मुसलमानों ने बहमनी राज्य और हिन्दुओं ने विजयनगर राज्य स्थापित किया। उत्तर भारत में बंगाल, जानपुर, मालवा और कश्मीर में तथा गुजरात और खानदेश में मुसलमानों ने स्वतंत्र राज्य बना लिये।

विजयनगर का राज्य : उपरोक्त राज्यों में विजयनगर का राज्य विशेष उल्लेख के योग्य है। मलिक काफूर के आक्रमणों ने जब दक्षिण भारत को विदीर्ण कर डाला और पीढ़ियों की कमाई हुई प्रभूत धनराशि उसने एक ही झटके में छीन ली तो साहसी हिन्दू सोचने लगे कि अपनी प्राचीन संस्कृति को किस प्रकार बचाया जावे। इस प्रकार के वायुमंडल में विजयनगर राज्य की स्थापना हुई। आरम्भ में वह छोटा सा राज्य था परन्तु बढ़ते बढ़ते उसकी पूर्वी और पश्चिमी सीमा समुद्रतटों तक जा पहुँची और उत्तर में वह तुंगभद्रा नदी के पास बहमनी राज्य से जा सटा। इस प्रकार तुंगभद्रा नदी से दक्षिण का भारत सारा विजयनगर राज्य में शामिल हो गया। यह राज्य सन् १३७० के लगभग स्थापित हुआ और करीब दो शताब्दियों तक कायम रहा। यहां के नरेशों में महाराज कृष्णदेव राय बहुत प्रसिद्ध हुआ। इसने पोर्चुगीज लोगों को एक किला बनाने की इजाजत दी। इसके राज्य में पेस नामक एक पोर्चुगीज यात्री आया था जिसने लिखा है कि 'कृष्णदेव राय बड़ा विद्वान और आदर्श नरेश है। उसका स्वभाव सरस है और वह सदा प्रसन्न तथा हंसमुख रहता है। वह विदेशियों का आदर और स्वागत करता है। वह बड़ा न्यायप्रिय है। उसके बराबर राज्य या सेना, किसी अन्य शासक के पास नहीं है। वह विद्वानों का आदर करता था। धार्मिक कार्मो के लिये पुष्कल दान देता था। अपनी प्रजा के सुख और हित की सदैव चिन्ता करता था।' निकोली केन्टी नामक एक इटेलियन यात्री ने विजयनगर को पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में देखा था। वह लिखता है कि 'यह नगर साठ मील के घेरे में बसा हुआ है। इसकी नगर प्राचीर पर्वतों तक पहुँची हुई है। इस नगर में नब्बे हजार पुरुष ऐसे हैं जो शस्त्र धारण कर सकते हैं। यहां का राजा भारत के सब राजाओं में अधिक शक्तिशाली है।' अबदुर्रज्जाक नामक एक ईरानी यात्री ने सन् १४४२-४३ में इस राज्य का भ्रमण किया था। वह लिखता है कि 'राजकोष में कितने ही तहखाने हैं जिनमें सोना पिघला कर भरा गया है। नगर के सब लोग यहां तक कि गरीब से गरीब भी जवाहिरात पहिनते हैं और गर्दन, कलाई तथा उंगलियों में सोना चांदी के जेवर पहिने रहते हैं।' पेस कहता है कि 'विजयनगर में प्रत्येक देश के लोग मिलते हैं। ये लोग यहां अनेक प्रकार के रत्नों की और हीरों की तिजारत करने आते हैं। दूसरी प्रकार का व्यापार भी यहां खूब होता है। यह नगर संसार में सर्वाधिक सम्पन्न है। यहां गेहूं, चावल, जौ, मूंग, और दूसरे प्रकार की दालें बहुत हैं और सस्ती मिलती हैं।' एडोर्डो बारबोसा नामक एक अन्य योरोपियन यात्री विजयनगर के विषय में लिखता है कि 'यह नगर अति विस्तृत और सम्पन्न है। यहां व्यापार खूब होता है। पीगू से हीरे और लाल आते हैं, चीन से रेशम मंगवाया जाता है, सिकन्दरिया का रेशम भी यहां खूब बिकता है और मलाबार से चन्दन के अतिरिक्त मसाले की कई चीजें आती हैं।' विजयनगर में कई प्रकार के व्यवसाय भी सम्पन्न अवस्था में थे। यहां कई प्रकार के सुन्दर कपड़े बनते थे। भूमि में से

धातुएँ निकाली जाती थीं, उनको साफ किया जाता था। यहाँ इत्र कई प्रकार के बनाये जाते थे। जल और स्थल दोनों के मार्गों से व्यापार होता था। अब्दुर्रज्जाक लिखता है कि इस राज्य में ३०० बन्दरगाह हैं। न्यूनिट्ज नामक एक योरोपियन यात्री ने इस राज्य की स्त्रियों के विषय में जो लिखा है वह भी उद्धरण के योग्य है, "यहाँ स्त्रियाँ ज्योतिषी हैं, लेखिका हैं और हिसाबनवीस हैं। कई स्त्रियाँ राज्य का दैनिक वृत्तान्त लिखती हैं, कितनी ही अच्छा संगीत जानती हैं, और कुछ न्यायाधीश का भी काम करती हैं।" खान-पान के विषय में न्यूनिट्ज कहता है कि "यहाँ अनेक लोग कई प्रकार के पशु और पक्षियों का माँस खाते हैं परन्तु गो माँस वर्जित और निषिद्ध है।"

विजयनगर राज्य कला और साहित्य का केन्द्र था। यहाँ के नरेश संस्कृत, तेलगू, तामिल और कन्नड़ सब भाषाओं को प्रोत्साहन देते थे। इनकी छत्रछाया में इन भाषाओं के सत्साहित्य की सृष्टि हुई। प्रसिद्ध वेदभाष्यकार सायणाचार्य और उसका विद्वान् भाई माधवाचार्य दोनों विजयनगर राज्य के आश्रित और प्रतिष्ठित पंडित थे। कृष्णदेव राय स्वयं कवि, पंडित, संगीतज्ञ और गुणग्राही नरेश था। उसकी राजसभा सदैव अनेक दार्शनिक, विद्वान्, कवि ज्योतिषी और धर्माचार्यों से अलंकृत रहा करती थी। इन सब का यथोचित सम्मान किया जाता था और राज-कोष से उदारतापूर्वक इनको दान दिया जाता था। उसने तेलगू भाषा में 'आमुक्त माल्यदा' नामक एक सुन्दर ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें राजनीति और शासन नीति के विविध अंगों का अच्छा विवेचन है। इस राजा ने संस्कृत भाषा में भी कई छोटे बड़े ग्रन्थ लिखे थे जिसका उसने इस ग्रन्थ में उल्लेख किया है। उसकी राजसभा में आठ विद्वान् बड़ी उच्च कोटि के थे। ये अष्ट दिग्गज कहलाते थे।

विजयनगर के शासक सब पुण्यवान् और धार्मिक थे, परन्तु वे सब धर्मों का आदर करते थे। शैव, बौद्ध, वैष्णव और जैन ही नहीं, ईसाई और इसलाम धर्म के साथ भी उनका उदारता का व्यवहार था। बारबोसा लिखता है कि "राजा ने सब लोगों को पूर्ण रूप से स्वतन्त्रता दे रखी है। ईसाई, मुसलमान, हिन्दू और यहूदी आदि कोई भी इस राज्य में जा सकते हैं। किसी को तंग नहीं किया जाता। कोई किसी से उसके धर्म के विषय में कुछ पूछता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने धर्म का पालन कर सकता है।"

दशम अध्याय

प्रथम पराधीनता की संस्कृति

पराधीनता के तीन युग : अफगान तुर्क-युग हमारी पराधीनता का प्रथम युग था। इस काल में मुसलमानों के अफगान और तुर्क परिवारों के हाथ में शासन रहा। इन तीन शताब्दियों के (१२०६-१५२६) काल में एक बार दक्षिण भारत की नृशंस लूट हुई जिसमें सदियों का धन-संग्रह मुसलमानों के हाथ लगा। लगभग पन्द्रह वर्ष के लिए समस्त भारत भूमि पर अलाउद्दीन खिलजी के समय में मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया और हिन्दुओं के बचे-बचाये राज्य नष्ट हो गये। उत्तर में चित्तौड़ और रणथम्भोर तथा दक्षिण में देवगिरि और वारंगल हिन्दुओं के अवशिष्ट गौरव के प्रतीक थे। सर्वत्रव्यापी घोर अन्धकार में हिन्दुओं को केवल इनका प्रकाश दिखाई देता था। इनको भी नष्ट कर खिलजी बादशाह ने मानो हिन्दुओं का गौरवसूर्य हमेशा के लिए डुबा दिया। परन्तु उसके मरते ही हिन्दुओं की शक्तियाँ जागृत होने लगीं। दक्षिण में विजयनगर के वैभव सूर्य के प्रकाश में सम्पूर्ण मुसलिम राज्य तारों के समान फीके पड़ गये और दो शताब्दियों तक अपनी चमक नहीं दिखा सके। उत्तर में मेवाड़ की यशः पताका पुनः ऊँची हो कर लहराने लगी। महाराणा सांगा ने दिल्ली के सुल्तान को रणक्षेत्र में हरा कर भगा दिया और समस्त हिन्दू नरेशों का नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया। बाबर के आक्रमण से पूर्व अर्थात् सन् १५२० के आसपास भारत की राजनैतिक स्थिति अत्यन्त विपन्न और अनिश्चित थी। कोई यह नहीं कह सकता था कि भावी भारत पर हिन्दुओं का शासन स्थापित होगा या तुर्कों का या दोनों का। ऐसी अवस्था में बाबर ने हमला किया और दोनों शक्तियों को नष्ट कर मुग़ल साम्राज्य स्थापित किया। यह हमारी पराधीनता का दूसरा युग है जो सन् १५२६ से आरम्भ हो कर लगभग तीन शताब्दियों तक चला। इसके बाद ही अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित होने लगा और हमारी पराधीनता का तीसरा युग आरम्भ हुआ, यह भी लगभग दो शताब्दियों तक रहा। इस अध्याय में केवल प्रथम युग की संस्कृति का वर्णन किया जावेगा। शेष दो युगों का विवेचन अगले अध्यायों में होगा।

हिन्दू मुसलिम संस्कृति : विशुद्ध या निर्मल संस्कृति का अस्तित्व केवल कल्पना में है, इतिहास में नहीं। संसार में कोई भी देश ऐसा नहीं है जिसकी संस्कृति विशुद्ध हो। जैसे अनेक नदियाँ समुद्र में प्रवेश करके विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार प्रत्येक देश के संस्कृति-सागर में अनेक विचार-धारायें आती हैं, और या तो अपना नाम रूप त्याग कर उस सागर में लुप्त हो जाती हैं, या कुछ तरंगें और क्षोभ उत्पन्न

करती हैं और अन्त में समुद्र उनको निगल जाता है। मुसलमानों के आक्रमणों से पहिले, अर्थात् सन् ७१२ से पूर्व भारतवर्ष में भी ये ही क्रियायें हुई। ईरानी, यूनानी, शक, पार्थियन, हूण आदि जितनी भी जातियों ने भारत में प्रवेश किया, वे सब कुछ क्षोभ उत्पन्न कर के भारत की सुखद् गोद में सो गई और भारत ने उनको आत्मसात् कर लिया। परन्तु मुसलमानों के आक्रमणों के बाद यह क्रम टूट गया। मुसलिम संस्कृति नदी के रूप में किसी सागर में विलीन नहीं होना चाहती थी बल्कि यह औरों को निगलना चाहती थी। उसकी विस्तार बाढ़ ने यह सिद्ध कर दिया था कि अन्य संस्कृतियों को अपने में विलीन करने की उसमें शक्ति है। उसका मन्त्र सरल और सुबोध था, उसकी मोहिनी शक्ति में अप्रतिहत प्रभाव था और उसकी शक्ति अदम्य थी। परन्तु जब खैबर की घाटी को पार कर के उसने भारत में प्रवेश किया तो उसको अनुभव हुआ कि भारतीय संस्कृति निगली नहीं जा सकती। अपने तीन सौ वर्ष के शासन में तुर्क अफगान लोगों ने कई प्रकार के प्रयत्नों से अगणित हिन्दुओं को मुसलमान बनाया, परन्तु अन्त में उन्होंने यह अनुभव अवश्य कर लिया होगा कि समस्त भारतवर्ष को मुसलमान नहीं बनाया जा सकता। साथ ही हिन्दुओं ने भी देखा कि मुसलमान हूण आदि जातियों से बहुत भिन्न नहीं हैं। सातवीं शताब्दी के अन्त में मुसलमानों की बस्तियां गुजरात, सिंध और भारत के पश्चिमी तट पर यत्र तत्र स्थापित होने लग गई थीं। उस समय तक हूणों के आक्रमणों की तथा उनके पराजय की तथा राजपूतों में घुल मिल जाने और हिन्दू धर्म स्वीकार कर लेने की कथायें यत्र तत्र अवश्य प्रचलित होंगी। आरम्भ में हिन्दुओं ने समझा होगा कि मोहम्मद कासिम की प्रथम विजय बाढ़ का जोर समाप्त हो जाने पर उसके साथ आये हुए मुसलमानों की भी दस बीस वर्ष बाद वही दशा होगी जो हूणों की हुई थी, परन्तु उनका अनुमान गलत साबित हुआ। मुसलमान केवल लूटमार करने या अपना राज्य स्थापित करने ही नहीं आये थे, वे अपना धर्म, तर्ज और तरीका भी जहां जाते थे वहां कायम करना चाहते थे। इससे उनके राज्य की नींव दृढ़ होती थी और उनका यह भी विश्वास था कि इससे खुदा खुश होता है। जिस जाति में इतनी निष्ठा और दृढ़ता हो वह अपने ध्येय और उद्देश्य से विचलित नहीं हो सकती। इसलिये अपने धर्म प्रचार के आवेश और मद में मुसलमानों ने भारतवर्ष के धर्म, ज्ञान, कला, दर्शन आदि को समझने का कभी प्रयत्न ही नहीं किया। उनको किसी अन्य धर्म की या दर्शन की या साहित्य की आवश्यकता ही नहीं थी। उनके इस रुख को देख कर हिन्दुओं को भी अनुभव हो गया कि मुसलमानों को आत्मसात् नहीं किया जा सकता। इस स्थिति के कारण हिन्दुओं में भी अनुदारता बढ़ने लगी। शायद इसको ही उन्होंने अपनी रक्षा के लिये दुर्ग समझा। अब मुसलमान अपना धर्म फैलाना चाहते थे और हिन्दू लोग अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा करना चाहते

थे। मुसलमानों के पास राजशक्ति थी और शस्त्रबल था। वे छल, बल या कौशल से या लोभ से हिन्दुओं को मुसलमान बना सकते थे परन्तु हिन्दुओं के लिये यह मार्ग बन्द था। उनके पास न राजशक्ति थी और न शस्त्रशक्ति। फिर नवनिर्मित अनुदारता के कारण मुसलमानों को अपने धर्म में मिलाने की उनमें न उमंग थी और न अभिलाषा। वे तो मुसलमानों से यथासंभव दूर रहना चाहते थे। आरम्भ में जो हिन्दू मुसलमानों ने गुलाम बना लिये थे या जिन्होंने दबाव के कारण मुसलमान धर्म स्वीकार कर लिया था, उनको प्रायश्चित करवा कर पुनः हिन्दू धर्म में सम्मिलित कर लिया जाता था, परन्तु यह प्रथा भी केवल लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक जारी रही। ज्यों ज्यों अनुदारता और दृढ़ता बढ़ी त्यों त्यों यह बन्द होने लगी और अन्त में यह हो गया कि जो हिन्दू लोभ से, स्वार्थ से, दबाव या त्रास से मुसलमान हो गया वह हमेशा के लिये हिन्दू समाज से पृथक् हो गया। इस प्रकार भारतवर्ष में दो समाज कायम हो गये—एक हिन्दू समाज और दूसरा मुसलिम समाज। ये दोनों समाज एक दूसरे से दूर रहना चाहते थे। इनकी दृष्टि और भावना बिलकुल पृथक् पृथक् थी। मुसलिम शासक भी चाहते थे कि यह पार्थक्य बना रहे। इसलिये दोनों समाजों का सम्मिश्रण, दोनों में एकता और दोनों संस्कृतियों का समन्वय असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन तो था ही। लेकिन यह सम्भव नहीं था कि करोड़ों हिन्दू और मुसलमान रात दिन वणिज-व्यापार, व्यवसाय, लेनदेन आदि में साथ साथ रहें और फिर भी पार्थक्य पूर्णरूपेण बना रहे। दोनों वर्गों के बीच गहरी खाई थी। उसका भरना या पटना निःसन्देह असम्भव था, परन्तु यह भी सम्भव नहीं था कि दोनों वर्ग परस्पर नहीं मिलें, एक भाषा नहीं बोलें, रंज या खुशी के मौके पर शामिल न हों, आमोद प्रमोद कभी कभी साथ साथ न मनावें, और दोनों वर्गों के दो व्यक्तियों में कभी मित्रता हो ही नहीं। इस प्रकार के सम्पर्क अवश्यंभावी थे। इनके कारण हिन्दू मुसलिम संस्कृतियों का कुछ न कुछ समन्वय भी हुआ और भारत में एक नया सांस्कृतिक वायुमंडल बना, परन्तु तो भी यह अवश्य है कि दोनों के मध्य की खाई बनी ही रही। हिन्दू और मुसलमान हाथ अवश्य मिलाते थे परन्तु खाई के ऊपर से। हिन्दू मुसलिम संस्कृति का यह मुख्य स्वरूप था।

हिन्दू-मुसलिम धर्म : इन दोनों धर्मों का दृष्टिकोण भिन्न है, दोनों के अनेक सिद्धान्तों में महाभेद है। दोनों के अनुयायियों का व्यवहार पृथक् पृथक् है। दोनों का सामाजिक कर्त्तव्य जुदा जुदा है। दोनों के खानपान के नियमों में भेद है। पुनर्जन्म के विषय में दोनों के विचार नहीं मिलते। दोनों के स्वर्ग की कल्पना भी एक जैसी नहीं है। इसलाम की भक्ति और हिन्दू धर्म की भक्ति भी एक जैसी नहीं है। दोनों धर्मों में सबसे बड़ा भेद है प्रतिमा पूजन। इसलाम धर्म प्रतिमा पूजन को अत्यन्त हेय और गर्हित मानता है और इसका उच्छेद करना उसका ध्येय है। मुसल-

करती हैं और अन्त में समुद्र उनको निगल जाता है। मुसलमानों के आक्रमणों से पहिले, अर्थात् सन् ७१२ से पूर्व भारतवर्ष में भी ये ही क्रियायें हुईं। ईरानी, यूनानी, शक, पार्थियन, हूण आदि जितनी भी जातियों ने भारत में प्रवेश किया, वे सब कुछ क्षोभ उत्पन्न कर के भारत की सुखद गोद में सो गईं और भारत ने उनको आत्मसात् कर लिया। परन्तु मुसलमानों के आक्रमणों के बाद यह क्रम टूट गया। मुसलिम संस्कृति नदी के रूप में किसी सागर में विलीन नहीं होना चाहती थी बल्कि यह औरों को निगलना चाहती थी। उसकी विस्तार बाढ़ ने यह सिद्ध कर दिया था कि अन्य संस्कृतियों को अपने में विलीन करने की उसमें शक्ति है। उसका मन्त्र सरल और सुबोध था, उसकी मोहिनी शक्ति में अप्रतिहत प्रभाव था और उसकी शक्ति अदम्य थी। परन्तु जब खैबर की घाटी को पार कर के उसने भारत में प्रवेश किया तो उसको अनुभव हुआ कि भारतीय संस्कृति निगली नहीं जा सकती। अपने तीन सौ वर्ष के शासन में तुर्क अफगान लोगों ने कई प्रकार के प्रयत्नों से अगणित हिन्दुओं को मुसलमान बनाया, परन्तु अन्त में उन्होंने यह अनुभव अवश्य कर लिया होगा कि समस्त भारतवर्ष को मुसलमान नहीं बनाया जा सकता। साथ ही हिन्दुओं ने भी देखा कि मुसलमान हूण आदि जातियों से बहुत भिन्न नहीं हैं। सातवीं शताब्दी के अन्त में मुसलमानों की बस्तियां गुजरात, सिंध और भारत के पश्चिमी तट पर यत्र तत्र स्थापित होने लग गई थीं। उस समय तक हूणों के आक्रमणों की तथा उनके पराजय की तथा राजपूतों में घुल मिल जाने और हिन्दू धर्म स्वीकार कर लेने की कथायें यत्र तत्र अवश्य प्रचलित होंगी। आरम्भ में हिन्दुओं ने समझा होगा कि मोहम्मद कासिम की प्रथम विजय बाढ़ का जोर समाप्त हो जाने पर उसके साथ आये हुए मुसलमानों की भी दस बीस वर्ष बाद वही दशा होगी जो हूणों की हुई थी, परन्तु उनका अनुमान गलत साबित हुआ। मुसलमान केवल लूटमार करने या अपना राज्य स्थापित करने ही नहीं आये थे, वे अपना धर्म, तर्ज और तरीका भी जहां जाते थे वहां कायम करना चाहते थे। इससे उनके राज्य की नींव दृढ़ होती थी और उनका यह भी विश्वास था कि इससे खुदा खुश होता है। जिस जाति में इतनी निष्ठा और दृढ़ता हो वह अपने ध्येय और उद्देश्य से विचलित नहीं हो सकती। इसलिये अपने धर्म प्रचार के आवेश और मद में मुसलमानों ने भारतवर्ष के धर्म, ज्ञान, कला, दर्शन आदि को समझने का कभी प्रयत्न ही नहीं किया। उनको किसी अन्य धर्म की या दर्शन की या साहित्य की आवश्यकता ही नहीं थी। उनके इस रुख को देख कर हिन्दुओं को भी अनुभव हो गया कि मुसलमानों को आत्मसात् नहीं किया जा सकता। इस स्थिति के कारण हिन्दुओं में भी अनुदारता बढ़ने लगी। शायद इसको ही उन्होंने अपनी रक्षा के लिये दुर्ग समझा। अब मुसलमान अपना धर्म फैलाना चाहते थे और हिन्दू लोग अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा करना चाहते

चटाइयाँ ओढ़ते हैं और फटे टूटे कपड़े से अपना कुछ तन ढक लेते हैं। शरीर पर राख मलते हैं। गले में मनुष्यों की खोपड़ी लटकी रहती हैं। सैराफी ने लिखा है कि ये लोग नाखून बड़े बड़े बढ़ा लेते हैं और नगर नगर घूमा करते हैं। लोग इनको प्रसन्नता से खाना देते हैं।

तत्कालीन रिवाज और प्रथाएँ : 'राजपूतियों' के सम्प्रदाय में मुख्य सिद्धान्त यह था कि राजा के लिये आवश्यकता पड़े तो प्राण तक दे देना चाहिए। हिन्दू लोग मुसलमानों को अपवित्र समझते थे। मुसलमान जिस चीज को छू लेते थे उसको हिन्दू नहीं छूते थे। व्यभिचार के लिये प्राण दंड दिया जाता था। मुसलमान हो जाने के बाद यदि पुनः कोई हिन्दू होना चाहता था तो उसके सारे शरीर को मूंड़ कर उससे प्रायश्चित कराया जाता था और पंचगव्य पिलाया जाता था। ब्राह्मण लोग शराब को हराम समझते थे और इसी प्रकार मांस को। हिन्दू लोग निकट सम्बन्धियों के यहाँ विवाह नहीं करते थे। यह लोग कयामत और रसूल को नहीं मानते थे। पशुओं की हत्या करना या उनको कष्ट देना बहुत बुरा समझते थे।

तत्कालीन भारत का विपुल वैभव : अरब यात्रियों के वर्णन से विदित होता है कि आठवीं से दशवीं शताब्दी तक भारत में अटूट सम्पत्ति थी। मिस्र, अरब, ईरान, लंका और चीन के साथ भारत का विपुल व्यापार था। भारत की जो वस्तुएँ बाहर जाती थीं उनके मूल्य का इससे अनुमान होता है कि एक जहाज के माल पर अरब तट पर पहुँचने पर ५ लाख दरहम तक की जकात देनी पड़ती थी। मुसलमानों के कानून के अनुसार जकात कर २½ रुपये प्रतिशत लिया जाता था। इस हिसाब से २ करोड़ दरहम का माल एक जहाज में लदा हुआ होता था। अर्थात् जो जहाज भारत से रवाना होता था उसके माल का मूल्य लगभग २ करोड़ दरहम मिलता था। आजकल के हिसाब से २ करोड़ दरहम २० लाख रुपये के बराबर होते हैं। इस समृद्ध व्यापार के कारण भारतवर्ष में लक्ष्मी कल्लोल करती रहती थी। यह कारण था कि महाराज बल्लभराय की राजधानी में अरबों को स्वर्ण निर्मित मन्दिर दिखाई देते थे, जिसमें सोने के सिंहासन पर १० हाथ ऊँची सोने की प्रतिमा थी। मन्दिर में सर्वत्र बहुमूल्य रत्न जड़े थे। यह केवल एक राजधानी का वर्णन है। इस प्रकार के अनेक राज्य दक्षिण भारत में वर्तमान थे। यह अनुमान करना अत्युक्ति नहीं होगी कि इतनी या लगभग इतनी ही सम्पदा प्रत्येक राज्य में होगी। समुद्र तट पर स्थिति राज्यों की सेनाओं में सैकड़ों और हजारों हाथी थे, हजारों सैनिक थे। सब को समय पर वेतन मिलता था। दक्षिण में एक राजा के यहां एक मुसलमान राज मन्त्री को पुरस्कार स्वरूप स्वर्ण ही इतना मिला था कि उसको लादने के लिये २०० बैलों की आवश्यकता हुई थी। यहां के खान पान पर अरब लोग मुग्ध थे। यहां के सुगन्धित पदार्थों और मिष्ठान्न ने उनको चकित कर दिया था। इस से इस बात का पता लगता है कि देश कितना सम्पन्न था।

करती हैं और अन्त में समुद्र उनको निगल जाता है। मुसलमानों के आक्रमणों से पहिले, अर्थात् सन् ७१२ से पूर्व भारतवर्ष में भी ये ही क्रियायें हुईं। ईरानी, यूनानी, शक, पार्थियन, हूण आदि जितनी भी जातियों ने भारत में प्रवेश किया, वे सब कुछ क्षोभ उत्पन्न कर के भारत की सुखद गोद में सो गईं और भारत ने उनको आत्मसात् कर लिया। परन्तु मुसलमानों के आक्रमणों के बाद यह क्रम टूट गया। मुसलिम संस्कृति नदी के रूप में किसी सागर में विलीन नहीं होना चाहती थी बल्कि यह औरों को निगलना चाहती थी। उसकी विस्तार बाढ़ ने यह सिद्ध कर दिया था कि अन्य संस्कृतियों को अपने में विलीन करने की उसमें शक्ति है। उसका मन्त्र सरल और सुबोध था, उसकी मोहिनी शक्ति में अप्रतिहत प्रभाव था और उसकी शक्ति अदम्य थी। परन्तु जब खैबर की घाटी को पार कर के उसने भारत में प्रवेश किया तो उसको अनुभव हुआ कि भारतीय संस्कृति निगली नहीं जा सकती। अपने तीन सौ वर्ष के शासन में तुर्क अफगान लोगों ने कई प्रकार के प्रयत्नों से अगणित हिन्दुओं को मुसलमान बनाया, परन्तु अन्त में उन्होंने यह अनुभव अवश्य कर लिया होगा कि समस्त भारतवर्ष को मुसलमान नहीं बनाया जा सकता। साथ ही हिन्दुओं ने भी देखा कि मुसलमान हूण आदि जातियों से बहुत भिन्न नहीं हैं। सातवीं शताब्दी के अन्त में मुसलमानों की बस्तियां गुजरात, सिंध और भारत के पश्चिमी तट पर यत्र तत्र स्थापित होने लग गई थीं। उस समय तक हूणों के आक्रमणों की तथा उनके पराजय की तथा राजपूतों में घुल मिल जाने और हिन्दू धर्म स्वीकार कर लेने की कथायें यत्र तत्र अवश्य प्रचलित होंगी। आरम्भ में हिन्दुओं ने समझा होगा कि मोहम्मद कासिम की प्रथम विजय बाढ़ का जोर समाप्त हो जाने पर उसके साथ आये हुए मुसलमानों की भी दस बीस वर्ष बाद वही दशा होगी जो हूणों की हुई थी, परन्तु उनका अनुमान गलत साबित हुआ। मुसलमान केवल लूटमार करने या अपना राज्य स्थापित करने ही नहीं आये थे, वे अपना धर्म, तर्ज और तरीका भी जहां जाते थे वहां कायम करना चाहते थे। इससे उनके राज्य की नींव दृढ़ होती थी और उनका यह भी विश्वास था कि इससे खुदा खुश होता है। जिस जाति में इतनी निष्ठा और दृढ़ता हो वह अपने ध्येय और उद्देश्य से विचलित नहीं हो सकती। इसलिये अपने धर्म प्रचार के आवेश और मद में मुसलमानों ने भारतवर्ष के धर्म, ज्ञान, कला, दर्शन आदि को समझने का कभी प्रयत्न ही नहीं किया। उनको किसी अन्य धर्म की या दर्शन की या साहित्य की आवश्यकता ही नहीं थी। उनके इस रुख को देख कर हिन्दुओं को भी अनुभव हो गया कि मुसलमानों को आत्मसात् नहीं किया जा सकता। इस स्थिति के कारण हिन्दुओं में भी अनुदारता बढ़ने लगी। शायद इसको ही उन्होंने अपनी रक्षा के लिये दुर्ग समझा। अब मुसलमान अपना धर्म फैलाना चाहते थे और हिन्दू लोग अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा करना चाहते

नरहरी, रैदास, सेना, सुरसुरा कीधर्मपत्नी और अनन्तानंद। इनमें कबीर और रैदास धार्मिक नेता हुए और उनके मार्मिक विचारों से तथा चुभते हुए वचनों से धार्मिक क्षेत्र में खूब हलचल मची और लोगों का ध्यान वाह्य आडम्बरों से हट कर धर्म के मूल तत्वों पर गया। इन बारह शिष्यों में कई जाति के लोग थे। कबीर जन्मतः ब्राह्मण किन्तु व्यवसाय और लालन पालन की दृष्टि से मुसलमान थे, रैदास चमार थे, अनंतानंद ब्राह्मण थे और पीपा राजपूत थे। पीपा गागरोणगढ़ (झालावाड़ राजस्थान के पास) के चौहान वंशीय नरेश थे। स्वामी रामानंद जी के उपदेश का इन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि तत्काल अपना राज्य अपने पुत्र को देकर स्वयं सन्यासी हो गये। उनकी पतिपरायणा राणी भी उन्हीं के साथ हो गई। दोनों पति-पत्नी आजन्म स्वामी जी की सेवा म रहे और उनके सदुपदेशों से अपने जीवन को उन्नत करते रहे। पीपा का देहान्त न जाने कहां हुआ परन्तु उनका दाह-संस्कार गागरोण के निकट काली सिंध नदी के तट पर किया गया था जहां उनका एक छोटा सा, टूटा फूटा स्मारक अब तक विद्यमान है। कर्नल टाड के मुन्शी रामकरण ने वहां पीपाजी की खड़ाऊं भी रखी हुई देखी थीं, परन्तु लेखक को उन खड़ाऊं के दर्शन नहीं हुए। कहा जाता है कि स्वामी रामानंदजी महाराज ने एक सौ वर्ष से भी अधिक आयु पाई, परन्तु इस विषय में इतिहासकारों में विवाद है, और उसमें प्रवेश करना यहां आवश्यक नहीं है। अंग्रेज लेखकों का मत है कि स्वामी रामानंद के विचार इसलाम के धक्के ने बनाये थे, परन्तु यह बात ठीक नहीं जँचती। इससे पहिले जाति-पांति और वर्ण-व्यवस्था का विरोध कुछ दूसरे प्रकार के शब्दों में लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व गौतमबुद्ध और स्वामी महावीर इसी प्रदेश में अर्थात् प्रयाग के पास ही कर चुके थे। परन्तु फिर भी यह मानना चाहिये कि चौदहवीं शताब्दी की भारतीय परिस्थिति में रामानंद जी महाराज ने उस पक्ष पर विशेष जोर देना आवश्यक समझा होगा।

कबीर साहिब : कबीर का जन्म सन् १३९८ में एक ब्राह्मण के घर में हुआ था। कहा जाता है कि एक जुलाहे ने इनको किसी तालाब के किनारे पर पड़ा पाया। वह उन्हें अपने घर ले गया और उनका पुत्रवत् पालन किया। अतः उनके संस्कार और परिस्थिति में हिन्दू और मुसलमान दोनों का समन्वय था। इनके माता-पिता तथा पालक-पोषक दोनों काशी के निवासी थे और इनका जीवन भी प्रायः काशी में ही कटा। कबीर जी ने अपने शब्दों में यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि वे जुलाहे थे। वे कहते हैं :—

जाति जुलाहा क्या करे हिरदे बसे गोपाल।
कबीर रमैया कंठ मिलु चुकै सरब जंजाल॥

कहे कबीर राम रस माते जोलहा दास कबीर हो।
छाके बोक अमृत की काया जग में जोलह कहलाया॥

कबीर साहिब हिन्दू धर्म के रंग में रंगे हुए थे, परन्तु उनको केवल सैद्धान्तिक तत्वों से प्रेम था। यह दृष्टिकोण उनके गुरु स्वामी रामानन्द के उपदेश से बना था। रामानन्द भी केवल तत्व का उपदेश करते थे, वाह्य आडम्बर का नहीं। कबीर ने कई स्थानों पर कहा है कि रामानन्द उनके गुरु थे। अपने गुरु का उल्लेख कबीर साहिब ने बड़ी श्रद्धा और गौरव के साथ किया है। वे कहते हैं :—

काशी में हम प्रकट भये हैं रामानन्द चेताये ।
काशी में कीरति सुन आई, कबीर मोहि कथा बुझाई ॥
गुरु रामानन्द चरण कमल पर धोबिन दीनि वार ।
काशी में प्रगटे दास कहाये नीरू के घर आये ॥
रामानन्द के शिष्य भये, भव सागर पंथ चलाये ॥

कबीर साहिब भी अपने गुरु की भाँति एक सौ वर्ष से अधिक काल तक जीवित रहे और काशी के निकट ही उनका देहान्त हुआ। जिस मोहल्ले में वे रहते थे वह इस समय भी कबीर चौरा कहलाता है।

कबीर साहिब के सिद्धान्त : कबीर निर्गुण भक्त थे। जगन्नियन्ता और जगद्रचयिता निराकार ईश्वर को मानते थे। उनका ईश्वर कभी सांख्य के पुरुष से, कभी न्याय के ईश्वर से और कभी वेदान्त के ब्रह्म से मिलता जुलता है। इसका कारण यह है कि कबीर जी न विद्वान थे और न दार्शनिक। वे तो सन्त थे जो भगवान की भक्ति में मस्त रहा करते थे और जिस समय जो तरंग हृदय में उठी, जैसे भी आध्यात्मिक प्रकाश की झलक दिखाई दी या जो अन्तःप्रेरणा हुई, उसी को अपने पद या गीत में प्रकट कर दिया करते थे। इसलिये कबीर साहब के विचारों में कोई व्यवस्था नहीं है। उनके मत में एकरसता का भी अभाव है। वे निर्गुणोपासक हैं और ऐकेश्वरवादी हैं परन्तु कभी कभी वे लोक विचारों के प्रवाह में भी बह जाते हैं। भक्त प्रहलाद का उल्लेख करते हुए उन्होंने नृसिंहावतार का भी संक्षिप्त वर्णन कर दिया है। अपने ईश्वर के लिये भी वे किसी नाम विशेष का उल्लेख नहीं करते। बहुधा वे उसको राम कहते हैं परन्तु रघुनाथ, रघुराई, गोपाल आदि शब्दों का उन्होंने व्यवहार किया है। इन नामों का प्रयोग उन्होंने रघुकुल के स्वामी भगवान रामचन्द्र या नन्द की गौएं चराने वाले श्रीकृष्ण के लिये नहीं किया है। कबीर साहिब के लिये राम, गोपाल, रघुनाथ आदि शब्द ब्रह्म के पर्यायवाची हैं। कबीर जी की भाषा हिन्दी है, उनकी वर्णन शैली हिन्दू है, वे हिन्दू मर्यादाओं और आचार-विचार तथा व्यवहारों का स्थान स्थान पर उल्लेख करते हैं, वे माया शब्द का कई अर्थों में प्रयोग करते हैं। उनकी माया शंकराचार्य की माया से बिलकुल भिन्न है। शंकर की माया तो अज्ञान है या अन्धकार है, परन्तु कबीर साहिब की माया कभी लक्ष्मी, कभी शक्ति, कभी भवानी पार्वती और कभी पंडित या पांडे की पत्नी है, यहां तक कि एक दो

बार उसको कबीर साहिब ने धोबिन भी बना दिया है। कबीर साहब को ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि नाम पसन्द नहीं थे। ये नाम भी राम और गोपाल की भांति ईश्वर के नाम माने जा सकते थे परन्तु वे इस जंजाल में नहीं पड़ना चाहते थे और न बहस या विवाद उनको पसन्द था। वे तो अपनी चादर बुनते हुए जो धुन में आता उसी विचार को सीदी सादी बल्कि गंवारू भाषा में छन्द बना कर गाने लगते थे। कबीर साहिब का धर्म हृदय का धर्म था, मस्तिष्क का धर्म नहीं। इसलिये उनके मीठे और पैने शब्द श्रोताओं के हृदय को स्पर्श करते थे। कबीर ईश्वर और गुरु के सिवाय और किसी को नहीं मानते थे। ईश्वर की प्राप्ति के लिये वे योग, ध्यान, व्रत, उपवास या शास्त्रों का अध्ययन या अन्य किसी प्रकार का वेष-भूषा कुछ भी आवश्यक नहीं समझते थे। तत्कालीन भारत में जितने भी ईश्वर प्राप्ति के या आत्म-साक्षात्कार के साधन प्रचलित थे, कबीर साहिब उन सब को निरर्थक और हेय समझते थे, परन्तु साथ ही उन्होंने यह भी कभी स्पष्ट नहीं बतलाया कि भगवत्प्राप्ति का सच्चा साधन क्या है। उनके तमाम ग्रन्थों को पढ़ने से यह सार निकलता है कि ईश्वर की प्राप्ति के हेतु मनुष्य सीधा, सादा और सरल जीवन व्यतीत करे, सब के साथ सद्‌व्यवहार करे, सत्य बोले, किसी को पीड़ा न पहुंचावे और बाह्य आडम्बरों में न फंसे। इन सरल और सत्य उपदेशों का कौन क्या विरोध कर सकता था। न हिन्दुओं का इनसे मतभेद था और न मुसलमानों का। वास्तव में कबीर साहिब के उपदेश दोनों को रुचिकर थे, इसलिये मुसलमान उनको मुसलमान मानते थे और हिन्दू उनको हिन्दू मानते थे। कबीर साहिब का यही बड़ा महत्त्व है कि उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों को एक ही स्थान पर धर्म-चर्चा सुनने के वास्ते खड़ा कर दिया था, मानो इन दोनों वर्गों के बीच में जो खाई थी वह उन्होंने भर दी हो या पाट दी हो। हिन्दू और मुसलमान दोनों को साथ-साथ रहते लगभग छः सौ वर्ष व्यतीत हो गये थे लेकिन इस लम्बे अर्से में किसी मुल्ला ने या पंडित ने यह प्रयत्न नहीं किया कि धर्म के नाम पर होने वाला रक्तपात बन्द करके दोनों वर्गों को ऐसा धर्म-सन्देश दिया जावे जिसको दोनों निर्विरोध प्रेम से सुनें। यह महा कार्य सर्वप्रथम कबीर साहिब ने किया। इसलिये चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में जो एक प्रकार की कुछ मिश्रित सी संस्कृति का विकास होने लगा था उसका कबीर साहिब को प्रधान प्रतीक और मुख्य सन्देश ही कहा जा सकता है।

उनकी हिन्दू धर्म परम्परा : कबीरजी के विचार बड़े स्वतन्त्र थे। उनके पैरों में किसी मत या सम्प्रदाय की बेड़ी नहीं थी। परन्तु उनका यदि किसी धर्म की ओर झुकाव था तो हिन्दू धर्म की ओर था। इसके मूल सिद्धान्त उनको बहुत प्रिय थे। वे पुनः पुनः अति मधुर ढंग से उन्हीं का प्रतिपादन करते थे। उनको ऐसा अनुपम तत्त्व अच्छा लगता है जिसके न मुख है, न मस्तक, न वह रूपवान है और न कुरूप, वह पुष्प गन्ध से भी अधिक सूक्ष्म है। वह देह में निवास करता है परन्तु

कबीर साहिब हिन्दू धर्म के रंग में रंगे हुए थे, परन्तु उनको केवल सैद्धान्तिक तत्वों से प्रेम था। यह दृष्टिकोण उनके गुरु स्वामी रामानन्द के उपदेश से बना था। रामानन्द भी केवल तत्व का उपदेश करते थे, वाह्य आडम्बर का नहीं। कबीर ने कई स्थानों पर कहा है कि रामानन्द उनके गुरु थे। अपने गुरु का उल्लेख कबीर साहिब ने बड़ी श्रद्धा और गौरव के साथ किया है। वे कहते हैं:—

काशी में हम प्रकट भये हैं रामानन्द चेताये।
काशी में कीरति सुन आई, कबीर मोहि कथा बुझाई॥
गुरु रामानन्द चरण कमल पर धोबिन दीनि वार।
काशी में प्रगटे दास कहाये नीरू के घर आये॥
रामानन्द के शिष्य भये, भव सागर पंथ चलाये॥

कबीर साहिब भी अपने गुरु की भाँति एक सौ वर्ष से अधिक काल तक जीवित रहे और काशी के निकट ही उनका देहान्त हुआ। जिस मोहल्ले में वे रहते थे वह इस समय भी कबीर चौरा कहलाता है।

कबीर साहिब के सिद्धान्त : कबीर निर्गुण भक्त थे। जगन्नियन्ता और जगद्रचयिता निराकार ईश्वर को मानते थे। उनका ईश्वर कभी सांख्य के पुरुष से, कभी न्याय के ईश्वर से और कभी वेदान्त के ब्रह्म से मिलता जुलता है। इसका कारण यह है कि कबीर जी न विद्वान थे और न दार्शनिक। वे तो सन्त थे जो भगवान की भक्ति में मस्त रहा करते थे और जिस समय जो तरंग हृदय में उठी, जैसे भी आध्यात्मिक प्रकाश की झलक दिखाई दी या जो अन्तःप्रेरणा हुई, उसी को अपने पद या गीत में प्रकट कर दिया करते थे। इसलिये कबीर साहब के विचारों में कोई व्यवस्था नहीं है। उनके मत में एकरसता का भी अभाव है। वे निर्गुणोपासक हैं और ऐकेश्वरवादी हैं परन्तु कभी कभी वे लोक विचारों के प्रवाह में भी बह जाते हैं। भक्त प्रहलाद का उल्लेख करते हुए उन्होंने नृसिंहावतार का भी संक्षिप्त वर्णन कर दिया है। अपने ईश्वर के लिये भी वे किसी नाम विशेष का उल्लेख नहीं करते। बहुधा वे उसको राम कहते हैं परन्तु रघुनाथ, रघुराई, गोपाल आदि शब्दों का उन्होंने व्यवहार किया है। इन नामों का प्रयोग उन्होंने रघुकुल के स्वामी भगवान रामचन्द्र या नन्द की गौऐं चराने वाले श्रीकृष्ण के लिये नहीं किया है। कबीर साहिब के लिये राम, गोपाल, रघुनाथ आदि शब्द ब्रह्म के पर्यायवाची हैं। कबीर जी की भाषा हिन्दी है, उनकी वर्णन शैली हिन्दू है, वे हिन्दू मर्यादाओं और आचार-विचार तथा व्यवहारों का स्थान स्थान पर उल्लेख करते हैं, वे माया शब्द का कई अर्थों में प्रयोग करते हैं। उनकी माया शंकराचार्य की माया से बिलकुल भिन्न है। शंकर की माया तो अज्ञान है या अन्धकार है, परन्तु कबीर साहिब की माया कभी लक्ष्मी, कभी शक्ति, कभी भवानी पार्वती और कभी पंडित या पांडे की पत्नी है, यहां तक कि एक दो

करना चाहिये। जैसे कामी काम का सतत चिन्तन करता है उसी प्रकार भक्त को भगवान का स्मरण करना चाहिये। इसके लिये वाह्यदृष्टि को छोड़ कर अन्तःदृष्टि ग्रहण करनी चाहिये और बकवास बन्द कर तत्व का मनन तथा चिन्तन करना चाहिये। एक पल भी प्रभु की विस्मृति नहीं होनी चाहिये। केवल माला फेरते रहने से स्मरण नहीं होता। हाथ या उंगलियां चलती रहें, उससे कुछ नहीं बनता। प्रभु का नाम मन और हृदय के अन्तस्तल में घुसना चाहिये। कबीरजी कहते हैं कि सच्चा स्मरण यह है कि :—

तन थिर मन थिर वचन थिर, सुर निरत थिर होय।
कह कबीर इस पलक को कलप न पावे कोइ॥

इसको चाहे समाधि कहें या स्मरण कहें अथवा ध्यान, कबीर साहिब इसको ही सर्वाधिक महत्व देते थे। केवल नित्य नियम या रस्म अदा करने के विषय में कबीर साहिब कहते हैं कि :—

माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख मांहि।
मनुवा तो दस दिसि फिरै यह तो सुमरिन नाहिं॥

कबीर साहिब का भगवद्विश्वास : गीता में भगवान् प्रतिज्ञा करते हैं कि 'जो मेरा सतत स्मरण करते हैं और मेरे ध्यान में निरत रहते हैं उनके योगक्षेम की चिन्ता मैं किया करता हूँ। स्वयं उनको चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है।' ठीक ऐसी ही धारणा कबीरजी की थी। वे कहते हैं कि :—

कबिरा क्या मैं चिन्त हूँ, मम चिंते क्या होय।
मेरी चिन्ता हरि करै, चिंता मोहि न होय॥
साधू गांठ न बाँधही, उदर समाता लेय।
आगे पीछे हरि खड़े, जब मांगे तब देय॥

उपनिषद् ने कहा है कि आत्म-साक्षात्कार प्रवचन के द्वारा प्राप्त नहीं होता, मेधा और विद्या से भी भगवत्प्राप्ति नहीं हुआ करती। कबीर साहिब कहते हैं कि 'गाया जिन पाया नहीं।' साथ ही उनका कहना है कि 'अनगायेते दूर।' इसलिये उसका कीर्तन और स्मरण आवश्यक है। परन्तु कीर्तन और स्मरण केवल जीभ के द्वारा न हो, उसमें निष्ठा होनी चाहिये। क्योंकि 'जिन गाया विश्वास गहि ताँके सदा हजूरि।' कबीर जी का भगवद्विश्वास भारत में कोई नई चीज या सन्देश नहीं था। यह धारणा हमारे यहाँ परम्परा से चली आ रही थी। परन्तु कबीरजी की विवेचन विधि निराली और अटपटी थी जो सबको उनकी ओर आकर्षित करती थी। कबीरजी की प्रार्थना कितनी मधुर और प्यारी है। वे कहते हैं कि :—

साँई इतना दीजिये जामें कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा ना रहूं साधू न भूखा जाय॥

कबीर साहिब का आत्म-समर्पण : कबीर साहिब का आत्म-समर्पण और आत्म-निवेदन भारत की पुरातन परम्परा के अनुसार है, परन्तु उनके वर्णन में अपूर्व अनोखापन और आकर्षण है। इससे उनके वचन में एक नया सन्देश मालूम होता है और यह सन्देश अत्यन्त सामयिक जान पड़ता है। उनके समर्पण में हृदय को पिघलाने वाली करुणा है। वह अपनी निर्बलता सीधे शब्दों में प्रभु से प्रकट करते हैं और मार्मिक शब्दों में उससे दया की भिक्षा माँगते हैं। कबीर साहब कहते हैं:—

सुरत करो मेरी साइयाँ, हम हैं भवजल मांहि।
आये ही बह जायंगे, जो नहिं पकरौ बांहि ॥१॥
क्या मुख ले विनती करौं, लाज आवति है मोहि।
तुम देखत अवगुन करौं, कैसे भावों तोहि ॥२॥
मैं अपराधी जनम का, नख सिख भरा विकार।
तुम दाता दुख भंजना, मेरी करो संभार ॥३॥
जो मैं पूत कपूत हौं, तऊ पिता को लाज।
अवगुन किये तो बहु किये, करत न मानी हार ॥४॥
तुम तो समरथ साइयां, दृढ़ कर पकरौ बांहि।
धुरहिले पहुंचाइयो, जनि छांड़ो मग मांहि ॥५॥

कबीर साहिब का खंडन : हिन्दू धर्म : कबीर का धर्म निराडम्बर और प्रांजल हिन्दू धर्म है। उसमें वेदान्त के समस्त मूल तत्व समाविष्ट हैं। उन गहन और सूक्ष्म तत्वों का कबीरजी ने बड़ी सरल भाषा में विवेचन किया है। इस विलक्षण विवेचन के द्वारा हिन्दू वेदान्त उन्होंने लोक-प्रिय और सर्वग्राह्य बनाया। परन्तु जो बातें उनको बुरी लगीं उनका खंडन करना भी उन्होंने अपना कर्त्तव्य समझा। उनको इस बात का भय नहीं था कि उनके खंडन से हिन्दू लोग रुष्ट होंगे या विरोधी बन जावेंगे। इसके अतिरिक्त गत चार शताब्दियों से हिन्दू अपनी आँखों से देव मन्दिरों का ध्वंस और सुर प्रतिमाओं का भंग देखते आ रहे थे। इन दुखद दृश्यों को देखते देखते उनको सहन करने की आदत हो गई थी। यह भी एक कारण हो सकता है कि हिन्दू जनता ने कबीर साहिब का मूर्ति-खण्डन धैर्य के साथ सुना। आखिरकार वह शास्त्रीय और सैद्धान्तिक खण्डन ही तो था और प्रतिमा-भंजन से तो अच्छा था। इसके अतिरिक्त कबीर साहिब से पहिले भी खण्डन मंडन की परम्परा चली आ रही थी। कबीर के समय में मुसलमान प्रतिमा-पूजन के प्रबल विरोधी ही नहीं थे बल्कि इसके प्रबल विनाशक थे। ऐसे वायुमण्डल या वातावरण में कबीर जैसे मौलिक विचारक और चिन्तक के लिये यह स्वाभाविक बात थी कि वे मूर्ति पूजा का तथा अन्य वाह्य आडम्बरों का खण्डन करते। कबीर साहिब ने मूर्ति-पूजा का खण्डन बड़े भद्दे शब्दों में किया है परन्तु उनके वचन तो फिर भी लाखों लोगों की जबान पर हैं। वे कहते हैं कि :—

पाहन पूजे हरि मिले, तो मैं पूजूँ पहार ।
ताते यह चक्की भली, पिस्यो खाय संसार ॥१॥
पाहन केरी पूतरी, करि पूजा करतार ।
वाहि भरोसे मत रहो, बूड़ो काली धार ॥२॥

इसी प्रकार कबीरजी तीर्थ स्नान आदि को भी व्यर्थ समझते थे। वे कहते थे कि मछली सदैव जल में रहती है और निरन्तर धुलती रहती है परन्तु उसकी दुर्गन्ध नहीं जाती। इसी प्रकार जब तक मन में मैल है तब तक तीर्थ स्नान द्वारा शारीरिक मल को छुड़ाने से क्या लाभ हो सकता है। दुनियां के लोग इधर उधर मंदिरों में सिर टकराते फिरते हैं परन्तु ईश्वर तो हृदय में निवास करता है, वहां उसको पहिचानना चाहिये। इसलिये

मन मथुरा, दिल द्वारिका, काया कासी जान ।
दस द्वारे का देहरा, तापे ज्योति पिछान ॥

जब कबीर साहिब मूर्ति को ही केवल पत्थर मानते थे तो सेवा पूजन को व्यर्थ समझना तो उनके लिए स्वाभाविक बात थी। इसलिये उन्होंने चट से कह दिया कि 'पूजा सेवा नेम व्रत गुड़ियन का सा खेल।' कबीर साहिब यहां ही नहीं ठहरते। वे और आगे बढ़ते हैं और वेद पुराण तथा षट्दर्शन को भी केवल प्रपंच मानते हैं। वे कहते हैं कि :—

चार वेद षट शास्त्रहू औ दस अष्ट पुरान ।
आशा दे जग बांधियो, तीनों लोक भुलान ॥ १ ॥
औ भूले षट्दर्शन भाई, पाखंड भेख रहा लपटाई ।
ताकर हाल होय अध कूचा, छः दरसन में जोन बिगूचा ॥ २ ॥

जब वेदादि शास्त्रों को कबीरजी एक प्रकार का प्रपंच मानते थे तो पांडित्य या विद्वत्व का वे क्या आदर करते। वे मानते थे कि ईश्वर को हृदय में देखो। यों तो 'पढ़ि पढ़ि के पत्थर भये लिखि लिखि भए जो ईंट।' इसलिये 'काहि को पढ़ि पचि मरो कोटिन ज्ञान गरंथ॥' कबीर साहिब कहते थे कि 'शास्त्र पढ़ पढ़ कर सारा संसार थक गया और मर गया, वास्तविक पंडित कोई नहीं बन पाया।' वास्तव में ग्रन्थों के अध्ययन से संशय और भ्रम का उच्छेद नहीं होता। क्योंकि :—

पंडित और मसालची दोनों सूझे नांहि ।
औरन को कर चांदना आप अंधेरे मांहि ॥ १ ॥

कबीरजी केवल एक शुद्ध चेतन बुद्ध के उपासक थे। इसलिये उन्होंने ब्रह्मा, विष्णु, महेश और दूसरे समस्त देव देवियों को भी निरर्थक बतलाया है। उनका कहना है कि जो देव देवियों के जाल में फंसा रहता है उसको मुक्ति प्राप्त नहीं होती। इतना

ही नहीं, कबीर साहिब समझते थे कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी कोई साधक, सन्त या ऋषि मुनि होंगे। इसलिये उन्होंने कहा कि :—

ब्रह्मा विष्णु महेसर कहिये, इन सिर लागी काई।
इनहि भरोसे मत कोई रहियो, इनहूं मुक्ति न पाई॥

हिन्दुओं के दस अवतारों को अर्थात् मुख्य अवतारों को वे केवल कल्पना मानते थे और कहते थे कि :—

माया ते मन ऊपजे, मनते दस अवतार।
ब्रह्मा विष्णु धोखे गये, भरम परा संसार॥

इसलिये ब्रह्मा और वेद दोनों को ही कबीर साहब भ्रमोत्पादक समझते थे। उन्होंने कहा है कि :—

चार वेद ब्रह्मा निज ठाना, मुक्ति का मर्म उन्हुँ नहिं जाना॥

कबीर साहिब का खंडन : इसलाम : कबीर साहिब समझते थे कि संसार में केवल दो ही धर्म हैं। कारण यह था कि उनका सारा जीवन काशी में व्यतीत हुआ। उस समय दक्षिण भारत में कुछ ईसाई बस्तियां स्थापित हो चुकी थीं, और ईसाई धर्म का प्रचार भी चल रहा था परन्तु कबीर साहिब को इसका कुछ पता नहीं था। चीन या तिब्बत का उनको कुछ ज्ञान नहीं था। यदि बौद्ध धर्म से उनको परिचय होता तो उसके वाह्य आडम्बरों का भी वे अवश्य खंडन करते। कबीर साहिब दया और अहिंसा के पक्षपाती थे और उनके वचनों में दया धर्म की प्रशंसा है परन्तु उनके ग्रन्थों से यह पता नहीं चलता कि वे जैन धर्म से परिचित थे अथवा नहीं। कबीरजी की विश्वसनीय जीवनी नहीं मिलती। उनके विषय में जो साहित्य अब तक प्रकाशित हुआ है उसमें कितनी ही बातें अभी अस्पष्ट और विवादग्रस्त हैं। कहा जाता है कि कबीरजी उत्तर भारत में खूब घूमे थे और खैबर घाटी के मार्ग से बलख और बदख्शां तक गये थे और अपनी यात्रा में मुसलमान धर्म के अनेक विद्वान्, चिन्तक और विचारकों से मिले थे। सम्भव है यह बात सच हो। परन्तु यदि सत्य की खोज में वे इतने घूमे तो आश्चर्य की ही बात है कि जैन धर्म का उल्लेख उनके वचनों में क्यों नहीं है। यदि वे इस धर्म से परिचित होते तो अवश्य ही वे किसी न किसी पक्ष का खण्डन करते। वास्तव में कबीर केवल दो धर्मों से ही परिचित थे—हिन्दू धर्म और मुसलिम धर्म। इसलिये वे कहते थे कि :—

करता किरतम बाजी लाई। हिन्दू तुरक दोउ राह चलाई।
सन्तो राह दोउ हम दीठा।

कबीर साहिब ने जिस प्रकार वेद और शास्त्र पुराणों को निरर्थक बतलाया है, उसी प्रकार किताब अर्थात् कुरान को भी उन्होंने व्यर्थ माना है। मुसलिम राज्य में रहते हुए जहां धर्म के नाम पर बध और हत्यायें रात दिन हुआ करती थीं, वे अत्यन्त निर्भय पूर्वक कहा करते थे :—

हिन्दू मुसलमां दो दीन सरहद्द बने ।
वेद कत्तेब परपंच साजी ।।

यहां कत्तेब किताब का अपभ्रंश है । मुसलमान स्वयं तो कुरान को किताब नहीं कहते, परन्तु अरबी भाषा में व्यवहार से किताब का अर्थ धार्मिक पुस्तक हो गया है। ईसाइयों को मुल्ला लोग 'अहले किताब' अर्थात् 'किताब (धार्मिक ग्रन्थ) वाले' के नाम से उल्लेख करते हैं । इस उपरोक्त स्थल में किताब कुरान के लिए प्रयुक्त किया गया है । कबीर साहिब फिर दुहराते हैं कि :—

वेद किताब दोय फंद संवारा ।
ते फंदे पर आप विचारा ॥१॥
जोग जज्ञ जप संयमा तीरथ व्रत दाना ।
नवधा वेद किताब है झूठे का बाना ॥२॥

कबीरजी पंडितों को बकवासी कहते थे और पंडित और मसालची को एक समझते थे जो दूसरों को तो प्रकाश दिखाते हैं और स्वयं अन्धकार में रहते हैं । इसी प्रकार वे मुल्ला, मौलवी और औलियाओं को भी केवल ठग और प्रपंची समझते थे । वे अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में तथा जोरदार तरीके से कहते हैं कि :—

हबीबी और नबी कै कामा ।
जितने अमल सो सबै हरामा ॥

कबीर साहिब को मुसलमानों की सामाजिक तथा धार्मिक प्रथायें भी व्यर्थ प्रतीत होती थीं । सुन्नत के विषय में उन्होंने अत्यन्त कठोर और अश्लील भाषा में अपने विचार प्रकट किये हैं । अपने बीजक में उन्होंने कहा है कि :—

सुनत कराय तुरक जो होना, औरत को का कहिये ।
अरध शरीरी नारी बखाने, ताते हिन्दू रहिये ॥

कबीर साहिब हिन्दू और मुसलमान दोनों के हठ, दुराग्रह और अज्ञान से तंग आकर कहते हैं :—

किती मनावे पाय परि, किती मनावे रोय ।
हिन्दू पूजे देवता, तुरक न काहुक होय ॥

मुसलमानों की मसजिद और अजान कबीरजी को आडम्बर प्रतीत होते थे । जब वे मंदिर और भजन को व्यर्थ समझते थे तो यह स्वाभाविक बात थी कि मसजिद और अजान को भी वे उसी श्रेणी में मानते । अत्यन्त गंवारू किन्तु स्पष्ट भाषा में कबीरजी ने कहा है कि :—

माटी पत्थर जोरिके मसजिद दई बनाय ।
ता पर मुल्ला बांग दे, क्या बहिरा भया खुदाय ॥

हिन्दुओं के एकादशी के चौबीस व्रत और मुसलमानों के तीस रोजे के बारे में कबीरजी हैरान होकर कहते हैं कि :—

हिन्दू एकादशि चौबीस रोजा मुसलिम तीस बनाये।
ग्यारह मास कहो किन टारो ये कहि माहि समाये॥

मुसलमान भी हिंदुओं की भांति तीर्थ मानते हैं। काबा, मक्का और मदीना तो इनके तीर्थ हैं ही परन्तु बड़े बड़े फकीरों के मजार भी इनमें पवित्र स्थान माने जाते हैं। कबीर साहिब के समय में हजारों फकीरों की कबरें पूजी जाने लगी थीं। सम्भव है मुसलमानों में यह प्रवृत्ति हिन्दुओं के सम्पर्क से उत्पन्न हुई हो। कारण कुछ भी हो पीर, औलिया, चिश्ती आदि सत्पुरुषों और साधुओं की कबरें एक प्रकार के छोटे बड़े तीर्थ बन गई थीं। इन को स्वभावतः कबीर साहिब धर्म का अंग नहीं समझते थे। जब उनको वेद, कुरान, और पांडित्य ही व्यर्थ का भार प्रतीत होता था तो तीर्थ को वे कैसे स्वीकार कर सकते थे? इसलिये हिन्दू और मुसलमान दोनों को एक साथ सम्बोधन करके वे कहते हैं कि :—

पूरब दिश में हरि को बासा पच्छिम अलह मुकामा।
दिल में खोज दिलै में देखो यहै करीमा रामा॥१॥
जो खोदाय मसजिद में बसत है और मुलक केहि केरा।

वास्तव में सर्वांशतः कबीर साहिब को न हिन्दू धर्म अच्छा लगता था और न इसलाम। वे आत्मा का स्वातंत्र्य चाहते थे। अतः किसी प्रकार का बन्धन उनको स्वीकार नहीं था। वास्तव में वे ऐसी आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँच चुके थे जहाँ विधि और निषेध की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसलिये वे दोनों धर्मों के विषय में एक साथ कहते हैं :—

अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दू जन की हिन्दूआई देखी तुरकन की तुरकाई।
कहे कबीर सुनौ भई साधौ कौन राह ह्वै जाई॥
सन्तो राह दोउ हम दीना।
हिन्दू तुरकहटा नहीं माने स्वाद सबन को मीठा॥

कबीर इतनी ऊंचाई पर पहुँच चुके थे कि उनको किसी सम्प्रदाय, किसी सिद्धान्त, किसी शास्त्र या किसी उपदेष्टा की आवश्यकता नहीं थी। वे शुद्ध और निष्कल ब्रह्म में निरत रहते थे जो नाम और रूप से परे है। हिन्दू और मुसलमान का भेद तो क्या वे तो राम और अल्लाह का भी भेद नहीं मानते थे। उनका ब्रह्म राम से भी परे था और अल्लाह से भी। उस क्षेत्र या कोष में राम या अल्लाह एक ज्योति में विलीन हो जाते हैं। कबीर साहब कहते हैं कि :—

सुर नर मुनिजन औलिया यह सब उरली तीर।
अलह राम की गम नहीं तहे घर किया कबीर॥

ऐसी स्थिति में पहुँचने के बाद कबीर साहिब किसी धर्म या सम्प्रदाय से क्या समझौता करते, उसके नेताओं से या महात्माओं से क्या धुन मिलाते। वे अपने मतभेद को संयत भाषा में प्रकट नहीं करते थे। जो कुछ कहना चाहते थे साफ शब्दों में और प्रायः अपशब्दों में कह डालते थे। इसलाम के नबी और हबीब के विषय में उन्होंने इसी प्रकार अपने विचार प्रकट किये हैं। वे कहते हैं कि :—

हबीबी और नबी के कामा, जितने अमल सो सबै हरामा।

कबीर साहिब की इस मस्ती और विचार स्वतन्त्रता पर मुग्ध हो कर एक मुसलमान लेखक ने लिखा है कि 'उनको खुदा का फरजन्द कहना बजा है। वह एक कौम या मजहब न रखते थे। उनका घर दुनिया, उनके भाई बन्द बनी नवा इन्सान और उनका बाप खालिके अर्ज वो समां था।'

कबीर साहिब और इसलाम का प्रभाव : कबीर साहिब ने हिन्दुओं के वेद शास्त्र, पुराण, देव, देवियों, पंडितों और तीर्थ तथा जप, माला, तिलक, व्रत, उपवास आदि सब को निरर्थक बतलाया है परन्तु उनकी भाषा, भावना, दर्शन और दृष्टिकोण सब उपनिषदों से मिलता है और उनके धर्म या सिद्धान्त के लिये यदि किसी नाम की आवश्यकता है तो वह नाम वेदान्त ही हो सकता है। परन्तु उनका वेदान्त पन्द्र-हवीं शताब्दी का वेदान्त है। मुसलमानों के हमलों के धक्कों को तथा उनके ऐकेश्वर-वाद और रहस्यवाद के सबल सम्पर्क को सहने के बाद शंकर के वेदान्त ने यह स्वरूप धारण किया था जो कबीर जी के वचनों से प्रकट होता है। यह वेदान्त हिन्दू और मुसलिम विचारों का मिश्रण था परन्तु हिन्दू वेदान्त मुसलिम तत्त्वों को निगल कर आत्मसात् कर गया था। हिन्दू लोग मुसलमानों को तो अपने में नहीं मिला सकते थे परन्तु उनके दार्शनिक विचारों को उन्होंने अपने दर्शन में घुला मिला लिया। तो भी कबीर जी की वर्णन शैली में, उनकी उड़ान में, आध्यात्मिक मस्ती में और विचार वैचित्र्य में इसलाम का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

कबीरजी पर सूफीमत का प्रभाव : कबीरजी ने हिन्दू धर्म का सार या तत्व ग्रहण किया था। वह तत्व था वेदान्त। इसी प्रकार उन्होंने इसलाम में से सूफी-मत का तत्व ग्रहण किया। वे अनुयायी किसी के नहीं हैं। जैसी उनको तरंग या मस्ती आती थी वैसी ही वाणी बोल दिया करते थे, परन्तु संस्कार उन पर वेदान्त और सूफीमत के थे। ये संस्कार उनकी भाषा और विचारों में स्पष्ट हैं। वेदान्त के संस्कारों का उल्लेख करना तो अनावश्यक है, क्योंकि कबीर साहिब के वचनों में अधिकांश वेदान्त ही वेदान्त है। लेकिन सूफीमत का जो उन पर सुन्दर प्रभाव पड़ा है उसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। कबीर साहिब ने सूफीमत की वर्णन शैली को बड़ी खूबी और सफलता से अपनाया है। इस विषय के ग्रन्थों का अध्ययन तो कबीर साहिब ने नहीं किया था परन्तु उनकी कितने ही सूफी सन्तों से भेंट अवश्य

ही नहीं, कबीर साहिब समझते थे कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी कोई साधक, सन्त या ऋषि मुनि होंगे। इसलिये उन्होंने कहा कि :—

ब्रह्मा विष्णु महेसर कहिये, इन सिर लागी काई।
इनहि भरोसे मत कोई रहियो, इनहूं मुक्ति न पाई॥

हिन्दुओं के दस अवतारों को अर्थात् मुख्य अवतारों को वे केवल कल्पना मानते थे और कहते थे कि :—

माया ते मन ऊपजे, मनते दस अवतार।
ब्रह्मा विष्णु धोखे गये, भरम परा संसार॥

इसलिये ब्रह्मा और वेद दोनों को ही कबीर साहब भ्रमोत्पादक समझते थे। उन्होंने कहा है कि :—

चार वेद ब्रह्मा निज ठाना, मुक्ति का मर्म उन्हुँ नहिं जाना॥

कबीर साहिब का खंडन : इसलाम : कबीर साहिब समझते थे कि संसार में केवल दो ही धर्म हैं। कारण यह था कि उनका सारा जीवन काशी में व्यतीत हुआ। उस समय दक्षिण भारत में कुछ ईसाई बस्तियां स्थापित हो चुकी थीं, और ईसाई धर्म का प्रचार भी चल रहा था परन्तु कबीर साहिब को इसका कुछ पता नहीं था। चीन या तिब्बत का उनको कुछ ज्ञान नहीं था। यदि बौद्ध धर्म से उनको परिचय होता तो उसके बाह्य आडम्बरों का भी वे अवश्य खंडन करते। कबीर साहिब दया और अहिंसा के पक्षपाती थे और उनके वचनों में दया धर्म की प्रशंसा है परन्तु उनके ग्रन्थों से यह पता नहीं चलता कि वे जैन धर्म से परिचित थे अथवा नहीं। कबीरजी की विश्वसनीय जीवनी नहीं मिलती। उनके विषय में जो साहित्य अब तक प्रकाशित हुआ है उसमें कितनी ही बातें अभी अस्पष्ट और विवादग्रस्त हैं। कहा जाता है कि कबीरजी उत्तर भारत में खूब घूमे थे और खैबर घाटी के मार्ग से बलख और बदख़शां तक गये थे और अपनी यात्रा में मुसलमान धर्म के अनेक विद्वान्, चिन्तक और विचारकों से मिले थे। सम्भव है यह बात सच हो। परन्तु यदि सत्य की खोज में वे इतने घूमे तो आश्चर्य की ही बात है कि जैन धर्म का उल्लेख उनके वचनों में क्यों नहीं है। यदि वे इस धर्म से परिचित होते तो अवश्य ही वे किसी न किसी पक्ष का खण्डन करते। वास्तव में कबीर केवल दो धर्मों से ही परिचित थे—हिन्दू धर्म और मुसलिम धर्म। इसलिये वे कहते थे कि :—

करता किरतम बाजी लाई। हिन्दू तुरक दोउ राह चलाई।
सन्तो राह दोउ हम दीठा।

कबीर साहिब ने जिस प्रकार वेद और शास्त्र पुराणों को निरर्थक बतलाया है, उसी प्रकार किताब अर्थात् कुरान को भी उन्होंने व्यर्थ माना है। मुसलिम राज्य में रहते हुए जहां धर्म के नाम पर बध और हत्यायें रात दिन हुआ करती थीं, वे अत्यन्त निर्भय पूर्वक कहा करते थे :—

रैदास, मीरा आदि भक्त कवियों ने उसके बहुत से अंश अपना लिये और उसकी वर्णन शैली का अपने काव्यों में प्रयोग किया।

सूफीमत के सिद्धान्त और साधन—ईश्वर के दो रूप हैं—जात और सिफत। जात निर्गुण हैं और सिफत सगुण। जात से सिफत उत्पन्न हो कर पुनः जात में लीन हो जाता है। मनुष्य अपने अज्ञान के कारण जात और सिफत को भिन्न मानता है। जात की शक्ति नजूल कहलाती है और सिफत की उरूज। ये दोनों एक दूसरे में लीन हो जाती हैं। सत्य का नाम है हक्क। यह एक ही है परन्तु उसका विवेचन विविध प्रकार से किया गया है। इसीलिये संसार में अनेक धर्म और सम्प्रदाय चल पड़े हैं। 'अहद' (शब्द) ईश्वर के लिये प्रयुक्त होता है और 'वहदत' अर्थात् एकत्व उसका मुख्य गुण माना जाता है। अहद वहदत से सन्तुष्ट नहीं होता। यही भारतीय सिद्धान्त है। ब्रह्म ने कहा कि 'मैं एक हूँ परन्तु अनेक होना चाहता हूँ।' एवं अहद अपना दूसरा रूप उत्पन्न करके उससे इश्क करने लगता है। परन्तु अल्लाह का नया रूप प्रेम पथ से बहुत आगे बढ़ जाता है जिससे वह स्वयं आशिक हो जाता है और अल्लाह माशूक (प्रेमिका) बन जाता है। 'माशूक' अल्लाह के लिये आशिक सफी की यह तड़फन ही सूफी दर्शन का सार है। इस इश्क का पर्यवसान है सूफी का अल्लाह में फना हो जाना। यही वफा अर्थात् अनन्त और अपार आनन्द की अवस्था है। इसको पार करने के लिये आशिक (सूफी) को चार मुख्य अवस्थाओं या सीढ़ियों को पार करना पड़ता है। इनको भारतीय दर्शन के शब्दों में साधनायें भी कह सकते हैं। इनके नाम हैं शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारफत। ये स्थितियां क्रमशः एक दूसरी से कठिन होती जाती हैं परन्तु ज्यों ज्यों मनुष्य इनको पार करता है त्यों त्यों वह अपने माशूक (ईश्वर) के निकट होता जाता है। जो मनुष्य प्रथम अवस्था में है वह आदम है, अर्थात् वह साधारण मनुष्य है, जो दूसरी स्थिति में पहुँच गया वह इंसान अर्थात् ज्ञानी है। इसी प्रकार आध्यात्मिक उन्नति करता करता मनुष्य कुतुब (महात्मा) और नबी के पद पर पहुँच जाता है। फिर उसको बक्का हासिल हो जाती है।

कबीर साहिब के सूफी विचार: मुसलमानों का खयाल है कि अल्लाह आसमान में रहता है, अपनी बातचीत में जब ये लोग अल्लाह की ओर संकेत करते हैं तो आसमान की ओर उंगली उठाते हैं और अपना चेहरा भी ऊपर की ओर कर लेते हैं। ईसाइयों में भी ऐसा ही विश्वास है। बाइबिल में ईश्वर को आसमानी बाप कहा है। इस विश्वास का हिन्दुओं में भी बहुत प्रचार है और यह विश्वास कबीर साहिब से पहिले ही भारत में प्रचलित हो गया था। कबीरजी को यह सीधा सादा विश्वास अच्छा लगा। शिव कैलाश में निवास करते हैं और विष्णु क्षीर सागर में, यह परम्परागत भगवद्धाम कबीर साहिब को पसन्द नहीं आये और वे विश्वास करने लगे कि ईश्वर आसमान में निवास करता है। यदि ईश्वर सर्वव्यापी है और घट घट

ही नहीं, कबीर साहिब समझते थे कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी कोई साधक, सन्त या ऋषि मुनि होंगे। इसलिये उन्होंने कहा कि :—

ब्रह्मा विष्णु महेसर कहिये, इन सिर लागी काई।
इनहि भरोसे मत कोई रहियो, इनहूं मुक्ति न पाई॥

हिन्दुओं के दस अवतारों को अर्थात् मुख्य अवतारों को वे केवल कल्पना मानते थे और कहते थे कि :—

माया ते मन ऊपजे, मनते दस अवतार।
ब्रह्मा विष्णु धोखे गये, भरम परा संसार॥

इसलिये ब्रह्मा और वेद दोनों को ही कबीर साहब भ्रमोत्पादक समझते थे। उन्होंने कहा है कि :—

चार वेद ब्रह्मा निज ठाना, मुक्ति का मर्म उन्हुँ नहिं जाना॥

कबीर साहिब का खंडन : इसलाम : कबीर साहिब समझते थे कि संसार में केवल दो ही धर्म हैं। कारण यह था कि उनका सारा जीवन काशी में व्यतीत हुआ। उस समय दक्षिण भारत में कुछ ईसाई बस्तियां स्थापित हो चुकी थीं, और ईसाई धर्म का प्रचार भी चल रहा था परन्तु कबीर साहिब को इसका कुछ पता नहीं था। चीन या तिब्बत का उनको कुछ ज्ञान नहीं था। यदि बौद्ध धर्म से उनको परिचय होता तो उसके बाह्य आडम्बरों का भी वे अवश्य खंडन करते। कबीर साहिब दया और अहिंसा के पक्षपाती थे और उनके वचनों में दया धर्म की प्रशंसा है परन्तु उनके ग्रन्थों से यह पता नहीं चलता कि वे जैन धर्म से परिचित थे अथवा नहीं। कबीरजी की विश्वसनीय जीवनी नहीं मिलती। उनके विषय में जो साहित्य अब तक प्रकाशित हुआ है उसमें कितनी ही बातें अभी अस्पष्ट और विवादग्रस्त हैं। कहा जाता है कि कबीरजी उत्तर भारत में खूब घूमे थे और खैबर घाटी के मार्ग से बलख और बदखशां तक गये थे और अपनी यात्रा में मुसलमान धर्म के अनेक विद्वान्, चिन्तक और विचारकों से मिले थे। सम्भव है यह बात सच हो। परन्तु यदि सत्य की खोज में वे इतने घूमे तो आश्चर्य की ही बात है कि जैन धर्म का उल्लेख उनके वचनों में क्यों नहीं है। यदि वे इस धर्म से परिचित होते तो अवश्य ही वे किसी न किसी पक्ष का खण्डन करते। वास्तव में कबीर केवल दो धर्मों से ही परिचित थे—हिन्दू धर्म और मुसलिम धर्म। इसलिये वे कहते थे कि :—

करता किरतम बाजी लाई। हिन्दू तुरक दोउ राह चलाई।
सन्तो राह दोउ हम दीठा।

कबीर साहिब ने जिस प्रकार वेद और शास्त्र पुराणों को निरर्थक बतलाया है, उसी प्रकार किताब अर्थात् कुरान को भी उन्होंने व्यर्थ माना है। मुसलिम राज्य में रहते हुए जहां धर्म के नाम पर बध और हत्यायें रात दिन हुआ करती थीं, वे अत्यन्त निर्भय पूर्वक कहा करते थे :—

पावक रूपी नाम है सब घट रहा समाहि ।
चित चकमक लागे नहीं धूंआ ह्वै ह्वै जाहि ॥

कबीर साहिब और प्रेम : प्रेम या इश्क सूफी सम्प्रदाय का सार और साधन है। सूफी भक्त ईश्वर के प्रेम में उसी प्रकार विह्वल और विकल रहता है जैसे आशिक अपने माशूक के इश्क में। वास्तव में ईश्वर को माशूक मान कर ही उससे लगन लगाई जाती है। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण आशिक हैं और गोपियां माशूक हैं। फिर भक्त लोग कहीं से राधा को ढूंढ़ लाये और वह माशूक बना दी। वैष्णव सम्प्रदाय में प्रेम की लगन माशूक की ओर से है और सूफी सम्प्रदाय में आशिक की ओर से। यह धर्म के अन्दर प्रेम का रंग हिन्दुओं में सूफियों से आया है और इसको विशेषकर तुर्क-अफगान काल के तथा प्रारम्भिक मुगलकाल के सन्तों ने अपनाया था। हिन्दुओं के प्राचीन ग्रन्थों में इस तत्व का कहीं उल्लेख नहीं है। उपनिषदों में एक स्थान पर लिखा है कि भगवान की खोज खांडे की धार है, विद्वानों ने कहा है कि यह अत्यन्त दुर्गम पथ है। इसको खींच तान कर प्रेम पथ में लाया जाता है परन्तु वास्तव में यह प्रसंग ही दूसरा है। सूफियों की राहे इश्क या प्रेमपथ एक निराली ही चीज है। इसमें मनुष्य फंसता है, गलता है, गिरता है, हंसता है, मस्ताता है और फिर अपने माशूक में घुल मिल कर बक़ा की अवस्था में चला जाता है जहां आशिक और माशूक दोनों एकरस हो जाते हैं। पर यह मार्ग आसान नहीं है। कबीर साहिब कहते हैं कि, "यह तो प्रेम का घर है, किसी की खाला (मासी) का घर नहीं है। जो अपना सिर उतार कर पहिले धरती पर धर दे वह इस घर में प्रवेश कर सकता है। राजा हो या प्रजा, जिसको प्रेम में रुचि है उसको चाहिये कि पहले अपना सिर उतार कर पृथ्वी पर रख दे और फिर प्रेम के क्षेत्र में प्रवेश करे। प्रेम का प्याला वही पी सकता है जो अपना सिर दक्षिणा के रूप में देने को तैयार हो। परन्तु प्राय: लोग प्रेम की रट लगाया करते हैं, बलिदान के लिये तैयार नहीं होते। प्रेम का नशा ऐसा नहीं है जो क्षण में चढ़ जावे और क्षण में उतर जावे। यदि मनुष्य निरन्तर प्रेम के पींजरे में निवास करता हो तो समझना चाहिये कि वह प्रेम करता है। प्रेम से ही मनुष्य के जीवन का सौन्दर्य है। जिस शरीर में प्रेम नहीं है वह श्मशान के समान है। वह लोहार की धोंकनी के समान सांस लेता है। जो व्यक्ति प्रीति में ओत-प्रोत हो जाता है, तो इश्क उसके मन में घर कर लेता है। फिर उसको बोल कर अपना प्रेम प्रकट करने की आवश्यकता नहीं रहती। उसका रोम रोम अपने प्रीतम को याद करता है।" कबीर साहिब के प्रेम में और सूफी सन्तों के प्रेम में इतना अन्तर है कि कबीर साहिब प्रेम का वर्णन प्रेमिका से करवाते हैं और सूफी लोग प्रेमी या आशिक के मुख से। दोनों की शैली में भेद है परन्तु विषय में नहीं है। यह विषय भारतीय सन्तों ने मुसलमानों से प्राप्त किया था। इसमें सांसारिकता और आध्यात्मिकता मिली हुई थी और विचित्र

मस्ती थी, इसलिये लोगों को इसने आकर्षित किया और हिन्दू सन्तों ने इसको ग्रहण किया।

कबीर साहिब का विरह निवेदन : कबीर साहिब ने अपना विरह निवेदन भी सूफियों से लिया है। आत्मा परमात्मा में मिलना चाहता है। परन्तु यह अभिलाषा तत्काल पूर्ण नहीं होती। इसकी पूर्ति के लिये एक लम्बी राह तय करनी होती है और कई सीढ़ियां पार करने के बाद भगवान् से साक्षात्कार या बक़ा की अवस्था प्राप्त होती है। साक्षात्कार से पहिले की स्थिति विरह की अवस्था है। इस विरह में आत्मा तड़पती है और ईश्वर से मिलने के लिये आकुल रहती है। इस अवस्था का कबीर साहिब ने पति-पत्नी की वियोग अवस्था का सा वर्णन किया है। विरहिणी अपने पति को संदेशा भेजती है कि जैसे जल के बिना मछली जीवित नहीं रह सकती उसी प्रकार स्त्री भी पति के बिना जीवित नहीं रह सकती। 'तुम्हारा रास्ता देखते देखते मेरी आंखों में झांई पड़ गई और तुम्हारा नाम पुकारते पुकारते जबान में छाले पड़ गये। तुमसे मिलने के लिये मेरा जी तरसता है, मन को शान्ति नहीं मिलती। मेरे शरीर को विरह रूपी भुजंग ने डस लिया है, कोई मंत्र सफल नहीं हो रहा है। या तो मुझे मृत्यु दो, या दर्शन दो, मुझसे आठों पहर का जलना सहा नहीं जाता।' कबीर साहिब कहते हैं कि 'वैद्य तो आ गया परन्तु वेदना को नहीं समझ सका, क्योंकि कसक कलेजे के भीतर थी, जिसको विरह का बाण लग चुका है उसको कोई औषधि नहीं लगती। वह सिसकता है, मर मर कर जिया करता है और कराह कराह कर उठता है। विरहिणी पति-वियोग में क्षीण हो गई। देह में मांस नहीं रहा परन्तु जब तक उसका शरीर नष्ट नहीं हो जायेगा तब तक वह स्वामी की सेवा में अर्थात् उसकी प्रतीक्षा में तत्पर रहेगी।' इस विषय के स्पष्टीकरण के वास्ते कबीर साहिब का एक पद उद्धृत करने के योग्य है :—

तड़पे बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहीं निंदिया तलफ तलफ के भोर भया॥
तन मन मोर रहंट अस डोले सून सेज पर जन्म लिया।
नैन थकित भये पंथ न सूझे सांई बेदरदी सुध न लिया॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो हरो पीर दुख जोर किया॥

कबीर साहिब का सूक्ष्म मार्ग और शूर धर्म : कबीर साहिब कहते हैं कि 'आध्यात्मिक मार्ग अत्यन्त सूक्ष्म और दुर्गम है। वहां पहुँच कर कोई अपना हाल बतलाने भी वापिस नहीं आया। इस मार्ग की दुर्गमता का भी कोरा अनुमान है, ज्ञान नहीं। यार मुझको प्रेम से बुला रहा है परन्तु मुझसे जाया नहीं जाता है। कारण यह है कि मैं स्त्री तो मैली हूँ और मेरा स्वामी अति उज्ज्वल है। मैं उसके चरणों को कैसे छू सकती हूँ। मैं स्वामी के गांव का नाम ही नहीं जानती। इसलिये बिना

जाने कहां जाऊं। मुझे चलते चलते सारा जीवन व्यतीत हो गया, अन्त में पता लगा कि वह गांव तो केवल पाव कोस पर ही अर्थात् अत्यन्त निकट है। आध्यात्मिक मार्ग पर चलने के वास्ते तो सब ही कहा करते हैं परन्तु मुझे यह अन्देशा है कि जब इनका स्वामी से परिचय नहीं है और उसके नाम धाम का पता नहीं है तो ये लोग कहां पहुँचेंगे? राह बिचारी क्या करे, राहगीर संभल कर चलना नहीं जानते। ये लोग अपने मार्ग से विचलित हो कर इधर उधर चक्कर काट रहे हैं। इस मार्ग पर शूर-वीर ही चल सकते हैं। जब यह क्षेत्र आह्वान करता है तो वीर पुरुष ही इसमें उतरते हैं। शूर वह है जो अपने स्वामी के लिये तत्परता से लड़ता है। चाहे उसके शरीर की बोटी बोटी कट जावे तो भी वह रणभूमि नहीं छोड़ता। वास्तव में शूरवीर वह है जो शरीर पर शस्त्र धारण नहीं करता, बल्कि अपने अंग के सब बन्धों को खोल कर तथा तन का मोह त्याग कर वह रणभूमि में कूद पड़ता है। अब स्वामी को अपना शिर भेंट करते हुए कुछ सोच विचार नहीं करना चाहिये, अब तो रणभूमि में कट कर मरना ही है, मुड़ कर भागने की गुंजायश नहीं रही है, क्योंकि घर भी बहुत दूर पीछे रह गया है। खोजने वाले को अनेक विघ्नों का सामना करना पड़ता है। पलपल पर उसको संघर्ष करना पड़ता है। परन्तु शूरवीर को चाहिये कि वह अपने प्रण को पूरा करे और यदि प्रणपूर्ति के प्रयत्न में उसका तन नष्ट हो जावे, तो समझ ले कि वह शरीर भगवान् के अर्पण हो गया।'

कबीर साहिब और सतगुरु : हिन्दुओं में गुरु का स्थान बहुत ऊंचा माना गया है, क्योंकि वह विद्यार्थी को शिक्षा देने वाला, उसका चरित्र बनाने वाला और ज्ञान में उसका प्रवेश कराने वाला है। अर्थात् वह अक्षर ज्ञान से ले कर ऊंचे से ऊंचे विषयों में विद्यार्थी की गति करवाता है और इसलिये उसको आचार्य कहते हैं। उपनिषदों में ऐसे ऋषियों का भी उल्लेख है जिनके पास जिज्ञासु लोग ज्ञान चर्चा के लिये जाया करते थे और तत्वान्वेषक उनसे सच्चा मार्ग पूछा करते थे। इसलिये गुरु को ब्रह्मा और विष्णु के समान पूज्य और आदरणीय माना जाता था। तो भी भारत में गुरू को, विशेषकर आध्यात्मिक क्षेत्र में वह महत्व नहीं दिया जाता था जो सूफी लोग दिया करते थे। वास्तव में गुरू का महत्व इसलाम के मूल सिद्धान्तों में बल्कि उनके कल्मे में ही निहित है। प्रत्येक मुसलमान कहता है कि ईश्वर एक है और जगत् को उसका सन्देश देने वाला मोहम्मद है। इसीलिये मोहम्मद साहब पैगम्बर अर्थात् ईश्वर का पैग़ाम (सन्देश) लाने वाले हैं। इससे स्पष्ट है कि यदि मोहम्मद साहब संसार पर कृपा नहीं करते तो समस्त मानव समाज अज्ञान में फंसा रहता और उसको ईश्वर के स्वरूप का या अपने कर्त्तव्य का पता ही नहीं चलता। आगे चल कर सूफी लोग यह मानने लगे कि आध्यात्मिक मार्ग का ज्ञान गुरु की कृपा के बिना नहीं हो सकता। मोहम्मद साहब ने तो समस्त मानव समाज को सच्चा मार्ग बतलाया और साधारण गुरु एक दो व्यक्तियों को ही सन्मार्ग पर लगा देते हैं, परन्तु गुरू की आव-

श्यकता अनिवार्य है। यह विचार भारत में नया था और मुसलमानों के संसर्ग और सम्पर्क से यह विकसित हुआ था। पहिले भारत में चिन्तन, मनन, ध्यान, धारणा, समाधि आदि का महत्व था। गुरू का केवल आदरणीय स्थान था। यह नहीं समझा जाता था कि सब कुछ गुरु पर ही निर्भर है। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों में यह विचार प्रचलित हुआ और कबीर साहिब ने इसको बहुत महत्व दिया। फिर भारत के सब सन्तों ने इसको अपना लिया और इसका भारतीयकरण कर डाला। कबीर साहिब कहते हैं कि 'मेरे सामने ईश्वर और गुरूजी दोनों खड़े हैं मैं किसके चरणों का स्पर्श करूँ। वास्तव में मेरे गुरु को धन्य है कि उन्होंने मुझको ईश्वर से साक्षात्कार करवा दिया। गुरू को धन्य है कि उन्होंने सौ सौ बार मुझे घड़ घड़ कर साधारण मनुष्य से देवता बना दिया।' वास्तव में जो लोग गुरू के लिये कुछ कहते हैं वे अन्धे हैं। उनको यह समझ लेना चाहिये कि जिससे ईश्वर रूठ जाता है उसको तो कहीं स्थान मिल सकता है, परन्तु जिससे गुरू रूठ जाता है उसके लिये संसार में कोई ठौर नहीं है। कितने ही पंडित पढ़ पढ़ कर तथा पच पच कर मर गये परन्तु उनको सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ और यह बात प्रामाणिक है कि सच्चे ज्ञान के बिना कोई व्यक्ति मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। तीन लोक और नवखंड में गुरू से बड़ा कोई नहीं है। यह हो सकता है कि ईश्वर हमारा काम पूरा करे या न करे परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि गुरू जो चाहे कर सकता है। वस्तु (ईश्वर) कहीं है और मनुष्य ढूंढता कहीं है। ऐसी दशा में उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? वास्तव में जब कोई भेदी गुरू मिले तो उस वस्तु को बतलावे। चाहे करोड़ों चन्द्रमा और सूर्य उदय हों, सत्-गुरू के मिले बिना सर्वत्र घोर अन्धकार ही दिखाई देता है।

कबीर साहिब की मुसलिम कथन शैली : कबीर साहिब का लालन-पालन एक मुसलिम घर में हुआ था। इसलिये यह स्वाभाविक बात थी कि उनकी वाक्शैली तथा वर्णनविधि पर मुसलिम रंग हो। तो भी यह आश्चर्य की बात है कि उनकी भाषा में अधिकांश शब्द संस्कृत के विकृत रूप हैं। उनके प्रसंग, संकेत, अलंकार आदि सब हिन्दू हैं। मुसलिम रंग केवल यत्र तत्र दिखाई देता है। परन्तु जो कुछ भी है वह इस बात को प्रकट करता है कि हिन्दू और मुसलिम विचार मध्य युग की संतवाणी में किस प्रकार घुलमिल गये थे। कबीर साहिब कहते हैं:—

मुरशिद नैनों बीच नबी है।
स्याह सफेद तिलों बिच तारा अविगत अलख रबी है ॥ १ ॥
कर नैनों दीदार महल में प्यारा है।
काम क्रोध मद लोभ बिसारो, सील संतोख छमा सत धारो ॥
मद्यमांस मिथ्या तजि डारो, ज्ञान घोड़े असवार भरम से न्यारा है ॥ २ ॥
दरियाव की लहर दरियाव है जी।
दरियाव और लहर में भिन्न कोयम ॥ ३ ॥

कबीर साहिब की निम्नलिखित कृतियां अपने ढंग की एक ही हैं :—

१. है कोई दिल दरवेश तेरा।

अकिल की फहम ते इलम रोसन करै, चढ़ै खरसान तब होय उजेरा ।
हिर्स हैवान को मारि मरदन करै, नफस सैतान जब होय जेरा ।।
तखत पर बैठि के अदल इन्साफ कर, दोजख औ भिस्त का करूं निबेरा ।
अजाब सवाब का सबब पहुँचे नहीं, जहां है यार महबूब मेरा ।
कहै कबीर वह छोड़ि आगे चला, हुआ असवार तब दिया दरेरा ।।

२. मो को कहां ढूंढे बंदे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं बकरी ना मैं भेड़ी, ना मैं छुरी गंडास में ।
नहीं खाल में, नहीं पोंछ में, ना हड्डी ना मांस में ।
ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना काबे कैलास में ।
ना तो कौनों क्रिया कर्म में, नहीं जोग बैराग में ।
खोजी होय तुरतै मिलिहौं, पल भर की तलाश में ।
मैं तो रहूं सहर के बाहर, मेरी पुरी मवास में ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, सब सांसों की सांस में।

गुरु नानक : गुरु नानक जी का जन्म सन् १४६६ में लाहौर के निकट तलवंडी नगरी के एक खत्री परिवार में हुआ था। बचपन से ही ये विचारशील, दयालु और बुद्धिमान थे। अपनी युवावस्था में इन्होंने बिहार, बंगाल, आसाम, ब्रह्मा, उड़ीसा, मारवाड़, हैदराबाद, मद्रास, लंका, बद्रीनाथ, नैपाल, सिकम, भूटान, सिंध, मक्का, मदीना, रूम, बगदाद, ईरान, बिलोचिस्तान, कंधार, काबुल और कश्मीर की यात्रा की। सर्वत्र विद्वानों और सन्तों से इनकी भेंट हुई और काशी में कबीर साहिब के साथ भी धर्म चर्चा हुई। लगभग ६६ वर्ष की अवस्था में इनका स्वर्गवास हुआ। गुरु नानक जी भी कबीर साहिब की भाँति तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों से परेशान और प्रभावित थे। इसलिये उन्होंने भी बाह्य आडम्बर को हेय समझ कर असली तत्व की खोज की और अन्त में इस निर्णय पर पहुँचे कि परमतत्व मंदिर, मसजिद, वेद, कुरान या रोजा नमाज में नहीं है, बल्कि वह प्रत्येक व्यक्ति के मन में निहित है। जब हृदय का भय दूर हो जाता है और मन लोभ, मोह आदि निर्बलताओं से ऊपर उठता है तब उस आत्म प्रकाश का दर्शन होता है। इसलिये नानक महाराज ने कहा कि तुम उसको ढूंढ़ने के लिये वन में क्यों जाते हो? जिस प्रकार पुष्प में सुगन्ध और दर्पण में प्रतिछाया रहती है उसी प्रकार परब्रह्म तुम्हारे मन में ही निवास करता है। वह घट-घट वासी है, वह किसी में लिप्त नहीं है, लेकिन प्रत्येक के अंग में समा रहा है। नानक जी ने कहा कि केवल नाम रटने से धर्म नहीं होता है। सच्चा धार्मिक पुरुष वह है जो सब मनुष्यों को बराबर समझता है। क्यों

की जियारत करने से या श्मसान में निवास करने से कोई लाभ नहीं है और न ध्यान मुद्राओं से कुछ प्राप्त होता है। तीर्थों में स्नान करने से या इधर उधर भटकने से भी धर्म नहीं बनता। संसार पापों से पूर्ण है तो क्या, तुम निष्पाप और निर्मल हो कर उसमें बैठे रह सकते हो? इस प्रकार तुमको धर्म का मार्ग प्राप्त हो सकेगा। नानक जी को न उग्र तप पसन्द था और न विलास का जीवन। वह महात्मा बुद्ध की भांति मध्यम मार्ग पर चलने का उपदेश दिया करते थे। उनको मिथ्याचार, स्वार्थ-परायणता और झूठ से बड़ी ग्लानि थी और अपने भक्तों से कहा करते थे कि इन बुराइयों को त्यागे बिना सन्मार्ग पर चलना असम्भव है। कबीर साहिब की भाँति नानक जी का भी विचार था कि गुरु के अनुग्रह से ही हृदय के कपाट खुलते हैं और प्रकाश के दर्शन होते हैं। नानक जी संसार को असार मानते थे। इन्होंने भी कबीर साहिब की भांति शूरवीर का वर्णन किया है। ये राम नाम को सब का सार मानते थे और भजन से ही उद्धार होने पर विश्वास करते थे। परन्तु कबीर साहिब की भांति इनका भी विश्वास नहीं था कि ईश्वर अवतार लेता है। अतः कबीर, नानक, रैदास, धर्मदास आदि तत्कालीन संत राम को दशरथ का पुत्र नहीं किन्तु 'घट घट वासी सदा अलेपा' मानते थे। इस प्रकार के राम में और रहीम में कोई भेद नहीं था और इस-लिये सन्तों की वाणी हिन्दू और मुसलमान दोनों को ग्राह्य थी। नानक जी राम, गोविन्द आदि पौराणिक शब्दों का प्रयोग परब्रह्म परमेश्वर के अर्थ में करते थे। वे कहते थे कि 'मृग तृष्णा ज्यों जग रचना यह देखो हृदय विचार। कह नानक भज राम नाम नित जाते होय उधार। गुरु किरपा जेहि नर पै कीन्हीं तिन यह जुगति पिछानी। नानक लीन भयो गोविन्द सों ज्यों पानी संग पानी।' नानक जी पर भी सूफीमत का प्रभाव था। ये हिन्दू मुसलमानों के भेद को मिटाना चाहते थे।

रैदास: ये कबीर साहिब के समय के अति प्रसिद्ध सन्त हैं। जाति से ये चमार थे परन्तु मांस और मदिरा का स्पर्श नहीं करते थे। इनके जीवन के विषय में केवल इतना ज्ञात है कि ये काशी के निवासी थे और प्रायः कबीर साहिब की संगति में रहा करते थे। इनके जन्म संवत् या निधन संवत् का पता नहीं है। रैदास जी भी निर्गुण सन्त थे। ये जाति पांति के विरोधी थे। तीर्थ, व्रत और तिलक छाप आदि को व्यर्थ समझते थे, और मन तथा हृदय को निर्मल करने पर जोर दिया करते थे। इनकी भक्ति और निष्ठा के कारण लोग इनका बहुत आदर करते थे। काशी में ही सैकड़ों आदमी इनके भक्त थे। रैदास जी भी हिन्दू मुसलमान में कोई भेद नहीं मानते थे। सूफियों के साथ इनका सम्पर्क नहीं था, इसलिये इस सम्प्रदाय से इनका परिचय नहीं था। परन्तु तत्कालीन भारत में सूफी-सन्तों के विचार खूब प्रचलित थे, इसलिये रैदास जी की वाणी में भी इनकी छाया यत्र तत्र दिखाई देती है। यह आश्चर्य की बात है कि रैदास जी के भक्त सबसे अधिक गुजरात में मिलते हैं और रविदासी कहलाते हैं। मुसलमानों के सम्पर्क से या सन्तों के उपदेशों से पन्द्रहवीं

शताब्दी के भारत में जाति बन्धन कुछ ढीले होने लगे थे। यह बात इसी से स्पष्ट है कि हिन्दू संस्कृति के प्रधान केन्द्र काशी में रैदास अपने मत का प्रचार कर सकते थे और सैकड़ों लोग उनका आदर करते थे। वास्तव में काशी ने न कबीर साहिब का विरोध किया और न रैदास का। कारण यह था कि हिन्दू लोग विचार स्वातन्त्र्य को हमेशा से मानते आये हैं। भारत में ईश्वर का द्वार सबके वास्ते सदा खुला है। वहाँ किसी भी जाति का मनुष्य किसी भी मार्ग से जा सकता है और जो कोई इस दिशा में प्रयास करता है उसका भारत हृदय से अभिनन्दन करता है। रैदास कितनी सादगी और निरभिमानता से कहते हैं कि 'जाति भी ओछी करम भी ओछा, ओछा कसब हमारा। नीचे से प्रभू ऊंच कियो है कह रैदास चमारा ॥' इनकी विनयशीलता ने ही इनको महान् बनाया था और इनकी निष्ठा तथा भक्ति के कारण ही ये लोगों की दृष्टि में इतने ऊंचे उठ गये थे।

धर्मदास : ये कबीर साहिब के समकालीन प्रसिद्ध सन्त थे। ये बांधवगढ़ के धनाढ्य महाजन थे और बचपन से ही धर्मात्मा तथा भगवद्भक्त थे। इन्होंने प्रायः सब तीर्थों की यात्रा की थी और बहुत दान दिया था। ये पंडितों और भक्तों का बड़ा आदर किया करते थे। मथुरा से आते समय इनका कबीर साहिब से साक्षात् हुआ और उनसे प्रतिमापूजन, तीर्थ, व्रत आदि का खंडन सुना। तब से ये संतमत धर्म की ओर झुकने लगे और कुछ समय के बाद ये कबीर के शिष्य बन गये। इन पर सूफीमत का बड़ा प्रभाव था। कबीर साहिब की भांति इन्होंने भी भक्त को विरहिणी और ईश्वर को पति माना है और सूफियों की इश्कमारफत की शैली पर कविता लिखी है। इन्होंने भगवत प्राप्ति का भी आशिकाना ढंग पर वर्णन किया है। कबीर साहिब की भांति इनकी वाणी में भी रहस्यवाद है जो मुसलमानों की विचार-धारा है। इनका आत्म वर्णन बड़ा मार्मिक है। कबीर साहिब के प्रति इनकी बड़ी श्रद्धा थी। उनका शिष्यत्व स्वीकार करने के पश्चात् इन्होंने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति गरीबों को लुटा दी थी। सन् १५२७ में जब कबीर साहब का देहान्त हुआ तो उनकी गद्दी धर्मदास जी को दी गई थी। ये सीधी सादी भाषा में कविता लिखते थे परन्तु इनकी शैली बड़ी मनोहर और आकर्षक थी। इनके विचार सब प्रकार से कबीर साहिब से मिलते जुलते थे। इनका निम्नलिखित पद कितना सरल तथा सरस है :—

हम सत्त नाम के वैपारी।
कोई कोई लादे कांसा पीतल, कोई कोई लोंग सुपारी।
हमतो लाद्यो नाम धनी को, पूरन खेप हमारी ॥
पूंजी न टूटै नफा चौगुना, बनिज किया हम भारी।
हाट जगाती रोक न सकि हैं, निर्भय गैल हमारी ॥
मोति बूंद घट ही में उपजै, सुकिरत भरत कोठारी।
नाम पदारथ लाद चला है, धरम दास वैपारी ॥

मीराबाई : इनका समय वास्तव में सोलहवीं शताब्दी में है, लेकिन उपरोक्त संतों के साथ साथ इनका भी वृत्तान्त लिखना ठीक है, विशेषकर इसलिये कि इनकी वाणी पर भी सूफीमत की छाप है। इनका मुसलमान फकीरों के साथ कुछ भी समागम नहीं था, परन्तु इनकी वर्णन शैली सूफीढंग की अर्थात् आशिकाना तर्ज की है। यह कुछ भागवत से और कुछ सूफियों से आई हुई प्रतीत होती है, परन्तु मीराबाई ने इसकी प्राप्ति के लिये कोई प्रयास नहीं किया था, यह स्वतः ही आई थी। कारण यह था कि पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में निगुर्ण भक्ति, सूफीमत, वेदान्त, रहस्यवाद और लोकधर्म के विचार समस्त देश में व्याप्त हो गये थे। परम्पराप्रिय लोगों ने इनको चाहे अपने जीवन में नहीं ढाला हो परन्तु इन विचारों से लाखों नर-नारी परिचित थे। यह बात बहुत कम लोग जानते थे कि सूफीमत क्या है और वेदान्त क्या है तथा दोनों विचार धारायें परस्पर किस प्रकार घुलमिल कर एक गंगा बन गई हैं, लेकिन कबीर साहिब की साखियां और पद सर्वत्र प्रचलित थे।

मीराबाई मारवाड़ प्रान्त में मेड़ता के राठौर जागीरदार रतनसिंह की पुत्री थीं। इनका जन्म सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में हुआ था। मेवाड़ के वीर महाराणा सांगा के पुत्र भोजराज के साथ इनका विवाह हुआ था। विवाह के दस वर्ष बाद ये विधवा हो गईं और फिर ये सर्वदा भगवत्चिन्तन और साधुसमागम में अपने दिन काटने लगीं। ये ईश्वर भक्ति में मस्त रहती थीं और परदा नहीं करती थीं। मीराबाई सगुण उपासक थीं। इसलिये वे मूर्तिपूजा करती थीं और गिरिधर गोपाल अर्थात् भगवान् कृष्ण की अनन्य भक्त थीं। मीरा ने किसी धार्मिक विचार का या जाति पांति का या विधि का खंडन नहीं किया। उनको केवल गोपाल या श्याम से काम था। दूसरे झंझटों से वह अलग रहती थीं। उनके पदों में कहीं भी हिन्दू मुसलमान या व्रतरोजा का उल्लेख नहीं है। लेकिन मीराबाई हिन्दू मुसलिम समन्वयकाल की भक्त हैं। इसलिये उनके भजनों में भी सूफीमत का प्रभाव है। जब वे गाती हैं कि 'मैं तो प्रेमदीवानी मेरा दर्द न जाने कोई' या 'घायल की गति घायल जाने' आदि, तो ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई सूफीमत इश्कमारफत में झूमता हुआ आत्मरत हो कर गा रहा हो। जब वे कहती हैं कि 'रैण अंधेरी विरह घेरी, तारा गिणत निशि जात ले कटारी कंठ चीरूं, करूंगी अपघात।' तो यह सब सूफीमत का वायुमंडल है। अन्यथा मीराबाई मेड़ता में पलीं और मेवाड़ में ब्याहीं, उन पर मुसलमानी विचारों का प्रभाव कैसे हो सकता था ? मारवाड़ और मेवाड़ दोनों ही मुसलमानों के घोर विरोधी थे। उनको अपनी संस्कृति और सभ्यता का इतना अभिमान था कि वे विदेशी संस्कृति के किसी तत्व को ग्रहण नहीं कर सकते थे। फिर भी मीराबाई के पदों में सूफीमत स्पष्ट झलक रहा है, इसका कारण यही था कि हिन्दू और मुसलिम आध्यात्म धारायें सन्तलोक में मिल कर एक भारतीय गंगा बन गई थीं और इस गंगा में अवगाहन करके सब शान्ति अनुभव करते थे। कोई इस बात की चिन्ता नहीं करता

था कि इस गंगा में कौन कौन नदियां आकर गिरी हैं। यह ठीक पता नहीं है कि मीराबाई के गुरू कौन थे। ऐसी किंवदन्ती है कि एक बार अपने परिवार के लोगों से तंग आकर मीराबाई ने गुसाईं तुलसीदास जी महाराज को पत्र लिखा था कि मुझको मेरे कुटुम्बी भगवद्‌भक्ति से हटाना चाहते हैं, इसलिये आप मुझको सलाह दें कि मैं क्या करूँ। इसका उत्तर गुसाईं जी ने एक पद के रूप में भेजा था, जो भी प्रायः उद्धृत किया जाता है, परन्तु इसको ऐतिहासिक तथ्य मानने में कई अड़चनें हैं और यहाँ इस विवाद में प्रवेश करने की आवश्यकता भी नहीं है। इतना अवश्य है कि मीराबाई ने अपने गुरू का कहीं कहीं उल्लेख किया है। उस काल में यह सन्त प्रणाली थी कि गुरू को भी उतना ही महत्व दिया जाता था जितना ईश्वर को। यह प्रवृत्ति मुसलमानों की थी जिसको भारतीय सन्तों ने अपना लिया था।

सन्तमत का स्वरूप : सन्तमत हिन्दू और मुसलमानों के पारस्परिक सम्पर्क से, उनके दार्शनिक विचारों के मेल मेल से, जाति पांति की परेशानी से, दोनों धर्मों के वाह्य आडम्बरों से और हिन्दू मुसलमानों के शान्तिमय सहवास की आवश्यकता से उत्पन्न हुआ था। इसको स्वामी रामानन्द ने जन्म दिया। वे ब्राह्मण थे और ब्राह्मण हो कर भी वे जातिपांति के महत्व को स्वीकार नहीं करते थे बल्कि ईश्वर भक्ति पर जोर देते थे। यह उनकी उदारता थी। उनके शिष्य प्रायः सब अब्राह्मण या शूद्र थे और फिर सन्त परम्परा में ब्राह्मणों का महत्व किसी ने स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार सन्तमत वास्तव में धर्म और समाज को सुधारने के लिये एक आन्दोलन था। ऐसा ही आन्दोलन दो हजार वर्ष पूर्व महावीर स्वामी ने और गौतम बुद्ध ने खड़ा किया था। दोनों का उद्देश्य हिन्दू जाति का पुनर्निर्माण करना था। दोनों वर्णव्यवस्था को नहीं मानते थे; धर्म के स्वरूप को सरल, सुग्राह्य और सुबोध करना चाहते थे, संस्कृत भाषा का स्थान लोक भाषा को देना चाहते थे, और पुरातन परम्पराओं को भुला कर एक नया संसार और नया युग रचना चाहते थे। महावीर स्वामी तथा गौतम बुद्ध ने शंकर और कुमारिल की भांति अपना कार्यक्रम नहीं बनाया था। वे एक प्रकाश की तलाश में थे और जब उसकी प्राप्ति हो गई तो उसके द्वारा वे दूसरों को आलोकित करना चाहते थे। यही दृष्टिकोण पन्द्रहवीं शताब्दी के सन्तों का था। वे सब तत्कालीन परिस्थितियों में पले थे और बने थे। अपने समाज और धर्म के अनेक स्वरूपों से वे असन्तुष्ट थे। उनकी बुद्धि और लगन ने उनको मार्ग दिखाया। उन्होंने एक नवीन समाज और निर्विवाद धर्म की कल्पना की। उसमें उनको शान्ति मिली। तब अपने अनुभव और विचार उन्होंने लोगों के सामने रक्खे। जैन और बौद्ध धर्म के संस्थापकों को किसी ने सुना और किसी ने नहीं। रूढ़ि परम्परा के पोषक अपने पथ से नहीं डिगे। अधिकांश लोगों का यही रुख रहा। जिन लोगों ने नवीन मार्ग ग्रहण किया उनकी अलहदा एक जाति बन गई। इनका वर्ण-व्यवस्था में कोई स्थान नहीं रहा और ये लोग हिन्दू समाज या धर्म

के पुरातन स्वरूप को भी नहीं बदल सके। पन्द्रहवीं शताब्दी का सन्तमत भिन्न परिस्थितियों में उत्पन्न हुआ था परन्तु शेष तत्व इसके जैन और बौद्ध प्रगतियों से बहुत मिलते जुलते थे। तो भी सन्तमत में उतनी शक्ति नहीं थी।

सन्तमत का प्रचार क्यों रुका : यदि संतमत लोकमत बन जाता तो हिन्दू और तुर्क संस्कृतियां परस्पर घुल-मिल कर एक नवीन संस्कृति बन जातीं। इस संस्कृति का वाह्य और प्रत्यक्ष रूप तो हिन्दू अर्थात् भारतीय होता, परन्तु इसमें इसलाम के मूल तत्वों का भी समावेश होता। यदि ऐसा होता तो भारतीय संस्कृति मुसलिम संस्कृति को आत्मसात् कर लेती। ऐसी ही क्रिया यूनानी, शक, सीथियन, हूण आदि जातियों के आगमन पर हुई थी और इन सबको हिन्दू संस्कृति ने उदरस्थ कर लिया था। परन्तु सन्तमत को वह सफलता प्राप्त नहीं हो सकती थी। पन्द्रहवीं शताब्दी की परिस्थिति तब से भिन्न थी। यूनानियों के अतिरिक्त अन्य हमलेवर जातियों के पास कोई विकसित और निश्चित संस्कृति नहीं थी और न उनके पास कोई धार्मिक सिद्धांत थे, केवल कुछ क्रियायें वे लोग परम्परा से करते आये थे जिनका न कोई अर्थ था और न कोई उद्देश्य। इसलिये वे लोग भारत की जाज्वल्यमान संस्कृति के प्रकाश से चौंधिया गये और इसकी शरण में आ गिरे। मुसलमान इन लोगों से भिन्न थे। उनकी कुरान, नमाज, रोजा, रिवाज और रहन-सहन सब निश्चित थे और उनको यह मंत्र मिला था कि मुसलिम धर्म और संस्कृति संसार में सर्वोच्च है और इसकी अपेक्षा अन्य संस्कृतियां केवल हेय और त्याज्य ही नहीं बल्कि विनाश के योग्य हैं। इसलिये मुसलमानों को संतमत ग्राह्य नहीं हो सकता था, परन्तु संतमत को इसलाम से कोई द्वेष नहीं था। इसलाम पौराणिक मूर्ति पूजा को घोर पाप समझता था लेकिन संतमत में कोई ऐसा तत्व नहीं था। तो भी मुसलमानों ने संतमत स्वीकार नहीं किया। उन लोगों ने इसका विरोध नहीं किया और संतमत के अनुयायिओं को उत्पीड़ित भी नहीं किया, परन्तु इसके वे अनुयायी नहीं बन सके। कहीं दस पांच मुसलमान संतों की मस्ती में झूमने लगे होंगे तो दूसरी बात है परन्तु अनुयायियों में मुसलमानों की संख्या नगण्य है। नानक के अनुयायियों में और कबीर के भक्तों में आरम्भ से ही सब हिन्दू थे और अब यदि कोई नये अनुयायी बनते हैं तो वे भी हिन्दू ही होते हैं। संतमत से हिंदुओं की नई जातियां तो बन गईं जैसे नानकपंथी या सिक्ख और कबीरपंथी परन्तु हिन्दू और मुसलमान एक नहीं हुए। इतना ही नहीं दोनों के दृष्टिकोण में भी कोई विशेष उदारता नहीं आई। उधर हिन्दुओं का शिक्षित वर्ग भी संतमत का चाहे विरोध नहीं करता हो परन्तु इसको प्रतिष्ठित और व्यवस्थित नहीं समझता था। पंडित वर्ग जानता था कि संतों के पद उपनिषदों के सरल हिंदी संस्करण हैं जो बहकी बहकी बातों से भरे हुए हैं, उनमें कोई दार्शनिक व्यवस्था नहीं है। वास्तव में बात ऐसी नहीं थी। नानक जी के भजन और पदों में उच्च अध्यात्मवाद है और गहरा साहित्य है। तो भी पंडितों के

हृदयों को संस्कृत ही स्पर्श कर सकती थी, लोक भाषा नहीं। इसके अतिरिक्त ज्यों ज्यों मुसलमान मंदिरों को और मूर्तियों को तोड़ते थे। त्यों त्यों हिंदुओं में कट्टरता बढ़ती जाती थी। इसलिये चाहे हिन्दू मूर्तिपूजा का खंडन सुन लेते थे और प्रतिमा और मंदिरों का ध्वंस भी अपनी छाती पर पत्थर रख कर असहाय अवस्था में देखते रहते थे, परन्तु उनकी श्रद्धा में शिथिलता नहीं आती थी बल्कि उनका विश्वास और अधिक दृढ़ होता जाता था। साथ ही हिन्दुओं में यह विशेषता है कि ये लोग ईश्वर को साकार और निराकार, या सगुण और निर्गुण दोनों मानते आये हैं। इसलिए जब संत लोग निर्गुण ब्रह्म के विषय में पद गाते थे तो पंडित लोग विरोध नहीं करते थे, बल्कि कहते थे कि यह भी ईश्वर का एक रूप है। जब संत लोग वर्ण-व्यवस्था या पूजा विधि आदि का खण्डन करते थे तो विद्वान लोग हँस जाया करते थे या उसको ठीक भी मानते थे तो कह दिया करते थे कि यह तो अनादि व्यवस्था है, ऐसे ही चलती रहेगी। अधिकांश लोगों में अब भी यही विचार है। इन उपरोक्त कारणों से संतमत देशव्यापी धर्म नहीं बन सका और समाज तथा संस्कृति का स्वरूप पूर्ववत् बना रहा। इसके अतिरिक्त मुसलिम शासक भी नहीं चाहते थे कि हिन्दू मुसलिम घुल-मिल जावें। हिंदुओं को काफिर, बुतपरस्त आदि कह कर ही वे लोग इनसे लड़ने के वास्ते मुसलिम सैनिकों को उभारते थे। पारस्परिक भेद मिट जाने पर यह नीति नहीं चल सकती थी। इन कारणों से संतमत भारत के इतिहास में केवल एक मनोहर अध्याय बन कर रह गया। इनके पदों को सुन कर अब भी लोग गम्भीर मुद्रा धारण कर लेते हैं और कबीर, नानक आदि के नाम का उल्लेख आदर के साथ किया जाता है परन्तु नित्य के जीवन में संतमत का प्रवेश नहीं है।

भाषा का विकास

अरबी फारसी का प्रवेश : सन् १२०० से सन् १५२६ तक भारतीय भाषाओं में अपूर्व हेर फेर हुए। अब तक तो संस्कृत, प्राकृत, पाली, मागधी, अर्द्ध-मागधी, अपभ्रंश और उनके विभिन्न भेद प्रभेदों को ही भारत जानता था। इन सब का मूल संस्कृत को माना जाता था। भेद प्रभेद जो भी थे सब उच्चारण के कारण थे परन्तु मुसलमानों के प्रवेश के बाद भारतीय भाषाओं में और विशेषतः उत्तर की भाषाओं में एक नया तत्व घुसने लगा। यह तत्व था फारसी और अरबी। इन भाषाओं की रचना और शैली भारतीय भाषाओं से भिन्न थी। इनका उच्चारण अभारतीय था और भारतीय वर्णमाला के द्वारा उसको व्यक्त नहीं किया जा सकता था। उसका दृष्टिकोण पृथक् था और विचार धारा भिन्न थी। फिर मुसलिम भाषाओं को अब भारत में रहना था। भारतीय भाषायें उनको बाहर नहीं निकाल सकती थीं। अतः दोनों का घुल-मिलना आवश्यक और अनिवार्य था। ज्यों ज्यों हिन्दू और मुसलमानों का सम्पर्क बढ़ने लगा त्यों त्यों मुसलमान कुछ भारतीय भाषाओं के और हिन्दू लोग अरबी फारसी के शब्दों का व्यवहार करने लगे। उत्तर भारत में,

विशेषकर दिल्ली के आसपास मुसलमानों का प्राधान्य था। इसलिये उस प्रदेश में ऐसी भाषा का शनैः शनैः विकास होने लगा जिसको हिन्दू और मुसलमान दोनों समझते थे। यह भाषा घरेलू भाषा नहीं थी। घरों में मुसलमानों के यहाँ फारसी या तुर्की बोली जाती थी और हिन्दुओं के यहां अपने प्रदेश की भाषा। जो हिन्दू मुसलमान हो गये थे वे भारतीय भाषा बोलते थे परन्तु अरबी फारसी के शब्दों का अधिक प्रयोग करने का यत्न करते थे। जो भाषा अब विकसित होने लगी थी वह व्यापार, बाजार, पारस्परिक व्यवहार, दरबार आदि में प्रयुक्त हुआ करती थी। तेरहवीं शताब्दी की ऐसी भाषा के नमूने इस समय उपलब्ध नहीं हैं। जो कुछ दृष्टांत हैं वे अमीर खुशरो की रचनायें हैं।

अमीर खुशरो : यह आगरा के पास एटा जिले में एक मुसलमान परिवार में सन् १२४० के आसपास उत्पन्न हुए थे। इनका देहांत लगभग सन् १३२५ में अर्थात् एकसौ वर्ष की आयु में हुआ था। अत: इन्होंने बलबन से अलाउद्दीन तक सब बादशाह देखे थे। इनके समय में लगभग बारह बादशाह हुए और सब प्रसिद्ध बादशाहों से इनका सम्पर्क रहा। ये बादशाह बलबन के पुत्र मोहम्मद के उस्ताद थे और चित्तौड़ के घेरे में अलाउद्दीन के साथ थे। ये फारसी के बड़े सफल कवि थे और अपने समय के प्रख्यात संगीतज्ञ थे। इन्होंने फारसी हिन्दी का एक छन्दोबद्ध कोष लिखा है जो 'खालिकबारी' के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी रचना इस प्रकार की गई है कि फारसी शब्द के साथ ही उसका समानार्थक हिन्दी शब्द दिया गया है। इसके द्वारा हिन्दी जानने वाले को फारसी का और केवल फारसी जानने वालों को हिन्दी का ज्ञान हो सकता है। यह कोष इस बात का भी सूचक है कि उस समय हिन्दू और मुसलमान दोनों को एक दूसरे की भाषा जानने की और समझने की आवश्यकता का अनुभव हो रहा था। संस्कृत के विद्यार्थी जैसे अमरकोष से अध्ययन आरम्भ करते हैं और भाषा में प्रवेश करने के लिए अपना शब्दभंडार पुष्ट और सम्पन्न करते हैं उसी प्रकार फारसी पढ़ने वाले विद्यार्थी आज से चालीस वर्ष पहिले तक खालिक-बारी से शुरू किया करते थे। वास्तव में अमीर खुशरो की यह अमर रचना है। इस ग्रन्थ का आरम्भ योग्य लेखक ने इस प्रकार किया है :—'खालिक बारी सरजन हार, वाहिद एक बिदा करतार।' इस ग्रन्थ से पता चलता है कि उस समय सरजन-हार, करतार आदि रूप बन चुके थे। भाषा अन्य अवस्थाओं को अर्थात् प्राकृत, अपभ्रंश को पार करके हिन्दी का रूप धारण करने लग गई थी और यह रूप मुसल-मानों के सम्पर्क से अर्थात् विदेशी भाषाओं के दबाव से बनने लगा था। अमीर खुशरो की निम्नलिखित कविता में कई ऐसे शब्द हैं जिनमें कुछ वर्तमान हिन्दी के और कुछ हिन्दी तथा उर्दू दोनों के कहे जा सकते हैं। कई वाक्य तथा वाक्यांश आधुनिक से प्रतीत होते हैं। इसका कारण यह है कि हिन्दू मुसलिम सम्पर्क से यह भाषा बनने लगी थी और अभी इसमें अरबी फारसी के शब्दों का बाहुल्य नहीं हुआ था।

तरवर से एक तिरिया उतरी उसने बहुत रिझाया ।
बाप का उसके नाम जो पूछा आधा नाम बताया ।।
सर्व सलोना सब गुन नीका । वा बिन सब जग लागे फीका ।
वाके सिर पर होवे कौन । ए सखि साजन ? ना सखि लोन ।।
सिगरी रैन मोहि संग जागा । भोर भया तो बिछुरन लागा ।
वाके बिछुरत फाटत हीया । ए सखि साजन ? ना सखि दीया ।।

अमीर खुशरो ने कुछ ऐसी कवितायें भी लिखी हैं जिनमें एक पद फारसी भाषा में है और एक हिन्दी भाषा में । छन्द फारसी के वजन पर है । जैसे :—

जेहाल मिस्कीं मकुन तग़ाफ़ुल । दुराय नैना बनाय बतियां ।
किताबे हिज्रां न दारम् ऐ जां । न लेहु काहे लगाय छतियां ।।

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों में उत्तर भारत की भाषा अरबी फारसी के दबाव से तथा मुसलमानों के सम्पर्क से ऐसा रूप धारण करने लग गई थी जो आज भी अति प्राचीन नहीं प्रतीत होता । ज्यों ज्यों मुसलमानों का सम्पर्क बढ़ता गया त्यों त्यों बोलचाल की भाषा में अरबी फारसी के तद्रूप या तद्भव रूपों का प्रयोग भी बढ़ता गया । कालान्तर में यह प्रवृत्ति दो धाराओं में विभक्त हो गई । मुसलमान लोकभाषा को विदेशी शब्दों से अत्यधिक लादने लगे और हिन्दू लोग अपने पुराने संस्कृत के शब्दों को अत्यधिक मोह के साथ पकड़ने लगे । जिसमें विदेशी शब्दों का प्राचुर्य था वह उर्दू कहलाने लगी और जिसमें संस्कृत शब्दों का बाहुल्य था वह केवल भाखा कहलाने लगी । इस विषय का अधिक विवेचन अगले प्रकरण में किया जावेगा । पन्द्रहवीं शताब्दी में भाखा या भाषा ने जो रूप धारण किया वह कबीर साहिब की कविता में निहित है । उन्होंने तीन प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है । संस्कृत प्रधान, मिश्रित और फारसी प्रधान । संस्कृत और फारसी के तद्भव शब्दों का प्रयोग किया गया है ।

कबीर साहिब और पन्द्रहवीं शताब्दी की भाषा : कबीर साहिब का पालन-पोषण मुसलमान जुलाहे के घर में हुआ था, जहाँ प्रयास करके अरबी के तथा फारसी के शुद्ध या अशुद्ध शब्दों का व्यवहार किया जाता होगा । उनका निवास काशी नगर में था जो सदा से संस्कृत भाषा का और आर्य विचारों का केन्द्र रहा है । इसके अतिरिक्त कबीर साहिब स्वामी रामानन्दजी महाराज के शिष्य थे । इन सब कारणों से कबीर साहिब की भाषा संस्कृत प्रधान हिन्दी थी परन्तु उस पर विदेशी भाषा का पुट भी काफी था । वास्तव में उस काल में इसी प्रकार की अर्थात् मिश्रित भाषा प्रचलित होती जाती थी । रुचि और परिस्थिति के अनुसार कहीं विदेशी शब्दों का व्यवहार अधिक होता था और कहीं कम । इसके सिवाय वाक्य, वाक्यांश और मुहावरों का भी स्वरूप निखरने लग गया था । इस विकास में तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक

स्थिति का बड़ा हाथ था। कबीरजी के समय में वास्तव में हिन्दी का स्वरूप पक्का हो गया था। निम्नलिखित उद्धरणों से प्रकट होगा कि तत्कालीन भाषा का रूप निखर कर कितना आधुनिक बन गया था।

सुनत कराय तुरुक जो होना, औरत को का कहिये ॥
मसि कागद तो छुयो नहीं, कलम गही नहीं हाथ ॥
गंग की लहर मेरी टूटी जंजीर, मृग छाला पर बैठे कबीर ॥
बोली एक अमोल है जो कोई बोले जानि।
हिये तराजू तोल के तब मुख बाहर आनि ॥
हते पराई आतमा लिये जीभ तलवार ॥
हिन्दु तुरुक दोउ राह चलाई ॥
जब ही चेतो तब ही सही ॥
कहत कबीर पुकार के सबका यही हवाल ॥
जितने अमल सौ सबै हरामा ॥
दिल में खोज दिलै में देखो, यहै करीमा रामा ॥
ज्यों नैनन में पूतरी यों खालिक घट माहिं ॥
एक मया दूजा रहा दरिया लहर समाय ॥
कहे कबीरा सन्त ही परिगया नजर अनूप ॥
ज्यों गूंगे के सैन को गूंगा ही पहिचान ॥
लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी बात।
दुलहा दुलहिन मिल गये फीकी पड़ी बरात ॥
करनी बिन कथनी कथै अज्ञानी दिन रात।
कूकर ज्यों भूंकत फिरै सुनी सुनाई बात ॥
या दुनिया में आइ के छांड़ि देह तू ऐंठ।
लेना होय सो लेइ ले उठी जात है पैंठ ॥

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि पन्द्रहवीं शताब्दी में उत्तर भारत की भाषा मूलतः आधुनिक हिन्दी बन चुकी थी। इसका ढांचा पूरा तैयार हो गया था। क्रियाओं ने वर्तमान रूप ग्रहण कर लिया था। विभक्तियां सब नई बन गई थीं। मुहावरे तैयार हो रहे थे। शब्द समूह रुचि और परिस्थिति के अनुसार कहीं संस्कृत प्रधान था और कहीं फारसी प्रधान। कबीर साहिब ने स्वयं भी कुछ ऐसे पद और छन्द लिखे हैं जिनमें विदेशी शब्दों का बाहुल्य है। निम्नलिखित उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो जावेगी :—

जाय जाहूत में खुद खाविंद जहं वहीं मक्कान साकेत साजी।
कहै कबीर ह्वां भिश्त दोजख थके वेद कीताब काहूत काजी ॥
फहम करु फहम करु फहम करु मान यह फहम बिन फिकिर नांहि मिटै तेरी।

सकल उजियार दीदार दिल बीच है जौक औ शौक सब मौज तेरी।
बोलता मस्त मस्ताने महबूब है इना सा अदल कहु कौन केरी।
एक ही नूर दरियाव वह देखिए फैल वह रहा सब सृष्टि में री।
आप ही गनी गरीब हैं आप ही आप गनीम हो आप चेरी।
आप ही चोर पुनि साहु है आप ही ज्ञान कथि आप ही आप सुने री।
आप ही हरी हरिनाकुसा आप ही आप नरसिंह हो आप गेरी।
आप ही रावना आप रघुनाथ जी आप को आप ही आप दले री।
आप बलि होइकै दान बसुधा किया आप हो बावना आप छले री।
आप ही कृष्ण है कंस है आप ही आप को आप आपहि हते री।
आप ही भक्त भगवंत है आप ही और नहिं दूसरा अर्ज सुने री॥

अन्य कवि और लेखक : उस काल में अन्य कई कवि और लेखक हुए होंगे और उन्होंने इसी प्रकार की मिश्रित भाषा का उपयोग किया होगा, परन्तु उनके नाम लुप्त हो गये। कबीर साहिब उस युग के प्रधान कवि थे और हिन्दू मुसलिम समन्वय के प्रबल प्रतीक थे, इसलिये उनका नाम अमर हो गया। कबीर का काल वास्तव में समन्वय और मिश्रण का काल था। यदि मुगल साम्राज्य स्थापित न होता तो सोलहवीं शताब्दी में ही हिन्दू संस्कृति प्रबल और प्रधान बन जाती और मुसलिम तत्वों को वह अपने गर्भ में धारण कर लेती। उपरोक्त पंक्तियों से यह तो स्पष्ट हो गया होगा कि जिस प्रकार दोनों धर्मों के मूल तत्वों का समन्वय होने लगा उसी प्रकार दोनों जातियों की भाषाओं का भी समन्वय आरंभ हुआ। धार्मिक समन्वय तो सफल नहीं हुआ परन्तु दोनों जातियों के पारस्परिक व्यवहार और काम काज के निमित्त एक समान भाषा अवश्य विकसित होने लग गई। और इसका परिणाम भी स्थायी हुआ। आगे चल कर इस भाषा के दो विभिन्न रूप अवश्य हो गये परन्तु दोनों ही रूपों को उत्तर भारत के सब लोग अर्थात् हिन्दू और मुसलमान समझते थे। इसको चाहे हिन्दी कहें या उर्दू या हिन्दुस्तानी, यह इन तीन सौ वर्षों की देन थी।

पारस्परिक समन्वय के अन्य साहित्यिक प्रयास : कश्मीर का सुलतान जैनुल आब्दीन इस युग में बुद्धिमान और उदार शासक था। अकबर की भांति वह हिन्दू और मुसलमानों के मध्य की खाई को भरना चाहता था। इसलाम कुछ भी कहता हो, उसकी यह धारणा बन गई थी कि दोनों कौमें शान्ति से उसी अवस्था में साथ साथ रह सकती हैं जब वे एक दूसरे के आचार, व्यवहार और विचार को समझें और उसका आदर करें। ऐसा ही सुलतान बंगाल में हुसैनशाह था। इन दोनों सुलतानों ने अपने अपने दरबारों में संस्कृत साहित्य का अध्ययन करवाया और हिन्दुओं के ज्ञान विज्ञान को समझने का प्रयास किया। अनेक ग्रन्थों का फारसी भाषा में अनुवाद करवाया, कई ग्रन्थों का सार फारसी में लिखवाया, और मुसलमानों को

विद्वन्मंडलियों में उनका प्रवेश और प्रचार करवाया। खेद की बात यह है कि मुसलमान शासकों में तो कोई कोई उदार शासक हुए और उन्होंने दोनों कौमों में समन्वय स्थापित करना चाहा परन्तु मुसलिम मुल्लाओं को यह बात नहीं रुची। वे हिन्दुओं को काफिर ही कहते रहे। दोनों में एकता स्थापित करने का प्रयत्न जब भी हुआ तो शासकों द्वारा हुआ या सन्तों के द्वारा। मुसलिम सुलतानों ने हिन्दुओं के योग दर्शन और विधियों का अध्ययन करवाया और मुसलिम फकीरों में कई इस ओर झुकने लगे। इसी प्रकार हिन्दुओं के वेदान्त दर्शन ने भी मुसलमानों को आकर्षित किया और कुछ लोगों ने इसका अध्ययन भी किया परन्तु यह इतना जटिल और कठिन विषय था कि इसमें विदेशियों की गति नहीं हुई और यह लोकप्रिय नहीं बन सका। भारत का आयुर्वेद और ज्योतिष इस समय अति विकसित और प्रौढ़ अवस्था में था। इसके चमत्कारों को मुसलमान लोग लगभग सात सौ वर्षों से देख रहे थे। अरब के मुसलमान तो इन पर मुग्ध थे और अरब तथा ईराक में भारतीय प्रणाली के कई चिकित्सालय जारी किये गये थे, जिनमें भारत के वैद्य काम करते थे। अफगान तुर्क काल में भी इन विषयों के चमत्कारों ने मुसलमानों को आकर्षित और मुग्ध किया और उन्होंने इनका अध्ययन किया।

प्रान्तिक भाषाओं का उद्‌गम : इन तीन शताब्दियों में प्रान्तिक भाषाओं का रूप भली भांति निखर गया। जैसे हिन्दी पर विदेशी भाषाओं का प्रभाव था, उसी प्रकार प्रांतिक भाषाओं पर भी अरबी और फारसी की छाप थी। अब मुसलमान भारत के कोने कोने में पहुंच चुके थे और हजारों लाखों विविध प्रांतों में सदा के लिये बस गये थे। इन लोगों ने प्रांतिक भाषाओं को अपना लिया था। अपने परिवार में भी ये लोग प्रांतीय भाषाओं का व्यवहार करते थे। यह स्वाभाविक बात थी कि मुसलमानों की प्रान्तिक भाषा में अरबी फारसी के शब्दों का अधिक व्यवहार होता था और हिन्दुओं की प्रांतिक भाषा में कम। यह प्रवृत्ति अब तक बनी हुई है। कुछ शब्द तो विदेशी भाषा के भी प्रांतिक भाषाओं ने आत्मसात् कर लिये हैं। प्रायः बोलने वालों को यह पता नहीं रहता कि वे किस भाषा के शब्द बोल रहे हैं। वे तो उनको अपनी भाषा के ही शब्द समझते हैं। परन्तु जब मुसलमान प्रांतिक भाषायें बोलते हैं तो उनकी भाषा में फारसी के तत्सम या तद्‌भव शब्दों की भरमार रहती है। इस समय मुसलमानों और पारसियों की गुजराती में पचास प्रतिशत से भी अधिक शब्द फारसी के होते हैं। मुसलमान उनका शुद्ध उच्चारण करने का यत्न करते हैं और पारसी लोग जैसा प्रवाह में आ गया उस प्रकार बोलते जाते हैं। बंगाली में भी यही बात है और अन्य प्रांतीय भाषाओं पर भी यही बात लागू होती है। यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है और प्राचीन है। इसका आरम्भ तेरहवीं शताब्दी में ही हो गया था। छापे के आविष्कार से तथा कुछ नवीन राजनैतिक कारणों से यह प्रवृत्ति गत पचास साल में और अधिक पुष्ट हो गई है परन्तु अभूतपूर्व बात नहीं है। उस समय

मुसलमान शासकों ने प्रांतीय भाषाओं को प्रोत्साहन दिया था और इसके द्वारा भारतीय संस्कृति को समझने का यत्न किया था। बंगाल के शासक इस विषय में सब से आगे थे। चौदहवीं शताब्दी में बंगाल में चंडीदास हुए जिनके बनाये भजन इस समय भी बंगला में घर घर प्रचलित हैं। उनके सहयोगी विद्यापति ठाकुर थे जिनकी भाषा हिन्दी भी मानी जा सकती है और बंगला भी। बंगदेश के मुसलमान सुलतानों ने रामायण और महाभारत का संस्कृत से बंगला में अनुवाद करवाया। इनमें सुलतान नसरतशाह और सुलतान गयासुद्दीन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। विद्यापति ठाकुर ने इन दोनों सुलतानों की बहुत प्रशंसा की है। कृत्तिवास नामक एक कवि ने भी वाल्मीकि रामायण का अनुवाद किया था जो बंगदेश में उतना ही प्रचलित हुआ जितना गुसाईं तुलसीदास का रामचरित हिन्दी भाषी प्रान्तों में। कृत्तिवास को गौड़ के सुलतान का आश्रय प्राप्त था।

मुसलिम शिक्षा और फारसी का प्रचार : मुसलमान सुलतानों के काल में दिल्ली मुसलिम शिक्षा का केन्द्र बन गई थी। मुसलमानों ने अपनी शिक्षा को बड़ा प्रोत्साहन दिया और पश्चिमीय एशिया से जो भी विद्वान दिल्ली आया उसको तत्कालीन सुलतान का आश्रय प्राप्त हो गया। इस प्रकार कितने ही मुसलमान विद्वान अरब, ईरान, तुर्किस्तान आदि देशों से आकर दिल्ली में निवास करने लगे। भारतीय मुसलिम विद्वानों और कवियों में सब से अधिक प्रसिद्ध अमीर खुशरो था। वह बलबन के पुत्र का उस्ताद और अलाउद्दीन खिलजी का राजकवि था और गयासुद्दीन तुगलक इसका आश्रयदाता था। अमीर खुशरो फारसी का परम विद्वान था और संगीत का पारंगत था। दिल्ली के विषय में यह अभिमान के साथ कहा करता था कि यह बुखारा का मुकाबला करती है। उस समय बुखारा नगर में मुसलमानों का प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था। दिल्ली में सुलतानों ने मुसलिम शिक्षा की उन्नति और प्रचार के लिये अनेक संस्थायें स्थापित कर रखी थीं। दिल्ली के अतिरिक्त जलंधर और फीरोज़पुर में भी ऐसी संस्थायें कायम की गई थीं। कई स्थानों पर अरबी और फारसी के पुस्तकालय स्थापित किये गये थे। इनमें सबसे बड़ा पुस्तकालय दिल्ली में था। अलाउद्दीन खिलजी का दरबार पश्चिमीय एशिया के अनेक विद्वान कवियों और लेखकों तथा इतिहासकारों से अलंकृत था। मोहम्मद तुगलक स्वयं कई विषयों का विद्वान था और अपने दरबार में विद्वानों को उदारता के साथ आश्रय दिया करता था। यही बात फीरोजशाह तुगलक के विषय में कही जा सकती है। वह स्वयं अच्छा लेखक था जो उनके 'फतुहात-ए-फीरोजशाह' नामक ऐतिहासिक ग्रन्थ से प्रकट होता है। फीरोजशाह ने मुसलिम शिक्षा का अपने राज्य में खूब प्रचार करवाया और इसके निमित्त बड़े बड़े नगरों में मुसलिम शिक्षालय बनवाये। हर एक विद्यालय के साथ एक मसजिद बनी हुई थी जिससे स्पष्ट है कि शिक्षा मुख्यतः इस्लाम धर्म पर आश्रित

थी। ऐसी शिक्षा से अधिकांश मुसलमान ही लाभ उठाते थे हिन्दू नहीं। सुलतान सिकंदर लोदी स्वयं फारसी में कविता करता था और कवियों को उदार आश्रय देता था। बहमनी राज्य के सुलतान और अहमदनगर, गोलकुंडा, बीजापुर आदि राज्यों के मुसलिम सुलतान भी फारसी शिक्षा को बड़ा प्रोत्साहन दिया करते थे। भारत के विद्वानों ने इतिहास विषय की प्रायः उपेक्षा की थी, परन्तु मुसलमानों की इस ओर बड़ी रुचि थी। तेरहवीं, चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों में फारसी भाषा में कई ऐतिहासिक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इस काल में मिनहाजुउद्दीन ने 'तवकाते नासिरी' लिखी जो मुसलिम जगत का व्यापक इतिहास है। इसका आश्रयदाता नासिरुद्दीन महमूद था, जिसके नाम पर योग्य लेखक ने अपने ग्रन्थ का नामकरण किया है। अमीर खुशरो की ऐतिहासिक मसनवियां प्रसिद्ध हैं ही। उसके तारीख अलाई में सुलतान अलाउद्दीन के शासन के प्रारम्भिक कुछ सालों का अच्छा वर्णन है। इस समय का सर्वाधिक प्रसिद्ध इतिहास लेखक जियाउद्दीन बरनी है। यह मोहम्मद तुगलक और फीरोज तुगलक का समकालीन था। इसी समय के और दो इतिहास ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं। एक शमश-ए-सिराज अफीफ का लिखा हुआ तारीख-फीरोजशाही और दूसरा याहिया बिन अहमद सरहिन्दी का तारीख-ए-मुबारिक शाही। पहिला ग्रन्थ फीरोजशाह तुगलक के राज्य काल में और दूसरा मोहम्मद तुगलक की मृत्यु के लगभग अस्सी वर्ष बाद लिखा गया था।

हिन्दू मुसलिम कला का समन्वय

सम्पर्क और कला : भारत में मुसलमान एक प्रदेश से नहीं आये थे। अधिकांश लोग अफगानिस्तान के थे परन्तु वहां भी कुछ तुर्किस्तान से आये थे और कुछ कहीं से। इसलिये उन लोगों के साथ पश्चिमी एशिया, मध्य एशिया, उत्तर अफ्रीका और दक्षिण पूर्व योरोप की कला की विशेषतायें और परम्परायें भी भारत में आईं। उस समय भारत की कला बहुत पुष्ट और सम्पन्न हो चुकी थी। प्राधान्य पौराणिक कला का था परन्तु बौद्ध कला और जैन कला ने पौराणिक कला को सम्पन्न और समलंकृत किया था। जब मुसलमानों ने यहां प्रवेश किया तो भारतीय कला से वे लोग मुग्ध नहीं हुए। उनको यह सिखाया गया था कि गैर इसलाम समस्त तत्व हेय और विनाश के योग्य हैं। महमूद गजनी मथुरा के भव्य मंदिरों और मूर्तियों को देख कर चकित हो गया था परन्तु फिर भी वह उनको तोड़े बिना नहीं रह सका। मुसलमानों के आगमन से पूर्व भारतीय कला बहुत उन्नत हो चुकी थी। दक्षिण के रथाकार मंदिर, एलोरा का कैलाश मंदिर और उत्तर भारत के शिखरबंद मंदिर कला की पराकाष्ठा के सूचक थे। अजन्टा की चित्रकारी, इस समय धुंधली और जीर्ण हो जाने पर भी सहृदय दर्शकों को गद्गद् कर देती है तो जब यह ताजा होगी तब कितनी दिव्य होगी। मुसलमानों ने मंदिरों और मूर्तियों का ध्वंस खूब किया और उत्तर भारत से भव्य मंदिरों का प्रायः उच्छेद कर दिया परन्तु फिर भी

कितने ही मंदिर और अन्य भवन इस विनाश बाढ़ से बच गये और वे अब तक खड़े हुए हैं। जब मुसलमान शासक इमारतें बनाने लगे तो यह काम ऐसे मुसलिम इंजिनियरों के सुपुर्द किया गया जो केवल मुसलिम जगत की निर्माण विधि और रचना कौशल से परिचित थे। परन्तु इन इमारतों को चुनने वाले सब भारतीय कारीगर थे। ये लोग भारतीय परम्पराओं में पले हुए थे और भारतीय नमूनों पर इनका हाथ जमा हुआ था। इसलिये जब मुसलिम इंजिनियरों के तत्वावधान में भारतीय राज और सलावट काम करने लगे तो हिन्दू और मुसलिम कलाविदों को व्यावहारिक सम्पर्क प्राप्त हुआ और इस सम्पर्क से एक नई और मिश्रित कला का उदय हुआ।

समन्वित कला : तेरहवीं, चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी की भारतीय कला के सम्बन्ध में विशेषज्ञों में बड़ा मत-भेद है। एक वर्ग कहता है कि यह मुसलिम कला है और इसमें कोई भारतीय तत्व नहीं है। दूसरा वर्ग कहता है कि यह प्रधानत: हिन्दू कला है, मुसलिम कला का केवल स्पर्श या आवरण मात्र है। तीसरे वर्ग का मत है कि यह मिश्रित कला है। इसका ढांचा केवल मुसलिम है परन्तु इसमें मांस और रुधिर भारतीय हैं। इन तीन प्रकार के मतों में प्रथम दो मत तो अत्युक्ति प्रतीत होते हैं। इमारत को बनाने और बनवाने वाला कोई भी हो, जो इमारत भारत भूमि पर बनाई जावेगी उसमें भारतीयता किसी न किसी अंश में तो आवेगी ही, विशेषकर जब चुनाई करने वाले और पत्थर तराशने वाले सब भारतीय हों। अतः पहिला मत ग्राह्य नहीं है। इसी प्रकार जब इमारत बनाने वाले इंजिनियर और बनवाने वाले शासक दोनों मुसलमान हों तो यह बात असम्भव है कि ऐसी इमारत प्रधानत: हिन्दू हो और मुसलिम कला का उसमें केवल स्पर्श मात्र हो। मसजिदों और मजारों के स्वरूप मुसलमान निश्चित करते थे, इनकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊंचाई उनके द्वारा निश्चित की जाती थी। इनके दरवाजों और खिड़कियों का आकार-प्रकार, गुम्बजों का डौल और स्तम्भों के नक्शे मुसलमान तैयार करते थे। ऐसी अवस्था में इन इमारतों की कला में भारतीयता का प्राधान्य नहीं हो सकता था। इस हेतु दूसरा मत भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु तीसरा मत युक्ति संगत है और इस समय की बनी हुई इमारतों के अध्ययन से इस की पुष्टि होती है। इन इमारतों को चुनने वाले, पत्थर गढ़ने वाले, जालियां, चौखटे और उतरंगे तथा मरगोल बनाने वाले और स्तम्भों को अन्तिम स्वरूप देने वाले सब हिन्दू थे। कितनी ही मसजिदें हिन्दू या जैन मंदिरों को तोड़ कर बनाई गई थीं। या तो मंदिरों के दरवाजों को तोड़ कर मुसलमानी ढंग का दरवाज़ा बना दिया जाता था और अन्दर के भाग को परिवर्तित करके मसजिद के योग्य बना दिया जाता था। इस प्रकार मंदिर के कुछ भाग ज्यों के त्यों रह जाया करते थे। इसका उत्तम उदाहरण है अजमेर का ढाई दिन का झोंपड़ा। यह महाराज विशालदेव चौहान का बनाया हुआ सरस्वती

मंदिर था जिसको कुतुबुद्दीन ऐबक ने मोहम्मद गोरी के समय में कुछ तोड़-फोड़ कर मसजिद का रूप दे दिया था। इसका दरवाजा मुसलमानी ढंग का है और उस पर कुरान के वाक्य खोद दिये गये हैं, परन्तु शेष इमारत अधिकांश ज्यों की त्यों है। दूसरा उदाहरण धार (मध्यभारत) की कमाल मौल्ला नामक मसजिद है। यह भी पहिले धारा नगरी के कीर्तिमान शासक और परम विद्यानुरागी महाराज भोज का बनाया हुआ सरस्वती मंदिर था और मध्यभारत का विद्या केन्द्र था। इसका आन्तरिक भाग स्पष्ट मंदिर मालूम होता है। इस प्रकार हिन्दू और मुसलिम कला का एक स्थान पर दिखाई देना समन्वय नहीं कहा जा सकता। यह वास्तव में हिन्दू कला की हत्या और शस्त्र द्वारा मुसलिम कला का आक्रमण था। कुछ मसजिदें ऐसी भी हैं जो हिंदू मंदिरों को बिलकुल नष्ट करके उनकी सामग्री से बनवाई गई हैं। इनका डौल डौल सब अपना है, परंतु इनमें स्तम्भ मंदिरों के हैं। इनकी जालियां, चौखटें आदि भी हिंदू ढंग की हैं। इस प्रकार दोनों प्रकार की कलायें एक स्थान पर मिल गई थीं। परन्तु यह वास्तव में न मिलन था और न समन्वय। यह तो घोर बर्बरता थी। जब मुसलमानों का विजय-विनाश कुछ कम हुआ और दोनों कौमें कुछ शांति के साथ पास पास रहना सीखने लगीं और दोनों के दार्शनिक विचार और भाषायें परस्पर प्रवेश करने लगीं तब दोनों कौमों की कलाओं में भी आदान प्रदान आरम्भ हुआ। जो काम अपने अपने क्षेत्रों में अमीर खुशरो, कबीर, नानक और रैदास आदि ने किया था, कला के क्षेत्र में वही काम असंख्य राज और सलावट करने लगे। इन लोगों ने वाणी से प्रकट नहीं किया कि दोनों कलाओं में क्या निष्फल आडम्बर है और क्या तत्व है तथा सर्वग्राह्य सारभूत कला का क्या स्वरूप है या क्या स्वरूप होना चाहिये। ऐसा सूक्ष्म विवेचन करने की न इन लोगों में क्षमता थी और न हिम्मत। जैसे दार्शनिक विवेचन को सहन कर लिया गया था या उसकी उपेक्षा की गई थी, वैसा कला के क्षेत्र में नहीं हो सकता था। जो व्यक्ति मसजिद या मजार के निर्माण पर रुपया खर्च करता था, वह लोक रुचि की क्यों चिन्ता करता और यदि चिन्ता करनी थी और लोकरंजन भी उसका उद्देश्य था तो केवल मुसलिम वर्ग की चिन्ता करना उसके लिये काफी था। मसजिद कैसी हो और मजार कैसा हो इस विषय में हिन्दुओं की कलाभिरुचि को जानने की या उसका अनुरंजन करने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। तो भी मुसलिम कला में हिन्दू कला का प्रवेश हुआ ही। इसको मुसलमानों ने निमन्त्रित नहीं किया। यह तो परिस्थिति के बल से घुस ही पड़ा। यह कैसे हो सकता था कि लगभग दो हजार वर्ष पुरानी भारतीय कला मुसलमानों के सिर पर चढ़कर जादू की भांति बोलने न लग जावे। ज्यों ज्यों विजय और संग्राम का कोलाहल कम होता गया त्यों त्यों विनाश कार्य भी कम होने लगा और भारतीय कला ऐसी कला से मुसलिम कला में घुसने लगी कि किसी को यह पता ही नहीं चला कि क्या हो रहा है। मुसलमान कलाविदों या इंजिनियरों ने कभी यह प्रश्न ही

नहीं किया कि काफिरों की कला मुसलमानों की कला का क्यों आलिंगन कर रही है। कलावन्तों को वास्तव में यह विचार ही नहीं आया। इस क्षेत्र में हिन्दू मुसलिम का भेद कभी प्रकट होने नहीं पाया। स्थापत्य में ही नहीं, संगीत और चित्रकारी में भी यही प्रवृत्ति रही। इस प्रकार दोनों कलाओं के घुलने मिलने से कला-समन्वय होने लगा। परन्तु यह केवल आरम्भ मात्र था। इसका पर्यवसान लगभग एक सौ वर्ष बाद अकबर के शासन काल में हुआ।

कला के मुख्य केन्द्र : इस समन्वित कला के कई केन्द्र थे। इनमें मुख्य और प्रधान केन्द्र दिल्ली था। यहां मुसलमानों की संख्या बहुत थी इसलिए उनकी भाषा, धर्म और संस्कृति का दिल्ली केन्द्र बन गया था। अतः दिल्ली की कला प्रधानतः मुसलिम कला थी परन्तु यह हिन्दू कला के मधुर तत्वों से सर्वथा शून्य नहीं थी। दिल्ली से पूर्व में जौनपुर के शरकी शासकों के आश्रय और पोषण में एक विशेष स्थानीय कला का विकास हुआ था। इसमें मुसलिम कला की उतनी प्रधानता नहीं थी जितनी दिल्ली में। बंगाल की तत्कालीन कला वास्तव में बंगाल की कला थी, मुसलमानों की नहीं। इसका स्वरूप-निर्माण मुसलमानों ने किया था और प्राण-प्रतिष्ठा हिन्दू कलाविदों ने। इसलिये जिस प्रकार मोती में आब अर्थात् पानी छलका करता है उसी प्रकार बंगाल की मसजिदों और मज़ारों में हिन्दू कला के कलित तत्व झलकते हैं। यही उक्ति अन्य प्रांतीय कलाओं पर लागू होती है। कश्मीर की कला अपने ही ढंग से विकसित हुई। यह प्रदेश मुसलिम देशों से सटा हुआ है परन्तु तो भी यहां की कला में स्थानीयता बहुत है। गुजरात, मालवा, बीजापुर और गोलकुण्डा भी इसी प्रकार के कलाकेन्द्र थे। इस नवीन कला के विकास में मुसलमानों का तो सब से अधिक हाथ था ही परन्तु इसकी पुष्टि में स्थानीय तत्वों से बड़ी सहायता मिली थी और इसीलिये प्रत्येक केन्द्र की कला अपनी अपनी विशेषता रखती है और यही इसका माधुर्य और आकर्षण है।

दिल्ली की कला : सन् १२०६ में दिल्ली के तख्त पर बैठते ही एबक कुतुबुद्दीन ने निर्माण कार्य शुरू करवा दिया। अभी कुछ अर्से पहिले तक यह माना जाता था कि कुतुबमिनार कुतुबुद्दीन का बनाया हुआ है परन्तु अब इस विषय में अनेक विवाद खड़े हो गये हैं। अब यह तो सब मानने लग गये हैं कि एबक कुतुबुद्दीन के नाम से इस मीनार का कोई सम्बन्ध नहीं है और न इसका निर्माण अज़ान के लिये करवाया गया है। अधिकांश विद्वानों का यह मत बनता जाता है कि यह मीनार अलतमश ने किसी कुतुबुद्दीन नामक फकीर की स्मृति में बनवाया था। एक मत यह भी है कि एबक कुतुबुद्दीन ने इसका आरम्भ किया और अलतमश ने पूर्ण किया। कुछ विद्वान यह भी कहते हैं कि महाराज पृथ्वीराज चौहान ने अपनी विजय स्मारक स्वरूप एक कीर्तिस्तम्भ बनवाना शुरू किया था जिसको वह पूरा नहीं कर सके परन्तु कई खंड बनवा चुके थे। जब मोहम्मद गोरी से युद्ध करते हुए उन्होंने वीरगति प्राप्त की और कुतुबुद्दीन गद्दी पर बैठा तो उसने इस कीर्तिस्तम्भ का

रूपांतर कर डाला। यह धारणा अयुक्तिसंगत तो प्रतीत नहीं होती। इसी विधि से उसने महाराज विशालदेव के मंदिर का रूपांतर करके मसजिद बनवाई थी। इस मत को स्वीकार करने में कठिनता यह है कि इस मीनार की रचना और आकृति में हिन्दू तत्व स्पष्ट नहीं हैं और जिन विशेषताओं को हिन्दू तत्व माना जाता है वे संदिग्ध हैं। परन्तु इस कला के प्रकरण में इस विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। यह मीनार चाहे जिसने आरम्भ किया हो, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इसके स्वरूप और निर्माण में प्रधानता मुसलिम कला की है और हिन्दू तत्व सूक्ष्मता से देखने पर भी धुंधले और अस्पष्ट प्रतीत होते हैं। इसमें भी सन्देह नहीं है कि इसका निर्माण अल्तमश के शासन काल में समाप्त हो गया था। अतः यह तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की कला का उदाहरण है। इसकी विशेषता इसकी ऊँचाई है। खण्डशः इसकी गोलाई कम की गई है। इसके अतिरिक्त इसमें कोई अलंकृति या चमत्कृति नहीं है। इसके निर्माण में भी कोई विशेष चातुर्य नहीं है। इसका ऊपरी भाग कई बार गिर चुका है और पुनः बनवाया जा चुका है परन्तु फिर भी यह मानना पड़ेगा कि इसके निर्माण में दृढ़ता का विशेष ध्यान रखा गया है। यह मीनार मीनारों का बना हुआ है। यह ज्यों ज्यों ऊपर जाता है त्यों त्यों इसकी गोलाई हिसाब से और क्रमशः कम होती जाती है। इसके हर एक झरोखे के नीचे बड़ा सुन्दर काम है। मौके मौके पर अरबी अक्षरों में कुरान की आयतें लिखी हुई हैं। अल्तमश ने शायद अपने मालिकों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए कुतुबुद्दीन एबक और मोहम्मद गोरी के भी नाम लिखा दिये हैं। अलाउद्दीन खिलजी ने दो प्रसिद्ध इमारतों का निर्माण करवाया—जमियत खाना मसजिद और अलाई दरवाजा। यह मसजिद निजामुद्दीन औलिया की दरगाह के पास स्थित है। इसका स्वरूप और निर्माण मुख्यतः मुसलमान शैली का है। इसके विशाल द्वार, दृढ़ दीवारें, अर्द्ध चन्द्राकार महराबें और जालियाँ सब मुसलिम शैली की हैं। यत्र तत्र किंचित स्पर्श हिन्दू कला का भी है। दरवाजे की मेहराब का अलंकरण और दीवारों के ऊपर के कंगूरे हिन्दू शैली के बने हुए हैं। कुतुबमीनार के पास का अलाई दरवाजा अति सुन्दर और मनोहर इमारत है। इसका प्रत्येक भाग नाना प्रकार के बेलबूटों से अलंकृत है। इसके आसन के अलंकरण में हिन्दूपन प्रतीत होता है। निम्न भाग की द्वितीय पंक्ति के अलंकरण चैत्याकार हैं। यह सम्भव है कि यह बगदाद का नमूना हो परन्तु यह और अधिक सम्भव है कि बगदाद में भी यह शैली बौद्धों के साथ गई हो और वहाँ की स्थानीय शैली में घुल-मिल गई हो और जब मुसलमान भारत में आये तो इसको अपने साथ लाये हों। कला वास्तव में देश, काल और धर्म के बंधनों से परे है। यह केवल सत्य शिव और सौंदर्य की चिन्ता करती है। जहाँ भी ये तत्व मिलते हैं वहीं से इनको वह ग्रहण कर लेती है। यही कारण है कि मुसलमानों की धार्मिक असहिष्णुता भी कला की स्वच्छंद गति का अवरोध नहीं कर सकी और अलाई दरवाजे के अलंकरणों में बौद्ध तत्व प्रविष्ट हो गये।

गुलाम और खिलजी वंश के शासन के बाद मुसलमान बादशाहों का वैभव घटने लगा। मोहम्मद तुगलक की भूलों से राजकोष खाली हो गया और समस्त देश में आर्थिक संकट व्याप्त हो गया, सर्वत्र अव्यवस्था दिखाई देने लगी और दिल्ली का प्रताप क्षीण होने लग गया। इस स्थिति में स्वाभाविक बात थी कि कला भी क्षीण होती। अतः तुगलक वंश के राज्य काल की कला क्लान्त और म्लान प्रतीत होती है। इस समय की इमारतों में न रस है, न सौन्दर्य और न आकर्षण। ऐसा जान पड़ता है मानो किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये या समय काटने के वास्ते उनका निर्माण करवाया गया हो। सैयद और लोदी बादशाहों ने इस बात का प्रयत्न किया था कि दिल्ली की कला में पुनः प्राणों का संचार हो और सजीव तथा सम्पन्न हो कर वह फिर अपना वैभव प्रदर्शन कर सके, परन्तु उनको इस दिशा में कोई उल्लेख के योग्य सफलता प्राप्त नहीं हुई। खिलजियों के बाद ही दिल्ली के सुल्तानों का सितारा डूबने लग गया था। इस ह्रास के काल में कला क्या पुनर्जीवित होती ?

जौनपुर की कला : जब दिल्ली के बादशाह निर्बल होने लगे तो जौनपुर में एक नया मुसलिम राज्य स्थापित हो गया। यह स्वतन्त्र राज्य था और दिल्ली के अधीन नहीं था। इसलिये लोदी वंश के शासकों का इसके साथ संघर्ष रहा और कुछ समय के लिये दिल्ली के अधीन भी हो गया परन्तु थोड़े समय बाद यह पुनः स्वाधीन हो गया। जौनपुर के शासक शरकी बादशाह कहलाते थे। इनके आश्रय में जौनपुर में एक सुन्दर और समन्वित तथा मिश्रित कला का उदय हुआ। इसमें हिन्दू और मुसलिम तत्व समान रूप से ओतप्रोत थे। स्थानीय परंपराओं का इस पर पूरा प्रभाव था, इसलिये इसमें ऐसी विशेषतायें हैं जो अन्यत्र नहीं मिलतीं। अतः इसको जौन-पुरी कला कहा जा सकता है। जौनपुर की इमारतों में सबसे अधिक प्रसिद्ध और भव्य अटाला देवी मसजिद है। यह किसी भी अंश में दिल्ली की तत्कालीन इमारत से नहीं मिलती। इसका सब डील डौल और ढंग अपना ही अर्थात् जौनपुर का है इसके प्रत्येक पक्ष में हिन्दू और मुसलमान कलाओं का मिश्रण तथा समन्वय है। इसका आकार-प्रकार, स्वरूप, विन्यास, निर्माण और प्रभाव एकान्त रूप से न हिन्दू है और न मुसलिम। दोनों तत्व परस्पर मिले हुए हैं और इस प्रकार मिले हैं कि ये पृथक् नहीं किये जा सकते। इस इमारत को केवल कला की दृष्टि से देखा जावे तो यह सुन्दर समन्वय की प्रतीक प्रतीत होती है और विशेषता की दृष्टि से इसको जौन-पुरी शैली ही कहा जा सकता है।

बंगदेश की कला : जौनपुर की कला में हिन्दू कला की विशेषताओं ने प्रवेश किया है परन्तु मुसलिम कला को उन्होंने दबाया नहीं है। बंगदेश में स्थानीय कला का प्राधान्य है और मुसलिम कला दबी हुई सी प्रतीत होती है। यहां स्वरूप, विन्यास और निर्माण सब में हिन्दूपन है। पांडुआ की अदीना मसजिद के अन्दर का हिस्सा बौद्ध विहार के अन्दर का भाग मालूम होता है। इसके स्तंभ, उनकी पंक्ति,

उनका अलंकरण, अन्दर की छत आदि सब हिन्दू शैली के हैं। गौड़ नगर की छोटा सोना मसजिद का दरवाजा हिन्दू मंदिर का द्वार जान पड़ता है। इसकी चौखट, मेहराव, उतरंगे, पख, बेलबूटे और कमलाकार फूलों के अलंकरण हिन्दू ढंग के हैं। यदि सचमता से न देखा जावे तो सहसा यह अनुमान होता है कि इस दरवाजे के अन्दर हिन्दू मंदिर होगा। यहां की सब इमारतें अपने दिव्य वैभव के लिये प्रसिद्ध हैं। इनमें मुख्यतः ईंटों से काम लिया गया है। पत्थर का प्रयोग सफाई, चिकनाई या अलंकृति के लिये या स्तंभों के लिये किया गया है। पांडुआ की अदीना मसजिद में चार सौ गुम्बज हैं। इसका विस्तार और सौन्दर्य अद्भुत हैं। गौड़नगर में एक बड़ा सोना मसजिद भी है। इसकी शैली भी विचित्र है। ये ही विशेषतायें बंगदेश की अन्य तत्कालीन इमारतों में हैं।

गुजरात की कला : गुजरात में स्थानीय कला पन्द्रहवीं शताब्दी से पूर्व ही बहुत उन्नत हो चुकी थी। यह कई राजवंशों के आश्रय में पुष्ट हुई थी। पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में गुजरात में एक स्वतंत्र मुसलिम राज्य स्थापित हुआ। इस वंश में अहमदशाह बड़ा प्रतापी और शक्तिशाली शासक हुआ। उसने अपने नाम पर अहमदाबाद नगर स्थापित किया। इस नगर की कई सुन्दर इमारतों की रचना में उसने प्राचीन और विनष्ट मन्दिरों के मसाले का उपयोग किया। इस सुलतान की बनवाई हुई जामा मसजिद अहमदाबाद की प्रसिद्ध इमारत है। इसमें दो सौ साठ स्तंभ हैं और पत्थरों के बने हुए पन्द्रह गुम्बज। ये गुम्बज और स्तम्भ सर्वांशतः हिंदू शैली के बने हुए हैं। इस मसजिद के निर्माण में हिंदू कला की विशेषताओं का प्राधान्य है। वास्तव में इसमें जो सौन्दर्य और माधुर्य है वह हिन्दू कला का दिया हुआ है। इसकी विशालता मुसलिम कला की देन है। यही बात गुजरात की तत्कालीन अन्य इमारतों के विषय में कही जा सकती है। गुजरात की कला के विषय में केवल इतना कहना काफी नहीं है कि वह मिश्रित और समन्वित है। उसके विषय में, बंगदेशीय कला की भांति यह भी कहना आवश्यक है कि वहां कला के भव्य और दिव्य पक्ष सब हिन्दू कला से लिये गये हैं, केवल रूपरेखा आवश्यकता की पूर्ति के लिये मुसलमान कला से आई है। जैसे कबीर साहिब के काव्य में और दर्शन में हिन्दू और मुसलिम विचारों का समन्वय है परन्तु प्राधान्य हिंदू विचारों का है, उसी प्रकार गुजरात की स्थापत्य कला में भी समन्वय और सम्मेलन तो है ही परन्तु प्रधानता या विशेषता हिंदू-कला की है।

मालवा की कला : मुसलमानों की विजय से पूर्व मालवा में कला के दो केन्द्र थे—एक धारानगरी में और दूसरा मांडू में। परमार राजाओं के शासन काल में और उनसे पूर्व यहाँ अनेक सुन्दर मंदिर और विद्यालयों का निर्माण हो चुका था। जब मुसलमानों ने इस प्रांत को विजय किया तो दोनों स्थानों के देवस्थानों का उन्होंने ध्वंस कर डाला और उनके स्थानों पर मसजिदों का निर्माण करवाया। धार

के सरस्वती मंदिर को तथा एक दूसरे देवस्थान को कुछ तोड़-फोड़ कर तथा आवश्यक परिवर्तन करके मसजिदें बना दीं। इनके स्तम्भ और मंडप पूर्ववत् रहने दिये। इन दोनों इमारतों में मिश्रण या समन्वय नहीं है, केवल बर्बरता का खेल है। इतना अवश्य है कि मंदिर और मसजिद एक ही इमारत में दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें पुराना भाग अधिक है और नया कम। मांडू की इमारतों में यह बात नहीं है। वहां हिंदू मंदिरों और प्रतिमाओं को पहिले चूर-चूर किया गया है और फिर उनके चूर्ण से तथा नये मसाले से मुसलमानी इमारतें खड़ी की गई हैं। इन इमारतों से प्रकट होता है कि मांडू के मुसलमान सुलतान धार्मिक विषयों में ही नहीं कला के क्षेत्र में भी बड़े कट्टर थे। उन्होंने हिंदू कला को पास तक नहीं आने दिया। मांडू की प्रधान इमारतें हैं हिंडोला महल, जहाज महल और जामा मसजिद तथा होशंगशाह का मकबरा। ये सब इमारतें अपने अपने ढंग की अनोखी हैं। हिंडोला महल दूर से वास्तव में झूलता हुआ सा प्रतीत होता है। जहाज महल तो तालाबों के मध्य में बना हुआ है और कुछ दूरी से ऐसा मालूम होता है मानो समुद्र में जहाज चल रहा है। जामा मसजिद बड़ी विशाल है और जब यह ताजा बनी हुई होगी तो कई कोसों से इसके रंगीन कंगूरे चमकते हुए दिखाई देते होंगे। इसके पृष्ठ भाग में कुछ ऐसे चिन्ह हैं जिनसे ऐसा मालूम होता है कि यह मंदिरों को तोड़ कर उनके स्थान पर बनाई गई हो। इसके आस पास सैकड़ों देव-प्रतिमायें इस समय भी टूटी पड़ी हुई प्राप्त होती हैं। होशंगशाह का मकबरा मुसलिम कला का सुन्दर नमूना है। इसकी ख्याति सुन कर शाहजहाँ के तीन इंजिनियर भी इसकी कला का अध्ययन करने गये थे। मकबरे की चौखट के पख में उन लोगों का एक संक्षिप्त फारसी लेख खुदा हुआ है। उपरोक्त चारों इमारतों में मुसलिम कला का पूरा प्राधान्य है। ऐसा जान पड़ता है कि कारीगरों और सलावटों के काम की भी मुसलिम निरीक्षकों ने सूक्ष्मता के साथ निगरानी की होगी और यह देखते रहे होंगे कि किसी हिंदू तत्व का प्रवेश न होने पावे। मालवे के सुलतानों में बाज बहादुर नामक सुलतान बड़ा वीर, कलाप्रेमी और उदार हुआ है। उसके समय चित्र, काव्य और स्थापत्य कला का अच्छा समन्वय हुआ परन्तु उसका समय सोलहवीं शताब्दी में चला जाता है, इसलिये उसका विवेचन अगले अध्याय में किया जावेगा।

कश्मीर की कला : पूर्व प्रकरण में बतलाया जा चुका है कि कश्मीर में दो सुलतान ऐसे हुए जो अकबर के समान उदार थे और राजनैतिक तथा प्रबन्ध-विषयक मामलों में वे हिंदू या मुसलमानों में कोई भेद नहीं मानते थे। इन लोगों ने कई संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद फारसी भाषा में करवाये थे और दोनों कौमों में एक प्रकार का सांस्कृतिक समन्वय उत्पन्न करने का प्रयत्न किया था। यह स्वाभाविक बात थी कि ऐसे सुलतान के आश्रय में सुन्दर और समन्वित कला का विकास होता। कश्मीर में इमारतें पहिले पत्थर और लकड़ी की बनाई जाती थीं। मुसलमानों के समय में भी वही तरीका चलता रहा और शैली भी भारतीय या हिंदू बनी रही। अन्तर केवल

इतना हुआ कि हिंदुओं के मंदिरों का विन्यास और स्वरूप एक प्रकार का होता था और मसजिदों का दूसरी प्रकार का। यह केवल लम्बाई चौड़ाई आदि का विषय था। इसके अतिरिक्त कश्मीर में और किसी प्रकार की नवीनता नहीं आई। इतना ही नहीं, मसजिदों का भी ठीक वह स्वरूप नहीं रहा जो अरब से आरम्भ हुआ था और जो ईरान, ईराक और तुर्किस्तान को पार करता हुआ भारत में पहुंचा था। जौनपुर की प्रसिद्ध मसजिद में मीनारें नहीं बनाये गये। गौड़ की मसजिदें बाहर से मंदिर मालूम होती हैं और कितनी ही मसजिदों का अंदर का भाग मंदिर के आंगन से मिलता जुलता है। कश्मीर की मसजिदें और मजार भी विदेशी स्वरूप के अनुसार नहीं बने हैं। इनके निर्माण में तो भारतीयता है ही परन्तु इनके विन्यास और स्वरूप में भी भारतीयता का स्पष्ट स्पर्श है।

बहमनी राज्य की कला: दिल्ली के सुलतानों की निर्बलता के कारण बहमनी खानदान के मुसलमानों ने दक्षिण में एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था। हसनगंगू बहमनी ने इस राज्य को सन् १३४७ में स्थापित किया और यह सन् १४८४ तक चला। फिर इसमें से छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्य बनने लगे और थोड़े समय बाद बहमनी राज्य पाँच मुसलिम राज्यों में विभक्त हो गया। फिर इन राज्यों में और मुगल बादशाहों में संघर्ष शुरू हो गया और एक एक करके ये सब राज्य औरंगजेब के समय तक मुगल राज्य में विलीन हो गये। पन्द्रहवीं शताब्दी में इस राज्य में ऐसी स्थापत्य कला का उदय हुआ जिसमें मिश्रण और समन्वय पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ था। यहां मुसलिम इमारतें हिन्दू मंदिरों के स्थान पर बनवाई गई थीं और बनाने वालों में राज और सलावट भारतीय थे, अतः स्थापत्य कला में भारतीय तत्वों की विद्यमानता तो स्वाभाविक बात थी। विशेषता यह थी कि इस राज्य में पश्चिमीय एशिया और अफ्रीका से भी बहुत लोग आते जाते थे। ये सब लोग मुसलमान थे और व्यापार या वृत्ति के वास्ते नवोदित मुसलमान राज्य में आते थे। इनमें सैकड़ों हजारों आदमी बहमनी राज्य में आ बसे थे। इनके द्वारा तुर्किस्तान और मिस्र की कला परम्परायें तथा शैली और प्रभाव भी बहमनी राज्य में आया। पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ईरान के लोग भी यहां बहुत आये। इस प्रकार विविध मुसलिम देशों की तथा भारत की कला यहां एकत्र हो गई। बहमनी शासकों को मांडू के सुलतानों की भांति अपनी कला को अस्पष्ट और परि-शुद्ध रखने की भी चिन्ता नहीं थी। इसलिये यहां देश देशान्तरों की कलायें परस्पर घुल-मिल गईं और एक रस हो गईं। पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद स्थानीय कला अधिक शक्ति प्राप्त करने लगी और शनैः शनैः इसने विविध मुसलिम कलाओं पर भी अपना रंग चढ़ा कर अपना ही प्रभुत्व स्थापित कर दिया।

विजयनगर राज्य की कला: इस समय विजयनगर का राज्य दक्षिण भारत का मुख्य कला केन्द्र था। यहां के महाप्रतापी सम्राट कृष्णदेवराय साहित्य

और विविध कला के उदार पोषक और आश्रयदाता थे। कृष्णदेव स्वयं संस्कृत और तेलगू भाषा के पंडित, योग्य लेखक और सफल गायक थे। इन्होंने तेलगू भाषा में 'आमूक्त माल्यदा' नामक ग्रन्थ धर्म और राजनीति विषय पर लिखा है जिसमें इन्हीं के रचे हुए पांच संस्कृत ग्रन्थों का भी उल्लेख है। इनकी राजसभा दिग्गज विद्वानों से सदा अलंकृत रहा करती थी और संगीत, चित्रकला आदि कलाओं को पोषण प्राप्त हुआ करता था। ऐसे उदार और गुणग्राही राजा के शासन काल में स्थापत्य कला की उन्नति होना स्वाभाविक बात थी। बहमनी सुलतानों ने विजयनगर राज्य को और विशेषकर उसकी राजधानी को ऐसा नष्ट-भ्रष्ट कर डाला था कि उसकी कला का अब अनुमान भी करना कठिन है। परन्तु उस प्रलय से भी दो मंदिर इतने बच गये हैं कि विजयनगर की तत्कालीन कला का कुछ पता चल सकता है। इनमें एक मंदिर हजारा मंदिर कहलाता था। स्थापत्य के विद्वान विशेषत: लोंग हर्स्ट ने इस मंदिर की बड़ी प्रशंसा की है। दूसरा मंदिर विट्ठल स्वामी का है। फर्गूसन का कहना है कि कलोन्नति की यह चरम सीमा है। महाराज कृष्णदेवराय के समय में चित्रकला की भी बड़ी उन्नति हुई। उसके नमूने अब विद्यमान नहीं हैं परन्तु तत्कालीन यात्रियों के वर्णन से प्रकट होता है कि चित्रकला और संगीत कला दोनों ही कृष्णदेवराय के शासन काल में खूब फली फूलीं। विजयनगर राज्य के शासक परम धार्मिक थे परन्तु उनमें कट्टरता बिलकुल नहीं थी। वे शैव, बौद्ध, जैन और वैष्णव चारों सम्प्रदायों को समदृष्टि से देखते थे। इतना ही नहीं, उनके राज्य में ईसाई, यहूदी और मुसलमानों के साथ भी उदारता का व्यवहार होता था। विदेशी यात्रियों ने इस विषय में महाराज कृष्णदेवराय की बड़ी प्रशंसा की है।

दो भिन्न संस्कृतियों का समन्वय : पहिले बतलाया जा चुका है कि जब मुसलमान भारत में घुसे तो यह विचार लेकर घुसे थे कि उनका धर्म, संस्कृति, भाषा और वेषभूषा संसार में सर्वोत्तम है, उनको किसी से कुछ सीखने की आवश्यकता नहीं है। मुसलिम सभ्यता सर्वश्रेष्ठ है और यही सभ्यता संसार को स्वीकार करनी चाहिये। मुसलमानों का कर्त्तव्य है कि जो इसलाम को स्वीकार न करे, उसको या तो नष्ट कर दिया जावे या उसको जजिया कर देने पर बाध्य किया जावे। परन्तु ये सिद्धान्त सैनिकों को भरती करने में उपयोगी हो सकते थे और युद्धकाल में ये नारे का काम दे सकते थे, शान्तिकाल में इनका कोई उपयोग नहीं किया जा सकता था। जब हजारों लाखों मुसलमान और हिन्दू साथ साथ रह कर अपने सुख या दुख के जीवन व्यतीत करने लगे तो वे स्वत: ही एक दूसरे के निकट आने लगे। वास्तव में मानवता किसी भी प्रकार के कृत्रिम बंधनों को हमेशा के लिये स्वीकार नहीं कर सकती। इस पारस्परिक मानव सम्पर्क ने कबीर, नानक और रैदास प्रकट किये जिन्होंने महात्मा गांधी से पांच सौ वर्ष पहिले मानो अपनी भाषा में और अपने ढंग से गाया कि 'अल्ला ईश्वर तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान्।' इसी नैसर्गिक सम्पर्क से वर्तमान हिन्दी और उर्दू बनी और इसी सम्पर्क के कारण देश देशान्तरों की विविध स्थापत्य, संगीत और

चित्रकलायें भारतवर्ष की उदार भूमि पर कल्लोल करने लगीं। वास्तव में मानवता संघर्ष से ऊपर उठना जानती है, कला संघर्ष की उपेक्षा किया करती है। वह चौकी या जकात के बन्धनों को चीर कर स्वच्छन्द विहार करना पसन्द करती है।

आर्थिक और सामाजिक स्थिति : पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक भारत बहुत धनाढ्य देश था। महमूद गजनी हजारों ऊंटों पर लाद कर यहां से कई बार सोना, चांदी, लाल, मोती, पन्ने और हीरों के ढेर लूट कर ले गया था। फिर अलाउद्दीन खिलजी ने इसी प्रकार दक्षिण भारत को लूटा। फिर भी सन् १३९८ में जब तैमूर ने भारत को लूटा तो अपार सम्पत्ति उसके हाथ लगी। वह भी महमूद गजनी की भांति सैकड़ों ऊंटों पर लाद कर भारत का लूट का माल ले गया था। मुसलमान शासकों ने, विशेषकर बाबर से पहिले के शासकों ने भारत में मुख्यतः दो काम किये—मंदिरों को तोड़ा और राज-परिवारों तथा जनता का धन लूटा। शान्ति के समय में भी यही नीति रहती थी। महमूद तुगलक ने पचास प्रतिशत भूमि कर लगा कर जनता को चूसा था और अलाउद्दीन खिलजी की यह शासन नीति थी कि हिन्दुओं का ऐसा आर्थिक शोषण किया जावे कि उनकी उदरपूर्ति भी कठिन हो जावे और वे लोग मुसलिम शासन के विरोध में सिर न उठा सकें। इस नीति से उसके शासनकाल में हिन्दू जनता की दशा शोचनीय हो गई थी, अधिकांश लोगों को भरपेट भोजन भी नहीं मिलता था और अपनी पेट ज्वाला को शान्त करने के वास्ते प्रतिष्ठित हिन्दू घरों की स्त्रियों को मुसलमानों के घरों में चौका बर्तन और झाड़ू-बुहारे का काम करना पड़ता था। परन्तु यह शोषण अस्थायी था। अन्य शासक अलाउद्दीन के समान न शक्तिशाली थे और न नृशंस। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में मुसलमान शासक निर्बल होते गये और हिन्दू भी कुछ सम्भलने लगे। जनता का आर्थिक जीवन किंचित सुधरा और व्यापार तथा व्यवसाय पुनः व्यवस्थित होने लगे। जनता का मुख्य व्यवसाय कृषिकार्य था। भूमिकर परम्परा से षडांश या अधिक से अधिक चतुर्थांश था परन्तु मुसलमानों ने यह बहुत बढ़ा दिया था। उनकी नीति थी अधिक से अधिक लेना। इसलिये मोहम्मद तुगलक ने यह अर्द्धांश तक बढ़ा दिया था। जब किसान बड़े पैमाने पर बलवा करते थे या जमीन छोड़ कर भाग जाते थे और जमीन पड़त रहने से सरकारी आय बिलकुल बन्द हो जाती थी तब भूमिकर कम कर दिया जाता था। इस प्रकार की खींचतान से कृषि नष्ट हो जाया करती थी और कृषक अत्यन्त दुखी और त्रस्त रहा करते थे। साथ ही सरकार की आय भी कभी घटती थी और कभी बढ़ती थी। इस घटा बढ़ी के कारण प्रबन्ध व्यवस्था में बहुत कठिनाई रहा करती थी। उस समय सरकार की आय मुख्यतः भूमिकर से ही होती थी और इसकी उचित व्यवस्था न होने से बादशाहों के सामने आर्थिक समस्या सदैव बनी रहती थी। मुसलमान बादशाहों में पहिले पहल शेरशाह सूर ने यह अनुभव किया था कि शासन व्यवस्था में प्रथम आवश्यकता है भूमि-कर को व्यवस्थित

चटाइयाँ ओढ़ते हैं और फटे टूटे कपड़े से अपना कुछ तन ढक लेते हैं। शरीर पर राख मलते हैं। गले में मनुष्यों की खोपड़ी लटकी रहती हैं। सैराफी ने लिखा है कि ये लोग नाखून बड़े बड़े बढ़ा लेते हैं और नगर नगर घूमा करते हैं। लोग इनको प्रसन्नता से खाना देते हैं।

तत्कालीन रिवाज और प्रथाएँ: 'राजपूतियों' के सम्प्रदाय में मुख्य सिद्धान्त यह था कि राजा के लिये आवश्यकता पड़े तो प्राण तक दे देना चाहिए। हिन्दू लोग मुसलमानों को अपवित्र समझते थे। मुसलमान जिस चीज को छू लेते थे उसको हिन्दू नहीं छूते थे। व्यभिचार के लिये प्राण दंड दिया जाता था। मुसलमान हो जाने के बाद यदि पुनः कोई हिन्दू होना चाहता था तो उसके सारे शरीर को मूंड़ कर उससे प्रायश्चित कराया जाता था और पंचगव्य पिलाया जाता था। ब्राह्मण लोग शराब को हराम समझते थे और इसी प्रकार मांस को। हिन्दू लोग निकट सम्बन्धियों के यहाँ विवाह नहीं करते थे। यह लोग कयामत और रसूल को नहीं मानते थे। पशुओं की हत्या करना या उनको कष्ट देना बहुत बुरा समझते थे।

तत्कालीन भारत का विपुल वैभव: अरब यात्रियों के वर्णन से विदित होता है कि आठवीं से दशवीं शताब्दी तक भारत में अटूट सम्पत्ति थी। मिस्र, अरब, ईरान, लंका और चीन के साथ भारत का विपुल व्यापार था। भारत की जो वस्तुएँ बाहर जाती थीं उनके मूल्य का इससे अनुमान होता है कि एक जहाज के माल पर अरब तट पर पहुँचने पर ५ लाख दरहम तक की जकात देनी पड़ती थी। मुसलमानों के कानून के अनुसार जकात कर २½ रुपये प्रतिशत लिया जाता था। इस हिसाब से २ करोड़ दरहम का माल एक जहाज में लदा हुआ होता था। अर्थात् जो जहाज भारत से रवाना होता था उसके माल का मूल्य लगभग २ करोड़ दरहम मिलता था। आजकल के हिसाब से २ करोड़ दरहम २० लाख रुपये के बराबर होते हैं। इस समृद्ध व्यापार के कारण भारतवर्ष में लक्ष्मी कल्लोल करती रहती थी। यह कारण था कि महाराज बल्लभराय की राजधानी में अरबों को स्वर्ण निर्मित मन्दिर दिखाई देते थे, जिसमें सोने के सिंहासन पर १० हाथ ऊँची सोने की प्रतिमा थी। मन्दिर में सर्वत्र बहुमूल्य रत्न जड़े थे। यह केवल एक राजधानी का वर्णन है। इस प्रकार के अनेक राज्य दक्षिण भारत में वर्तमान थे। यह अनुमान करना अत्युक्ति नहीं होगी कि इतनी या लगभग इतनी ही सम्पदा प्रत्येक राज्य में होगी। समुद्र तट पर स्थिति राज्यों की सेनाओं में सैकड़ों और हजारों हाथी थे, हजारों सैनिक थे। सब को समय पर वेतन मिलता था। दक्षिण में एक राजा के यहां एक मुसलमान राज मन्त्री को पुरस्कार स्वरूप स्वर्ण ही इतना मिला था कि उसको लादने के लिये २०० बैलों की आवश्यकता हुई थी। यहां के खान पान पर अरब लोग मुग्ध थे। यहां के सुगन्धित पदार्थों और मिष्ठान्न ने उनको चकित कर दिया था। इस से इस बात का पता लगता है कि देश कितना सम्पन्न था।

शताब्दी के लोग बारूद से परिचित थे । अभी इसके उपयोग का और उपयोग की विभिन्न विधियों का प्रचार नहीं हो पाया था ।

इस समय का व्यापार कुप्रबन्ध और कठोर प्रबन्ध के कारण क्षीण था। कुछ व्यापार बादशाह भी अपने हाथ में ले लिया करते थे । तो भी विदेशों के साथ काफी व्यापार हुआ करता था। यह व्यापार जल और स्थल दोनों मार्गों से होता था। जल मार्ग से भारत का योरुप, मलयद्वीप समूह और चीन से सम्बन्ध था और स्थल मार्ग द्वारा तिब्बत, तुर्किस्तान, ईरान आदि देशों से। ये देश भारत में बनी हुई अनेक चीजें खरीदते थे और मूल्य रूप में भारत को सोना दिया करते थे। इस प्रकार दलित भारत भी अन्य देशों से सोना खींचा करता था। यह स्थिति मुसलमानों को रुचिकर नहीं थी। उनमें से एक लेखक ने तो दुखी हो कर यहां तक लिखा है कि देश देशान्तरों के व्यापारी न जाने क्यों गोंद और तरकारियों के बदले में भारत को सोना भेजना बन्द नहीं करते। लेखक को यह भी पता होगा कि ईराक, यमन और दक्षिण ईरान भारत के अन्न पर ही निर्भर था और भारत में बने हुए कपड़ों से ही मुसलिम देशों के निवासियों का तन ढका करता था। भारत के क्षीण वस्त्र एशिया में ही नहीं इंगलैंड तक प्रसिद्ध थे। ढाका की मलमल जगत् विख्यात थी। इसका थान बांस की नली में बन्द हो जाया करता था। संसार की शौकीन महिलायें ढाके की मलमल पहनना बड़ा गौरव मानती थीं। बंगाल और गुजरात के बंदरगाह विदेशी व्यापार के केन्द्र थे । एक विदेशी यात्री ने लिखा है कि रुई, शक्कर, और चावल के व्यापार में बंगदेश के साथ किसी की तुलना नहीं हो सकती, यह संसार में सबसे अधिक धनवान देश है।

उस समय जीवन निर्वाह की सब आवश्यक वस्तुएं सस्ती थीं। इब्न बतूता नामक अफ्रीकन मुसलिम यात्री जो मोहम्मद तुगलक के शासन काल में भारतवर्ष में आया था, लिखता है कि संसार में ऐसा कोई देश मैंने नहीं देखा जहाँ चीजें यहाँ से अधिक सस्ती हों। अलाउद्दीन ने इस बात का विशेष प्रयत्न किया था कि खाद्य पदार्थ सस्ते और सुलभ हों। उसके यत्न से सारे देश में क्या हुआ इसका तो पता नहीं चलता परन्तु राजधानी में सब चीजें सस्ती मिलने लग गई थीं। उसके समय में सैनिकों को वेतन बहुत कम मिलता था और जब उनका निर्वाह नहीं होता था तो वे लोग दंगा करने को उतारू हो जाया करते थे। इस स्थिति को संभालने के लिए अलाउद्दीन ने इस सस्ताई और सुलभता का प्रबन्ध किया था। इब्राहीम लोदी के समय में भी चीजें बहुत सस्ती थीं। परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि उस समय जनता सुखी और समृद्ध थी। खाद्य पदार्थ सस्ते अवश्य थे परन्तु मोल चुकाने के वास्ते लोगों के पास द्रव्य नहीं था। वास्तव में इन तीन सौ वर्षों में द्रव्य की बड़ी कमी थी। कुछ मुसलमान अमीर जिनमें अफगान, तुर्किस्तान, ईरानी, अरब और जावा के मुसलमान थे, सुख और समृद्धि में कल्लोल किया करते थे.

परन्तु आम लोगों में तो दो बार भोजन प्राप्त करने की भी समस्या बनी ही रहती थी। वास्तव में गरीब और अमीर के जीवन में आकाश पाताल का भेद था।

मुसलमानों के आगमन से भारतीय समाज का स्वरूप भी बहुत बदल गया था। पहिले ब्राह्मण सर्वोच्च माने जाते थे और क्षत्रियों के हाथ में शक्ति तथा वैश्यों के हाथ में लक्ष्मी थी। अब शक्ति सब मुसलमानों के हाथ में थी और वे लोग हिन्दू जाति में किसी को सम्मान के योग्य नहीं समझते थे। उनके लिये सब हिन्दू जिम्मी अर्थात् जजिया कर देने वाले काफिर थे। स्त्रियों के अपहरण और बच्चों को गुलाम बनाने की नीति से भी समाज क्षत-विक्षत होता जाता था। इस विवशता की स्थिति में हिन्दुओं ने अपने समाज की रक्षा दो प्रकार से की। प्रथम उन्होंने परदे की प्रथा जारी की। यह किंचित अंश में पहिले भी थी परन्तु अब अधिक कड़ी करदी गई। दूसरे उन्होंने मुसलमानों के साथ खान पान आदि का कोई व्यवहार नहीं रक्खा और अपना एक पृथक् संसार बना लिया। हिन्दुओं में स्त्रियों की दशा वही रही जो पहिले थी परन्तु अब मुसलमानों के अत्याचारों से शिक्षा कम हो गई। फिर सम्पन्न घरों की महिलायें साक्षर हुआ करती थीं और कुछ कलायें भी सीखती थीं। सती प्रथा का प्रचार पहिले से अधिक हो गया था। विधवायें समझती होंगी कि जीवित रहते पर वे मुसलमानों के हाथ पड़ेंगी और घोर दुःख और अपमान का जीवन व्यतीत करना पड़ेगा, इसलिए वे अपने जीवन की आहुति दे दिया करती होंगी। इसमें पतिपरायणता, विवशता, त्रास, भय और अपमान आदि सब सम्मिलित थे। मुसलमान समाज में भी अनेक विभिन्न तत्व थे। शासक और उनके सहायक सैनिक तुर्क और अफगान थे परन्तु संसार के सब मुसलमानों को इस सम्पन्न देश में अपनी सहधर्मी सरकार के यहाँ आश्रय पाने की आशा थी, इसलिए मिस्र, अबीसीनिया, अरब, इराक, ईरान और मलय द्वीप समूह से भी अगणित मुसलमान नौकरी की तलाश में भारत में आ भरे थे। इनके अतिरिक्त लाखों भारतीय तलवार के बल से तथा लोभ से मुसलमान बनाये जा चुके थे। इस मुसलिम समाज में एकता केवल एक कड़ी थी। वह थी केवल कुरान कलमा। लाखों मुसलमानों ने कुरान का केवल नाम ही सुना था परन्तु खुदा और मोहम्मद का उनको कुछ ज्ञान न था और इस बात को वे लोग भली भांति जानते थे कि इसलाम हिन्दू धर्म से भिन्न है और इसलाम का राज्य है। इस एकता के सिवाय उनमें अन्य कोई मेल की बात नहीं थी। भारतीय मुसलमान समाज में सब से नीचे माने जाते थे। इनमें अधिकांश ऐसे लोग थे जो बुनना, कातना, जूते बनाना, रस्से बुनना, जीन बनाना आदि व्यवसाय करते थे। इन लोगों को बाहर से आये हुए मुसलिम सैनिक और व्यापारी घृणा की दृष्टि से देखते थे और अच्छी नौकरियों में इनका प्रवेश नहीं हो सकता था। समान व्यवहार की बात केवल मसजिद में मुल्लाओं के वाज़ में हुआ करती थी। यह सम्भव नहीं था कि बाहर से आये हुए वीर मुसलमान जिन्होंने अपना रक्त बहा कर एक मुसलिम

राज्य स्थापित किया था, उन लोगों को अपने समकक्ष समझते जो तलवार की चमक से त्रस्त हो कर या जजिया कर से तंग आ कर मुसलमान बन गये थे। इस व्यवहार से असन्तुष्ट हो कर हजारों मुसलमान रणथम्भोर और चित्तौड़ के शासकों की शरण में आ गये थे। अलाउद्दीन ने कई हजार देशी मुसलमानों को इसलिए कत्ल करवा दिया था कि वे असन्तुष्ट थे और नौकरियां मांगते थे। उसने रणथंभोर और चित्तौड़ पर आक्रमण किये थे उसका एक कारण यह भी था कि हजारों मुसलमानों के वहाँ एकत्र हो जाने से ये स्थान खतरे के केन्द्र बन गये थे और मुसलमान समाज में एक विषम स्थिति उत्पन्न हो गई थी। भारतीय मुसलमान इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लेने पर भी अपनी पुरानी सामाजिक प्रथाओं को नहीं छोड़ते थे, और इनमें कुछ हिन्दुओं के धार्मिक विचारों से भी घोर घृणा करना नहीं सीखे थे। बाहर से आये हुए मुसलमानों में केवल यह बात समान थी कि वे सब कुरान और कलमा मानते थे और हिन्दुओं के सब विरोधी थे वरना न सब के रीति रिवाज एक थे, न रंग न भाषा। आपस का काम कुछ टूटी फूटी उर्दू या हिन्दुस्तानी से चलाया करते थे परन्तु घरों में सब अपनी अपनी भाषा का प्रयोग करते थे। इनमें परस्पर द्वन्द भी बहुत चला करते थे क्योंकि सब ही राज कार्य में अपना प्रभाव जमाना चाहते थे और सब ही अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये भारत में आये थे। पारस्परिक संघर्ष के लिए प्रत्येक देश के मुसलमानों के दल बने हुए थे और प्रत्येक दल आगे बढ़ना चाहता था। इससे संघर्ष सदा चला ही करता था। इन दलों में विवाह सम्बन्ध भी प्राय: अपने अपने ही दल में हुआ करते थे। धार्मिक दृष्टि से मुसलमान मुसलमान में कोई भेद नहीं था परन्तु यह व्यवहार की बात नहीं थी, केवल सिद्धान्त की बात थी। सब मुसलमान केवल एक दृष्टि से समान थे और वह यह थी कि सब एक साथ नमाज पढ़ सकते थे। ईश्वर के दरबार में सब व्यवहारतः समान माने जाते थे। मुस्लिम समाज में भी स्त्रियों की लगभग वैसी ही स्थिति थी जैसी हिन्दू समाज में। प्राय: सब मुसलमान स्त्रियाँ, विशेषतः प्रतिष्ठित घरों की, परदा किया करती थीं। भारत से बाहर मुसलमानों में इतना कठोर परदा नहीं था। भारत पर तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों में मंगोल लोगों के बार बार आक्रमण हुआ करते थे और वे लोग स्त्रियों को छीन कर ले जाया करते थे। अत: जिस उद्देश्य से हिन्दुओं में परदे की प्रथा अधिक कठोर और व्याप्त हुई उसी उद्देश्य से मुसलमानों में भी यह फैल गई। परन्तु मजदूरी पेशा मुसलमानों में परदा नहीं होता था। ये लोग सब गरीब हिन्दू थे जिन्होंने जजिया से तंग आ कर इस्लाम धर्म स्वीकार किया था। भारत के समुद्री तटों पर बसे हुए मुसलमानों में भी परदे का रिवाज नहीं था। वहाँ हिन्दुओं में भी परदा नहीं था। वास्तव में हिन्दुओं की उन जातियों में ही परदा अधिक प्रचलित हुआ जिनका सम्पर्क राज दरबार से अधिक था। इन लोगों ने कुछ तो मुसलमान सरदारों की नकल की और कुछ मुसलमानों के भय से परदे को अधिक अपनाया। राजपूतों में

मुसलमानों के आगमन से पूर्व भी कुछ परदा अवश्य था परन्तु उनके आक्रमण के बाद और बढ़ गया। बहुविवाह की प्रथा राजाओं में पहिले से थी, बल्कि हिन्दू शास्त्रों के अनुसार एक पुरुष चाहे जितनी स्त्रियों से विवाह कर सकता है। यह बात इस्लाम में नहीं है। कुरान में केवल चार स्त्रियों से विवाह करने की इजाजत है, परन्तु व्यवहार हिन्दुओं और मुसलमानों में उलटा है। हिन्दू अगणित स्त्रियों से शास्त्रानुसार विवाह कर सकता है परन्तु व्यवहार में वह केवल एक ही स्त्री से विवाह करता है। मुसलमान अपने धर्म के अनुसार चार से अधिक स्त्रियों से विवाह नहीं कर सकता परन्तु व्यवहार में मुसलमान सरदार और अमीर तथा सुलतान बीसियों विवाह किया करते थे और मुसलमान सुलतानों के हरम तो सैकड़ों स्त्रियों से भरे रहते थे। राजपूत भी सम्पर्कजन्य दोष से इस काल में दो चार नहीं परन्तु दस बीस स्त्रियों से विवाह करने लगे और उनके अन्त:पुर पत्नियों से, उप-पत्नियों से तथा दासियों से खचाखच भर गये।

मुसलमानों में दास प्रथा बहुत प्रचलित थी। प्रत्येक मुसलमान सरदार के यहाँ कितने ही दास होते थे और कितनी ही दासियां। साधारण श्रेणी के मुसलमान भी एक दो दास दासी रखने में गौरव अनुभव करते थे। युद्ध और आक्रमण के समय पराजित देशों से हजारों नर नारियों को पकड़ कर दासता में जकड़ दिया जाता था। महमूद गजनी जब भी भारत पर हमला करता था तब ही हजारों स्त्रियों और पुरुषों को पकड़ कर गजनी ले जाया करता था। इतना ही नहीं, उसका प्रत्येक सैनिक दो-पाँच दास दासी ले जाता था। एक लेखक ने लिखा है कि जब सुलतान महमूद भारत पर हमला करके गजनी लौटता था तो गजनी में इतने हिन्दू दास और दासियां दिखाई देने लगते थे कि गजनी दिल्ली या अन्य भारतीय नगर प्रतीत होने लगता था। शान्ति के समय में दास दासी मोल लिये जाते थे। युद्ध काल में इनका मूल्य कम होता था और शान्ति के समय अधिक। दास भारत में ही नहीं चीन, तिब्बत और मुसलिम देशों से भी खरीद कर मंगवाये जाते थे। अलाउद्दीन खिलजी के पास पचास हजार दास दासी थे। ये लोग बन्दगान-ए-खास कहलाते थे। फीरोज तुगलक के समय में इन लोगों की संख्या बढ़ते-बढ़ते दो लाख हो गई थी। इनका भरण पोषण सब सरकार की ओर से होता था जिसमें राजकोष से करोड़ों रुपये खर्च करने पड़ते थे। मुसलमानों में गुलामों के साथ वैसा क्रूर व्यवहार नहीं किया जाता था जैसा योरोप के या अमेरिका के ईसाई अफ्रीका से मंगवाये हुए गुलामों के साथ किया करते थे। मुसलमानों के योग्य गुलाम तो बादशाहों के बड़े-बड़े सेनापति ही नहीं बल्कि उत्तराधिकारी भी बनते थे और सुलतानों की लड़कियों से इनके विवाह भी हो जाते थे। सन् १२०६ से सन् १२९० तक दिल्ली के तख्त पर जितने बादशाह बैठे वे प्राय: सब गुलाम थे। इसलिये इनको गुलामवंशीय कहा जा सकता है। इनमें कई बड़े योग्य और वीर थे।

ग्यारहवाँ अध्याय

दूसरी पराधीनता की संस्कृति : धार्मिक संस्कृति

इस्लाम की उदार विचारधाराएँ : चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी के सन्त मत के प्रवाह से हिन्दुओं में धार्मिक उदारता विशेष रूप से बढ़ गई थी। यों तो हिन्दू लोग धार्मिक विषयों में पहले से ही उदार थे, भारतवर्ष में मतों की भिन्नता के कारण न कोई विशेष पारस्परिक कलह हुआ और न विषम स्थिति उत्पन्न हुई; दक्षिण भारत में शैव और जैनियों में यदाकदा कुछ विग्रह उपस्थित हुआ था परन्तु यह केवल स्थानीय उत्पात था जो प्रकट होकर शान्त हो गया था; परन्तु अब संतों के उपदेशों से और भक्ति सम्प्रदाय के प्रवाह से धार्मिक वातावरण और भी अधिक विशुद्ध होता जाता था। वास्तव में यह काल धार्मिक उदारता का युग था। इस समय सम्पूर्ण सभ्य ससार में लोग धर्म के विषय में शंका, चिन्तन, खण्डन और मण्डन करने लगे थे। भारत के भक्ति सम्प्रदाय को भी इसी विश्वव्यापी विचारधारा ने जन्म दिया था। इन्हीं सदियों में मुसलमानों में भी कई उदार धर्म धारायें चली थीं। इनमें सूफी सम्प्रदाय, महदवी सम्प्रदाय और रोशनी सम्प्रदाय उल्लेख के योग्य हैं।

महदवी सम्प्रदाय : इस सम्प्रदाय के लोगों का विश्वास था कि संसार के संतापों का निवारण करने के लिए एक मसीहा या महदी उत्पन्न होगा। वह मनुष्य जाति को पापों से मुक्त करेगा और संसार में सुख तथा शान्ति स्थापित करेगा। यह वास्तव में हिन्दुओं के अवतारवाद से मिलता-जुलता सम्प्रदाय था। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है कि—जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म बढ़ता है तब-तब मैं साधुओं के परित्राण के लिए और दुष्टों के दमन के लिए तथा धर्म संस्थापना के लिए अवतार धारण करता हूँ। महदी लोगों का भी यह विश्वास था कि पहले धर्म की स्थापना करने के लिए पैगम्बर मोहम्मद ने ने जन्म लिया और अब संसार में बढ़ते हुए पाप, संताप और अनाचार को रोकने के लिए कोई मसीहा या महदी इस धरणीतल पर उत्पन्न होगा। इस सम्प्रदाय का प्रचार लगभग सारे मुस्लिम जगत् में हो गया था। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में अरब, ईरान, खुरासान और हिन्दुस्तान में इस सम्प्रदाय के लाखों अनुयायी बन गये थे। पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में एक व्यक्ति ने घोषणा कर दी थी कि मैं महदी हूँ, और संसार का उद्धार करने के लिए उत्पन्न हुआ हूँ। यह जौनपुर का निवासी था और १४४३ में उत्पन्न हुआ था। इसने अपने सम्प्रदाय का दृढ़ संगठन किया। इसमें

सामाजिक समानता और पारस्परिक सद्व्यवहार की विशेषता थी। शेख़ अब्दुल्ला नियाज़ इस मेहदी का शक्तिशाली शिष्य था। उसके पश्चात् इस सम्प्रदाय का नेतृत्व शेख़ अलाई ने किया। इन तीनों नेताओं के प्रचार से इस सम्प्रदाय की बहुत प्रगति हुई। मेहदी मत के अनुयायी किसी धर्म से विरोध नहीं करते थे। ये लोग हिन्दुओं को भी अपने समान मानते थे। इनका विश्वास था कि धार्मिक जीवन में प्रधानता चरित्र और भगवद् भक्ति की होनी चाहिए। इस सम्प्रदाय के कारण हिन्दू और मुसलमानों की पारस्परिक कटुता बहुत कम हो गई थी। दोनों अपने-अपने धर्म का अनुसरण करते थे। कोई एक दूसरे का बाधक नहीं था। हिन्दू पहले से ही अवतार-वाद में विश्वास करते थे। इसलिए उनको मेहदियों के सिद्धान्त विचित्र नहीं प्रतीत होते थे, बल्कि वे लोग यह समझते थे कि मेहदी मत पौराणिक मत का एक मुस्लिम संस्करण मात्र है। इसलिए लाखों हिन्दू प्रतीक्षा करने लगे थे कि कि देखें मुसलमानों का अवतार कब होता है? सम्भवतः सैयद मोहम्मद, शेख़ अब्दुल्ला नियाज़ और शेख़ अलाई का हिन्दू लोग भी आदर करते होंगे और समझते होंगे कि उनके द्वारा भारत की कोई भलाई होगी। लेकिन सुन्नी मुसलमान मेहदी सम्प्रदाय के विरोधी थे। अपनी कट्टरता के कारण न वे चिन्तन करने के लिए तैयार थे, न नये विचारों का अभिनन्दन कर सकते थे और न हिन्दुओं के साथ स्नेह व्यवहार करना जरूरी समझते थे। परन्तु इस प्रकार का दृष्टिकोण बड़े-बड़े नगरों तक और मुल्लाओं तक सीमित था। गाँवों और कस्बों में हिन्दू और मुसलमान मिल-जुल कर रहते ही थे और मेहदी सम्प्रदाय के प्रचार और प्रभाव से उनका पारस्परिक व्यवहार और भी सुधरने लग गया था।

रोशनी सम्प्रदाय : मेहदी सम्प्रदाय से मिलता-जुलता ही रोशनी सम्प्रदाय था। इसका उद्भव अफगानिस्तान में हुआ था। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों का भी विश्वास था कि मेहदी उत्पन्न होने वाला है, और वह संसार के सम्पूर्ण दुःखों का निवारण करेगा। ये लोग ध्यान और क्रिया के द्वारा भगवान् में लीन होने को परम पुरुषार्थ मानते थे। इनका विश्वास था कि क्रिया और चिन्तन से रोशनी अर्थात् अध्यात्मिक प्रकाश प्राप्त होता है। भारत में इस सम्प्रदाय का नेता कालिंजर निवासी मुल्ला सुलेमान था। उसका शिष्य शेख़ बयाज़िद भी बड़ा प्रभावशाली धर्मगुरु माना जाता था। इसको लोग पीर-ए-रोशन अर्थात् प्रकाश-गुरु मानते थे। इस सम्प्रदाय का प्रचार सोलहवीं शताब्दी में खूब हुआ। अफ़ग़ानिस्तान में और विशेष कर खैबर की घाटी के उत्तर के प्रदेशों में इसके लाखों अनुयायी बन गये। ये लोग अपने धर्म गुरु को गुरु मानते थे और शासक भी। इसलिए तत्कालीन मुस्लिम शासकों से इनका संघर्ष चला करता था और शायद इसीलिए हिन्दुओं को ये लोग अच्छे लगते थे। वास्तव में मेहदी सम्प्रदाय और रोशनी सम्प्रदाय दोनों का संगठन सैनिक दृष्टि से किया गया था। विचारों की स्वतन्त्रता के साथ ये लोग राजनैतिक स्वतन्त्रता भी चाहते थे।

सिक्ख सम्प्रदाय अनेक अंशों में इनसे मिलता जुलता था। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में जो धार्मिक उदारता का प्रवाह चला उसके ये विविध रूप थे।

सूफी सम्प्रदाय : इस मत का दिग्दर्शन और विवेचन पिछले अध्याय में हो चुका है। यह सम्प्रदाय वेदान्त से मिलता-जुलता था। इसलिए सूफी लोग भी हिन्दुओं के विरोधी नहीं थे। इनको धार्मिक आडम्बर और क्रिया-कलाप पसन्द नहीं था। ये लोग तत्व और सार को ग्रहण करते थे, और धार्मिक जीवन में विविध प्रकार की भगवत् भक्ति को मुख्य मानते थे।

उपरोक्त तीनों सम्प्रदायों के प्रभाव से हिन्दू-मुस्लिम एकता में वृद्धि हुई। पारस्परिक कटुता में कमी हुई और विचारशील व्यक्ति इस बात को मानने लगे कि तत्व या सार प्रत्येक धर्म में है। लेकिन उसको तलाश करने की आवश्यकता है और इस तलाश का एकमात्र साधन उज्ज्वल चरित्र और उदार व्यवहार है।

अकबर के जन्म-काल का वातावरण : अकबर का जन्म घोर विपत्ति के समय हुआ था। उसका पिता अपनी जान बचाने के लिए भारत से भाग रहा था और रास्ते में सिन्ध प्रान्त में एक सरदार के यहाँ ठहरा हुआ था। जब अकबर गर्भ में था तब भी उस पर विपत्ति के संस्कार जमे रहे होंगे। अब विपत्ति में ही उसकी सृष्टि हुई। इससे उसके विचारों में उदारता उत्पन्न हुई। उसका बचपन उथल-पुथल में ही निकला। ईरान पहुँच कर उसके पिता ने शिया सम्प्रदाय स्वीकार कर लिया था और अपने जीवन में उसने कभी कट्टरता नहीं दिखलाई थी। अकबर की माँ पर सूफी धर्म का खूब प्रभाव था। अकबर का बाल्यकाल और युवाकाल मेहदी और रोशनी सम्प्रदायों के वातावरण में निकला था। अतः बिना सिखाये ही अकबर उदार बन गया। तत्कालीन मुस्लिम जगत् में विशेष कर शिक्षित समाज में सूफी, मेहदी तथा रोशनी सम्प्रदाय के प्रति सहानुभूति रखना फैशन हो गया था, फिर भी औपचारिक रूप से अकबर सुन्नी मुसलमान था। तख्त पर बैठने के बाद लगभग दस-बारह वर्ष तक वह इस्लाम धर्म के सम्पूर्ण नियमों का यथावत् पालन करता रहा। परन्तु जन्मतः और स्वभावतः अकबर कट्टर नहीं था और न तत्कालीन वायुमण्डल में वह कट्टर हो ही सकता था।

अकबर का धर्म : शनैः शनैः अकबर की उदारता बढ़ती ही गई। अबुल फ़ज़्ल और अबुल फैज़ी ने अपनी विद्वत्ता से उसको बहुत प्रभावित किया। ये दोनों भाई और इनका पिता शिया मुसलमान थे और तीनों अद्भुत पंडित थे। इनके सम्पर्क से अकबर के विचार बहुत ही उदार हो गये और उसके हृदय में विभिन्न धर्मों का सार और तत्व जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। उसने फतेहपुर सीकरी में एक मनोहर स्थान बनवाया, जिसका नाम इबादतखाना रखा और वहाँ पर वह

ली। ब्राह्मण ग्रन्थ और सूत्र ग्रन्थों पर भी इस काल में दक्षिणात्य पंडितों ने कई टीकायें और दीपिकायें लिखीं। इन विद्वानों में भवस्वामी और षड्गुरु शिष्य के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रसिद्ध लोकप्रिय पुराण श्रीमद्भागवत की रचना भी दसवीं शताब्दी में किसी पंडित ने दक्षिण में ही की थी। इसमें विष्णु की भक्ति और अद्वैत सिद्धन्त का प्रतिपादन किया गया है, तथा ग्यारहवें स्कन्द में श्रीकृष्ण चरित का बड़े रोचक और सरल ढंग से वर्णन किया है। यह ग्रन्थ इतना मान्य हुआ कि भारत के प्रायः प्रत्येक गांव में इसका प्रचार हो गया। संस्कृत भाषा में इसकी कई टीकायें लिखी गईं और भारत की प्रायः प्रत्येक प्रान्तीय भाषा में इसका अनुवाद हुआ। छापे का आविष्कार होने पर विविध आकार और प्रकार में इसकी लाखों प्रतियां प्रकाशित हुईं। इसके कई अनुवाद और सारांश प्रान्तीय भाषाओं में छपे और अठारहवीं शताब्दी के अन्त में वारन हेस्टिंग्ज़ के शासन काल में पंडित लल्लूजीलाल ने कृष्ण चरित का ब्रजभाषा में अनुवाद किया। यह अनुवादग्रन्थ प्रेमसागर कहलाता है और हिन्दी गद्य के ग्रन्थों में आदि ग्रन्थ माना जाता है।

(२) दर्शन साहित्य :—दर्शन, विज्ञान और व्यवहार विषयों पर उस काल में अनेक सद्ग्रन्थ लिखे गये। विस्तार भय से यहां सब का पूर्ण विवरण नहीं दिया जा सकता, परन्तु स्वामी शंकराचार्य, स्वामी रामानुजाचार्य और कुमारिल भट्ट के ग्रन्थ विशेष उल्लेख के योग्य हैं। भारत के इतिहास में इन ग्रन्थों ने एक नये युग की सृष्टि की थी। शंकर के समय से जीव और ब्रह्म के विवेचन की एक नवीन विचार-धारा चली। शंकराचार्य ने कहा कि जीव और ब्रह्म एक हैं। नानात्व और भिन्नत्व अज्ञान या माया के प्रभाव से प्रतीत होता है। स्वामी रामानुजाचार्य ने यह मत स्वीकार नहीं किया। उनका सिद्धान्त है कि जीव और ब्रह्म विशेष दृष्टि से और विशेष अवस्था में एक माने जा सकते हैं परन्तु हैं वास्तव में भिन्न। शंकर का सिद्धान्त अद्वैतवाद कहलाता है और रामानुज का विशिष्टाद्वैत। स्वामी बल्लभाचार्य से पूर्व अर्थात् सोलहवीं शताब्दी तक भारत के दार्शनिक ही नहीं परन्तु सारा पंडित समाज या तो अद्वैतवाद को मानता था या विशिष्टाद्वैत वाद को। दोनों सम्प्रदाय संगठित थे और देश में सर्वत्र दोनों के अनुयायी थे। आठवीं शताब्दी में कुमारिल भट्ट ने साबरभाष्य की टीकास्वरूप तीन ग्रन्थ लिखे—श्लोक वार्तिक, तन्त्र वार्तिक और तुप्टीका। साबरभाष्य में ऋषि जैमिनी कृत पूर्व मीमांसा का अर्थात् वैदिक कर्मकांड का विवेचन है। शंकराचार्य ने उत्तर मीमांसा (ब्रह्मसूत्र) पर भाष्य लिखा। यह शांकर भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। पूर्वमीमांसा या उत्तरमीमांसा मूलरूप में समझ में नहीं आते। भाष्य से उनके सूत्रों का अर्थ स्पष्ट होता है। अतः एक अंश में मूल ग्रन्थ की अपेक्षा भाष्य का अधिक महत्व है। अपने भाष्य में स्वामी शंकराचार्य ने अद्वैतमत का प्रतिपादन किया है। अर्थात् ब्रह्म और आत्मा को एक बत-

बने। इनमें बारह मुसलमान थे और एक हिन्दू। अकबर ने किसी पर दबाव नहीं डाला, यह उसकी उदारता थी। जब जयपुर महाराज भगवानदास और उनके पुत्र मानसिंह से दीन-ए-इलाही स्वीकार करने के लिए कहा गया तो उन्होंने नम्रतापूर्वक स्पष्ट इन्कार कर दिया। शायद इसके बाद अधिक अनुयायी बनाने का प्रयत्न भी नहीं किया गया।

जहाँगीर के धार्मिक विचार : जहाँगीर भी कट्टर मुसलमान नहीं था। जाब्ते से वह सुन्नी अवश्य था परन्तु व्यवहार में वह सब धर्मों का आदर करता था। उसने कुछ अर्से तक गोआ के ईसाई पादरियों से शिक्षा प्राप्त की थी और इस सम्पर्क के कारण वह ईसाई धर्म के प्रति विशेष सहानुभूति करता था। उसके राज्यकाल में लाहौर और आगरे में ईसाइयों ने बड़े-बड़े गिरजाघर भी बना लिये थे। जहाँगीर ने अपने महलों में ईसा मसीह के जीवन के कई दृश्य दीवारों पर चित्रित करवाये थे। फिर भी जहाँगीर के अन्दर धार्मिक विषयों में अकबर जैसा गाम्भीर्य नहीं था। उसने पुष्कर में बराह अवतार की मूर्ति तुड़वाकर तालाब में फिकवा दी और कांगड़ा में देवी के मन्दिर के विषय में भी उसने एक बार घृणा-सी प्रकट की थी। परन्तु वह सब धर्मों के विद्वानों का आदर करता था। उसने जैनियों को अनेक सुविधाएँ दी थीं और जो उनके तीर्थ स्थानों पर अनेक प्रकार के कर जारी थे, वे माफ कर दिये थे। यह कहा जा सकता है कि साधारणतया जहाँगीर ने भी अकबर की धर्म-नीति का अनुसरण किया था। इसलिए हिन्दू और जैनियों को अपने-अपने धर्म का पालन करने में पूर्ण स्वतन्त्रता थी। उनका पठन-पाठन निर्विघ्न रूप से चलता था और उनके धर्मोपदेशक स्वतंत्र रूप से अपने धर्म का प्रचार कर सकते थे। इसलिए जहाँगीर के समय में भी हिन्दू, जैनी और मुसलमान एक दूसरे के अधिक निकट आने लगे थे और ईसाई धर्म ने उत्तर भारत में भी प्रवेश प्राप्त कर लिया था। परन्तु अकबर की भाँति जहाँगीर ने धार्मिक उदारता को कोई विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया। साथ ही उसने इसको बुरा भी नहीं माना।

शाहजहाँ के धार्मिक विचार : शाहजहाँ में धार्मिक उदारता नहीं थी। उसने अकबर और जहाँगीर जैसी न उदार शिक्षा प्राप्त की थी और न माता-पिता से ही उसने कोई उदारता सीखी थी। वह पक्का सुन्नी मुसलमान था। उस समय का वातावरण ऐसा था कि शाहजहाँ हिन्दुओं के प्रति व्यापक उत्पीड़न नीति जारी नहीं कर सकता था। उसको राजपूतों की मदद की आवश्यकता थी। उसके सामने कई राजनैतिक खतरे भी थे। वह कंधार की समस्या को हल नहीं कर सका था। बल्ख और बदख्शां के हमले में वह असफल हो गया था और सम्भव है कि स्वभाव से भी वह घोर और दुर्दान्त कट्टर मुसलमान नहीं था। तो भी उसको यह बात पसन्द नहीं

थी कि हिन्दू लोग नये मन्दिर बनावें। पुराने मन्दिरों से उसको एतराज नहीं था किन्तु नये मन्दिरों को वह आपत्तिजनक समझता था और उसने यह आदेश भी जारी कर दिया था कि नये मन्दिर नहीं बनने दिये जावें। शायद इसी हुक्म का सहारा लेकर कट्टर मुसलमान हाकिमों ने बनारस के आसपास कितने ही सुन्दर नवनिर्मित मन्दिरों को ध्वंस करवा डाला और उनके साथ कुछ पुराने मन्दिर भी गिरवा दिये। जब शाहजहाँ तक यह बात पहुँची तो उसने आँखें तो पहले ही बन्द कर रखी थीं अब कान भी बन्द कर लिये।

औरंगजेब के अत्याचार : औरंगजेब शाहजहाँ से भी अधिक कट्टर था। बादशाह बनने से पहले ही वह दक्षिण में हिन्दुओं के दिलों को दुखा चुका था। उसने एक वैष्णव मन्दिर में गोवध करवा कर समस्त गुजरात को त्रस्त कर दिया था। बादशाह बनने के दस बरस बाद तक वह अपनी कट्टरता को दबाये रहा, परन्तु ज्यों ही जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह का स्वर्गवास हुआ त्योंही उसने हिन्दुओं का उत्पीड़न जारी कर दिया। जोधपुर में कितने ही मन्दिर तुड़वाये। उदयपुर में भी कुछ मन्दिरों का ध्वंस किया। यहाँ तक कि जयपुर राज्य के भी बीसों मन्दिर नष्ट करवा दिये। उसने समस्त हिन्दू जनता पर जजिया कर लगाया। यह सम्पन्न लोगों से प्रति व्यक्ति ४८ रुपये साल, मध्यम श्रेणीवालों से २४ रुपये साल और गरीब लोगों से प्रति व्यक्ति १२ रुपया साल लिया जाता था। अत्यन्त निर्धन लोग प्रति व्यक्ति ६ रुपया साल भी दे सकते थे। यह कर दूध पीते बच्चे को छोड़कर शेष सब स्त्री-पुरुषों और बाल-बच्चों पर लगता था। इसके अतिरिक्त औरंगजेब ने सारे देश में नये और पुराने सब मन्दिरों को नष्ट करने का आदेश जारी किया और इसकी तामील बड़ी कठोरता के साथ करवाई। यह भी हुक्म जारी किया गया कि सरकारी नौकरी में कोई हिन्दू नहीं रखा जावे। पटवारी, कानूनगो और चौधरी भी मुसलमान नियुक्त होने लगे। हिन्दुओं पर जकात और दूसरे कर भी बढ़ा दिये और ये कर मुसलमानों पर घटा दिये गये। संस्कृत का पठन-पाठन बन्द कर दिया गया। होली, दीवाली और दशहरा आदि हिन्दू त्योहारों के मनाने का निषेध किया गया। राजपूतों को छोड़कर अन्य हिन्दुओं के लिए ये भी आदेश दिया गया कि वह पालकियों और हाथियों पर न बैठें। यदि इन सब आज्ञाओं का अक्षरशः पालन होता तो भारतवर्ष में एक भी हिन्दू नहीं बचता परन्तु इनका पालन कहीं कठोरता से हुआ, कहीं नर्मी से, कहीं उपेक्षा से और कहीं-कहीं केवल कागज पर पालन हुआ, व्यवहार में नहीं। इसके अतिरिक्त उसके अत्याचारों के विरोध में देश के कोने-कोने में विद्रोह और उत्पात खड़े हो गये, जिससे उसकी कट्टरता कार्यान्वित नहीं हो सकी।

हिन्दुओं में धार्मिक जागृति : सन्त मत, भक्ति मार्ग, मेहदी सम्प्रदाय, रोशनी सम्प्रदाय और सूफी मत के कारण धार्मिक वायुमण्डल में पिछली दो शताब्दी

से स्वतन्त्र विचारों की विशेषता थी। लेकिन फिर भी अब तक मुसलमानों के शासन और अत्याचार से हिन्दू लोग दबे हुए थे और जब कभी वे किसी सन्त की वाणी सुनते थे, या कोई मुसलमान बादशाह, सुल्तान या नवाब धार्मिक उदारता प्रकट करता था, तो वे लोग शान्ति से साँस लिया करते थे। अकबर की देश-व्यापी उदार नीति मुसलमानों के शासन में एक अपूर्व बात थी, इससे हिन्दुओं में धार्मिक उत्साह उमड़ पड़ा। प्रत्येक हिन्दू घर में अकबर की उदारता की प्रशंसा होने लगी। कृतज्ञता के आवेश में कुछ लोग अकबर को जगद्गुरु तक कहने लगे। अकबर के शासनकाल से निर्गुण और सगुण भक्ति का ऐसा प्रबल प्रवाह जारी हुआ कि औरंगजेब के अत्याचारों से भी वह नहीं दबा, बल्कि उसने औरंगजेब को दबा दिया। अकबर के समय में तीन सन्त प्रमुख हुए—तुलसीदास, दादूदयाल तथा अर्जुन। इन तीनों के कारण देश में अपूर्व धार्मिक जागृति हुई। हिन्दुओं में आत्मसम्मान तथा आत्मगौरव की भावना बढ़ी और वे लोग इस्लाम धर्म का भी असली स्वरूप समझने लगे। गुरु अर्जुन ने पंजाब और उसके आसपास के प्रदेशों में धार्मिक जागृति उत्पन्न की। दादूदयाल ने राजस्थान, गुजरात तथा मालवा के कुछ हिस्सों में अपूर्व धर्मधारा प्रवाहित की और गुसाईं तुलसीदास ने रामभक्ति में हिन्दुओं को मगन करके उनके सामने अपनी संस्कृति के गौरव का चित्र उपस्थित किया। उन तीनों के साथ ब्रजभाषा के प्रमुख कवि और संत सूरदास की भी गणना की जा सकती है जिन्होंने कृष्ण भक्ति की सुन्दर सरिता प्रवाहित की।

गुसाईं तुलसीदास : उत्तर भारत में अकबर के समय के प्रमुख हिन्दी कवि गुसाईं तुलसीदास थे। ये सगुण भक्त थे और राम को अपना इष्ट देव मानते थे, परन्तु अन्य हिन्दू देवताओं को भी राम का ही अंश या रूप समझते थे। इनका जीवन अयोध्या और काशी के प्रदेशों में व्यतीत हुआ। इन्होंने अवधी भाषा में रामचरितमानस नामक अमर ग्रन्थ लिखा जिसने हिन्दू जाति के सामने अपनी विलीन संस्कृति और वैभव का ऐसा सुन्दर और आकर्षक चित्र उपस्थित किया कि उसको देखकर अस्त और ध्वस्त हिन्दुओं में पुनः एक नये जीवन का संचार और नवीन आशा का उदय हुआ। राम आदर्श राजा थे। आदर्श पुत्र थे। आदर्श पति थे। आदर्श भक्त थे। और समाज के तथा मर्यादाओं के प्रबल रक्षक थे। इसी प्रकार भरत आदर्श भाई थे। हनुमान आदि आदर्श सेवक थे। और अयोध्या के लोग आदर्श प्रजाजन थे। राम का पुरुषार्थ अपूर्व था। रावण जैसे परम शक्ति-सम्पन्न शत्रु का विनाश करके उन्होंने परम पुरुषार्थ का परिचय दिया था। अयोध्या नगरी का वैभव अपार था। राम का राज्य हिन्दू इतिहास में सर्वोत्तम था। सर्वत्र सुख, शान्ति और सम्पदा कल्लोल करती थी। रामचरितमानस के इस चित्रण में हिन्दू राज्य और मुस्लिम राज्य का नकशा मान साथ-साथ उपस्थित कर दिया। मुग़लों का वैभव संसार में अद्वितीय था परन्तु राम का वैभव उससे भी

बढ़कर था। अकबर ने चित्तौड़ जीता था परन्तु राम ने लङ्का जीती थी। अकबर का पुत्र उसके खिलाफ बगावत कर रहा था परन्तु राम का भाई, राम के चरणों में सम्पूर्ण राज्य-सम्पदा अर्पण करना चाहता था। अकबर ने बड़े-बड़े योद्धाओं के सहारे से साम्राज्य की स्थापना की थी परन्तु राम ने बन्दरों द्वारा लङ्का पर विजय प्राप्त की थी। अकबर रणथम्भोर के सामने किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया था परन्तु श्री रघुपति के प्रताप से 'सिंधुतरे पाषाण'। रामचरितमानस के इस मधुर चित्र ने पदाक्रान्त हिन्दू जाति को नया संदेश दिया, उनमें नई चेतना उत्पन्न हुई और उनका भविष्य आशामय प्रतीत होने लगा। सारे देश में रामलीलाएँ होने लगीं। रामभक्ति लोगों के रोम-रोम में व्याप्त हो गई और प्रतिवर्ष रावण-वध और भरत-मिलाप से हिन्दू जाति एक नया संदेश प्राप्त करने लगी। ऐसी ज्ञान की अग्नि तुलसीदास ने जलाई कि दबाये न दबी, बुझाये न बुझी। रामचरित में रामभक्ति थी प्रकट रूप में और राजनीति थी तिरोहित रूप में, प्रेरणा थी कला के रूप में।

दादू दयाल : दादू दयाल निर्गुण संत थे। बहुत बड़े महात्मा थे। अब तक निश्चित रूप से यह पता नहीं चला है कि इनका जन्म किस कुल और किस जाति में हुआ, किन्तु इनका बाल्यकाल और प्रारम्भिक शिक्षण जयपुर के पास सांभर में हुआ और इनका अधिकांश जीवन जयपुर राज्य में ही व्यतीत हुआ। ये जयपुर राज्य के प्रसिद्ध महाराजा मानसिंह के समकालीन थे। इनका मत कबीर से मिलता-जुलता था और इनकी भाषा भी उन्हीं जैसी हिन्दी और उर्दू की खिचड़ी थी। दादू दयाल बड़े चमत्कारी संत माने जाते थे। इनके भक्तों की संख्या बहुत बड़ी थी। इनके उपदेशों में बड़ा रस था। राजस्थान, गुजरात और मालवा में इनकी बड़ी प्रसिद्धि थी और प्रायः सर्वत्र इनके शिष्य फैले हुए थे। दादू दयाल हिन्दू और मुसलमानों में किसी प्रकार का भेद नहीं मानते थे। कबीर की भाँति ये मूर्तिपूजा के विरोधी थे, इसलिए हिन्दू और मुसलमान दोनों इनसे खुश थे। दादूजी की विशेषता यह थी कि यह केवल संत ही नहीं थे, नेता भी थे। इन्होंने अपने अनुयायियों को स्वावलम्बन का जीवन सिखाया। जो अनपढ़ थे उनको खेती के काम में लगाया, जो शिक्षित थे उनमें से कितनों ही को वैद्य बनाया, जिससे वे लोक-सेवा कर सकते थे और अपनी जीविका भी कमा सकते थे। दादू का सब से बड़ा काम यह था कि उन्होंने अपने अनुयायियों को आत्म रक्षा का पाठ पढ़ाया। इसके लिए उन्होंने स्वयंसेवक सैनिक तैयार किये। ये दादूपन्थी सैनिक अविवाहित रहते थे और देश और धर्म की सेवा करना ही अपना कर्त्तव्य समझते थे। ऐसे सैनिक हजारों की संख्या में राजस्थान के राज्यों की सेना में भरती हुए थे। रियासतों की ओर से इनको केवल खाना और साधारण कपड़ा मिलता था। शुरू में इनके दल जमातों के रूप में थे। फिर ये जमातें नागा पल्टनें कहलाने लगीं। अठारहवीं

शताब्दी के अन्त तक प्रत्येक राज्य में नागा पल्टनें थीं। जहाँ भी काम पड़ा ये लोग बड़ी वीरता से लड़े और अधिकांश लोगों ने धार्मिक जीवन व्यतीत किया। फुरसत के समय में यह लोग दादूदयाल की वाणी और दूसरे सन्तों की निर्गुण वाणी गाते थे और सुनते थे। जब राजस्थान में अङ्गरेजी ढंग की फौजें बनने लगीं और उनका संगठन बदलने लगा तो नागा पल्टनें तोड़ दी गईं। परन्तु अपने राज्य में इन्होंने बहुत अच्छा काम किया। इनका आरम्भ धर्म-रक्षा के लिए हुआ था। इनका उद्देश्य सिक्खों जैसा ही था। विशेष भेद यह था कि नागा लोग गृहस्थी नहीं थे और सिक्ख सिपाही गृहस्थी थे। नागा पल्टनें हिन्दू राज्यों में ही थीं। ये लोग मुसलमानों की तरफ से कभी नहीं लड़े। लेकिन रियासतों के पारस्परिक युद्धों में ये दोनों ओर से लड़े थे।

दादू दयाल के प्रसिद्ध शिष्य सुन्दर दास हुए। ये भी जयपुर राज्य के निवासी थे और जाति से वैश्य थे। ये अनेक भाषाओं के विद्वान् थे और हिन्दी में बड़ी सरस कविता रचते थे। इन्होंने राजस्थान, गुजरात, मालवा, उत्तर प्रदेश व पंजाब में खूब भ्रमण किया था और सर्वत्र हजारों शिष्य बनाये थे। दादू दयाल के समय में ही दादू पन्थ का बहुत प्रचार हो गया था। परन्तु सुन्दर दास ने इसमें और वृद्धि की। दादू दयाल का देहान्त जयपुर राज्य के अन्दर नारायणा नामक गाँव में हुआ था और सुन्दर दास का देहान्त भी जयपुर नगर के निकट सांगानेर में हुआ। इन दोनों सन्तों के द्वारा समस्त राजस्थान में इस पन्थ का खूब प्रचार हुआ और जयपुर राज्य इस धर्म का केन्द्र बन गया। इनके प्रचार से हिन्दू और मुसलमानों की पारस्परिक कटुता बहुत घटी। परन्तु समय पड़ने पर दादू पन्थी स्वयंसेवकों ने औरंगजेब कालीन अत्याचारों का मुकाबला भी बड़ी बहादुरी के साथ किया और इस प्रकार हिन्दू धर्म की रक्षा की। दादूपंथी लोग किसी धर्म का विरोध नहीं करते, और इस्लाम को भी बुरा नहीं बतलाते, परन्तु इन पर वेदान्त की छाप गहरी है। इनकी प्रचार भाषा हिन्दी है। इनमें संस्कृत के भी कई विद्वान् हुए हैं और हिन्दुओं में शाक्त, शैव, पौराणिक, वेदान्तिक आदि सब दादूपंथी साधुओं का आदर करते हैं। इन लोगों ने सिक्खों की भाँति हिन्दुओं से पृथक् होने की चेष्टा नहीं की। सम्भवतः इसका कारण यह भी हो कि इनकी संख्या सिक्खों के मुकाबले में बहुत कम रही है। दादूपंथियों ने कभी शक्ति और वैभव का भी संचय नहीं किया। इनका उद्देश्य देश और धर्म की सेवा करना रहा और धार्मिक संकीर्णता से ये लोग दूर रहे। मुगल काल में दादूपंथ का उदय धार्मिक क्षेत्र में अभिनन्दनीय कार्य था।

गुरु अर्जुन : गुरु अर्जुन सिक्ख सम्प्रदाय के पाँचवें गुरु थे। गुरु नानक के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन पूर्वाध्याय में हो चुका है। चौथे गुरु रामदास तक नानक

पन्थियों की संख्या में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई थी। इन लोगों का न कोई संगठन था और न कोई लक्ष्य निश्चित हुआ था। परन्तु धर्म की संकीर्णता को हटाने में और ज्ञान-क्षितिज को विस्तृत करने में सिक्ख गुरुओं ने बड़ी सहायता की थी। गुरु अर्जुन बड़े योग्य, प्रभावशाली और दूरदर्शी धार्मिक नेता थे। अकबर ने चौथे गुरु रामदास के उपदेश सुनकर प्रसन्नता प्रकट की थी और कुछ जमीन उनको भेंट की थी, जिस पर उन्होंने अमृतसर बनवाया और फिर वहाँ बड़ा नगर बस गया। गुरु अर्जुन ने पहले चार गुरुओं की वाणी का संग्रह किया। अपने धर्म का नाम ग्रन्थ साहब रखा। अपने शिष्यों से भेंट रूप में धन ग्रहण करके अपने साधन जुटाये, और सब सिक्खों को संगठित किया। गुरु अर्जुन भी हिन्दू-मुसलमानों को एक दृष्टि से देखते थे और सब धर्मों का आदर करते थे। इनके समय तक सिक्खों का उद्देश्य हिन्दू धर्म की रक्षा करना था। अभी नानक पन्थ ने पृथक् सम्प्रदाय का स्वरूप धारण नहीं किया था। गुरु अर्जुन हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्षपाती थे और धार्मिक आडम्बर के विरोधी थे। परन्तु साथ ही वे धर्म के नाम पर जो अत्याचार हुए थे उनको भी पसन्द नहीं करते थे। उनके दिल में सबके लिए सहानुभूति थी, और पारस्परिक स्नेह तथा शान्ति का वे उपदेश देते थे। जहाँगीर से भयभीत होकर जब उसका पुत्र खुसरो दिल्ली से पश्चिम की ओर भागा, तो गुरु अर्जुन ने उसके साथ सहानुभूति प्रगट की और उसकी आर्थिक सहायता की। इससे क्रुद्ध होकर जहाँगीर ने गुरु अर्जुन को अनेक शारीरिक यातनाएँ दीं, जिससे उनका प्राणान्त हो गया। औरंगज़ेब ने गुरु तेगबहादुर का वध करवाया और फिर गुरु गोविन्दसिंह का भी दमन करने का प्रयास किया, परन्तु गुरु गोविन्दसिंह ने औरंगज़ेब के समय में पंजाब में मुग़ल सरकार का खूब सामना किया और कई युद्धों में मुग़ल सेनाओं को हराया। इस प्रकार जो पन्थ हिन्दू और मुसलमानों के पारस्परिक धर्म-भेदों को मिटाने के लिए खड़ा हुआ था उसको मुसलमानों का सामना करना पड़ा। परन्तु यह राजनैतिक आवश्यकता थी। मुग़ल साम्राज्य के पतन में सिक्खों के उत्थान का भी बहुत बड़ा हाथ था और मुग़लों के अन्त के बाद भी इन्होंने अफ़ग़ानों का बड़ी बहादुरी के साथ मुकाबला किया था। पश्चिम के अफ़गान और पूर्व के रुहेला इनसे बड़े घबराते थे। यह भी विधि की विडम्बना थी कि जो सम्प्रदाय शान्ति व एकता का सन्देश लेकर खड़ा हुआ, उसको आत्म-रक्षा के लिए संग्राम करना पड़ा। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इस्लाम में और सिक्ख धर्म में नाममात्र का भेद है। परन्तु यह सिद्धान्त की बात है कि व्यवहार में सिक्ख और मुसलमान प्रायः दूर-दूर ही रहे हैं और समय-समय पर इनमें घोर रक्तपात हुआ है।

बंगदेश में संत-मत : सोलहवीं शताब्दी में बंगदेश में भी अपूर्व जागृति हुई। इस युग में चैतन्य की वाणी का बड़ा प्रचार हुआ। उनके जीवन पर अनेक ग्रन्थ लिखे

गये। उनकी वाणी और भजन बड़ी भक्ति के साथ पढ़े और गाये जाने लगे। घर-घर में चैतन्य के प्रेम और भक्ति का प्रचार हुआ। इसी शताब्दी में रामायण, महाभारत, भागवत, चण्डीदेवी और मनसादेवी के प्रति श्रद्धा का स्रोत उमड़ पड़ा। हिन्दुओं को एक नई चेतना प्राप्त हुई, मानो भविष्य के वास्ते एक नया संदेश मिला। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ की धर्म-निरपेक्षता के कारण हिन्दुओं में एक नई उमंग उत्पन्न हुई। अपने धर्म के सिद्धान्तों का अध्ययन और श्रवण प्रचलित हुआ, जिससे लोगों को एक अपूर्व आत्म-बल प्राप्त होने लगा। यह धर्म-धारा समय के साथ अधिकाधिक विस्तृत और प्रबल होती रही। इस धार्मिक जागृति ने केवल भगवत्-भक्ति पर जोर दिया और बाह्य आडम्बरों की उपेक्षा की। चैतन्य का धर्म वैष्णव धर्म अवश्य था परन्तु सिद्धान्तः यह लोक धर्म था। मुसलमानों के सूफी मत के समान यह आत्मोन्नति और चरित्र निर्माण को मुख्य समझता था। इसी प्रवाह ने आगे चलकर ब्रह्म समाज को जन्म दिया था। बंगाल में कुछ मुसलमान नवाब भी ऐसे हुए जो धार्मिक विषयों में बड़े उदार थे। मुग़ल साम्राज्य के पतन के पश्चात् अठारहवीं शताब्दी में जब इन लोगों ने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया तो इनको इस बात की आवश्यकता भी थी कि हिन्दू और मुसलमान दोनों को अपने साथ लें और दोनों की सहानुभूति प्राप्त करें। इन लोगों ने वास्तव में इतिहास से शिक्षा प्राप्त की थी और जानते थे कि अकबर और जहाँगीर की धार्मिक नीति से मुग़ल साम्राज्य की नींव दृढ़ हुई थी। बंगाल के नवाबों की इस धार्मिक उदारता ने सारे प्रान्त में विशुद्ध वातावरण उत्पन्न किया और हिन्दू-मुसलमानों की पारस्परिक कटुता बहुत कम कर दी। इस अनुकूल वायुमण्डल में हिन्दू मुसलमानों को और मुसलमान हिन्दुओं को भली-भाँति समझने लगे। पारस्परिक विचारों का आदान-प्रदान हुआ और दोनों धर्मों के तत्व और सार का अध्ययन हुआ और दोनों संस्कृतियों के मिश्रण में इससे सहायता मिली। औरंगजेब की धार्मिक क्रूरताओं के कारण भी यह सुन्दर प्रवाह कुण्ठित नहीं हुआ। उसके जीवन का अन्त होते ही यह अभिनन्दनीय धर्म-धारा पुनः प्रबल और निर्बाध रूप से आगे बढ़ने लगी।

महाराष्ट्र में धार्मिक जागृति : दक्षिण में कबीर, रैदास और रामदास के समान कितने ही अब्राह्मण सन्त हुए जिन्होंने मूर्तिपूजा की और धार्मिक आडम्बरों की निन्दा की, जाँति-पाँति के भेदों को तुच्छ समझा और भगवद्भक्ति को प्रधान माना। महाराष्ट्र में हिन्दू-मुस्लिम समस्या इतनी तीव्र नहीं थी जितनी उत्तर भारत में थी। इसलिए इन सन्तों की वाणी में मस्जिद, रोजा, नमाज, कलमा, अज़ान आदि की निस्सारिता पर वैसा जोर नहीं है जैसा कबीर आदि ने उत्तर भारत में दिया था। परन्तु इनकी वाणी से अपूर्व लोक-जागृति हुई। निम्न जातियों में भी आत्मगौरव उत्पन्न हुआ। जाति-पाँति का भेद-भाव कम हो गया, एकता के भाव उत्पन्न हुए और महाराष्ट्र को

एक राष्ट्र बनाने में इन सब बातों से बड़ी सहायता मिली। समर्थ गुरु रामदास के उपदेशों से सत्रहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र में एक नया जागरण हुआ। इनके समय में धर्म ने राजनीति का और राजनीति ने धर्म का रूप धारण किया। पंजाब के सन्त राजनीतिक नेता बन ही चुके थे, गुरु अर्जुन के बाद शेष पाँचों गुरु और विशेषकर गुरु गोविंदसिंह खुल्लमखुल्ला औरंगज़ेब से लड़े थे। दादूदयाल के अनुयायियों ने धर्मरक्षार्थ अपनी पल्टनें बना ली थीं और अब दक्षिण में शिवाजी ने हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए मुसलमानों से लोहा लेना शुरू किया था। इससे स्पष्ट है कि सन्त मत के अनुयायी पहले धार्मिक स्वतन्त्रता चाहते थे और फिर परिस्थितियों के वश राजनैतिक स्वतन्त्रता चाहने लगे। उत्तर भारत में आगरे के पास सतनामी भी ऐसे ही लोग थे। ये लोग केवल एक ईश्वर को मानते थे; व्रत, पूजा, मन्दिर, मसजिद, नमाज सब से परे थे, परन्तु इन्होंने बड़ी बहादुरी के साथ औरंगज़ेब का मुकाबला किया था।

अठारहवीं शताब्दी की धार्मिक संस्कृति : सन् १७०७ में औरंगज़ेब की मृत्यु हुई और सन् १८०५ के आस-पास भारत में अंग्रेजों का राज्य स्थापित हुआ। यह एक शताब्दी भारतवर्ष के इतिहास में घोर अशान्ति और अराजकता का युग थी। इसके आरम्भ में जजिया कर बन्द हुआ और धार्मिक अत्याचारों का भी प्रायः अन्त-सा हो गया। परन्तु राज्यों के उत्थान और पतन, विचार और संकोच, उदय और लोप इतने हुए कि धार्मिक जीवन क्षत-विक्षत हो गया। इस्लाम धर्म अब शक्तिहीन था। किसी मुसलमान शासक में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह जबरदस्ती किसी को मुसलमान बनाता। पंजाब में सिक्खों का उत्थान हुआ। उनकी शक्ति जम नहीं सकी तो भी सिक्खों की संख्या बढ़ती ही गई। इनमें अपने ढंग की कट्टरता आने लगी और बार-बार पराजित होने पर भी इन लोगों का उत्साह भंग नहीं हुआ। मराठों के उदय से धार्मिक कट्टरता सर्वत्र कम हो गई। होल्कर, सिन्धिया और गायकवाड़ निम्न जाति के मराठा सरदार थे, परन्तु शक्ति सम्पन्न होने के कारण इनका सब लोग सम्मान करते थे। इससे ऊँच-नीच का भाव कम हुआ। इन लोगों के यहाँ मुसलमान भी बड़े-बड़े सैनिक पदों पर नियुक्त थे और सिपाहियों में भी मुसलमानों की संख्या बहुत थी। पिंडारी लोग मराठों की सेनाओं में अग्रभाग में रहा करते थे और ये लोग अधिकांश मुसलमान थे। महाराणा उदयपुर की फौज में सिंधी मुसलमानों की कितनी ही पल्टनें थीं। महाराजा जयपुर की सेना में मोहम्मद हमदानी आदि तीन-चार बड़े-बड़े मुसलमान सेनानायक थे और इनके सिपाही भी सब मुसलमान थे। इसी प्रकार कोटा राज्य की सोलह पल्टनों में से तेरह पल्टनें मुसलमानों की थीं और इनमें भी सब अफसर मुसलमान थे। सारी फौज का सेनानायक एक पठान था। सिक्खों की सहायता लेने के लिए रोहिलों का सरदार जाब्ता खाँ स्वयं सिक्ख बन गया था। सिन्धिया की फौज में रणखान नामक एक बहुत बड़ा मुसलमान जनरल था। माधोजी सिन्धिया इसको भाई

रसखान कहते थे। रसखान स्वयं अपने ललाट पर हवन की विभूति लगाया करता था और शंकर की मूर्ति के समाने साष्टांग दण्डवत् किया करता था, लेकिन उसने कलमा और नमाज भी नहीं छोड़ी थी। अमीर खाँ पिण्डारी की स्त्रियाँ और बच्चे कोटा राज्य में जालिमसिंह की संरक्षता में रहते थे। अमीरखाँ की एक बेगम जालिमसिंह के राखी बाँधती थी और दूसरी ने कोटा के शासक को अपना राखीबन्द भाई बना रखा था। ये बेगमें हिन्दू त्यौहारों में शामिल हुआ करती थीं। अमीर खाँ पिण्डारी ने नाथद्वारे में श्री जी का प्रसाद आदरपूर्वक ग्रहण किया था और खड़े होकर गुसाईं जी का भेजा हुआ चीरा अपने माथे पर बाँधा था। दो-तीन बार इसने अपने लश्कर के पड़ाव में सैकड़ों ब्राह्मणों को बुलाकर भोजन करवाया था। इस प्रकार देशव्यापी अराजकता के वातावरण में भी हिन्दू और मुसलमानों में पारस्परिक एकता बढ़ती जाती थी और धार्मिक भेद घटते जाते थे।

साहित्यिक प्रगति

मुग़लों का साहित्य प्रेम : मुग़ल लोगों में स्वभावतः साहित्य से प्रेम था। भारत के मुग़ल बादशाओं में सबने उच्च शिक्षा प्राप्त की की। अकबर चाव के साथ हिन्दी की कविताएँ सुना करता था। जहाँगीर को भी हिन्दी कविता से प्रेम था। औरंगजेब कट्टर सुन्नी मुसलमान था किन्तु हिन्दी कविता समझता था और कभी-कभी कवियों को आदरपूर्वक अपने दरबार में भी बुलाता था। हिन्दी के प्रसिद्ध वृन्द कवि को उसने अपने पुत्र का संरक्षक नियत किया था। बाबर से लेकर बहादुरशाह तक सब मुग़ल शासक फारसी पढ़े हुए थे। बाबर की आत्मजीवनी सुन्दर, सरस, साहित्यिक तुर्की भाषा में लिखी हुई है। हुमायूँ प्रायः नित्य प्रति अपने पुस्तकालय में जाकर अध्ययन किया करता था और सेना के साथ कूच करते समय भी अपने साथ कुछ पुस्तकें रखा करता था। उसने दिल्ली में एक मदरसा भी जारी किया था।

अकबर के समय में साहित्य-उन्नति : अकबर स्वयं शिक्षित नहीं था। कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि वह निरक्षर था तो भी उसको कविता से प्रेम था और शिक्षा प्रचार के लिए वह उत्सुक था। अबुल फजल ने लिखा है कि संसार के सब सभ्य देशों में शिक्षा के लिए पाठशालाएँ हैं, परन्तु हिन्दुस्तान अपने विद्यालयों के लिए बहुत प्रसिद्ध है। अकबर ने कुछ नये विद्यालय जारी किये थे। उसने लेखक और कवियों का सम्मान किया था और साहित्य-सृष्टि को प्रोत्साहन दिया था। वह किसी को वृत्ति देता था और किसी को पुरस्कार। तबकात-ए-अकबरी में ऐसे ६९ लेखकों के नामों का उल्लेख है जिनको अकबर से पोषण प्राप्त हुआ था। बंगाली लेखक माधवाचार्य ने अपनी चंडी मंगल नामक ग्रन्थ में अकबर की प्रशंसा की है। अबुल

फजल, अबुल फैजी और इनका पिता शेख मुबारक—तीनों अकबर के दरबारी विद्वान् थे और तीनों ही अपने पाण्डित्य के लिए प्रसिद्ध थे। इनके सुझाव और परामर्श से और स्वतः अपनी प्रेरणा से भी अकबर ने फारसी भाषा में इतिहास लिखवाये, संस्कृत ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद करवाया और शुद्ध साहित्य के भी ग्रन्थ तैयार करवाये। इनमें मुल्ला दाऊदी की तारीख-ए-अल्फी, अबुल फजल की आइन-ए-अकबरी और अकबरनामा तथा अब्दुल कादिर बदायूँनी की मुन्तखाब उत्तवारीख, निजामुद्दीन अहमद की तबकात्-ए-नासिरी और फैजी की सर हिन्दी का अनुवाद ग्रन्थ अकबर नामा प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

संस्कृत और हिन्दी के कई ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद करवाया गया था। महाभारत के कई पर्वों का और मुख्य स्थलों का फारसी में अनुवाद हुआ, जिसका नाम रज्मनामा है और जिसकी मूल प्रति इस समय जयपुर महाराजा के पोथीखाने में सुरक्षित है। यह अनुवाद नकीब खाँ मुल्ला शेरी, सुल्तान हाजी थानेश्वरी और अब्दुल कादिर बदायूँनी ने मिलकर किया था। बदायूँनी ने ही निरन्तर चार वर्ष तक अथक परिश्रम करके बाल्मीकि रामायण का फारसी में उल्था किया था। हाजी इब्राहीम सर हिन्दी ने अथर्ववेद का और फैजी ने प्रसिद्ध गणित ग्रन्थ लीलावती का तथा मोहम्मद खाँ गुजराती ने एक ज्योतिष ग्रन्थ का प्रामाणिक फारसी अनुवाद तैयार किया था। रहीम खान-ए-खाना अकबर के समय का संस्कृत, हिन्दी, फारसी और तुर्की भाषा का अच्छा पण्डित था। इसने वाकियात-ए-बाबर नामक तुर्की ग्रन्थ का फारसी में अनुवाद किया था। राजतरंगिणी नामक प्रसिद्ध संस्कृत इतिहास ग्रन्थ को मौलाना शाह मोहम्मद शाहबादी ने फारसी में लिखा था। इसी प्रकार यूनानी और अरबी भाषाओं के अनेक ग्रन्थों का भी फारसी में अनुवाद हुआ था।

फारसी का गद्य और पद्य : अबुल फजल ने लिखा है कि अकबर के दरबार में हजारों कवि आया करते थे। इनमें कोई दीवान लिखता था और कोई मसनवी। इन रचनाओं को सुन कर अकबर सबका यथोचित आदर करता था। इन हजारों कवियों में से सब तो ऊँचे दर्जे के नहीं थे परन्तु कुछ ऐसे थे जिनकी रचनाओं का कम से कम सामयिक महत्व था और उनकी काव्य-चर्चा से तत्कालीन वातावरण साहित्यिक बन गया था। कुछ इने गिने कवि ऐसे भी थे जिनकी रचनाएँ उच्च कोटि की थीं। अबुल फजल की मसनवी नलोदमन सुन्दर साहित्यिक रचना है। यह महाभारत के नल दमयन्ती उपाख्यान का फारसी में पद्यात्मक अनुवाद है। परन्तु साहित्यिकता की दृष्टि से मूल से कम नहीं बल्कि बढ़कर ही है। इसी लेखक ने मरकज-ए-अदवार, सवारिद-उल-कलाम और सवाति-उल-इलहम नामक ग्रन्थ अरबी भाषा में लिखे। ये भी उच्च कोटि के माने जाते हैं। अबुल फजल के समान उच्च कोटि

का कवि, दार्शनिक और लेखक उस समय मुस्लिम संसार में दूसरा नहीं था। इसलिए इसकी साहित्य-गरिमा के विषय में लिखने की तो कोई आवश्यकता है ही नहीं। इसके अतिरिक्त अकबर के दरबार में निशापुर का मोहम्मद हुसेन नाजिरी और शिराज का सैयद जमालुद्दीन उर्फी भी प्रसिद्ध कवि थे। नाजिरी गजलें लिखा करता था और उर्फी कसीदा लेखक था।

जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगज़ेब का समय : जहाँगीर ने भी तुर्की और फ़ारसी की ऊँची शिक्षा प्राप्त की थी। वह बाबर की मूल आत्मजीवनी स्वयं पढ़ा करता था। लावारिस सम्पत्ति की शिक्षा-प्रचार में खर्च करता था और कई मदरसों की उसने मरम्मत करवाई थी। उसके दरबार में फारसी के कई विद्वान् और कवि थे, जिनमें गयासबेग, नकीब खाँ, मुतामद खाँ, नियामतुल्ला और अब्दुल हक प्रसिद्ध थे। शाहजहाँ को भी अच्छी शिक्षा मिली थी। वह तुर्की भाषा धारा प्रवाह बोलता था और भलीभाँति लिख भी सकता था। उसने पुराने मदरसों की मरम्मत करवाई थी और एक दो नये मदरसे भी जारी किये थे। उसके दरबार को फारसी के कई विद्वान् अलंकृत करते थे। शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र दारा अकबर की भाँति उदार व्यक्ति था। वह चाहता था कि साम्राज्य के विभिन्न धर्मों में परस्पर मेल हो। उसको हिन्दू दर्शन से बड़ा प्रेम था। वह पण्डितों और योगियों से बड़े प्रेम के साथ मिलता था और उनके साथ बातचीत करने में उसको बड़ा आनन्द आता था। वह अरबी और फारसी का तो आमिल था ही परन्तु संस्कृत का भी उसको अच्छा ज्ञान था। अकबर की भाँति उसकी धारणा थी कि सब धर्मों में कुछ न कुछ सार है और मूल में सब धर्म वास्तव में एक हैं। वह सूफी धर्म का अनुयायी था, इसलिए वह हिन्दू धर्म से भी प्रेम करता था। उसने भगवत् गीता, योग वासिष्ठ और उपनिषदों का फारसी में अनुवाद करवाया था और सूफी सम्प्रदाय पर चार-पाँच सुन्दर ग्रन्थों की रचना की थी। उसने एक ऐसा भी ग्रन्थ तैयार करवाया था जिसमें हिन्दू दर्शन के पारिभाषिक समानार्थक फारसी शब्द दिये गये थे। उद्देश्य यह था कि सूफी दर्शन और हिन्दू दर्शन की आसानी से तुलना हो सके। औरंगज़ेब कट्टर मुसलमान था। उसने हिन्दू पाठशालाएँ बन्द करवाईं और मन्दिर तुड़वाये जिससे हिन्दुओं की परम्परागत शिक्षा-प्रणाली को बड़ा धक्का लगा, परन्तु उसने मुसलमान युवकों की शिक्षा के लिए सब प्रकार का प्रबन्ध किया। उनके लिए असंख्य पाठशालाएँ और मदरसे जारी किये और फारसी में कई उत्तम ग्रन्थ तैयार करवाये। उसके समय में सुजानराय खत्री ने फारसी में 'खुलासात-उत-तवारीख', भीमसेन ने 'नुस्क-ए-दिल-खुश' और ईश्वरदास ने 'फतवात्-ए-आलमगीरी' लिखे।

हिन्दी साहित्य : सोलहवीं शताब्दी से पहले कबीर और नानक हिन्दी के प्रसिद्ध कवि हुए। अकबर से पहले सन् १५४० में मलिक मुहम्मद जायसी ने

पद्मावत की रचना की। अब अकबर के हिन्दी प्रेम से हिन्दी की बड़ी उन्नति हुई। राजा भगवानदास, राजा मानसिंह और बीरबल अच्छे कवि थे। राजा भगवान दास और मानसिंह ने कई कवियों का अच्छा सम्मान किया था और उनको वृत्तियाँ देकर अपने जयपुर राज्य में बसाया था। अब्दुर्रहीम खानखाना अकबर के दरबार में प्रतिभाशाली कवि था। इसके दोहे हिन्दी साहित्य में प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त नरहरि और हरिनाथ भी अकबर के प्रसिद्ध दरबारी कवि थे। सोलहवीं शताब्दी में बृजभाषा में अनेक सुन्दर ग्रन्थों की रचना हुई, अकबर की प्रेरणा से नहीं बल्कि तत्कालीन स्वातन्त्र्य वातावरण के प्रोत्साहन से। इसी काल में वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत दर्शन का प्रचार किया और अपने सम्प्रदाय के अनेक मन्दिर जहाँ-तहाँ स्थापित किये परन्तु मथुरा और बृन्दावन को अपना धर्म-केन्द्र बनाया। इनके आठ शिष्य थे जिनमें कृष्णदास और सूरदास परम प्रसिद्ध हुए। सूरदास ने अत्यन्त सरस और मधुर बृजभाषा में राधा-कृष्ण के प्रेम का वर्णन किया है। दूसरे कवि नन्ददास हुए जिन्होंने इसी भाषा में रास-पंचाध्यायी लिखी। परमानन्ददास, कुम्भनदास और रसखान इस समय के प्रसिद्ध कवि हैं। रसखान वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलदास का शिष्य था। इसने कृष्ण भक्ति के बड़े ही सुन्दर सवैये लिखे हैं।। कुम्भनदास ऊँचे दर्जे के कवि और फक्कड़ निर्भीक सन्त थे। इन्होंने फतहपुर सीकरी में बैठ कर एक भजन लिखा था जो उद्धृत करने के योग्य है:—

> संतन का सिकरी सों काम।
> आवत जात पन्हियाँ घिस गईं बिसरि गये हरिनाम॥
> जाको मुख देखें दुख उपजत ताको करणी परी सलाम॥
> कुम्भनदास लाल गिरिधर बिन सबहु काम बेकाम॥

इस काल के कविकुल-दिवाकर गुसाईं तुलसीदासजी थे, जिनकी अमरकृति रामचरितमानस का उल्लेख पहले किया जा चुका है। तुलसीदास कवि तौर सन्त दोनों थे, परन्तु केशवदास मुख्यतः कवि थे। केशवदास ओरछा निवासी सनाढ्य ब्राह्मण थे, इन्होंने कविप्रिया, रामचन्द्रिका, रसिकप्रिया और अलंकार मंजरी—इन चारों ग्रन्थों की रचना की है। ये मुख्यतः छन्द शास्त्र एवं अलंकार शास्त्र के ग्रन्थ हैं, जिनमें भगवान् रामचन्द्र की कथा का आश्रय लिया गया है।

इस युग में बंगाल के अन्दर भी बड़ी साहित्यिक जागृति हुई। अद्वैताचार्य, त्रिलोचनदास, जयानन्द और वृन्दावनदास तथा कृष्णदास कविराज ने चैतन्य चरित्र पर कई सुन्दर ग्रन्थों की रचना की। इसी काल में रामायण, महाभारत, श्रीमद् भगवद्गीता आदि संस्कृत ग्रन्थों का बंगला भाषा में अनुवाद किया गया। काशीराम

दास का महाभारत का अनुवाद और मुकन्दराम का कवि कंकड़ चण्डी का अनुवाद इस समय भी लोग चाव के साथ पढ़ते हैं।

राजस्थान में साहित्य रचना : पूर्व और उत्तर मुगल काल में राजस्थान में भी हिन्दी साहित्य को बड़ा पोषण प्राप्त हुआ। जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह और मानसिंह उच्च कोटि के कवि थे। मानसिंह ने स्वयं कई अच्छे ग्रन्थों की रचना की थी। इनके दरबार में कई अच्छे कवियों को आश्रय मिला था। किशनगढ़ के महाराजा सावन्तसिंह परम वैष्णव और सफल कवि थे। इनकी कविताओं का इस समय भी राजस्थान में बड़ा मान है। इनकी एक उप-पत्नी भी बड़ी अच्छी कवियत्री थी। जयपुर के महाराजाओं में भगवानदास और मानसिंह का पहले ही उल्लेख हो चुका है। इनके अतिरिक्त महाराजा माधोसिंह और प्रतापसिंह इस राजवंश में बड़े विद्यानुरागी और साहित्यप्रेमी हुए हैं। ये दोनों नरेश अच्छे कवि थे। महाराजा प्रतापसिंह बृजनिधि के नाम से बृजभाषा में बड़ी सुन्दर कविता करते थे। इनकी ढूँढारी भाषा की कविता भी बड़ी हृदयग्राहिणी है। इन्होंने भर्तृहरि के तीनों शतकों का हिन्दी भाषा में बहुत ही अच्छा अनुवाद किया है। जयपुर के महाराजा मिर्जा राजा जयसिंह स्वयं तो अच्छे कवि थे ही, परन्तु ये कवियों के बड़े उदार पोषक भी थे। महाराजा सवाई जयसिंह भारत के प्रसिद्ध गणितज्ञ और ख्यातनामा ज्योतिषी थे। इन्होंने भारतीय, अरबी, मध्य ऐशियायी और योरोप के ज्योतिष ज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन किया था और जयपुर, दिल्ली, उज्जैन और काशी में नवीन ढंग की वेधशालाएँ निर्मित करवाई थीं। अपने शोध परिणामों की परीक्षा करने के लिए तथा परस्पर विचार-विनिमय के निमित्त सवाई जयसिंह ने पुर्तगाल से दो-तीन बार गणित और ज्योतिष के बड़े-बड़े विद्वान् जयपुर बुलवाये थे और अपने विद्वानों को ख़िवा और बुखारा की वेधशालाएँ देखने के लिए भेजा था। इन्होंने देश-देशान्तरों से और योरोप से हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह करवा कर अपने पोथीखाने में रखा था। सवाई जयसिंह संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, फ़ारसी, अरबी और तुर्की भाषा के अच्छे ज्ञाता थे और सम्भव है कि इनको अंग्रेजी का भी कुछ ज्ञान हो। बीकानेर के राजा अनूपसिंह जी संस्कृत और हिन्दी के उच्च कोटि के विद्वान् थे। इनका हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह इस समय अनूप मेन्युस्क्रिप्ट लाईब्रेरी के नाम से प्रसिद्ध है। वह इस समय हस्तलिखित ग्रन्थों का सबसे बड़ा भण्डार है। लगभग इसी से मिलता-जुलता जैसलमेर का जैन ग्रन्थ भण्डार है। राजस्थान के नरेशों के आश्रय में बड़े-बड़े कवि रहा करते थे। वृन्द कवि किशनगढ़ के, सतसई के लेखक प्रसिद्ध बिहारीलाल जयपुर के और पद्माकर भी जयपुर के दरबारी कवि थे। इनके वंशज इस समय भी जयपुर में रहते हैं। बाँकेदास जोधपुर के ख्यातनामा कवि थे। महाराणा मेवाड़ के यहाँ भी अनेकों कवियों को आश्रय

मिला करता था और भरतपुर के जाट नरेशों ने भी अनेक कवियों को आश्रय देकर साहित्य-सेवा करवाई थी। बड़े-बड़े कवियों का राजस्थान के सब राज्यों में मान होता था। ये लोग नरेशों के निमन्त्रण पर दूसरे राज्यों में जाया करते थे और वहाँ कुछ समय रह कर फिर वापिस आ जाया करते थे। सर्वत्र इनका सम्मान होता था। पद्माकर जहाँ जाते थे वहाँ जयपुर नरेश की ओर से इनके साथ हाथी, घोड़े और सवार रहा करते थे। एक कवि जयपुर नरेश का शिक्षक था; वह जब दरबार में आता था तो पालकी में बैठकर चँवर ढुलवाता हुआ आया करता था। सब राज्यों में—चाहे शासक की शिक्षा ऊँची हो या न्यून, और चाहे वह वृद्ध हो या बालक—काव्य और साहित्य का पोषण निरन्तर चलता रहता था। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ से अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक अर्थात् तीन सौ वर्ष तक राजस्थान में हिन्दी साहित्य को बहुत पोषण और आश्रय प्राप्त हुआ।

मुगल काल की साहित्य को देन : मुगल काल पारस्परिक आदान-प्रदान का युग था। इस युग में मुसलमानों ने हिन्दू संस्कृति, धर्म और दर्शन को समझने का प्रयत्न किया और हिन्दुओं ने अरबी और फारसी का अध्ययन करके इसलाम के असली स्वरूप को समझा। इसी युग में उर्दू का विकास, उत्थान और पोषण हुआ और इसी युग में हिन्दी भाषा में फारसी शब्दों ने प्रवेश करना शुरू किया। अरबी और फारसी के शब्द लोगों की जबानों पर इतने चढ़ गये और इतने प्रचलित हो गये कि गुसाईं तुलसीदास ने भी अपने रामचरितमानस में इनका प्रयोग करने में कोई दोष नहीं माना। बिहारी सतसई में लगभग २० प्रतिशत शब्द फारसी के हैं। महाराजा सवाई प्रतापसिंह ने फारसी शब्दों का खूब प्रयोग किया है। इसी प्रकार राजस्थान के अन्य कवियों ने भी अपनी भाषा को सबल और समृद्ध बनाया है। मुगलों के दरबार में हिन्दू कवियों का आदर होता था और राजाओं के शासन-कार्य में फारसी-बाहुल्य हिन्दी भाषा का प्रयोग होता था। मुगलों के पतन काल में भी विद्या की उपेक्षा नहीं हुई। बहादुरशाह के समय में उसके वजीर गाजी-उद्दीन ने और खान फीरोज जंग ने अपने खर्च से दो विद्यालय जारी किये थे। मुहम्मद-शाह सवाई जयसिंह के विद्याप्रेम पर मुग्ध था। शाहआलम के समय में भी एक अच्छा शाही कुतुबखाना अर्थात् पुस्तकालय था। अवध के वजीर भी विद्या को प्रोत्साहन देते थे। बंगाल के नवाबों में मुर्शिदकुली, अलीवर्दी और मीर कासिम बड़े विद्याप्रेमी थे। नदिया के महाराजा कृष्णचन्द्र ने संस्कृत के प्रचार के लिए बहुतसा धन खर्च किया था। जो विद्यार्थी नदिया में विद्या ग्रहण करने के लिए आता था, उसको वे १०० रुपये मासिक छात्रावृत्ति दिया करते थ। भरतचन्द्र और रामप्रसाद सेन उनके समय के प्रसिद्ध लेखक थे। द्विज भवनी नामक एक बंगाली लेखक ने जब रामायण लिखना शुरू किया

तो जयचन्द्र नामक एक जमींदार उसको १० रुपये प्रतिदिन वृत्ति दिया करता था। वीर भौम का मुसलमान जमींदार अपनी आय का आधा भाग विद्वानों के पोषण के लिए खर्च किया करता था। महाराष्ट्र के पेशवा पण्डितों और विद्वानों को पुष्कल दक्षिणा देकर सत्कृत किया करते थे। पेशवाओं के पास बड़े-बड़े पुस्तकालय थे और इनकी वृद्धि करने के लिए प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ खरीदे जाते थे और उनकी प्रतिलिपियाँ तैयार करवाई जाती थीं।

तत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था : शिक्षा प्रचार के लिए राज की ओर से कहीं भी आधुनिक ढंग की व्यवस्था तो नहीं थी परन्तु शिक्षा का सर्वत्र सम्मान था। प्रायः प्रत्येक गाँव में छोटी-बड़ी पाठशालाएँ थीं, जहाँ उच्च वर्णों के बालक अपनी देश-भाषा और कुछ गणित का ज्ञान प्राप्त करते थे। कस्बों में कुछ संस्कृत शिक्षा संस्थान थे। गाँव वाले और कस्बों के पण्डितों के पोषण वहाँ के लोग करते थे और प्रसिद्ध तथा प्रतिष्ठित पण्डितों को या तो स्थायी राज्याश्रय दिया जाता था या वृत्ति और दक्षिणा के द्वारा इनका निर्वाह किया जाता था। शिक्षा से राज्य का केवल इतना ही सम्बन्ध था। बालक क्या पढ़े और कौन पढ़ावे, इसकी व्यवस्था परम्परा से चली आ रही थी और परम्परागत प्रणाली से ही इसका पोषण होता था। सरकारी स्कूल योरोप से चले हैं। वहाँ भी पहले शिक्षा पादरियों के हाथ में थी, फिर सरकार के हाथ में आई और पाठ्यक्रम सरकार द्वारा निश्चित होने लगा। इसके राजनैतिक कारण थे, जिनका विस्तार-भय से यहाँ उल्लेख नहीं किया जा सकता। जब अंग्रेजों ने भारत में अपना स्वामित्व स्थापित किया तब भी उन्होंने शिक्षा तत्काल अपने हाथों में नहीं ली। कुछ दिन पश्चात् उन्होंने शिक्षा नीति को बदला और अपने ढंग से भारतीय बालकों को शिक्षा देने लगे। इसका विवेचन अगले अध्याय में यथास्थान किया जायगा।

स्थापत्य कला

विकास का आरम्भ : गुलाम, खिलजी, तुग़लक, सैयद और लोदी वंश के मुसलमानों ने भारतवर्ष में अपने-अपने ढंग की कला जारी की थी। इनमें पश्चिम और मध्य एशिया, उत्तर अफ्रीका और दक्षिण-पूर्वी योरोप से आई हुई कला की परम्पराएँ थीं। परन्तु इनके वाहक अरब, ईरान और तुर्किस्तान के लोग थे। इसलिए कुछ लोगों ने यह निश्चित किया कि यह मुस्लिम कला थी। परन्तु ये कलायें अति प्राचीन थीं और इस्लाम के उद्‌गम से पहले ही इनका विकास हो रहा था। इन पर इस्लाम की कोई विशेष छाप नहीं थी, केवल मस्जिदों के निर्माण पर और मकबरों की रचना पर मुस्लिम धर्म का किंचित् प्रभाव था। जब इन कलाओं ने भारतवर्ष में प्रवेश किया तो यहाँ के प्रान्तों की विभिन्न कलाओं के साथ इनका मिश्रण होना प्रारम्भ हुआ और इस स्थानीय प्रभाव के कारण बाह्य कलाओं का

रूपान्तर हो गया। भारतवर्ष में पहले से ही हिन्दू, बौद्ध और जैन शैलियाँ विकसित हो चुकी थीं। इन्होंने बाहर से आई हुई कला को अपनी कुक्षि में धारण कर लिया। यही कारण है कि सहसराम में बना हुआ शेरशाह का मकबरा दूर से देखने पर हिन्दू मन्दिर, बौद्ध-विहार या जैन चैत्य मालूम होता है और सूक्ष्मता से देखने पर मकबरा जान पड़ता है। जिसको प्रायः मुग़ल कला कहा जाता है उसको मुग़लों ने जन्म नहीं दिया था और न मुग़लों के शासन के कारण उसकी सृष्टि या पुष्टि हुई थी। मुग़लों से पहले जो देशव्यापी धार्मिक और साहित्यिक चेतना हुई थी, उसने इस मिश्रित कला की सृष्टि की थी और इसका स्वरूप मुख्यतः भारतीय हो गया था। इसी का विकास मुग़ल काल में होता रहा। मुग़ल सम्राटों के वैभव और ऐश्वर्य ने इसको अधिक आकर्षक और उज्ज्वल बना दिया और इसकी महत्ता और विशालता बढ़ा दी। परन्तु मुग़ल काल की प्रारम्भिक कला वास्तव में भारतीय कला थी। मुग़ल कला को प्राय प्राप्ति राजपूतों की राजधानियों से, उनके महलों के गुम्बजों से, दक्षिण के ऊँचे स्तम्भों से, गुजरात की पुराने ढंग की जालियों से, मालवा और राजपूताने के महलों की लदाव की छतों से हुई थी।

प्रान्तीय कलायें : सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ से पहले ही अवध में मुसलमानों ने एक ऐसी शैली का अनुसरण किया था जो वस्तुतः हिन्दू शैली थी। इनकी इमारतों की विशेषता यह थी कि दीवारें नीचे मोटी होती थीं और ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ती थीं पतली होती जाती थीं। उसी प्रकार चौकोर स्तम्भ भी हिन्दू ढंग के थे। इनके बनानेवाले सब हिन्दू थे। वे अपनी परम्पराओं के अनुकूल काम करते थे। बहुत सी मुस्लिम इमारतें हिन्दू मन्दिरों को तोड़कर बनाई गई थीं और इनमें पुराने खुदे हुए पत्थर, पुरानी जालियाँ, अलंकरण और मूर्तियाँ ज्यों की त्यों लगा दी गई थीं। अतः इनकी शैली अधिकांशतः भारतीय थी और किंचित् विदेशी। बंगाल के नवाबों ने विशेषकर सिकन्दर, हुसैनशाह और नसरतशाह ने जो मस्जिदें बनाईं उनमें स्वरूप के अतिरिक्त शेष विशेषतायें सब भारतीय हैं। ये मुख्यतः ईंट की बनी, हुई हैं। कुछ पत्थर का उपयोग किया गया है। छोटे छोटे स्तम्भों पर महराबें खड़ी की गई हैं जो ऊपर को नोकदार कर दी गई हैं। छज्जे, उतरंगे, चौखटें, और दीवार और छत के बीच के कोने और उनका अलंकरण सब भारतीय हैं। वास्तव में मन्दिरों के स्वरूप को तोड़-फोड़ कर उसी सामग्री से और उन्हीं हाथों से मस्जिदों का स्वरूप खड़ा कर दिया गया है और इन मस्जिदों का कुछ रूपान्तर करके उसी सामग्री से फिर मन्दिर बनाये जा सकते हैं। गौड़ और पंडुआ की इमारतों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। अदीना मस्जिद के (पंडुआ) चार सौ गुम्बज हिन्दू ढंग के हैं। हुसैनशाह की सुनहरी मस्जिद और उसकी कब्र जिनका निर्माण बाबर

के आने से लगभग आठ वर्ष पहले पूरा हो चुका था, हिन्दू ढंग की बनी हुई है। यही बात नसरतशाह की मस्जिदों के लिए कही जा सकती है जो १५३२ में बनकर तैयार हुई थीं। यह परम्परायें मुग़ल काल में पुष्ट होती रहीं और उसके बाद भी इनका प्रवाह बन्द नहीं हुआ। बनारस का विश्वेश्वरनाथ का मन्दिर, ग्वालियर की सार छतरियाँ, वृन्दावन का मदनमोहन जी का मन्दिर और अहिल्याबाई का काशीस्थ घाट इस शैली के उदाहरण हैं। मालवा के सुलतानों ने धारा नगरी को छोड़ कर मांडू को अपनी राजधानी बनाया था। ये दोनों ही नगर पहले हिन्दुओं की राजधानियाँ थीं। यहाँ महमूद खिलजी ने सात खंड का एक विजय स्तम्भ बनाया और कोशिश इस बात की की गई कि राणा कुम्भा के जय स्तम्भ जैसा बन जाय। मांडू नगर को विशाल और विस्तृत किया गया। दक्षिण की ओर पचीस मील लम्बी एक उत्तुंग और दृढ़ दीवार खड़ी की गई और इस नगर को हिंडोला महल, रूपवती का महल, जहाज महल, हुसैनशाह का मकबरा आदि भव्य भवनों से अलंकृत किया गया। इन सब में धारानगरी की कला परम्परायें स्पष्ट दृष्टिगत होती हैं। इनका स्वरूप मुसलमान शैली का है परन्तु निर्माण में हिन्दू कला है और जो भी सौन्दर्य है वह भारतीय है, विदेशीय नहीं। हुसैनशाह का मकबरा दूर से देखने पर शिव मन्दिर प्रतीत होता है। हिंडोला महल किसी हिन्दू राजा का जान पड़ता है। यही बात जहाज महल पर लागू होती है। रूपवती के महल बाबर की भारत विजय के ६ वर्ष बाद तैयार हुए थे। उनमें ऐसी कोई विशेषता नहीं है जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि वे किसी मुसलमान की बनाई हुई इमारतें हैं। अहमदाबाद एक प्राचीन हिन्दू नगर को नष्ट करके उसकी सामग्री से बनाया गया था। पुराने नगर की पत्थर की जालियाँ, अलंकृतियाँ, और लकड़ी के बने हुए कई प्रकार के दरवाजे, खिड़कियाँ, छतें आदि ज्यों की त्यों इस नवीन नगर के निर्माण में लगाई गई थीं। इनमें किसी में कोई मुस्लिम कला की विशेषता नहीं थी। मुसलमानों ने प्राचीन सामग्री एवं परम्परा का उपयोग किया था। राजपूतों के दुर्ग और राजप्रासाद पन्द्रहवीं शताब्दी से आज तक प्राय: शुद्ध हिन्दू शैली के बने हुए हैं, केवल कहीं-कहीं कुछ मुस्लिम प्रभाव का स्पर्श मात्र है। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में मुग़लों ने जो इमारतें बनवाईं, वे सब राजपूत ढंग की हैं। उनमें किंचित् हेर फेर किया गया है।

राजस्थान में मुग़ल कला का पूर्व रूप : फतेहपुर सीकरी की सब इमारतें शुद्ध हिन्दू शैली की बनी हुई हैं। इस समय हिन्दू कला का प्रभाव सर्वाधिक था। कुछ कुछ ईरानी कला की झाँकी भी दिखाई देती है परन्तु यह हिन्दू कला से दबी हुई है। सत्रहवीं शताब्दी में बने हुए मुग़लों के महल बड़े सुन्दर और अलंकृत हैं,

लेकिन तत्कालीन राजपूत राजाओं के महल भी उन्हीं के समान दिव्य और सुन्दर हैं। चित्तौड़, जोधपुर, बीकानेर और उदयपुर में तथा आमेर में सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी की बनी हुई इमारतें तत्कालीन हिन्दू कला की द्योतक हैं। आमेर के महल में मुग़ल दरबार का फैशन अवश्य कुछ दिखाई देता है परन्तु अन्य स्थानों के महलों में यह भी बात नहीं है।

दक्षिण में मुग़ल कला का पूर्व रूप : लगभग इसी समय दक्षिण में भी हिन्दू शैली की प्रधानता थी। विजय नगर, वारंगल और द्वार-समुद्र के राज-प्रासाद चौदहवीं, पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में बने थे। इनमें मुस्लिम कला का कुछ भी स्पर्श नहीं है। विजयनगर के निर्माण-वैभव को अब्दुल रज्जाक नामक मुस्लिम यात्री ने पन्द्रहवीं शताब्दी में देखा था और देख कर दंग रह गया था। विजय नगर की शैली पर फीरोज और अलाउद्दीन बहमनी १३९७ से १४५७ ने अपनी मस्जिदें तैयार करवाई थीं और गुलबर्गा में फीरोज की बनाई हुई मस्जिद तो बिल्कुल विजयनगर के मन्दिरों की शैली की अनुकृति प्रतीत होती है। विजय नगर में योरोप, ईरान और चीन की कलाओं का प्रभाव भी अवश्य पहुँचा होगा। परन्तु इस समय इसका ठीक पता नहीं लगता। इतना कहा जा सकता है कि विविध देशों की आगन्तुक कलायें समन्वित होकर भारतीय कला में प्रवेश कर गई होंगी। भारतीय कला ने विविध दिशाओं से प्राण और प्रेरणा अवश्य प्राप्त की है, परन्तु पूर्ण रूपेण इन सबको आत्मसात् कर लिया है। पन्द्रहवीं शताब्दी में विजय नगर वैभव की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ था। एक इटालियन यात्री निकोला कान्टीं ने लिखा है कि यह नगर ६० मील के घेरे में बसा हुआ था। अब्दुल रज्जाक लिखता है कि संसार में अन्यत्र कहीं भी ऐसा नगर दिखाई नहीं देता था, और न कहीं ऐसे वैभव की बात सुनी थी। यह नगर सात प्राचीरों (दुर्ग दीवार) के अन्दर बसा हुआ था और सब से अन्दर का हिस्सा हेरात नगर से दस गुना था। सोलहवीं शताब्दी में इसको एक पैज नामक यात्री ने देखा था। उसने लिखा है कि इसकी आबादी ६० लाख से ऊपर थी और घेरा रोम नगर के बराबर था। पन्द्रहवीं शताब्दी में बहमनी राज्य के मुसलमान शासकों ने बेजवाड़ा, काँची और कुण्डापल्लि के मन्दिरों को नष्ट कर उन्हीं पर मस्जिदें बनवाईं। इनमें नष्ट किये हुए मन्दिरों की सामग्री लगाई गई और निर्माण कार्य स्थानीय कारीगरों ने किया, इसलिए शैली में कोई भेद नहीं हुआ। केवल मुसलमानों की आवश्यकता के अनुसार इनकी लम्बाई-चौड़ाई आदि में किंचित् भेद हुआ। बीजापुर में गुजरात और राजपूताने की हिन्दू कलाओं के प्रवाह एकत्र हो गये। यहाँ के सुल्तानों में यूसुफ १४६० से १५१०, अली १५५८ से १५८०, इब्राहीम १५८० से १६२६ और मोहम्मद

१६२६ से १६५६ तक प्रसिद्ध निर्माता थे। यूसुफ का बनाया हुआ शहर पनाह का घेरा लगभग सवा छै मील है। अली की बनाई हुई मस्जिद में ५,००० मुसलमान नमाज पढ़ सकते थे। इसी ने गगनमहल नामक एक विस्तृत भवन बनवाया था और बीजापुर नगर में पानी पहुँचाने के लिए एक बहुत लम्बी और ऊँची नाली बनवाई थी। इब्राहीम की कब्र बादशाह जहाँगीर के समय में बनी थी और इसमें वे सब विशेषताएँ दिखाई देती हैं जो जहाँगीर की इमारतों में हैं। मोहम्मद का मकबरा उसी समय बना था जब शाहजहाँ ने ताज का निर्माण करवाया था। इसका गुम्बज भी अति विशाल और आश्चर्यजनक है और यह निश्चय करना कठिन है कि किसने किसकी नकल की है। यूसुफ आदिलशाह पर हिन्दुओं का बड़ा असर था। यह स्थानीय कला का बड़ा पोषक था। इसने ईरान, तुर्किस्तान और कुस्तुनतुनिया से कितने ही कारीगर बुलवाये थे और इमारतों के निर्माण में उनसे काम लिया था। इब्राहीम द्वितीय तो हिन्दुओं की ओर इतना अधिक झुका हुआ था कि लोग इसको जगत्-गुरु कहने लग गये थे। यह इतना उदार था कि इसने अपने पास से धन देकर अपने राज्य में तीन-चार स्थानों पर बड़े-बड़े गिरजा-घर बनवाये थे। अपने महलों में चित्रकारी करवाने के लिये इसने पुर्तगाल से चित्रकार बुलवाये थे। मुग़ल बादशाहों ने चित्रकला के सम्बन्ध में इब्राहीम की ही नीति का अनुसरण किया था। यह कहा जा सकता है कि निर्माणकला और चित्रकला की जिन शैलियों का विकास बीजापुर में हुआ था, वे ही उत्तरी भारत में पहुँची थीं। जैसे मोहम्मद के मकबरे में हिन्दू और मुस्लिम कला का मिश्रण दिखाई देता है, ठीक उसी प्रकार ताजमहल में भी दोनों कलाओं का समन्वय प्रतीत होता है।

बाबर की इमारतें : बाबर ने अपनी इमारतों के निर्माण के लिए कुस्तुन-तुनियाँ से कितने ही कारीगर बुलवाये थे। उस नगर की कला पर यूनानी कला का बड़ा प्रभाव था। कुस्तुनतुनिया के मुसलमान और तैमूरी साम्राज्य के शासक और इसके नष्ट हो जाने पर उसके बचे हुए सामन्त तथा ईरान के शासक यूनानी कला को बहुत पसन्द करते थे। इसलिए यूनानी कला का मुस्लिम जगत में प्रवेश हुआ था। तैमूर ने समरकन्द की मस्जिद बनाने के लिए भारतवर्ष से भी सैकड़ों कारीगर और संगतराश बुलवाये थे। इस प्रकार चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों में मध्य एशिया और रोम में एक मिश्रित कला का उदय हुआ था। इस कला में प्रधानता यूनानी कला की थी और हिन्दू तथा तुर्की तत्व भी इसमें सम्मिलित थे। बाबर ने अपनी इमारतों की रचना तो अपने ही ढंग की करवाई थी परन्तु इनमें काम करने वाले अधिकांश भारतीय ही थे। विदेशी कारीगर शायद इनको

निर्देश देते होंगे, परन्तु प्रत्येक काम पर भारतीयता की छाप होना तो अवश्यम्भावी था। आगरे की इमारतों पर ६८०, सीकरी, बयाना और आगरे में १५०० और इसी प्रकार अन्यत्र भारतीय कारीगर बाबर ने काम पर लगाये थे। बाबर की बनाई हुई इमारतों में से केवल दो इमारतें इस समय बची हुई हैं—एक पानीपत की मस्जिद और दूसरी सम्भल (रुहेलखण्ड) की मस्जिद। हुमायूँ का जीवन अधिकांश झंझटों में ही व्यतीत हुआ। उसकी बनाई हुई केवल एक मस्जिद इस समय फतेहाबाद (हिसार) में विद्यमान है। इन सब मस्जिदों में मुग़ल कला का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है, परन्तु ये विदेशी प्रभाव बहमनी शासकों के समय में ही जारी हो गये थे, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि उनका आरम्भ बाबर या हुमायूँ ने ही किया हो। इसके बाद ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों मुग़ल कालीन कला में भारतीयता की वृद्धि होती गई। वास्तव में इसका चमत्कार शेर-शाह के समय में ही दृष्टिगत होने लग गया था। पहले यह उल्लेख किया जा चुका है कि शेरशाह के मकबरे में हिन्दू, जैन और बौद्ध कला का मिश्रण स्पष्ट दिखाई देता है और दूर से देखने पर यह बौद्ध-स्तूप या हिन्दू मन्दिर सा जान पड़ता है। वास्तव में मुग़ल कला का आरम्भ सूरियों के समय में ही हो गया था। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ से मुग़लों के अधःपतन तक जितनी भी इमारतों का निर्माण हुआ, उनमें सबसे अधिक रोचक बात यही है कि जो कुछ भी विदेशी या मुस्लिम कला तत्व भारत में आये उनको भारतीय कला ने आत्मसात् कर लिया और उनकी प्राप्ति से वह स्वयं पुष्ट, प्रबल और आकर्षक बन गई।

अकबर की कला : अकबर के समय में कला ने प्रौढ़ता प्राप्त की। अकबर में अद्‌भुत कल्पना शक्ति थी। इसका पता नहीं चलता कि वह निरक्षर था या किंचित् शिक्षित। परन्तु उसका हृदय विशाल था और मस्तिष्क अति सम्पन्न। उसको समन्वय में आनन्द प्राप्त होता था। अबुल फ़ज़ल ने बड़े सुन्दर शब्दों में कहा है कि अकबर के दिल और दिमाग़ में जो ख्वाब आये, उनको उसने मिट्टी और पत्थर का जामा पहना दिया। फरगसन ने फतेहपुर सीकरी के सम्बन्ध में लिखा है कि यह नगर अकबर के मस्तिष्क की भव्य भावनाओं का साकार स्वरूप है। अकबर को ईरानी कला से प्रेम था। यह उसको अपने माता, पिता तथा पितामह से प्राप्त हुआ था। परन्तु ज्यों-ज्यों उसके साम्राज्य का विस्तार हुआ और उसने राजनैतिक आवश्यक-ताओं का अनुभव किया, त्यों त्यों उस पर हिन्दू कला का प्रभाव बढ़ने लगा। फिर उसने जो इमारतें बनवाईं उनमें हिन्दू कला की प्रधानता बढ़ने लगी। आगरे का जहाँगीरी महल और फतेहपुर सीकरी की कई इमारतें ऐसी मालूम होती हैं कि मानो किसी हिन्दू नृपति की बनाई हुई हों। हुमायूँ की कब्र के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह शुद्ध

ईरानी शैली की बनी हुई है परन्तु वह भी भारतीय कला के प्रभाव से नितान्त मुक्त नहीं है। इसकी कला के अनेक अंश भारत में पहले ही विद्यमान थे। इसके गुम्बज का उभार और गर्दन की रचना सर्वांशतः भारतीय कही जा सकती है और अलंकरण तो भारतीय है ही। फतेहपुर सीकरी की इमारतों में विशेषतः उल्लेख के योग्य हैं—बुलन्द दरवाजा, दीवान-ए-खास, इबादतखाना और पंचमहल। बुलन्द दरवाजा १३० फीट ऊंचा है। इसकी विशालता में एक विचित्र विशेषता है। इसकी निर्माण कला सर्वांशतः भारतीय है परन्तु इसकी कल्पना न किसी दूसरे जमाने में हुई और न किसी दूसरे देश में। इसके पख, उप-पख, उतरंगे, टोड और धारियाँ सब विशुद्ध भारतीय हैं। इबादतखाना एक कमल पुष्प है जो एक स्तम्भ पर स्थित है और इसके ऊपर बैठने का स्थान बनाया गया है। इसका निर्माण-चातुर्य भी विचित्र है। पंचमहल का निर्माण बौद्ध विहार के ढंग का है। अकबर के समय में इस ढंग की इमारतें मौजूद थीं जो तत्कालीन यात्रियों के वर्णन से विदित होता है। अकबर का मकबरा जिसको सिकन्दरा कहते हैं पंचमहल की शैली का बना हुआ है। सब से ऊपर हल्का सा गुम्बज बनाने का विचार था जो बना नहीं। उसके नीचे का खंड बड़ा है और क्रमशः तीसरा और चौथा खण्ड छोटा होता गया है। अकबर के समय में इस प्रकार की इमारतें पूर्वी द्वीप समूह में और विशेषकर कम्बोडिया में विद्यमान थीं। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि अकबर ने सिकन्दरा के निर्माण के लिए, उसके स्वरूप और नक्शे तैयार करने के लिए इन दूरस्थ द्वीपों से कारीगर बुलाये होंगे। इन्हीं की कारीगरी की छाप फतेहपुर सीकरी और सिकन्दरा की कला पर दिखाई देती है। अकबर की कला में भव्यता और विशालता है। आगरे का दुर्ग और फतेहपुर सीकरी का बुलन्द दरवाजा अत्यन्त प्रभावोत्पादक इमारतें हैं। ऐसा मालूम होता है मानो अकबर की महानता और शूरवीरता ने पत्थर का रूप धारण कर लिया हो। इन इमारतों के सामने खड़े होकर देखा जाय तो अकबर के वैभव और शौर्य की स्मृति स्वतः ही जाग्रत हो जाती है, मानो इनके निर्माण के प्रत्येक अंश पर उसका विशाल व्यक्तित्व अंकित हो।

जहाँगीर की कला—जहाँगीर के समय में उतना निर्माण कार्य नहीं हुआ जितना अकबर के शासन में हुआ था। इसके समय की बनी हुई इमारतों में सिकन्दरा और इत्माद्-उद्-दौला विशेष उल्लेख के योग्य हैं। सिकन्दरा का आरम्भ अकबर ने करवा दिया था और उसको पूरा जहाँगीर ने करवाया था। इत्माद्-उद्-दौला नूरजहाँ ने बनवाया था। यह उसके पिता का मनोहर स्मारक है और शुद्ध मकराने का बना हुआ है। इसमें पच्चीकारी का काम बड़ा ही सुन्दर और आकर्षक है। इस काम के लिए विविध रंग के मूल्यवान् पत्थरों का उपयोग किया गया है। यह कला सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ के पूर्व से ही आरम्भ हो गई थी। उदयपुर में एक महल सन् १६०० में

तैयार हुआ था, जिसमें पच्चीकारी का काम किया गया था। ऐसा मालूम होता है कि राजपूत नरेशों ने ही पच्चीकारी के काम को प्रोत्साहन दिया था और फिर लगभग तीस चालीस वर्ष में यह कला प्रौढ़ावस्था को पहुँच गई थी। इत्माद्-उद्-दौला में जो पच्चीकारी का काम है वह अत्यन्त पुष्ट और परिमार्जित है। शाहजहाँ की इमारतों में भी इतना दिव्य और निर्दोष काम नहीं मिलता। प्राचीन स्थापत्य ग्रन्थों में मणिभूमिका का कर्म और मणिशिला कर्म का उल्लेख है। शायद यह पच्चीकारी के काम का ही पुराना नाम है। यह सम्भव है कि पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में वह पुनर्जाग्रत हो गया हो, परन्तु यह भी असम्भव नहीं है कि इटली के जागरण काल में इस कला का उदय हुआ हो और भारत में पहुँचकर इसने भारतीय रूप धारण कर लिया हो।

शाहजहाँ की कला : शाहजहाँ की इमारतों में न भव्यता है और न मौलिकता, लेकिन उनमें कोमलता और अलंकृति मानो बरस पड़ी है। उनको देखते ही चित्त प्रफुल्लित हो जाता है। उसका सारा निर्माण मानो अलंकरण मात्र है। ऐसी अनुभूति होती है मानो उसकी हर एक इमारत एक जड़ाऊ जेवर है जिसमें विविध रत्नों का सौन्दर्य और प्रकाश है और जिसकी मनोहरता को आँखें इकटक देखती ही रह जाती हैं, वहाँ से हटना नहीं चाहतीं। उसने आगरा, दिल्ली, लाहौर, काबुल, काश्मीर, अजमेर और अहमदाबाद आदि स्थानों पर कई इमारतें बनवाईं। दिल्ली में उसका दीवाने आम, दीवाने खास और मोती मस्जिद उसकी कला की पराकाष्ठाएँ हैं। ताज शाहजहाँ की कला का मुकुट है। इसकी दिव्यता और मनोहरता अनिर्वचनीय है।

यह अब तक निश्चय नहीं हुआ कि ताज किसने बनाया, परन्तु इसके स्वरूप में कोई विशेष नवीनता नहीं है। बीजापुर और शेरशाह के मकबरों से इसका नकशा लिया हुआ जान पड़ता है। इसकी पच्चीकारी के काम का आरम्भ अहमदाबाद और उदयपुर में हो चुका था। इसके बेल-बूटे सब भारतीय शैली के हैं। उन पर ईरानी कला का प्रभाव है, आधिपत्य नहीं। परन्तु यह बात भी असम्भव नहीं है कि यूरोपीय कला का कुछ मिश्रण हो क्योंकि बीजापुर और गुजरात में यूरोपियन कला का प्रभाव का आरम्भ पहले ही हो चुका था। मुग़लकालीन कला में ईरानी, तुर्किस्तानी, यूनानी और यूरोपियन तत्वों का मिश्रण तो अवश्य है और इनके समन्वय से यह कला अधिक पुष्ट और विकसित हुई है परन्तु इसका शरीर, माँस, मज्जा और रक्त सब भारतीय ही है।

मुग़ल कला का पतन : औरंगजेब का शासन मुग़लों के अधःपतन का युग है। उसके समय में उदारता की परम्पराएँ, समानता का व्यवहार, वैभव का विलास और शक्ति का माहात्म्य सब साथ-साथ अन्तर्ध्यान हो गये। और इन्हीं के साथ वह सुन्दर मुग़लकालीन कला भी विलीन हो गई, जो गत कई शताब्दियों के निरन्तर

विकास से पुष्ट हुई थी। निर्माण रुक गया और पोषण बन्द हो गया परन्तु प्रभाव किंचित् चलता रहा, जिसका वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा। कृपणता के कारण औरंगजेब ने कोई सुन्दर और विशाल इमारत नहीं बनवाई और कट्टरता के कारण संगीतकला और चित्रकला को दफना दिया।

भारतीय चित्रकला

बाबर से पहले ही भारतीय चित्रकला पुष्ट हो चुकी थी परन्तु मुग़ल काल में इसको विशेष चेतना और प्रेरणा प्राप्त हुई और देश-देशान्तर की विविध प्रवृत्तियों के सम्मिश्रण से इसकी विपुल पुष्टि हुई। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में गुजरात की चित्रकला भारत में सबसे आगे बढ़ी हुई थी। इसमें नेपाल, बंगदेश और बर्मा की चित्रकलाओं का सम्मिश्रण था। पन्द्रहवीं शताब्दी से पहले चित्रकारी दीवारों पर हुआ करती थी। अजन्ता की चित्रकारी इसका उदाहरण है। इसके बाद सदियों तक वही शैली चलती रही। पन्द्रहवीं शताब्दी में कागज का आविष्कार और प्रचार हुआ। तब चित्र कागजों पर लिखे जाने लगे। कागज पर लिखा हुआ सबसे पहला चित्र सन् १४२७ का मिला है और ताड़पत्र पर सबसे पहले लिखा चित्र १२३७ का है। इन सब चित्रों के विषयों का सम्बन्ध प्रायः जैन धर्म से है। अजन्ता की गुफाओं में धार्मिक चित्रों के साथ विभिन्न प्रकार के सांसारिक चित्र भी बने हुए हैं और पशु-पक्षियों के और बेलों के भी अनेक चित्र हैं। दसवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक चित्रों में धार्मिक विषयों का बाहुल्य रहा। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में बसन्त विलास की एक प्रति तैयार हुई जिसमें अनेक प्रकार के श्रृंगारी और गार्हस्थ चित्र लिखे गये। इसी काल में बीकानेर में भी एक महल की दीवार पर ऋतु, श्रृंगार, शिकार, युद्ध और दरबार आदि के कई प्रकार के चित्र लिखे गये थे। फिर भी बाहुल्य जैन चित्रों का ही था। ज्यों-ज्यों कागज का उपयोग बढ़ता गया, त्यों-त्यों अधिकाधिक कागजों पर चित्र तैयार होने लगे। इन चित्रों के विषय अब रामायण और महाभारत से भी लिए जाने लगे। वैष्णव चित्रों का प्रायः बाहुल्य रहा, परन्तु कुछ शैव चित्र भी बने। दूसरे चित्रों में बारहमासे के चित्र, नायिका भेद के चित्र, व्यक्ति-चित्र, और पशु पक्षियों के चित्र बने। ये धाराएँ बुन्देलखण्ड, जम्मू, कश्मीर और काँगड़ा तक पहुँची। राजपूताने में जयपुर, कोटा, बूँदी, उदयपुर, नाथद्वारा, बीकानेर और जोधपुर की शैलियों का विकास हुआ। इन्हीं से मिलती-जुलती हुई शैलियाँ बंगाल और उड़ीसा में जारी हुईं। गढ़वाल में भी चित्रों का प्रचार हुआ। विजयनगर में भी उसके उन्नति काल में चित्रकला की अच्छी उन्नति हुई। भारतीय चित्रकारों ने सब से अधिक सफलता धार्मिक चित्रों के चित्रण में प्राप्त की। सोलहवीं

सैकड़ों मिलते हैं परन्तु शाह आलम और बहादुरशाह के चित्र भी अप्राप्य नहीं हैं और उनके समय के दूसरी तरह के चित्र भी सैकड़ों मिलते हैं।

राजस्थान की चित्रकला : राजस्थान में चित्रकला का विकास तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी से ही आरम्भ हो गया था। परन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी में इसका विशेष विकास हुआ। सोलहवीं शताब्दी में सैकड़ों चित्रकार राजस्थान की विविध राजधानियों में काम करते थे और सत्रहवीं शताब्दी में तो चित्रकला का प्रेम राजमहलों में ही नहीं, प्रत्येक सम्पन्न घर में जा पहुँचा था। और इसका इतना अधिक प्रचार हो गया था कि विवाह और दूसरे अवसरों पर प्रायः प्रत्येक घर में चित्रकारी करवाई जाती थी। यह प्रथा अब तक राजस्थान में यत्र तत्र जारी है परन्तु इस विज्ञान और उपयोगितावाद के युग में अब यह सिसकियां ले रही है। सत्रहवीं शताब्दी में सम्पूर्ण राजस्थान में चित्रकला को अपूर्व प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और यहाँ विविध शैलियां जारी हो गई।

विविध शैलियों में समानता : इन सम्पूर्ण शैलियों में कई समानताएँ हैं। मनुष्यों के सब चित्रों में केवल एक आँख दिखाई गई है। इनको एक चश्मी तस्वीरें कहते हैं। चेहरे के दूसरे हिस्से का आधे हिस्से से स्वतः ही ज्ञान हो जाता है। प्रत्येक चित्र की पृष्ठभूमि बड़ी कला और खूबी के साथ अंकित की जाती है। इसमें दूर और समीप के दृश्य ऐसे चतुरता के साथ अंकित किये जाते हैं कि उनकी सापेक्षता स्पष्ट दिखाई दे सके। रंग-विन्यास उस समय की विशेष कला थी और रंग बनाने में, घोटने में और उनका परस्पर विन्यास करने में बहुत परिश्रम और सावधानी की जाती थी। चित्रों का सुनहरी काम आवश्यक माना जाता था। इससे चित्रकार की कला-चातुरी मापी जाती थी। चित्रों के विषय अधिकांशतः धार्मिक होते थे। इनमें प्रधानता होती थी वैष्णव चित्रों की। कृष्णलीला के हजारों उत्तम चित्र दीवारों पर और कागजों पर इस समय भी राजस्थान में मिलते हैं। रामायण के चित्र भी बहुत बनाये जाते थे। दुर्गा-सप्तसती के चित्र प्रत्येक राजधानी में तैयार हुए थे। ऋतु चित्र, राग रागिनी के चित्र, नायिका भेद के चित्र और विविध क्रीड़ाओं के चित्र भी प्रचलित थे। इनके अतिरिक्त होली, शिकार, विवाह, साधु-सन्त, अन्तःपुर, श्रृंगार शतक, वैराग्य शतक, कादम्बरी आदि के चित्र भी बड़े बड़े लोगों के आश्रय में तैयार किये गये थे। ऐसे हजारों चित्र अब भी मिलते हैं।

जयपुर, बूँदी, कोटा आदि की शैलियाँ : सर्वोत्तम चित्र जयपुर शैली के माने जाते हैं। इनके रंगों में अनोखापन है। एक रंग के साथ दूसरे रंग को मिलाने की विशेष परम्परा है। कौन से रंग के पास कौनसा रंग होना चाहिए इसका चतुरता से विन्यास किया गया है। शैशव, यौवन, और वार्धक्य को बतलाने के लिए अद्भुत रेखा-चातुरी से काम लिया गया है। ज़ेवर और वस्त्र बड़ी बारीकी और

सूक्ष्मता से अंकित किये हैं। ऊपर के कपड़े में से नीचे के कपड़े दिखाये गये हैं। इसके अतिरिक्त स्थिति का सामंजस्य बड़ी खूबी के साथ अंकित किया गया है। जिस चित्र में दो, पाँच या अधिक व्यक्ति चित्रित किये गये हैं सबकी चेष्टाएँ एक विषय की ओर या आवश्यकतानुसार एक से अधिक विषयों की ओर केन्द्रित की गई हैं। पशु और पक्षियों के चित्रों में भी उनकी चेष्टाएँ, भंगियों, विलास, गति और विक्षेप के दरसाने में सावधानी और चतुराई की है। ये विशेषताएँ जयपुर के म्यूज़ियम के चित्रों की और पोथीखाने के संग्रह को देखने से स्पष्ट हो जाती हैं। जयपुर के चित्रों में कोमलता, लावण्य और गति है। स्त्री और पुरुषों के चेहरों पर सजीवता है और चित्रकार जब भी तद्रूपता का प्रयास करता है तो उसको सफलता मिलती है। परन्तु तत्कालीन चित्रकला का मुख्य उद्देश्य तद्रूपता नहीं है। वह स्थिति, समय, घटना या अवस्था का चित्रण करता है। कोटा और बूंदी की कलम भी जयपुर से कई अंशों में मिलती जुलती हैं। बूंदी के महलों के चित्र और कोटा के महलों के चित्र तो अनेक दृष्टियों से समान से जान पड़ते हैं परन्तु ये जयपुर से भी बहुत भिन्न नहीं है। उदयपुर और नाथद्वारा में स्थानीय विशेषताएँ अधिक हैं। यहाँ के चित्रों की विशेषता है—स्थूल अंग, प्रशस्त वक्षस्थल, दीर्घ नेत्र आदि। इनमें रंगों की कोमलता या कलम की बारीकी कम है। नाथद्वारे में धार्मिक चित्रों का बाहुल्य है परन्तु बहुधा कृष्णलीला के चित्र है। अतः राधा और कृष्ण को आश्रय बना कर वास्तव में साधारण मानवीय श्रृंगार चेष्टाएँ चित्रित की गई हैं। बीकानेर और जोधपुर के राजमहलों में भी दीवारों पर कितने ही चित्र बने हुए हैं। यहाँ ग्रन्थ भी कई चित्रित हैं। चित्रित ग्रन्थों का रिवाज राजस्थान में सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ से ही चल गया था। राजस्थान की प्रत्येक राजधानी के सरस्वती भंडार में ऐसे ग्रन्थ इस समय भी मिलते हैं। इनमें मुख्यतः रामायण, श्रीमद्भागवत, दुर्गा सप्तसती, कादम्बरी और भर्तृहरि को अपनी कला का प्रदर्शन करने का अच्छा अवसर मिला है। जोधपुर और बीकानेर में ऐसे ग्रन्थ अब भी मिलते हैं। यहाँ की चित्र शैली जयपुर से अधिक मिलती है, उदयपुर से नहीं। परन्तु विषय और विन्यास राजस्थान में सर्वत्र एक-सा ही है। इसी समय हिन्दू चित्रकला की दूसरी शैली का विकास कांगड़ा, गढ़वाल, नेपाल और बंगाल में हुआ था। इनमें भी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं और इनमें कांगड़ा की चित्रकला का विशेष महत्व है।

मुग़लों के पतनकाल में अवध, बंगाल, हैदराबाद और मैसूर के मुस्लिम शासकों ने चित्रकला को आश्रय दिया था। हैदराबाद के सालारजंग म्यूज़ियम में हैदराबाद के चित्रों का अनुपम संग्रह है। ये सब चित्र मुग़ल शैली के बने हुए हैं। इनकी विशेषता यह है कि पृष्ठभूमि साधारण है और प्रायः सारी तस्वीरें एक चश्मी हैं। सामूहिक चित्रों में कुछ तस्वीरें दो चश्मीं बना दी गई हैं। हैदराबाद में निजाम

की सवारी के चित्र और शिकार के चित्र और इसी प्रकार श्रीरंगपट्टम के अवशिष्ट खण्डहरों में टीपू सुल्तान को फौजकशी के बड़े-बड़े चित्र विलीयमान मुग़ल चित्र कला के नमूने हैं ।

संगीत कला

मुग़लों से पूर्व : मुग़लों के आगमन से पूर्व भारतीय संगीत कला पूर्ण-रूपेण पुष्ट हो चुकी थी । संगीत रत्नाकर इस विषय का प्राचीन ग्रन्थ है । इसका हिन्दी पद्यात्मक अनुवाद पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ था । इसकी एक चित्रित प्रति बीकानेर में सेठ मोतीलाल खज़ान्ची के ग्रन्थ-संग्रह में है । अन्यत्र भी इसके कुछ अंश प्राप्त होते हैं । तत्कालीन नरेश प्रायः सब संगीत कला के प्रेमी थे और इनमें से कुछ को स्वयं संगीत का ज्ञान था । मेवाड़ के महाराणा कुम्भ संगीत, नाटक, काव्य और नृत्य, स्थापत्य कला, मूर्ति कला, शस्त्र निर्माण कला और भवन निर्माण कला सबके अद्भुत ज्ञाता थे और युद्ध कला में तो ये अद्वितीय थे ही । भारतीय संगीत में सप्त स्वर राग, विभाग, रागों की संतति, प्रत्येक राग या रागिनी का काल आदि मुख्य विशेषतायें हैं । अफ़ग़ान सुल्तानों ने भारतीय संगीत कला में कोई हेर फेर नहीं किया । उन लोगों को संगीत से कोई विशेष प्रेम भी नहीं था ।

मुग़ल और ग़ज़ल : जब मुग़ल आये तो परिवर्तन होने लगा । बाबर स्वयं कवि था और अच्छी ग़ज़ल लिख सकता था । ग़ज़ल ख्वानी से उसको विशेष प्रेम था । यह प्रेम वह अपने देश से लाया था । मुग़ल संगीत में स्वर, राग या रागिनियों की व्यवस्था नहीं थी । इसमें ग़ज़ल का प्राधान्य था । संगीत, ग़ज़ल के साथ चलता था । ग़ज़ल संगीत के साथ नहीं चलती थी । यह नया प्रवाह मुग़लों ने भारतीय संगीत में जारी किया । लेकिन जब ग़ज़ल या रेख़्ता भारतीय संगीतज्ञों के हाथ में आया तो उन्होंने इसको और अधिक सुन्दर बना दिया । भारतीय कला-विद् फ़ारसी ग़ज़ल को भी भारतीय स्वर राग और रागिनियों में गाने लगे । इससे ग़ज़ल में और मधुरता आ गई और मुग़ल दरबार में भारतीय संगीत का प्रवेश हो गया । धीरे-धीरे ग़ज़ल गौण हो गई और संगीत ने प्रधानता प्राप्त कर ली । अकबर के दरबार में ग़ज़ल की प्रधानता प्रायः जाती रही ।

अकबर का दरबारी संगीत : अकबर स्वयं बड़ा कलाविद् था । वह कविता के मर्म को और संगीत के स्वरूप को स्वभावतः समझता था । इसलिए उसने भार-तीय संगीत के सिद्धान्त को समझा और अनुभव किया कि रस की निष्पति स्वर, राग और आवाज की मधुरता से होती है । शब्द में इतनी शक्ति नहीं है जितनी लय

में, स्वर में और तान में है। उसके दरबार में तानसेन का बड़ा आदर हुआ। तानसेन हिन्दू था परन्तु दरबारी गवैयों के चक्कर में पड़ कर मुसलमान हो गया था। उसका संगीत विशुद्ध भारतीय शैली का था और तत्कालीन जगत में उसका बहुत ऊँचा स्थान था। समस्त भारतवर्ष में उसकी समानता करने वाला केवल एक कलावन्त और था, वह था बैजू बावरा। बैजू बावरा ने अकबर का आश्रय स्वीकार नहीं किया, परन्तु तानसेन आजीवन मुग़ल दरबार को अलंकृत करता रहा।

मुग़लों के सम्पर्क का प्रभाव : मुसलमानों के सम्पर्क का भारतीय संगीत पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। जिन सिद्धान्तों का और शैलियों का वर्णन राग रत्नाकर और अन्य संगीत ग्रन्थों में दिया हुआ है वे ही सिद्धान्त अकबर के राज्य काल में और उसके पीछे जारी रहे। इतना सा भेद अवश्य हुआ कि फ़ारसी की ग़ज़लें और शाहजहाँ के बाद उर्दू की ग़ज़लें भारतीय स्वरों में और रागों में गाई जाने लगीं। परन्तु संगीत के बड़े-बड़े उस्तादों ने इस पद्धति को भी ग्रहण नहीं किया। इसका प्रचार केवल साधारण गवैयों में और गायिकाओं में हुआ। तानसेन ने तराना ज़ारी किया। इस शैली में शब्द की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। यहाँ तक कि स्वरों के भी नाम नहीं लिये जाते। यह इस सिद्धान्त की पराकाष्ठा थी कि संगीत में शब्द या अर्थ का महत्व नहीं है। उसमें संगति, लय और सामंजस्य की प्रधानता होनी चाहिए। प्राचीन रागों के स्वरों में किंचित् हेर-फेर करके कुछ नये राग रागिनियाँ तैयार की गईं। इनमें मुल्तानी, बहार, दरबारी, कांगड़ा, बड़गूजरी और मियाँ की टोड़ी आदि विशेष उल्लेख के योग्य हैं। वाद्य प्रायः सब भारतीय ही रहे। केवल सारंगी के विषय में सन्देह है और अनुमान होता है कि यह वीणा का रूपान्तर है। सितार भी वीणा का रूपान्तर है। और इसी का शुद्र-रूप इकतारा और तानपूरा है। परन्तु यह विकास और ह्रास भारत में ही हुए, और आवश्यकता और परिस्थिति के वश हुए। इन रूपान्तरों में कोई विदेशी प्रभाव प्रतीत नहीं होता। परन्तु अरबी ताशा शुद्ध विदेशीय है। नाम से प्रतीत होता है कि यह या तो आठवीं नवीं शताब्दी में भारतवर्ष में जारी हुआ या पहले यह ईरान या तुर्किस्तान में पहुँचा और फिर बारहवीं या तेरहवीं शताब्दी में इसने भारत में प्रवेश किया। परन्तु इसमें न कोई माधुर्य है और न सरसता और संगीत में इसको कोई स्थान नहीं मिल सकता। इसलिए यह मुग़लों के समय में आया हुआ नहीं है। राजस्थान में इस बाजे का उपयोग विवाह आदि अवसरों पर हिन्दू लोग बहुधा किया करते थे और इसके बजाने वाले केवल मुसलमान ही होते थे। अब यह मोहर्रम के अवसर पर काम आता है। नौबत और नक्कारे के विषय में भी कुछ विद्वानों का मत है कि यह बाहर से आया है। इसका शहनाई के साथ विशेष सम्बन्ध है और हिन्दू मन्दिरों में इसका बड़ा

प्रचार है। इससे जान पड़ता है कि यह प्राचीन वाद्य है परन्तु साथ ही इसका शुद्ध संस्कृत नाम यदि कोई था तो वह विस्मृत हो गया है और मुग़ल काल से यह नौबत कहलाने लगा। यहाँ तक कि हिन्दी भजनों में भी इसको नौबत ही कहते हैं। इसके स्थान को नगार खाना (नक्कारखाना) कहते हैं। और इसके साथ जो केवल ध्वनि संगीत होता है उसका वाद्य शहनाई कहलाता है जो भारतीय शब्द नहीं है। परन्तु ये सब बाजे कोमल और शुद्ध संगीत के अङ्ग नहीं हैं। ये आवश्यकता के अनुसार विकसित हुए हैं और इनका सम्बन्ध केवल बड़े-बड़े राजघरानों से ही था जनता से नहीं। जनता के यहाँ नौबत और शहनाई केवल विवाह के अवसर पर बजा करती थी और उस समय लाउड स्पीकर का काम देती थी।

बारहवाँ अध्याय

तीसरी पराधीनता की संस्कृति

अठारहवीं शताब्दी की अराजकता

मुग़लों का पतन : औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुग़ल साम्राज्य का बड़ी शीघ्रता से पतन होने लगा। १७१६ में बादशाह फर्रुखसियर को उसके सैयद मंत्रियों ने जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह और कोटे के महाराव भीमसिंह की सहायता से कैद करके मार डाला। इसके पश्चात् मुग़ल सम्राटों का प्रताप और अधिक क्षीण होने लगा। कितने ही प्रान्तीय सूबेदार स्वतन्त्र हो गये। मराठों का बल बढ़ने लगा। यहाँ तक कि सन् १७३८ में पेशवा बाजीराव दिल्ली के पड़ोस तक पहुँच गया और लूट मार करके वापिस आ गया। सन् १७३९ में नादिरशाह ने दिल्ली का कत्ले आम करवाया और समस्त नागरिकों की सम्पत्ति लूट ली। मुग़ल घराने की प्रमुख महिलाओं को वह अपने साथ ले गया और कुछ से उसने विवाह कर लिया। अटूट सम्पत्ति के साथ शाहजहाँ बादशाह का बनाया हुआ बहुमूल्य रत्न-जटित मयूरासन भी वह ईरान ले गया। अब मुग़ल सम्राट् केवल नाम के बादशाह रह गये और शक्तिहीन तथा धनहीन अवस्था में सिसक-सिसक कर अपना जीवन व्यतीत करने लगे। इस नाम शेष साम्राज्य को मानो निःशेष करने के लिए गुलाम कादिर रोहिला ने सन् १७८८ में दिल्ली पर धावा किया और शाही महलों पर कब्जा करके बादशाह शाहआलम की आँखें फोड़ डालीं और शाही हरमख़ाने की बेग़मों को अपने सैनिकों में बाँट दिया तथा जमीन में गड़े हुए परम्परागत कुल-क्रमागत धन को खुदवा कर ले गया।

मराठों की लूटमार : ज्यों-ज्यों मुग़ल शक्ति क्षीण होती जाती थी त्यों-त्यों मराठों का बल बढ़ता जाता था। पहले मालवा और गुजरात में और फिर राजपूताने में पहुँच कर उन्होंने लूटमार शुरू की और दिल्ली के पड़ोस तक को जा लूटा। उधर कलकत्ते से आगरे तक उनका आतंक छा गया और फिर उन्होंने पेशावर तक छापा जा मारा। ये लोग जहाँ जाते थे वहाँ लूटमार करते थे और बड़े-बड़े शहरों के सेठ साहूकारों से विपुल धन-राशि लेकर पिंड छोड़ा करते थे। राजस्थान और बुन्देलखण्ड इनकी लूटमार से बर्बाद हो गये थे। बड़े-बड़े राजघरानों के पास इन्होंने भोजन और वस्त्र के लिए भी रुपये नहीं छोड़े थे। पिण्डारी लोग मराठों की सेनाओं के अंग थे। जब लूट करने के लिए मराठे हमले करते थे तो

आगे पिण्डारियों का दल चलता था और पीछे से मराठों की सेना। पिण्डारे मराठों से भी अधिक नृशंस और नाशक थे। उस समय न कोई व्यवस्था थी और न कोई शासन। सर्वत्र घोर अराजकता थी और समस्त जनता का जीवन संकटाकुल था। त्रस्त और ध्वंसित लोग त्राहि-त्राहि करते थे और चाहते थे कि मराठों का अन्त हो।

अंग्रेजों का राज्य विस्तार : साथ ही साथ अंग्रेज लोग युक्ति और शक्ति से अपना राज्य जमाते जाते थे। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में उनके पास केवल बम्बई, सूरत, मद्रास, कलकत्ता और सात आठ अन्य समुद्र तट के पास स्थित छोटे-छोटे नगर थे। सन् १७६५ में बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश के उत्तम भाग पर उनका आधिपत्य स्थापित हो गया। अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में उन्होंने मराठों को दबा लिया और टीपू सुल्तान को खतम कर दिया। सन् १८०३ में दिल्ली का बादशाह उनके अधीन हो गया और मुगलों की राजधानी पर उनका अधिकार स्थापित हो गया। इन्हीं दिनों में सब मराठा सरदार भी उनके अधीन हो गये। फिर सन् १८१७-१८ में उन्होंने पिण्डारियों को निःशेष कर दिया। राजपूत नरेशों ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली और पेशवा उनका पेंशनर बन गया। इस प्रकार पंजाब के अतिरिक्त समस्त भारत पर अंग्रेजों का उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में आधिपत्य स्थापित हो गया।

अठारहवीं शताब्दी में इस प्रकार मुगल साम्राज्य का अन्त, मराठा शक्ति का उदय और अस्त तथा अंग्रेजों की सत्ता का स्थापन हुआ।

जनता की दुर्दशा : उपरोक्त राजनैतिक परिवर्तनों के कारण समस्त देश क्षत-विक्षत हो गया था। तत्कालीन एक बंगाली कवि कहता है कि मराठे खेतों में से धान उखाड़ ले जाते थे। खत्तियों में गड़े हुए अन्न को लूट लेते थे। गाँव में आग लगा देते थे। स्त्रियों और बच्चों पर भी दया नहीं करते थे। इस प्रकार लूट-मार से व्यापार सब चौपट हो गया था। लोग अपना रुपया-पैसा जमीन में गाड़ कर रखा करते थे। बड़ी-बड़ी बस्तियाँ जंगल बन गई थीं। खेती बाड़ी बहुत कम हो गई थी और जन-संख्या तेजी के साथ क्षीण होती जाती थी। हजारों बीघे जमीन पड़त रहा करती थी। किसानों को सदैव यह त्रास रहता था कि उनकी खड़ी हुई खेती लूट ली जावेगी। इस प्रकार के देश-व्यापी संकट के कारण जनता का चरित्र प्रायः विलीन सा हो गया था। जीन लॉ नामक एक यूरोपियन यात्री ने १७५६ में अपनी आँखों देखी दशा का वर्णन करते हुए कहा है कि "मैं बंगाल से दिल्ली तक सर्वत्र घूमा हूँ। मैं जहाँ भी गया मैंने देखा कि गरीबों को सताया जा रहा है और राहगीरों को लूट लिया जाता है। बड़े बड़े अमीर चुपचाप बैठे हैं। लोगों को राहत पहुँचाने के लिए कोई प्रयत्न

नहीं करते। अधिकांश उमराव मूर्ख और चरित्रहीन हैं और लोगों का शोषण करके जी रहे हैं।"

शासकों की दुर्दशा : जनता ही नहीं, अठारहवीं शताब्दी के शासक भी बड़े दुःखी थे। मुग़लों को निरन्तर आर्थिक चिन्ता रहती थी। राजपूत शासक मराठों के हमलों से त्रस्त थे। मराठा सरदार स्वयं अपने सैनिकों को यथासमय वेतन नहीं दे सकते थे। प्रायः सर्वत्र समय-समय पर सैनिक लोग वेतन प्राप्ति के लिए उत्पात किया करते थे जिससे स्थिति बड़ी विषम हो जाया करती थी। शासक लोग यथासम्भव अपना रुपया खर्च नहीं करना चाहते थे, प्रायः विवश होकर ही सैनिकों को वेतन चुकाते थे। ऐसी स्थिति से तंग आकर होल्कर के लश्कर में एक बार महावतों ने हड़ताल कर दी थी और हाथी स्वच्छन्द रूपेण लश्कर में घूमने लग गये थे जिससे त्राहि त्राहि मच गई थी। अमीरखाँ पिण्डारी को उसके सैनिकों ने पकड़ कर ज्येष्ठ मास की तीव्र धूप में एक तोप से बाँध दिया था और सिंधिया के सेनानायक जान बेप्टिस्टा को एक गोबर से भरे हुए खड्डे में डाल दिया था।

यत्र तत्र किंचित् प्रकाश : परन्तु इस देश-व्यापी घोर अन्धकार में भी कहीं किंचित प्रकाश था। जयपुर नरेश सवाई जयसिंह के राज्य में अच्छा प्रबन्ध और व्यवस्था थी और वे स्वयं ज्योतिष और गणित की शोध में लगे रहते थे। इन्होंने जयपुर, उज्जैन, दिल्ली और काशी में ज्योतिष गणना के लिए विशाल वेध-शालाएँ बनाई थीं। इन्दौर की महारानी अहिल्याबाई की भी बड़ी कीर्ति थी। उनके शासन के विषय में सर जान मैल्कम ने लिखा है कि अहिल्याबाई का राज्य प्रबन्ध इतना उत्तम है कि उसको देखकर आश्चर्य होता है। उनके सुशासन से मानव समाज को ही लाभ नहीं है परन्तु आकाश के पक्षी, जंगल के पशु और जल की मछलियाँ भी सुखी हैं। मैसूर राज्य में टीपू सुल्तान का शासन भी उत्तम माना जाता था। एक अंग्रेज ने लिखा है कि टीपू सुल्तान के राज्य में किसानों को कोई नहीं सताता था और उनको अपने परिश्रम का यथोचित फल प्राप्त होता था। राजस्थान की कोटा नामक रियासत में भी झाला जालिमसिंह का शासन-प्रबन्ध प्रशंसनीय था। उसने युक्ति से अपने किसानों की मराठे और पिंडारियों की लूट-मार से रक्षा की थी, खेती को प्रोत्साहन दिया था, सेना की सुव्यवस्था करके समय पर सबका वेतन चुकाता था। उसने कला-कौशल की उन्नति की थी और कितने ही फ्रांसिसी, मराठे और मुसलमान कुटुम्बों को अपने राज्य में सुरक्षित रखा था। परन्तु ये थोड़े से उदाहरण थे, इनके अतिरिक्त प्रायः समस्त देश बड़ी दयनीय दशा में था और चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार घिरा हुआ था।

उत्तर और दक्षिण की संस्कृतियों का सम्पर्क : ऐसी दयनीय परिस्थितियों में भी सांस्कृतिक विकास का प्रवाह बन्द नहीं हुआ। इस शताब्दी की विशेषता यह

थी कि इसमें उत्तर और दक्षिण की संस्कृतियों का किंचित् मिश्रण हुआ और भारतीय जनता पर यूरोपियन लोगों के रहन-सहन का प्रभाव पड़ने लगा। महाराजा सवाई जयसिंह ने जयपुर में जब अश्वमेघ यज्ञ किया तो भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त से प्रसिद्ध पंडित निमंत्रित किये। इनमें महाराष्ट्र से भी कई विद्वान् आये। रत्नाकर भट्ट महाशब्दे नामक एक महाराष्ट्री पंडित को सवाई जयसिंह अपना गुरु मानते थे। इसका भाई प्रभाकर भट्ट था। ये दोनों जयपुर में रहने लगे थे और इन्हीं के प्रयास से सवाई जयसिंह और बाजीराव के पारस्परिक सत्सम्बन्ध स्थापित हुआ था। सवाई जयसिंह का प्रधान न्यायाधीश एक कन्नड़ पंडित था जिसका नाम हरि कवि था। बाजीराव की माँ ने उत्तर भारत के मुख्य तीर्थ स्थानों की यात्रा की थी, उसके साथ सैकड़ों पंडित और लगभग दो तीन हजार फौज थी। ये लोग लूट-मार नहीं करते थे, अतः सर्वत्र इनका स्वागत हुआ था और उत्तर भारत के पंडितों के साथ इन्होंने विचार विनिमय किया था। राजस्थान, मालवा और ग्वालियर आदि प्रदेशों में हजारों मराठे बस गये थे। कितनों ही को राजपूत राजाओं ने आवश्यकता अनुभव करके जागीरें दे दी थीं। केवल कोटा राज्य में जालिमसिंह ने तीस मराठे सरदारों को छोटी बड़ी जागीरें देकर बसाया था। इस प्रकार मराठे लोग उत्तर भारत के रीति-रिवाज, भाषा, दृष्टिकोण आदि को समझने लगे और उत्तर भारत के निवासियों का मराठों के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हुआ। इसके अतिरिक्त इन्दौर, ग्वालियर, धार और देवास में मराठों ने अपने राज स्थापित कर लिये थे। इनके यहाँ हजारों मराठे सेना में और विविध पदों पर काम करते थे। इनके साथ-साथ स्थानीय कर्मचारियों की भी बहुत बड़ी संख्या थी। इन सब कारणों से उत्तर और दक्षिण की संस्कृतियों का मिश्रण होता जाता था। मराठा शासक मुग़लों के तरीके, शिष्टाचार, आचार-व्यवहार और शासन शैली को अपनाते जाते थे। उनका रहन-सहन भी अब उतना सादा नहीं था जैसा शिवाजी के समय में था।

दक्षिण पर भी उत्तर का प्रभाव पड़ता जाता था। राजा शाहु का बहुत अस तक मुग़ल दरबार में लालन-पालन हुआ था। औरंगज़ेब की लड़की जिन्नत्उन्निसा का वे मातृवत् आदर करते थे। उन्होंने सतारे में खुतबा पढ़ने का रिवाज जारी किया था और इस काम के लिए उत्तर भारत से एक मुसलमान परिवार को बुला कर अपने यहाँ नियुक्त किया था। राजा शाहु का हरमखाना भी मुग़लों का सा था। दक्षिण के बड़े-बड़े लोग मुग़लों के सुख-विलास का अनुकरण करते थे। कारण यह था कि उत्तर की लूट मार से महाराष्ट्र सम्पन्न हो गया था। बाजीराव मानो एक सम्पत्ति की धारा उत्तर से दक्षिण को ले गया था, इसलिए मराठे लोगों का जीवन शनैः शनैः अधिक विलासमय होने लगा था। पेशवा ने अपने लिए छः खण्ड

का महल बनवाया था और उसके चारों ओर सुन्दर और सुव्यवस्थित बाग लगवाये थे, जिनको विविध प्रकार के पुष्प-पौधों और फल-वृक्षों से अलंकृत किया था। दक्षिणी ब्राह्मण अपने कुल-क्रमानुगत धन्धे को छोड़ कर अब सैनिक अफसर बनने में अधिक गौरव समझते थे। पेशवा के दरबार का शिष्टाचार और व्यवहार मुग़लों के साँचे में ढल चुका था।

सन् १७९३ में पेशवा का विवाह हुआ। उसके सिलसिले में कई प्रकार के नाच-रंग खान-पान और जलसे हुए। रंग पंचमी के दिन अन्तिम जलसा हुआ। उस दिन सिंधिया भी पूना में था। बड़े पैमाने पर आतिशबाजी चलाई गई। सिंधिया के डेरे से पेशवा के महल तक रास्ते को खूब सजाया गया। स्थान स्थान पर हौजों में रंग भरा गया। रास्ते में सरदारों की बड़ी-बड़ी हवेलियों पर रंग और गुलाल का विशेष प्रबन्ध हुआ। पेशवा हाथी पर सवार हो कर बड़े जुलूस के साथ सिन्धिया के डेरे की ओर रवाना हुआ। मार्ग में हाथी के सामने नाच और गाना होता जाता था। निरन्तर रंग बरस रहा था और गुलाल उड़ रही थी। हाथी, घोड़े सब सोने से सजे हुए थे। सारा लवाजमा बादशाहों के ढंग का था। हाथी के सामने और पीछे चलने वाले लोग जरीदार कीनखाब के बढ़िया वस्त्र पहने हुए थे। बात यह थी कि सारे देश में मुग़लों का रहन-सहन और ठाट-बाट आदर्श माना जाता था। सर्वत्र मुग़लों की पोशाक की नकल की जाती थी। मराठों पर भी इन सब बातों का गहरा प्रभाव पड़ चुका था। फ़ारसी शिष्ट समाज की भाषा बन चुकी थी।

यूरोपियन लोगों से सम्पर्क : यूरोपियन लोगों का रहन-सहन और आचार-व्यवहार भारतीयों से बिलकुल भिन्न था। परन्तु आरम्भ में एक दूसरे से घृणा नहीं थी, बल्कि यूरोपियन लोग किसी अंश में हिन्दुस्तानी रहन-सहन को अपनाने लग गये थे। रंग-भेद का विचार भी अधिक नहीं था। हिन्दुस्तान में आने वाले यूरोपियन अपने साथ स्त्रियाँ बहुत कम लाये थे। कम्पनियों के गवर्नर और कौंसिलरों के अतिरिक्त शेष हजारों लोग अकेले आये थे। पुर्तगालियों ने तो अपनी सत्ता को दृढ़ करने के लिए यह नीति जारी की थी हिन्दुस्तानी स्त्रियों से विवाह किया जाय। उनका ख्याल था कि इनसे उत्पन्न होने वाली सन्तानें पुर्तगाल के प्रति वफादार रहेंगी। फ्रांसीसियों और अंग्रेजों की न ऐसी नीति थी और न ऐसा विचार, परन्तु निम्न श्रेणी के लोगों ने आवश्यकतावश हिन्दुस्तानी औरतों से विवाह किये। उस समय उनमें जातीय अभिमान नहीं था। यूरोपियन लोग हिन्दुस्तानी नाच और तमाशे देखा करते थे। वे हुक्का पीने लग गये थे और गवर्नर आदि बड़े अफ़सरों में हाथियों की लड़ाई देखने का बड़ा शौक था। फिर भी हिन्दुस्तानियों के प्रति इनका व्यवहार

स्नेहमय नहीं था। इन लोगों का ख्याल था कि मुसलमान व्यसनी और विलासी होते हैं और हिन्दू लोग अन्ध-विश्वासी। यह बात अंशतः सत्य थी। परन्तु यूरोपियन लोग हिन्दुस्तानियों को पूर्णतः समझ नहीं सकते थे। साथ ही हिन्दुस्तानी भी यूरोपीय लोगों को मद्यजीवी समझते थे। मनुकी ने लिखा है कि अकबर यूरोपियन लोगों के विषय में कहा करता था कि इनका और मद्य का जन्म साथ-साथ हुआ है। डबाय लिखता है कि एक बार हिन्दुस्तानी और यूरोपियन पादरी में बातचीत हुई तो हिन्दुस्तानी ने कहा—ईसाई मत शैतान का मत है। ईसाई लोग पीने में रहते हैं। सदा कुकर्म करते हैं। मारपीट करते हैं या दूसरों को गालियाँ देते हैं। एक बार श्वार्ट्ज़ ने एक हिन्दू वेश्या से कहा कि पापी और दुष्ट लोग स्वर्ग प्राप्त नहीं कर सकते। तो उसने तत्काल उत्तर दिया, "अरे साहब, तब तो कोई भी यूरोपियन स्वर्ग में नहीं घुस सकेगा।"

यूरोपियन लोग भारतवर्ष में बसने के लिए नहीं आये थे। उनका उद्देश्य था धन बटोर कर अपने घर जाना। जो लोग अपने देश में कुछ नहीं कर सके वे भारत में आये, खूब धन कमाया, सुख से रहे और यहीं मर गये। वास्तव में यूरोपियन लोग हिन्दुस्तानियों को अपने बराबर नहीं समझते थे। वे लोग यहाँ की भाषा भी बहुत ही कम जानते थे। उनका मिलना-जुलना था—बनियों से, नौकरों से, सर्राफों से या मुग़ल सम्राट् के कर्मचारियों से या नवाबों से। जुए, शराब और पारस्परिक कलह तथा छुरेबाजी—इनकी विशेषताएँ थीं। कम्पनी के नाम पर ये लोग निजी व्यापार करते थे और खूब माल मारते थे। कम्पनी अफ्रीका और मेडागास्कर से वहाँ के निवासियों को पकड़वाकर मँगवाती थी और उनको गुलाम बनाती थी। बन्दरगाहों में सैकड़ों अफ्रीकी गुलाम दिखाई देते थे। कभी-कभी अरब व्यापारी भी उनको बेच जाया करते थे। ये ढङ्ग १७८९ तक जारी था। फिर भी यह बात असम्भव थी कि हिन्दुस्तानियों से कोई सम्पर्क न हो। बनिये, सर्राफ, नौकर और नवाबों के अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के हिन्दुस्तानियों से भी सम्पर्क अनिवार्य था। मद्रास में आनन्द रंग पिल्लई की डूप्ले और अन्य फ्रांसीसी अफसरों के साथ अच्छी मित्रता थी। ये लोग उसकी सलाह माना करते थे वह इनको बड़ी-बड़ी दावतें दिया करता था और ऐसे अवसरों पर तोपों की बड़ी सलामी हुआ करती थी। ये लोग बड़े आदमियों की शादियों में भी सम्मिलित हुआ करते थे। पिल्लई ही एक ऐसा आदमी था जो फ्रांसीसी उच्चाधिकारियों की पत्नियों से बातचीत कर सकता था। एक दो उच्चाधिकारी ऐसे भी थे जो हिन्दुस्तानियों के साथ समानता का व्यवहार किया करते थे। बम्बई की स्थिति कुछ और अधिक अच्छी थी। यहाँ पारसी लोग अंग्रेजों से बहुत घुल-मिल गये थे। कुछ लोग टूटी-फूटी अंग्रेजी बोलने और लिखने भी लग गये थे। सूरत में और भी अधिक मेल-जोल था। वहाँ सेठ-साहूकारों के यहां अंग्रेजों की दावतें हुआ करती थीं।

पूना में अंग्रेजों का और अधिक प्रभाव था। वहाँ अंग्रेज रेजीडेंट की तरफ से पेशवा और उसके बड़े अफसरों को दावतें दी जाती थीं। आतिशबाजी और कई प्रकार के तमाशे, कुश्तियाँ तथा घुड़-दौड़ें दिखाई जाती थीं। पूना में कितने ही अंग्रेज बस गये थे। इन लोगों में कोई डाक्टर थे, कोई चित्रकार थे, और कोई दस्तकार। रेजी-डेन्सी के यूरोपियन डाक्टर और सर्जन से बड़े बड़े लोग अपना इलाज करवाया करते थे। सन् १७८० से पहले चेचक का टीका जारी हो गया था। वेल्स नामक एक अंग्रेज ने पूना के प्रमुख नागरिकों की कलमी तस्वीरें तैयार की थीं, जो पेशवा के महलों को अलंकृत करती थीं। एक यूरोपियन ने चित्रकारी का स्कूल जारी कर दिया था। पेशवा यूरोपियन शिक्षकों से भूगोल और ज्योतिष की बातें सुना करता था। उसको घड़ियों का, दूर-दर्शक यन्त्रों का, चीनी के बर्तनों का और अन्य कई प्रकार के यूरोपीय सामान का बड़ा शौक था। अंग्रेज रेजीडेण्ट पेशवा के यहाँ और अन्य प्रतिष्ठित सरदारों के यहाँ होली, दशहरा, गणेश चतुर्थी और दूसरे त्यौहारों पर आया जाया करता था। महाराजा सवाई जयसिंह ने पुर्तगाल के बादशाह को पत्र लिख कर वहाँ से एक विद्वान् ज्योतिषी को बुलाया था। झाँसी का रघुनाथ हरि नवलकर अंग्रेजी रहन-सहन को पसन्द करता था, उसको यूरोपियन साहित्य से प्रेम था और अंग्रेजी के ग्रन्थों का उसके पास अच्छा संग्रह था। विज्ञान के प्रयोगों के वास्ते उसने अपनी राजधानी में एक प्रयोगशाला की स्थापना की थी। तंजौर के राजा सफूंजी को अंग्रेजी भाषा का अच्छा ज्ञान था। उसने अपने सरस्वती पुस्तकालय महल में अंग्रेजी पुस्तकों का, चित्रों का और हस्तलिखित ग्रन्थों का अच्छा संग्रह किया था। दौलतराव सिंधिया के लश्कर में उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में अर्थात् १८०५ के लगभग अंग्रेज रेजीडेण्ट के साथ चार पाँच अंग्रेज रहते थे। इनमें एक डाक्टर भी होता था। जिधर यह लश्कर जाता था उधर इस डाक्टर से इलाज करवाने के लिए कितने ही ग्रामीण लोग आया करते थे। ये अंग्रेज लोग सिंधिया के दरबार में त्यौहारों के अवसरों पर उपस्थित हुआ करते थे। दौलतराव का श्वसुर सरजीराव कभी-कभी अंग्रेजी पोशाक पहनकर लश्कर में घूमा करता था, तब लोग विनोद के साथ उसको देखा करते थे। हिन्दुस्तानी रईस अंग्रेजों का इत्रपान और पहरावणी से स्वागत किया करते थे और इसी प्रकार उनकी बिदा होती थी। अंग्रेज लोग भी इसी शैली का अनुसरण किया करते थे। झाला जालिमसिंह ने लार्ड मैटकाफ का स्वागत इसी ढङ्ग से किया था। और और मैटकाफ ने भी जालिमसिंह को एक घड़ी, पिस्तौल और कुछ अंग्रेजी चीजें भेंट की थी। बड़े लोगों में घड़ियों का उपयोग प्रचलित हो गया था। बड़े-बड़े नगरों में कुछ लोग चाय भी पीने लगे थे। बम्बई और मद्रास में विदेशी शराब भी कुछ-कुछ चलने लगी थी।

इस प्रकार अठारहवीं शताब्दी में उत्तर और दक्षिण की भारतीय संस्कृतियों का सम्पर्क हुआ और भारतीय संस्कृति पर यूरोपीय सभ्यता का कुछ प्रभाव पड़ने लगा। यह अगले युग का श्रीगणेश था।

अठारहवीं शताब्दी का व्यापार : देशव्यापी अराजकता के होते हुए भी वाणिज्य और कला-कौशल चलता रहा। अधिकांश व्यापार समुद्र के किनारों के प्रदेशों में और बड़े-बड़े बन्दरगाहों में सीमित था और इसके संचालन में अंग्रेजों और डचों का बहुत बड़ा हाथ था। बम्बई और सूरत व्यापार के मुख्य केन्द्र थे। बंगाल के बन्दरगाहों से भी यूरोप के साथ व्यापार होता था। कोरोमंडल तट से जो मलाया के साथ व्यापार था वह विशेषकर डच लोगों के हाथ में था। चीन के साथ मुख्यतः अफीम का व्यापार था। ईरानी खाड़ी के निकटस्थ नगरों के साथ पारसी और मुसलमानों का व्यापार था। अठारहवीं शताब्दी में भारतवर्ष में नील की खेती का बड़ा प्रचार हुआ और इससे कृषकों को बड़ा लाभ हुआ। सन् १७६० के लगभग नील की खेती सारे उत्तर भारत में प्रचलित हो गई थी। अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक डच लोग हिन्दुस्तानी जहाजों में तिजारत किया करते थे। जहाज बनाने का काम अधिकांश पारसियों के हाथ में था। बंगाल में भी अंग्रेजों की देख रेख में जहाज बनाने का काम शुरू हुआ था, परन्तु अंग्रेजों ने इस कार्य को प्रोत्साहन नहीं दिया और वह धीरे-धीरे नष्ट हो गया। इंगलैण्ड से प्रतिवर्ष चार पाँच जहाज ऊन, शीशा, तांबा, लोहा और फौलाद के सामान से लदे हुए बम्बई पहुँचा करते थे और भारतवर्ष से काली मिर्च, कपड़ा, इलायची और अन्य कई चीजें अपने देश को ले जाया करते थे। चीन को अफीम के अतिरिक्त अन्न, शोरा, हथियार, और रेशम तथा रुई के कपड़े भेजे जाते थे और वहाँ से काली मिर्च, जस्त, मोम, मसाले, चाय, फिटकरी, कपूर, चीनी के बर्तन आदि चीजें आया करती थीं।

अठारहवीं शताब्दी का साहित्य : इस शताब्दी में विद्या का मुख्य केन्द्र काशी और नदिया था। बंगाल के राजा कृष्णचन्द्रराय बड़े विद्याव्यसनी और पांडित्यपोषक थे। इनकी राज्य सभा को कई संस्कृत और बंगाली के पंडित अलंकृत करते थे। इनमें बाणेश्वर और पंचानन प्रसिद्ध थे। बाणेश्वर ने वारेन हेस्टिंग्ज के लिए हिन्दू कानून पर एक ग्रन्थ तैयार किया था जिसका नाम विवादर्णविसेतु था। पंचानन ने मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह को नायक बनाकर अमर मंगल नामक नाटक लिखा था। नागोजी भट्ट इस शताब्दी का प्रसिद्ध विद्वान् था। उसने विविध विषयों पर अनेक संस्कृत ग्रन्थों की रचना की थी। व्याकरण के लिए उसकी विशेष ख्याति थी। पूना, तंजोर, कोचीन, कालीकट और ट्रावनकोर के नरेशों के आश्रय में कितने ही संस्कृत, तामिल और तेलुगू के विद्वान् रहते थे, जिन्होंने कितने ही उत्तम

ग्रन्थों द्वारा साहित्य की सेवा की थी। तंजोर नरेश स्वयं बड़े विद्वान् थे। उन्होंने संगीत विषय पर संगीत सारामृत नामक ग्रन्थ की रचना की थी। सदाशिव दीक्षित, घनश्याम और वेत्रेश्वर आदि पंडितों को उनका आश्रय प्राप्त था। सर्फोजी ने एक स्मृति-संग्रह तैयार करवाया था। इसी समय में सदाशिव ब्रह्मेन्द्र और नारायण तीर्थ बड़े विद्वान् संन्यासी हुए, जिनके लिखे हुए भक्ति स्तोत्रों का दक्षिण में बड़ा प्रचार हुआ। ट्रावनकोर नरेश बलराम वर्मा ने नृत्यकला पर बलराम भरत नामक ग्रन्थ की रचना की। मैसूर नरेश के सर्वाधिकारी अर्थात् महामंत्री कलेले नन्जराव ने संगीत गंगाधर नामक ग्रन्थ लिखा। उनके आश्रय में रहने वाले काशीपति ने मुकुन्दानन्द नामक ग्रन्थ और नरसिंह ने नन्जराज यशोभूषण नामक पुस्तकें लिखीं। इसी शताब्दी में मराठी, पंजाबी और उर्दू तथा बंगला की भी अच्छी उन्नति हुई। अधिकांश ग्रन्थ या तो भाष्य थे या टीकायें, या प्राचीन ग्रन्थों की सरल संस्कृत में आवृत्तियाँ। इनमें कितने ही भक्ति ग्रन्थ थे। कुछ शुद्ध साहित्यिक भी थे जो केवल लोकरंजन के लिए लिखे गये थे।

उत्तर भारत में प्रायः राजस्थान के समस्त नरेशों ने और इसी प्रकार बुन्देलखण्ड और मालवा के बड़े बड़े शासकों ने हिन्दी लेखकों को और कवियों को आश्रय और सम्मान प्रदान करके साहित्य को प्रोत्साहन दिया था। जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह और मानसिंह, जयपुर के महाराजा माधोसिंह और प्रतापसिंह, बूंदी के महाराजा बुधसिंह और किशनगढ़ के महाराजा सावंतसिंह स्वयं उच्च कोटि के विद्वान् थे। इन सबकी संस्कृत में अच्छी गति थी और हिन्दी में उत्तम कविता करते थे। केवल जयपुर राज्य में इस काल में लगभग एक सौ कवियों और लेखकों को आश्रय मिला था। प्रसिद्ध कवि पद्माकर जयपुर के और बांकीदास जोधपुर के आश्रित थे। भरतपुर के जाट नरेशों ने भी कितने ही कवियों और विद्वानों को आश्रय प्रदान किया था। अठारहवीं शताब्दी संधि-युग था। संस्कृत विद्या की इस काल में कुछ टिमटिमाती हुई क्षीण झाँकियाँ दिखाई देती थीं। अंग्रेज शासकों के सम्पर्क से और यूरोपीय ईसाईयों के परिश्रम से दूसरे युग का प्रकाश अनन्तकाल के क्षितिज पर दिखाई देने लग गया था।

उन्नीसवीं शताब्दी : इस शताब्दी में भारतीय संस्कृति का बहुत बड़ा रूपान्तर हुआ। अंग्रेजी राज्य के दृढ़ हो जाने से अंग्रेजों के धर्म, साहित्य, विज्ञान, शासन-प्रणाली, रीति रिवाज आदि का स्वतः ही प्रचार होने लगा। इनसे भारतीय सभ्यता प्रायः दब सी गई। साथ ही अंग्रेजी भाषा द्वारा अंग्रेजी शिक्षा पद्धति से नवीन प्रकार की पाठशालाओं में और विद्यालयों में बालकों और नवयुवकों की शिक्षा होने लगी। इससे नवयुवकों का दृष्टिकोण बिलकुल बदल गया। भारतीय संस्कृति के प्रति इनमें

पहले उदासीनता और फिर ग्लानि उत्पन्न होने लगी और हिन्दू धर्म और संस्कृति के लिए जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो गया। साथ ही ईसाई प्रचारकों ने हिन्दू धर्म की कुरीतियों और समाज की कुप्रथाओं की घोर निन्दा आरम्भ की। ऐसी विषम स्थिति उपस्थित हो जाने पर समस्त देश तिलमिला उठा। तब अनेक समाज सुधारक, धर्मोपदेष्टा, साहित्यकार और राजनैतिक नेता उत्पन्न हुए। इन्होंने समाज और धर्म के सुधार साहित्य की सृष्टि और राजनैतिक जागरण अपने हाथ में लिया और देश को जीवन संदेश दिया। भारतवर्ष ने पुनः अपना स्वरूप पहिचाना। उसका पुनर्जीवन हुआ। उसके गौरवमय अतीत ने उसके प्राणों को नई शक्ति प्रदान की और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में वह ज्ञान-विज्ञान से पुष्ट होकर राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए तैयार हो गया।

भारतवर्ष में ईसाई

आदि ईसाई : ईसाई इतिहास में एक किंवदन्ती है कि ईसामसीह के लगभग २०० वर्ष पश्चात् संत टोमस नामक एक ईसाई उपदेशक भारत वर्ष में आया और उसने मलाबार में अपने मत का प्रचार किया। जिसके फल-स्वरूप वहाँ एक ईसाई गिरजाघर का निर्माण हुआ और सैकड़ों हिन्दुओं ने यह मत ग्रहण कर लिया। संत टोमस के भारत में आगमन की कथाओं में इतना परस्पर विरोध है कि उनमें किसी को भी सर्वांशतः ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता, परन्तु स्थानीय परम्पराओं से इतना अवश्य प्रकट होता है कि ईसाई मत भारतवर्ष में किसी न किसी प्रकार दूसरी या तीसरी शताब्दी में आ पहुँचा था और इसके कुछ अनुयायी भी बन गये थे। परन्तु उनका रहन-सहन, खान-पान और वेश-भूषा तथा दृष्टिकोण भारतीयों से इतना भिन्न नहीं था जितना उन्नीसवीं शताब्दी के ईसाइयों का था। उनके व्यवहार में भी कोई दम्भ या दर्प नहीं था। कारण यह था कि उस समय ईसाई मत किसी राजनैतिक शक्ति का आश्रय लेकर भारतवर्ष में नहीं आया था, यह केवल धर्म के रूप में आया था, इसलिए न इसका विरोध हुआ न प्रचार। यह भारतवर्ष के अनेक सम्प्रदायों में घुलमिल सा गया था और बाहर के ईसाइयों से कोई सम्पर्क न रहने के कारण इसमें समय-समय पर न कोई ताज़गी आई थी न नया प्राण। जैसे बौद्ध-धर्म हिन्दू धर्म में घुल-मिल गया था और अन्त में वह विलीन हो गया था, यही दशा इस आदि ईसाई मत की हुई होगी।

पोर्च्यूगीज़ ईसाई : पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में पोर्च्यूगीज़ लोगों ने भारत में प्रवेश किया। इनका सरदार वास्कोडिगामा कालिकट के महाराज जमोरिन से मिला और भारतवर्ष तथा पुर्तगाल में पारस्परिक व्यापार सम्बन्ध स्थापित हो गया। पुर्तगाली

लोगों ने भारत के पश्चिमी तट पर अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित किये और फिर स्थानीय नरेशों की निर्बलता से लाभ उठा कर कई संघर्षों के बाद कुछ स्थानों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। गोआ, डामन और ड्यू के प्रदेश भारतीय पुर्तगालीय साम्राज्य कहलाने लगे। पुर्तगाली लोग मुसलमानों की भाँति बड़े कट्टर और असहिष्णु थे और अपने धर्म के अतिरिक्त सब धर्मों को विनाश के योग्य समझते थे। भारत में प्रवेश करते ही इन्होंने बम्बई के तट से लगभग ११, १२ मील समुद्र के अन्दर एक टापू में हिन्दू देव देवियों की अनेक भव्य प्रतिमाएँ चट्टानों में तराश कर बनाई हुई देखीं। उनकी सुन्दर कला और ललित कोमलता पर मुग्ध होने की बजाय उनको देखकर इनकी कट्टरता उमड़ पड़ी और सब मूर्तियों को खंडित कर डाला। इस स्थान का नाम इन लोगों ने एलिफैण्टा केव्ज रखा। यहाँ पर उस समय पत्थर का बनाया हुआ एक सुन्दर हाथी था, इसलिए इन्होंने इस टापू का नाम ऐलिफेण्टा रखा था। यह हाथी इस समय बम्बई के संग्रहालय में रखा हुआ है।

पुर्तगाली लोगों ने हिन्दुओं को विवश ईसाई बनाने के नीति ग्रहण की। अपने राज्य काल में छल, बल और कौशल से हजारों नर-नारियों को ईसाई मत ग्रहण करने के लिए विवश किया। जो लोग ईसाई मत का किंचित् भी विरोध करते थे उनको या तो तत्काल प्राणदण्ड दिया जाता था या जहाज में लाद कर पुर्तगाल भेज दिया जाता था, जहाँ अत्यन्त नृशंस विधि से इनका वध किया जाता था। इसके अतिरिक्त पुर्तगालियों ने यह भी नीति जारी की कि उनके देशवासी जो भारत में आवें वे भारतीय स्त्रियों से शादी करें। इन लोगों की धारणा थी कि ऐसे विवाहों से जो सन्तानें उत्पन्न होंगी वे ईसाई तो होंगी ही सही परन्तु वे पुर्तगाल सरकार की वफादार भी होंगी। इस नीति से लाखों भारतीय ईसाई बन गये और लाखों वर्णशंकर मनुष्य उत्पन्न हुए जो सभ्यता में भारतीयों से भिन्न हो गये। जैसे नये मुसलमानों में राजनीतिक दम्भ था वैसा ही दम्भ इन लोगों में उत्पन्न हुआ। कुल और चरित्र की दृष्टि से हीन होते हुए भी ये लोग अपने को अधिक सभ्य और उन्नत मानने लगे। इस प्रकार की पुर्तगाली बस्तियों से न पुर्तगाल को कोई लाभ हुआ न भारत को। अपने राज्य में पुर्तगाली सरकार ने अपनी भाषा जारी की। इसी भाषा का उपयोग इनके ईसाई पादरी धर्म प्रचार के लिए किया करते थे। पुर्तगाली व्यापारी भी बहुधा अपनी भाषा का ही व्यवहार करते थे। इसलिए समुद्रतट के प्रदेशों में ही नहीं, जहाँ-जहाँ पुर्तगाली लोग जाते थे वहाँ-वहाँ इनकी भाषा भी पहुँचती थी। इनके सम्पर्क से अपना काम चलाने के लिए बहुत से हिन्दुस्तानियों ने भी पुर्तगाली भाषा का किंचित् ज्ञान प्राप्त कर लिया था। पुर्तगाली लोग भी कुछ फारसी और कुछ अन्य भाषायें जानते थे, इसलिए आदान-प्रतिदान चलता रहता था। पुर्तगाली पादरी अकबर के दरबार में

कई बार आये थे और जहाँगीर ने पुर्तगाली पादरियों से थोड़े दिनों शिक्षा भी प्राप्त की थी। लाहौर और आगरे में मुग़ल बादशाहों की अनुमति प्राप्त करके इन्होंने गिरजाघरों का भी निर्माण किया था। सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में कुछ लोगों ने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था। पुर्तगाल की भाषा तत्कालीन भारत और योरोप की मानी हुई सम्पर्क भाषा थी। आरम्भ में जो अङ्गरेज भारतवर्ष में आते थे उनका विशेष कार्य भारत में ईसाई मत का प्रचार करना था। उन लोगों के लिए पोर्च्यूगीज़ भाषा का और भारतवर्ष की स्थानीय भाषा का ज्ञान आवश्यक माना जाता था। पुर्तगाली भाषा के कितने ही शब्द इस समय हिन्दू और उर्दू में ऐसे घुलमिल गये हैं कि इनकी विदेशीयता का प्रायः अनुमान भी नहीं होता। उदाहरणार्थ कमरा, नीलाम, पादरी, कमीज, कुंजी, मारतोल आदि शब्द पुर्तगाली भंडार के हैं। पुर्तगाल की दूसरी देन हुक्का और तम्बाकू है। पुर्तगाली तमाखू के पौधे को अमेरिका से योरोप में लाये थे और वहाँ से भारत में। ऐसी कहानी है कि पुर्तगाली पादरियों ने जब प्रथम बार अकबर बादशाह को हुक्का पिलाया तो उसने एक दो फूँक लेकर शिष्टता के नाते कह दिया कि यह बहुत अच्छा है। इस घटना का आश्रय लेकर पुर्तगालियों ने इसका भारतवर्ष में खूब प्रचार किया। फिर इसकी स्थान स्थान पर खेती होने लगी और कालान्तर में यह शिष्टाचार और समाज के सम्पर्क का साधन बन गई। शाहजहाँ को तम्बाकू का प्रचार पसन्द नहीं था, उसने फरमान के द्वारा घोषणा की कि तम्बाकू हानि-कारक वस्तु है। परन्तु जो चीज चल पड़ी वह चल ही पड़ी।

अनाआस, पपीता और अमरूद भी पुर्तगाली लोग ही लाये थे। इनमें पपीता और अमरूद अत्यन्त प्रचलित हैं और भारतवर्ष के समस्त भागों में ये बोये जाते हैं। गोभी की खेती भी पुर्तगाली लोगों ने ही जारी की थी और इस समय भारत-वर्ष में कोई स्थान नहीं है जहाँ गोभी नहीं खाते हों। कलमी आम के चलाने वाले भी पुर्तगाली ही हैं। बम्बई का अलफान्सो आम प्रसिद्ध है ही, जिसके नाम से ही प्रकट होता है कि यह पुर्तगाल की ही देन है। सबसे अधिक प्रिय और प्रचलित वस्तु जो पुर्तगालियों ने दी है वह है आलू। इसके विषय में कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है। यह प्रतिपल हमको स्मरण दिलाता है कि दो संस्कृतियों के सम्पर्क से कितना लाभ होता है। लाल मिर्च भी पुर्तगाली लोग ही लाये थे। स्वास्थ्य की दृष्टि से यह अच्छी वस्तु नहीं मानी जाती, परन्तु कन्याकुमारी से दिल्ली तक इसके बिना काम भी नहीं चलता। राजस्थान में लाल मिर्च को गाँव के लोग पर्तगाली कहते हैं, जो इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि यह पुर्तगाल से आई हुई वस्तु है। भारतवर्ष की संस्कृति के विषय में योरोप में सबसे पहला ग्रन्थ पुर्तगालियों ने ही लिखा था। भारतवर्ष में सबसे पहला छापखाना गोआ में खुला था। पुर्तगालियों की शासन-व्यवस्था, धर्म-प्रचार शैली, मिश्रित जाति की

सृष्टि, अपने ढंग का रहन-सहन आदि का अनुकरण कुछ रूपान्तर करके अंग्रेजों ने किया था। भारत के योरोपीयकरण का पुर्तगाली सम्बन्ध प्रथम चरण था।

अंग्रेज और ईसाईयत : अंग्रेजों ने भारत में सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रवेश किया था। तभी से उनके साथ पादरी लोग आये थे और अपने आस-पास लोगों में धर्म प्रचार किया करते थे। सन् १६१७ में इन्होंने एक मुग़ल को ईसाई बनाया था जिससे वातावरण प्रक्षुब्ध हो गया था। सन् १६८० में कलकत्ते में सबसे पहला गिरजाघर बनाया और सन् १७१६ में इनका प्रोटेस्टेंट गिरजा बना। इंग्लैंण्ड के उच्चाधिकारी हमेशा यह चाहते थे कि भारतीयों को ईसाई बनाया जाय। ऐसे लोगों में चार्ल्स ग्रान्ट, लार्ड कासलरिग प्रमुख थे। लार्ड कासलरिग ने तो इस विषय में एक प्रस्ताव पेश करते हुए कहा था कि भारतीय लोग एक परित्यक्त जाति है, उनकी खबर न सरकार लेती है न भगवान्, अतः हमको चाहिए कि उनको धर्म बुद्धि दें।

अंग्रेज लोग ईसाइयत को अपनी राजशक्ति के साथ लाये थे, इसलिए उनके पादरियों के उपदेशों में स्नेह और सहानुभूति का अभाव था। वे अपने धर्म का प्रचार दम्भ और दर्प के साथ करते थे और उनका तरीका यह था कि वे हिन्दुओं के अन्ध-विश्वास और हीन प्रथाओं का अत्युक्ति के साथ विवेचन और विश्लेषण करते थे। हिन्दू धर्म को वे हमेशा घृणा की दृष्टि से देखते थे। फिर भी कम्पनी सरकार हिन्दुओं के धर्म में किसी प्रकार हस्ताक्षेप नहीं करती थी। वेलोर (मद्रास) में सैनिकों को जब यह आदेश दिया गया कि वे तिलक न लगावें, माला न पहनें तो सेना में उत्पात हो गया था और हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने अंग्रेजी सैनिकों की पूरी दो कम्पनियाँ खतम कर डाली थीं। इसलिए कम्पनी सरकार ने धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप करना छोड़ दिया था। अधिकारियों को यह भय रहता था कि कहीं वेलोर की आवृत्ति न हो जाय। तो भी अंग्रेजी पादरी लोग धर्म प्रचार करते ही थे। कम्पनी के अफसर प्रत्यक्ष में इनको कोई सहायता नहीं देते थे परन्तु ईसाइयत के प्रचार पर रुपया तो इंगलैण्ड का ही खर्च होता था और कम्पनी के कर्मचारी भी ईसाई उपदेशकों के साथ सहानुभूति रखते थे। अंग्रेजों के अतिरिक्त दूसरी योरोपियन कम्पनियों के पादरी भी बड़े उत्साह के साथ ईसाई धर्म का प्रचार करते थे। इनमें डच लोगों का उत्साह सबसे अधिक था। कलकत्ते के समीप सिरामपुर में इनका केन्द्र था, जहाँ केरी और माशमैन प्रसिद्ध कार्यकर्ता थे। केरी पहले अपने देश में जूते गाँठने का काम करता था और माशमैन जिल्दसाजी का। इन दोनों ने बड़े लगन के साथ ईसाइयत का प्रचार किया।

सिरामपुर के पदारियों का प्रचार : यहाँ के पदारियों ने बाइबिल का भारतवर्ष की २६ भाषाओं में अनुवाद किया। इन्होंने हिन्दुस्तानी लिपियों का छापा

तैयार किया। बाइबिल के विभिन्न अध्यायों को पुस्तकाकार में प्रकाशित किया। हिन्दू धर्म के विरुद्ध हजारों पुस्तिकायें लिखीं। कलकत्ते में प्रचार की धूम मचा दी। बाजार में मौके मौके पर व्याख्यान दिये। अंग्रेजों की छत्रछाया में हिन्दू धर्म की दिल खोल कर बुराई बतलाई और ईसाइयत की उत्तमताएँ प्रकट कीं। सि रामपुर के पदारियों का श्रेष्ठ काम यह था कि इन्होंने सबसे पहले हिन्दी भाषा को आधुनिक रूप देना शुरू किया। उसका छापा तैयार किया एवं ईसाइयत के प्रचार के साथ-साथ हमारी भावी राष्ट्रभाषा का भी उदय हुआ।

अंग्रेजों द्वारा प्रथम खुला प्रचार : बहुत काल तक आगा-पीछा सोचते सोचते सन् १८१४ में कम्पनी सरकार ने निश्चय कर लिया कि सरकारी तरीके से नहीं परन्तु सहायता और सहानुभूति देकर ईसाइयत का प्रचार करवाने में कोई हानि नहीं है। सबसे पहले ईसाइयत पर सार्वजनिक भाषण कलकत्ते में हुआ। श्रोताओं में कम्पनी के बड़े-बड़े अफसर और कितने ही प्रतिष्ठित नागरिक उपस्थित थे और जनता की संख्या लगभग १३०० थी। लोगों ने शान्तिपूर्वक ईसाई धर्म का विवेचन सुना। इस व्याख्यान में हिन्दू धर्म पर कीचड़ नहीं उछाला गया था। इसलिए विवाद या वैमनस्य की कोई बात उपस्थित भी नहीं हुई। इसके पश्चात् अंग्रेजों का भय जाता रहा और ईसाई धर्म का प्रचार नगर-नगर में बड़े जोर के साथ होने लगा। अधिकांश ऐसे भारतीय ईसाई धर्म को ग्रहण करते थे जो अत्यन्त दीन और विपन्न अवस्था में थे। ईसाई हो जाने पर उनको कुछ नौकरी मिल जाती थी और खाना-पीना चलने लगता था। कुछ बड़े-बड़े लोग भी लोभ, प्रमोद और आकर्षण के वश होकर ईसाई बन गये थे। कुछ ऐसे भी लोग थे जिनको हिन्दू समाज की कट्टरता ने ईसाइयों की गोद में धकेल दिया था। बंगाल के प्रसिद्ध साहित्यकार माइकल मधुसूदन दत्त नौकरी के लिए ईसाई बने थे। काशी के नीलकंठ शास्त्री ने लोभवश ईसाई धर्म ग्रहण किया था। पूना की प्रसिद्ध विदुषी ब्राह्मण महिला पंडित रमाबाई समाज की संकुचित दृष्टि से तंग आकर ईसाई हुई थी। सन् १८२५ के लगभग भारत के प्रत्येक नगर में एक दो प्रतिष्ठित ईसाई और दस पाँच गरीब ईसाई दिखाई देने लगे थे। राजस्थान में गदर से पहले ईसाई नहीं थे। केवल अजमेर और नसीराबाद में इनकी कुछ संख्या थी। सन् १८५३ के आँकड़ों के अनुसार बंगाल, उत्तर प्रदेश, मद्रास और बम्बई में सब मिलकर ६२००० के लगभग ईसाई थे। यह संख्या प्रत्यक्ष में बड़ी नहीं थी परन्तु ईसाईयों का प्रचार बड़ा धुआँधार था। इनके विचारों का नवयुवकों पर बड़ा प्रभाव पड़ता जाता था और जान पड़ता था कि हिन्दू धर्म के लिए घोर संकट उपस्थित हो गया है। अपने विचारों की लोकप्रियता को बढ़ती हुई देख कर इंग्लैण्ड और अमेरिका के लोग यह आशा करने लगे थे कि थोड़े ही समय में समस्त भारत ईसाई धर्म को ग्रहण कर लेगा। कुछ ऐसे भी दूरदर्शी लोग थे जो कहते थे कि भारतीय संस्कृति और

सभ्यता इतनी हीन और हेय नहीं है जितनी वह प्रत्यक्ष में प्रतीत होती है। बल्कि अनेक अंशों में वह उतनी ही सशक्त और सुन्दर है जितनी योरोप की सभ्यता। परन्तु ऐसे विचारवान् व्यक्तियों की संख्या अत्यन्त अल्प थी। इसलिए ईसाइयत का प्रचार दिन प्रति-दिन जोर पकड़ता जाता था। और उसने तूफान का सा रूप धारण कर लिया था।

ईसाइयत के प्रचार के कारण : कम्पनी सरकार प्रत्यक्ष में ईसाई प्रचारकों को सहायता नहीं देती थी। धर्म-परिवर्तन करवाते समय दबाव का भी प्रयोग नहीं होता था। परन्तु यह तो सब जानते ही थे कि ईसाई धर्म शासकों का धर्म है और इसके पीछे राजसत्ता की सहानुभूति है। इसके अतिरिक्त भारतीय लोग बाइबिल और यूरोपियन विज्ञान में कुछ भेद नहीं समझते थे। ईसाई धर्म की कुरीतियों और रूढ़ियों को भी लोग नहीं जानते थे। जब विज्ञान के साथ ईसाई धर्म का प्रचार होने लगा तो भारतीय चौंधिया गये। योरोप का तर्क, योरोप का विज्ञान, वहाँ के प्रजातन्त्र के विचार, मानसिक स्वतन्त्रता की लहर, स्त्री-पुरुष की समानता, ये सब बातें ईसाई धर्म की मानी जाने लगीं। परिणाम यह हुआ कि ईसाइयत का प्रचार बड़े जोर के साथ होने लगा। सन् १८१३ में केवल इने गिने पादरी काम करते थे, सन् १८३० में इनकी संख्या १४७ हो गई और १८५० में ४०३ तक पहुँच गई। ईसाइयों की शिक्षा संस्थाओं में पढ़े हुए नवयुवक अपने धर्म और संस्कृति को त्याज्य समझने लगे, उसका उपहास करने लगे और उच्छृंखलता पूर्वक अपनी सम्पूर्ण सामाजिक मर्यादाओं का त्याग ही नहीं करने लगे परन्तु शिष्ट घरों में मास और हड्डियों को फेंकने लगे। ईसाई होकर गौ मांस भक्षण दम्भ के साथ करने लगे। इस प्रचण्ड लहर का कारण यह था कि तत्कालीन नवयुवकों को यह पता नहीं था कि ईसामसीह का योरोप के समाज से कोई सम्बन्ध नहीं है। बाइबिल का धर्म बौद्ध धर्म से बहुत मिलता-जुलता है और उसके साथ जो सामाजिक और राजनैतिक स्वतन्त्रता की बातें की जाती हैं उनका ईसाइयत से कोई सम्बन्ध नहीं है। उस समय तक योरोपिय समाज का उच्छृंखल और नग्न रूप, वहाँ की अमर्यादितता और आचारहीनता का भी भारतीयों को पता नहीं था। ईसाई लोग अपनी कमजोरियों को छिपाते थे और योरोपीय समाज के उत्तम पक्षों का वर्णन करते थे। साथ ही हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म के अज्ञान, जन्त्र, रीति-रिवाजों का और विचारों का अत्युक्ति के साथ वर्णन करते थे। नवशिक्षित नवयुवक अपनी कुलक्रमागत शिक्षा से अपरिचित थे ही, वे अंग्रेजी शिक्षा की बुराइयों से परिचित नहीं थे। उनसे ये बातें छिपाई जाती थीं कि पादरी ब्लैनशर्ड भारत से पाँच लाख रुपये, आवन ढाई लाख रुपये और ज़ान्सन साढ़े तीन लाख रुपये लेकर स्वदेश लौटे थे। इससे स्पष्ट है कि ये लोग भारतवर्ष में धर्म के प्रचार के लिए नहीं किन्तु धन संग्रह के लिए आये थे।

भारत विषयक सच्चा ज्ञान : जब ईसाई धर्म प्रचारक भारत में आये तो उन्होंने यहाँ की भाषायें सीखीं और संस्कृत का भी अध्ययन किया। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में फ्रांसीसी भाषा में यजुर्वेद का कुछ उल्टा-सुल्टा सा अनुवाद किया और एक पादरी ने भारत के विविध दर्शनों का विवरण लिखा। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में ए० बी० दुबाय नामक एक फ्रांसीसी विद्वान् पादरी ने भारतीय जीवन का विशद विवरण तैयार किया। फ्रांस का एक नवयुवक विद्वान् सन् १७६० में भारतवर्ष में आया। उसने संस्कृत और फारसी का अच्छा अध्ययन किया, और दारा शिकोह कृत उपनिषदों के फारसी अनुवाद का लैटिन भाषा में अनुवाद किया। जर्मनी का प्रसिद्ध दार्शनिक आर्थर शापनहावर इस अनुवाद को पढ़कर विस्मय मुग्ध हो गया और कह उठा कि "जीवन भर में मुझे यहीं एक शान्ति प्राप्त हुई है और मृत्यु पर्यन्त यह शान्ति मेरा साथ देगी।" इस अनुवाद के कारण जर्मन विद्वानों में भारतीय संस्कृति का अध्ययन करने की रुचि जाग्रत हुई। जाहान फिक्टे और पाल दुसान ने वेदान्त दर्शन की मुक्त कंठ से प्रशंसा की, और निल्से ने मनुस्मृति के विषय में कहा कि यह आध्यात्मिक ग्रन्थ है। संसार में कोई ग्रन्थ इसकी तुलना नहीं कर सकता। बाईबिल से तो इसकी तुलना करना महापाप होगा। जब अङ्गरेज लोग संस्कृत का अध्ययन करने लगे तो उनको विदित हुआ कि यहाँ उच्च विचारों का अद्भुत पुञ्ज है। अतः सन् १७८५ में सर चार्लस विल्किन्स ने गीता का अङ्गरेजी में अनुवाद किया। विलियम जान्स ने १७८४ में शकुन्तला नाटक और ऋतुसंहार का अनुवाद किया। उन्होंने ही एशियाटिक सुसाइटी की स्थापना की और इसके १७८६ के अधिवेशन में कहा कि संस्कृत परिमार्जित है और लैटिन से अधिक सम्पन्न है। तदनन्तर कोलब्रुक ने भारतीय विद्या के विविध अंगों का मार्मिक अध्ययन किया और सन् १८०५ में उन्होंने ही वेदों का एक प्रामाणिक विवरण प्रकाशित किया। अलेक्जेण्डर हैमल्टन नामक अङ्गरेज संस्कृत का अच्छा पंडित था। उससे चेज़ी नामक फ्रांसीसी ने संस्कृत सीखी, फिर फ्रांस में भी कई विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन किया। इनमें एक यूजीन बर्नाफ था। मैक्समूलर इसी का शिष्य था। जब मैक्समूलर ने वेदों का अनुवाद प्रकाशित किया तो भारत के विद्वान् चकित हो गये। श्लोगल नामक फ्रांसीसी विद्वान् ने जब भगवद्गीता पढ़ी तो कह उठा कि "हे ईश्वरत्व के व्याख्याता ! मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ और तुम्हारे चरणों में अपना अभिनन्दन करता हूँ।" इसके पश्चात् योरोप के और विशेषकर जर्मनी के कई विद्वानों ने भारतीय साहित्य और संस्कृति का अध्ययन किया और उसके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की। शैली, वड्ज़वर्थ, कारलाइल जैसे अङ्गरेजी लेखकों पर और एमर्सन और थोरो जैसे अमेरिकन पंडितों पर भारतीय विचारों का प्रभाव पड़ा। जार्ज रसल ने ओ३म्, माया, कृष्ण और आत्मा आदि विषयों पर कवितायें लिखीं।

भारतीयों में चेतना

राजा राम मोहन राय : ईसाइयत के बढ़ते हुए प्रभाव से और अंग्रेजी स्कूल और कालेजों में पढ़ने वाले उच्छृंखल नवयुवकों के व्यवहार से हिन्दू समाज आकुल हो उठा था। विचारवान् लोग अनुभव करते थे कि हिन्दू धर्म अनेक कुरीतियों से लद गया है और समाज भी कुप्रथाओं से दबा हुआ है। वे यह भी जानते थे कि रूढ़ियाँ तथा कुरीतियाँ धर्म के तात्विक अङ्ग नहीं हैं। इनको हटा देने पर भी धर्म ज्यों का त्यों बना रह सकता है। ये लोग यह भी समझते थे कि ईसाइयों के प्रचार में अत्युक्ति होते हुए भी सत्य अवश्य है। अंग्रेज, फ्रांसीसी और जर्मन विद्वानों के पांडित्यपूर्ण दृष्टि-कोण से यह भी प्रगट हो गया था कि भारतीय संस्कृति का सत्य स्वरूप उज्ज्वल है। योरोपीय विद्वान् उसका अभिनन्दन करने को तैयार हैं परन्तु किसी भारतीय को यह साहस नहीं होता था कि भारतीय जनता के सामने धर्म का शुद्ध स्वरूप उपस्थित करे, और हेय प्रथाओं को नष्ट करने के लिए आन्दोलन करे। ऐसी परिस्थिति में यह कार्य राजा राम मोहन राय ने अपने हाथ में लिया।

राजा राम मोहन राय का जन्म २२ मई सन् १७७२ ई० में बंगाल के बर्दवान जिले के राधानगर नामक गाँव में हुआ था। इन्होंने पटना में अरबी और फारसी की शिक्षा पाई। वहाँ प्रतिमा पूजन के प्रति इनका विश्वास उठ गया। इससे इनके पिता अप्रसन्न हुए। तब ये घर छोड़ कर भाग गये और फिर इन्होंने भारत में भ्रमण किया। सन् १८०३ में इन्होंने फारसी भाषा में मूर्ति पूजा के विरुद्ध एक ग्रन्थ लिखा जिसमें एकेश्वरवाद और विश्वधर्म की आवश्यकता बताई। सन् १८०९ में उन्होंने कम्पनी सरकार की नौकरी स्वीकार की और १८१५ में छोड़ दी। राम मोहन राय अरबी, फारसी और संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। अंग्रेजी भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था और ग्रीक भाषाओं का भी इन्होंने अध्ययन किया था। सन् १८२० के लगभग इन्होंने ईसाई धर्म पर एक पुस्तक लिखी जिसमें सिद्ध किया कि ईसा की कथायें कल्पित हैं। इन्होंने अपने लेखों द्वारा यह भी सिद्ध किया कि ईसा ईश्वर के पुत्र नहीं थे और ईसाईयों का मूल सिद्धान्त अर्थात् फादर, सन् और होली घोस्ट में विश्वास उचित नहीं है। इन्होंने यह भी बतलाया कि ईसाइयों का यह मत कि पश्चात्ताप करने से मनुष्य सारे पापों से छूट जाता है गलत है। राजा राम मोहन राय ने इस विषय पर कई निबन्ध लिखे। एक निबन्ध में लिखा है कि "यह स्वाभाविक बात है कि विजेता जाति पराजित जाति के धर्म की खिल्ली उड़ाया करती है; स्वयं अपना धर्म चाहे जितना हास्यास्पद हो उधर उनका ध्यान नहीं जाता। जब मुसलमानों ने भारत पर विजय प्राप्त की तो वे हिन्दू धर्म के शत्रु बन गये। यूनानी और रोमन लोग मूर्तिपूजक थे परन्तु अपनी यहूदी प्रजा के एकेश्वरवाद की खिल्ली उड़ाते थे। इसलिए अब यदि

अंग्रेज पादरी लोग भारतीय धर्म की निन्दा करते हैं तो कोई असाधारण बात नहीं है।" भारत की ओर से ईसाई पादरियों को यह सबसे पहला जवाब मिला था। इससे वे खिन्न हुए। उनके प्रचार में कुछ रोक लगी, भारतीय नवयुवकों में विवेक तथा स्वाभिमान की जागृति होने लगी।

परन्तु इस खण्डन से भारतीय धर्म और समाज का मण्डन नहीं हो सकता था। राम मोहन राय इस बात को अनुभव करते थे कि हिन्दू समाज कुप्रथाओं के भार से सिसक रहा है और शुद्ध स्वरूप अन्धविश्वासों के मेघों में छिपा हुआ है। राम मोहन राय ने सती प्रथा का विरोध किया। लार्ड बैण्टिङ्क इस प्रथा को कानून द्वारा बन्द करना चाहते थे, इसमें राम मोहन राय ने आन्दोलन कर के सहायता की। विशेषतः राजा राम मोहन राय के प्रयत्न से ही सती प्रथा के विरुद्ध कानून बना। रूढ़िवादी लोगों ने इस कानून का विरोध किया और सैकड़ों व्यक्तियों के हस्ताक्षर करवाकर इंगलैण्ड के बादशाह के पास इस कानून को मंसूख करने के लिए प्रार्थना-पत्र भेजा। तब राजा राम मोहन राय इंगलैण्ड गये और उनके प्रयत्नों के फल-स्वरूप सती-प्रथा-निषेध कानून जारी रहा।

ब्रह्म समाज और अन्य संस्थाएँ: सन् १८२८ में उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की। इस संस्था के अनुयायी एक ईश्वर में विश्वास करते थे। जाँति पाँति के विरोधी थे। खान पान में स्वतन्त्र थे। रूढ़ियों को नहीं मानते थे और हिन्दू समाज को नये साँचे में ढालना चाहते थे। ब्रह्म समाज का धर्म अकबर के दीन इलाही से मिलता-जुलता था। इसमें उपनिषद् के ब्रह्मवाद, मुसलमानों की वहदूत और बाईबिल की नीति धर्म का सम्मिश्रण था। उस समय इसकी आवश्यकता भी थी। हिन्दू धर्म की विशालता और उदारता प्रदर्शित करने से ही इसकी महानता प्रगट हो सकती थी। राजा राम मोहन राय के पश्चात् महर्षि देवेन्द्रनाथ ने और उनके बाद बाबू केशवचन्द्र सेन ने इस संस्था का नेतृत्व किया। उनके समय में ब्रह्म समाज ईसाई धर्म की ओर अत्यधिक झुकने लगा, इसलिए इसकी दो शाखाएँ हो गईं—आदि ब्रह्मसमाज और नवब्रह्मसमाज। कुछ अर्से बाद अर्थात् सन् १८४६ में भी ब्रह्मसमाज की स्थापना हुई। परन्तु आगे चल कर इसका नाम प्रार्थना समाज हो गया। इसका मुख्य उद्देश्य समाज सुधार था। इस संस्था ने दक्षिण में समाज सुधार का बहुत बड़ा काम किया। सन् १८६३ में लाहौर में भी ब्रह्मसमाज की शाखा खुली, परन्तु वहाँ इसके प्रायः सब अनुयायी आर्य समाजी हो गये। लाहौर में सन् १८८७ में सत्यानन्द अग्निहोत्री ने देवसमाज नामक एक संस्था स्थापित की, जिसका उद्देश्य था समाज सुधार, शिक्षा प्रचार और समाज सेवा। इन सब संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य समाज में जागृति उत्पन्न करना था। सुधारक लोग चाहते थे कि

ईसाइयत के धक्के से भारतीय समाज चकनाचूर न हो जाय। साथ ही इनको यह भी विश्वास नहीं था कि ईसाइयत का प्रबल विरोध किया जा सकता है। इनका ख्याल था कि हिन्दू धर्म में वास्तव में कमजोरियाँ हैं, इसलिए जोर के साथ इसकी हिमायत नहीं की जा सकती। परन्तु ब्रह्मसमाज के नेताओं ने और प्रार्थना समाज तथा देवसमाज के नायकों ने देश के शिक्षित समाज में एक अपूर्व जागृति उत्पन्न की और नये युग का आरम्भ किया। इन्होंने अगले सुधारकों और नेताओं को कार्य का और आन्दोलन का मार्ग बतला दिया। अगली संस्थाओं ने इन्हीं के ढंग पर प्रचार किया, जिससे भारत का नवोत्थान हुआ। परन्तु अभी जागृति का सन्देश घर घर नहीं पहुँचा था, यह कुलबुलाहट शिक्षित समाज तक ही सीमित थी और वह भी अधिकांशतः कलकत्ते में या बम्बई, लाहौर, पूना और मद्रास जैसे बड़े-बड़े नगरों में, जहाँ अंग्रेजी भाषा का और शिक्षा का प्रचार बढ़ता जाता था। अभी अन्य नगरों में, कस्बों और गाँवों में नये जागरण का सन्देश पहुँचने में देर थी।

अंग्रेजी शिक्षा : भारतवर्ष की परम्परागत शिक्षा पद्धति जीर्ण शीर्ण और निष्प्राण हो चुकी थी। उसकी नवीन विचार और नवीन दृष्टिकोण से संगति नहीं बैठती थी। परम्परागत शिक्षा को प्राप्त करने वाले नये युग का स्वागत करने के लिए भी तैयार नहीं थे। अतः आवश्यकता थी कि अंग्रेजी शिक्षा पद्धति से भारत में पठन-पाठन आवश्यक हो, जिससे यहाँ के नवयुवक नवयुग के स्वरूप को भलीभाँति पहचान सकें। कम्पनी सरकार ने शिक्षा-प्रचार का कार्य सन् १८२९ के लगभग अपने हाथ में लिया था और उस समय तक भी शिक्षा के भावी स्वरूप की रूपरेखा सरकार के ध्यान में नहीं थी। नवीन शिक्षा का सूत्रपात भारत में ईसाइयों ने किया था। अठारहवीं शताब्दी में ही कलकत्ता, मद्रास, बम्बई और समुद्र तट पर स्थित कई नगरों में यूरोपीय पादरियों ने अपने स्कूल जारी कर दिये थे, जिनमें अंग्रेजी, गणित, भूगोल, इतिहास आदि विषय पढ़ाये जाते थे। प्रत्यक्ष में ये स्कूल नये युग के सूचक थे और विद्यार्थियों को ऐसी शिक्षा देते थे जो उनके जीवन के लिए उपयोगी थी। परन्तु इस शिक्षा प्रचार का वास्तविक उद्देश्य ईसाइयत का प्रचार करना था। इन पादरियों का यह विश्वास था और सच्चा भी था कि नवीन शिक्षा प्राप्त नवयुवक ईसाई धर्म को आसानी से ग्रहण कर लेंगे। इस शिक्षा प्रचार से पादरियों को आरम्भ में अच्छी इष्ट सिद्धि प्राप्त हुई। इन लोगों का ऐसा जादू चला कि सैकड़ों उच्च कुलीन हिन्दू ईसाई हो गये। कुछ नाम पहिले दिये जा चुके हैं। इन्हीं में एक रामचन्द्र था जो बड़ा मेधावी गणितज्ञ था परन्तु वह ईसाई हो गया था। बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् जो सबसे पहले ईसाई हुए उनका नाम साहब चन्द्र बनर्जी था। इसके बाद गोविन्द चन्द्र दत्त जो कवि और साहित्यकार थे ईसाई हुए। इनकी पुत्री तादत्त अंग्रेजी भाषा में सुन्दर कविता लिखा करती

थी और प्राय: योरोप में रहती थी। ऐसा ही प्रवाह बम्बई, मद्रास आदि अन्य शहरों में चल रहा था। कम्पनी सरकार की ओर से सन् १७८१ में कलकत्ते में एक मद्रसा जारी किया गया जिसका उद्देश्य मुसलमानों को धार्मिक शिक्षा देना था। इसके दस वर्ष बाद अर्थात् सन् १७६१ में जोनथन डन्कन के सुझाव पर हिन्दुओं के लिए भी काशी में एक संस्कृत के कालेज की स्थापना की गई। सिरामपुर मिशन के प्रचारक बड़े उत्साही थे। इनमें केरी, डेविड हेअर और मार्शमैन विशेष उल्लेख के योग्य हैं। केरी व्यवसायतः जूते गाँठने वाला चमार था। डेविड हेअर घड़ीसाज था और मार्शमैन जिल्दसाज। इन तीनों ने ईसाई धर्म का ज्ञान दीपक भारत को दिखाया और प्रचार में ये लोग बड़े सफल हुए। इनकी प्रेरणा से सन् १८२० में कलकत्ते में एक विशप कालेज खुला। सन् १८१६ में एक हिन्दू कालेज भी खुला। इसके अतिरिक्त कलकत्ता बुक सुसाइटी और कलकत्ता स्कूल सुसाइटी पहिले ही जारी हो चुकी थीं। बम्बई, मद्रास और तत्पश्चात् लाहौर में और तदनन्तर भारत के प्रत्येक बड़े बड़े नगरों में ईसाइयों के स्कूल और कालेज जारी हो गये। राजस्थान में सबसे पहला अंग्रेजी स्कूल महाराजा रामसिंह ने अपनी राजधानी में स्थापित किया था परन्तु उसके दूसरे ही वर्ष अंग्रेजी पादरियों ने जयपुर में एक ईसाई मिडिल स्कूल स्थापित किया। ईसाई स्कूलों ने नवयुवकों का दृष्टिकोण बिल्कुल बदल डाला। रूढ़िगत बातों पर से उनका विश्वास उठ गया। वेद, रिवाजों और परम्पराओं को तर्क की तराजू पर तोलने लगे। भौतिक ज्ञान विज्ञान से उनकी दृष्टि विस्तृत हो गई। परन्तु भारतीय संस्कृति से अपरिचित होने के कारण वे अपने देश की सभ्यता से घृणा करने लगे। ईसाइयों के शिक्षा प्रचार में विशेषकर कलकत्ते में राजा राम मोहन राय ने बड़ी सहायता की।

सरकार के शिक्षा प्रयत्न : सन् १८१३ में भारत में शिक्षा के काम के लिए कम्पनी सरकार ने एक लाख रुपया प्रति वर्ष मंजूर किया। उस समय कम्पनी के सामने शिक्षा का कोई स्वरूप नहीं था, इसलिए यह रुपया कलकत्ता बुक सुसाइटी और कलकत्ता स्कूल सुसाइटी को दे दिया गया। सन् १८२४ में सरकार ने एक कालेज कलकत्ते में और उसके दूसरे वर्ष एक कालेज दिल्ली में संस्कृत, अरबी और फ़ारसी की शिक्षा देने के लिए जारी किया। राजा राममोहन राय प्राचीन शैली की शिक्षा के विरोधी थे। उनकी धारणा थी कि ऐसी शिक्षा से हम नये युग का अभिनन्दन नहीं कर सकेंगे और भारतीय समाज उन्नति की घुड़-दौड़ में बहुत पीछे रह जायगा। इसलिए उन्होंने इन दोनों कालेजों का विरोध किया और लार्ड एम्हर्स्ट को इस विषय में पत्र लिखा। उस समय बंगाल में कितने ही लोग अंग्रेजी जानते थे। बरसों के सम्पर्क के कारण अंग्रेजी स्वतः ही प्रचलित हो गई थी।

बम्बई में भी अंग्रेजी का काफी प्रचार था। व्यापारी लोग और विशेषकर पारसी लोग अंग्रेजी लिख-पढ़ सकते थे और इनके बालक ईसाइयों के स्कूल में शिक्षा पाते थे। वहाँ अरबी, फ़ारसी और संस्कृत की ओर किसी का ध्यान नहीं था बम्बई के लोग अंग्रेजी, गुजराती और मराठी के पक्ष में थे। मद्रास में तो अंग्रेजी का अच्छा प्रचार था। वहाँ अंग्रेज और भारतीयों में परस्पर इसी भाषा का प्रयोग होता था। इसलिए मद्रास और बम्बई में भाषा का प्रश्न जटिल नहीं था। परन्तु कलकत्ते से दिल्ली तक इस बात की चर्चा थी कि शिक्षा का माध्यम क्या होना चाहिए ? अधिकांश लोग संस्कृत और फ़ारसी के पक्ष में थे। परन्तु राजा राम मोहन राय इसके कट्टर विरोधी थे और अंग्रेजी के पक्षपाती थे। सन् १८३५ में इसका फ़ैसला हो गया। लार्ड मैकाले के परामर्श से लार्ड विलियम बैंटिक ने ने यह घोषणा की कि भारत में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होगा। इसके बाद अंग्रेजी प्रबल वेग के साथ बढ़ने लगी और सरकार भी शिक्षा पर उत्तरोत्तर अधिक व्यय करने लगी। परन्तु सरकारी शिक्षा से राष्ट्रीय भावना का विकास नहीं हो सकता था, बल्कि इसको दबाया जाता था। इसलिए आर्य समाज ने लाहौर में दयानन्द कालेज स्थापित किया। काशी में एनीबेसेन्ट ने हिन्दू कालेज की नींव डाली और दक्षिण में एजूकेशन सोसाइटी ने एक हाई स्कूल जारी किया जो कालान्तर में फर्गसन कालेज बना। इसी सोसाइटी ने सांगली में वेलिंग्डन कालेज और पूना में न्यू पूना कालेज स्थापित किये। इन संस्थाओं का उद्देश्य भारत में सर्व-व्यापक जागृति करना और राष्ट्रीयता को जन्म देना था। महात्मा हंसराज, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, विष्णु चिपलूणकर और गोपाल कृष्ण गोखले के अथक परिश्रम से ये संस्थाएँ बड़ी लोकप्रिय हुईं और इनमें शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों का दृष्टिकोण विस्तृत बना। इनमें से कितनों ही ने भारत की धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक जागृति में हार्दिक सक्रिय सहयोग दिया और कितनों ही ने समाज और सरकार में प्रतिष्ठित पद प्राप्त किये। सरकारी शिक्षा से केवल उच्च वर्ग के लोगों को ही लाभ हुआ। ऐसी शिक्षा गाँव-गाँव में प्रवेश नहीं कर सकती थी और न इसका स्वागत करने के लिए देश तैयार था।

सन् १८५७ में कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में यूनीवर्सिटियाँ स्थापित हो गईं। फिर सन् १८८२ में लाहौर में पंजाब यूनीवर्सिटी की और सन् १८८७ में इलाहाबाद यूनीवर्सिटी की स्थापना हुई। सन् १८८० के आसपास अंग्रेजी शिक्षा का इतना अधिक प्रचार हो चुका था कि इनमें पढ़ने वालों की संख्या २५ लाख तक पहुँच चुकी थी।

राष्ट्र भाषा का विकास : वर्तमान हिन्दी का विकास अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ से हो गया था परन्तु गदर के बाद इसमें विशेष स्फुरण हुआ। बाबू सत्य-

हरिश्चन्द्र ने इसको राष्ट्रीय रंग दिया। उन्होंने सबसे पहले ऐसे नाटक लिखे जिनसे राष्ट्रीय भावना जाग्रत हुई। हिन्दी गद्य को भी उन्होंने निश्चित रूप दिया। हिन्दी समाचार पत्र का आरम्भ राजा राम मोहन राय ने किया था और फिर उत्तर प्रदेश में भी एक हिन्दी पत्र जारी हुआ था। किन्तु गदर के बाद कई पत्र पत्रिकायें जारी हो गईं। हिन्दी का प्रचार आर्य समाज के द्वारा भी बहुत हुआ। ऋषि दयानन्द गुजराती थे परन्तु उन्होंने अपना अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश हिन्दी भाषा में लिखा और अन्य ग्रन्थों में भी संस्कृत के साथ हिन्दी का प्रयोग किया। आर्य समाज के प्रचारकों और भजनीकों के द्वारा हिन्दी लोकप्रिय बनी। हिन्दी के पक्ष में इन लोगों ने हजारों व्याख्यान दिये। आर्य समाज के हजारों ट्रेक्ट हिन्दी भाषा में ही तैयार किये गये। हिन्दी के प्रचार के लिये काशी नागरी प्रचारणी सभा स्थापित हुई जिसने हिन्दी के कितने ही अमूल्य ग्रन्थों का प्रकाशन किया और हिन्दी को उत्तर प्रदेश से राजभाषा बनाने के लिए प्रयास किया। बिहार और उत्तर-प्रदेश में तथा राजस्थान में शिक्षा का माध्यम हिन्दी को मान लिया गया और पंजाब में आर्य समाज के द्वारा तथा उसकी शिक्षा संस्थाओं के द्वारा पेशावर तक हिन्दी का प्रचार हुआ। महात्मा गांधी हिन्दी को राष्ट्रभाषा के उपयुक्त समझते थे। सर्व प्रथम कांग्रेस में स्वामी श्रद्धानन्द ने हिन्दी भाषा का उपयोग किया था। इससे पहले कांग्रेस में भाषण और प्रचार सब अंग्रेजी के द्वारा होता था। अमृतसर की कांग्रेस (१६१६) के बाद महात्मा गांधी प्राय: हिन्दी में ही सब काम करने लगे। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में द्रुतगति से हिन्दी का प्रचार हुआ। प्राय: समस्त उत्तर भारत में अनेक छापेखाने खुल गये और कई पुस्तकमालायें प्रकाशित हुईं बंगला और मराठी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के कई सद्ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद तैयार हुए। साथ ही अंग्रेजों और फ्रांसीसी भाषाओं का भी हिन्दी पर बड़ा प्रभाव पड़ा। योरोप के राष्ट्रीय विचार हिन्दी में घुसे और अंग्रेजी की वाक्य रचना, शैली, नाटक, उपन्यास, मुक्तक काव्य आदि का हिन्दी पर बहुत प्रभाव पड़ा। वर्तमान हिन्दी संस्कृत पर आश्रित है। इसकी साहित्य धारायें बंगला से आरम्भ हुई है और अंगेजी से इसका वर्तमान स्वरूप बना है। हमारे देश की अन्य भाषाओं के साथ-साथ हिन्दी ने भी प्रौढ़ता प्राप्त की परन्तु बंगला के समान इसमें साहित्य सौन्दर्य और काव्य गरिमा नहीं आ सकी। इसकी विशेषता रही इसका राष्ट्रीय स्वरूप। इस समय भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि देश की सर्वव्यापक और सर्वसम्मत भाषा बन जाने पर हिन्दी का स्वरूप और शब्द भंडार कैसा होगा।

उर्दू, बंगला, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलुगू, कनाड़ी और मलयाली भाषायें भी इस युग में पुष्ट, उन्नत और प्रौढ़ बनीं और सबके साहित्य में राष्ट्रीय भावना की विशेषता रही। इस प्रकार धार्मिक और राष्ट्रीय जागरण के साथ-साथ हमारे देश

में साहित्यिक जागरण हुआ और विविध भाषाओं ने निश्चित रूप धारण किया। औरंगजेब ने संस्कृत का पठन-पाठन कानूनन बन्द कर दिया था परन्तु अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पश्चात् समस्त देश में संस्कृत के प्रति श्रद्धा, उमड़ पड़ी और अनेक प्रान्तों में विश्वविद्यालयों ने संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य कर दिया। परन्तु यह अध्ययन नवीन ढंग का था। न इसमें प्राचीन काल की सी गहनता थी और न व्यापकता परन्तु तामिल के अतिरिक्त सम्पूर्ण प्रान्तीय भाषाओं का आधार संस्कृत को माना जाता है इसलिए इसकी ओर विचारशील शिक्षा शास्त्रियों का और राष्ट्रवादियों का ध्यान आकर्षित हुआ। इस समय संस्कृत के प्रचार की बड़ी चर्चा है और कतिपय उच्च श्रेणी के नेता इसको सार्वदेशिक भाषा भी बनाना चाहते हैं परन्तु अभी नहीं कहा जा सकता कि भावी भारत में संस्कृत को क्या स्थान प्राप्त होगा ?

अंग्रेजों की आशा विफल : अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाते समय विधाताओं का यह अनुमान था कि इससे सारे हिन्दू समाज को ईसाई बनाने में आसानी होगी। इनका यह भी ख्याल था अंग्रेजी पढ़े लिखे लोग तन से भारतीय चाहे रहें परन्तु मन से अंग्रेज अवश्य बन जायेंगे। परन्तु इन दोनों में से एक भी आशा पूरी नहीं हुई। हजारों लाखों हिन्दू ईसाई अवश्य हुए। उनका रहन-सहन और आचार व्यवहार भी यूरोपीय ढंग का बन गया। अंग्रेज लोगों ने उनको अपना समकक्ष नहीं माना, परन्तु ये लोग अपने को साहब मानने लग गये और अपने भाइयों को हीन दृष्टि से देखने लगे। परन्तु कुछ ही वर्ष बाद अंग्रेजी शिक्षा से और अंग्रेजों के सम्पर्क से भारत में जागृति हुई। ऐसी प्रबल लहर उठी कि हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज दोनों स्वरूप और सशक्त हो गये। इसके साथ ही साथ राष्ट्रीय जागरण का आरम्भ हुआ। जिसका पर्यवसान भारत की राजनैतिक स्वाधीनता में हुआ।

स्वामी दयानन्द सरस्वती—सन् १८५७ में उत्तर भारत में एक देशव्यापी सिपाही विद्रोह हुआ। स्थान-स्थान पर हिन्दुस्तानी फ़ौजों ने कितने ही अंग्रेज अफ़सरों और सिपाहियों को मार डाला। दिल्ली के बादशाह बहादुरशाह ने और अन्तिम पेशवा के पुत्र नाना साहब ने तथा झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने इस विद्रोह का नेतृत्व किया। अन्य कई व्यक्ति विशेषकर बिहार के कुंवरसिंह भी इसमें शामिल हुए। यत्र-तत्र जनता ने भी सक्रिय सहयोग दिया। सबका मुख्य उद्देश्य यह था कि अंग्रेजों को खदेड़ कर भारत से भगा दिया जाय। ईसाइयत के बढ़ते हुए प्रचार से और फ़ौजों में धर्म विरुद्ध और जाति विरुद्ध नियमों से भारतीय सिपाही क्षुब्ध हो उठे थे। परन्तु अंग्रेजों ने विद्रोह का दमन कर दिया, जिससे उनके राज्य की नींव और भी अधिक दृढ़ हो गई। महारानी विक्टोरिया ने एक घोषणा जारी की जिसमें आश्वासन दिया गया कि किसी के धर्म में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जायगा।

किसी हिन्दुस्तानी नरेश का राज्य अंग्रेजी राज्य में नहीं मिलाया जावेगा और अंग्रेज या हिन्दुस्तानी सबको एक दृष्टि से देखा जावेगा। इस घोषणा से त्रस्त और दुःखित लोगों के आँसू कुछ पुछ गये, परन्तु विद्रोह के शान्त होने के पश्चात् समस्त देश में घोर निराशा छा गई। ईसाई अधिक वेग और उत्साह से धर्म का प्रचार करने लगे और अंगरेजी शिक्षा की प्रलयंकर सी बाढ़ उमड़ पड़ी। उस समय लोगों को ऐसा प्रतीत हुआ था कि अब भारत भारत नहीं रहेगा, यह क्रिश्चियन देश बन जायगा और इसकी संस्कृति और सभ्यता पूर्ण रूपेण लुप्त हो जायगी। ऐसी अवस्था में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने देश में एक अपूर्व व्यापक जागृति उत्पन्न की, जिसने म्रियमाण देश में मानो पुनर्जीवन की सृष्टि की।

जन्म, त्याग, शिक्षा और दीक्षा : स्वामी दयानन्द का जन्म सन् १८२४ में काठियावाड़ प्रान्त के मोरवी राज्य में हुआ था। इनका जन्म नाम मूलशंकर था और पिता का नाम अम्बाशंकर। इन्होंने चौदह वर्ष की अवस्था से पहले ही वेद के कितने ही सूक्त कण्ठस्थ कर लिये थे और संस्कृत व्याकरण का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। शिवरात्रि को शिव प्रतिमा पर चूहा चढ़ता देख कर इनकी प्रतिमा-पूजन से अस्था हट गई और ये सच्चे शिव की अपने मन में खोज करने लगे। इसके पश्चात् इन्होंने अपनी बहिन और चाचा की मृत्यु के दृश्य देखे। इनसे उनके मन में घोर परिवर्तन हुआ और वे चिंतन करने लगे कि मुक्ति कैसे प्राप्त होती है। साथ ही वे अथक परिश्रम से विद्योपार्जन करने लगे। सोलह वर्ष की अवस्था में उन्होंने पूरी यजुर्वेद संहिता तथा शेष तीन वेदों के बड़े बड़े अंश कण्ठाग्र कर लिये थे और न्याय, साहित्य तथा व्याकरण के पंडित बन चुके थे।

सन् १८४५ में अर्थात् २१ वर्ष की अवस्था में वे चुपके से घर से निकल पड़े और ज्ञान तथा मुक्ति की तलाश में वे १५ वर्ष तक यत्र तत्र घूमते रहे। उन्होंने हिमालय, विंध्यगिरि और गंगा और नर्वदा के जंगल सच्चे गुरु की खोज में छान डाले। कितने ही दिन केवल जंगली फल खाकर या दूध पीकर बिताये। लम्बे अर्से तक मौन व्रत धारण किया और कई वर्ष तक संस्कृत के अतिरिक्त कोई भाषा नहीं बोली। उन्होंने अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण किया और चरित्र में परम उज्ज्वलता प्राप्त की। १५ वर्ष के ऐसे महातप के अन्त में उनको स्वामी वृजानन्द नामक एक नेत्रहीन परम विद्वान् संन्यासी मिले और उन्हीं को इन्होंने गुरु बनाया। स्वामी वृजानन्द के पांडित्य की उस समय बड़ी धाक थी और दूर दूर से विद्याध्ययन करने के लिए विद्यार्थी उनके पास आया करते थे। दयानन्द संन्यास धारण करके इससे पहले ही स्वामी दयानन्द सरस्वती बन चुके थे। वृजानन्द के पास रह कर स्वामी दयानन्द ने सीखा कि वेद सत्ज्ञान के भंडार हैं। पुराणों का मत माननीय नहीं है। दो वर्ष तक

स्वामी वृजानन्द के पास वे मथुरा में रहे और फिर दीक्षा प्राप्त करके अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए निकल पड़े।

धर्म-प्रचार : स्वामी दयानन्द ने नवीन ढंग की शिक्षा कुछ भी प्राप्त नहीं की थी। उनकी शिक्षा और दीक्षा सब भारतीय परम्परा के अनुकूल थी। संस्कृत भाषा के वे प्रकाण्ड पंडित थे। व्याकरण पर उनका अद्भुत अधिकार था। उन्होंने वेदों का सांगोपांग सूक्ष्म अध्ययन किया था। अखण्ड ब्रह्मचर्य के तेज से उनका मुखारविन्द चमका करता था। उनकी विशाल, सुडौल और सुसंगठित स्वस्थ देह में अनिवर्चनीय प्रभाव था। उनके व्यक्तित्व में अद्भुत आकर्षण था। गुरु से विदा होकर स्वामी दयानन्द ने आगरा, ग्वालियर, जयपुर, पुष्कर, अजमेर और हरिद्वार आदि नगरों में अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। वे जहाँ जाते थे वहाँ पौराणिक पंडितों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारते थे और प्रतिपादन करते थे कि वेद और केवल ऋषि प्रणीत ग्रन्थ ही माननीय हैं। इनमें मूर्ति पूजा का विचार कहीं नहीं है। जाति-पाँति केवल मिथ्या जाल है। चार वर्ण गुण-कर्मानुसार मानने चाहिए। स्त्रियों का स्थान पुरुषों के बराबर होना चाहिए और शिक्षा प्राचीन गुरुकुल प्रणाली के अनुसार होनी चाहिए। स्वामी दयानन्द के पांडित्य, व्यक्तित्व और वक्तृत्व का लोगों पर इतना प्रभाव पड़ा कि इनके उपदेशों को सुनने के लिए हजारों की उपस्थिति हुआ करती थी और विरोधी पंडित इनके प्रभाव से तथा जनता के कोलाहल के दबाव से दब जाया करते थे। स्वामी दयानन्द जहाँ जाते थे वहाँ उनका भव्य स्वागत होता था। नव शिक्षित लोग इनके विचारों से तत्काल सहमत हो जाते थे और इनका अभिनन्दन करते थे। सन् १८६६ में ऋषि दयानन्द सरस्वती काशी पहुँचे। काशी नरेश ने वहाँ के विद्वानों को स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने के लिए निमन्त्रण किया। काशी के समस्त अग्रगण्य पंडित शास्त्रार्थ में उपस्थित थे। चार घण्टे तक शास्त्रार्थ हुआ। स्वामीजी ने परम पांडित्य के साथ अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। पंडितों ने पहिले तो ध्यान से सुना और फिर पुराण शब्द की व्याख्या पर हल्ला मचा दिया और शास्त्रार्थ समाप्त कर दिया। रूढ़िवादी पंडितों ने ऋषि दयानन्द के मन्तव्य का अभिनन्दन नहीं किया परन्तु जनता में स्वामीजी के विचारों का अधिकाधिक स्वागत होने लगा। स्वामीजी एक मास तक काशी में प्रचार करते रहे और लिखित रूप से कई बार पंडितों को शास्त्रार्थ के लिए निमंत्रित किया परन्तु कोई नहीं आया।

आर्य समाज की स्थापना : १० अप्रैल सन् १८७५ को काशी से प्रस्थान करके स्वामी दयानन्द ने कई अन्य नगरों में अपने मन्तव्य का प्रचार किया। इलाहाबाद, मिर्जापुर, पटना, मुंगेर, भागलपुर और कई अन्य नगरों में उन्होंने उपदेश दिया। सर्वत्र हजारों लोगों ने मंत्रमुग्ध होकर उनके विद्वत्तापूर्ण भाषण सुने। उपदेश

देते समय वे लोगों को ऐसे प्रतीत होते थे मानो वैदिक काल का कोई ऋषि पुनर्जन्म लेकर वेदों की व्याख्या कर रहा हो, और दलित तथा भ्रान्त भारत को अपने अतीत गौरव का स्मरण दिला रहा हो। भ्रमण करते हुए सन् १८७२ में स्वामी दयानन्द सरस्वती कलकत्ता पधारे। उनसे पहिले ही उनके पांडित्य की कीर्ति और सदुपदेश का सौरभ कलकत्ता पहुँच चुका था। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन ने बड़े आदर पूर्वक महर्षि का स्वागत किया। उनकी धारा प्रवाह संस्कृत सुनकर वे दंग रह गये। मूर्ति पूजा और जाति प्रथा के विषयों में वे स्वामीजी के विचारों से पूर्ण सहमत हुए परन्तु उन्होंने यह बात स्वीकार नहीं की कि वेद सम्पूर्ण सत्य विद्याओं का भंडार हैं, और आत्माएँ पुनर्जन्म धारण करती हैं। बाबू केशवचन्द्र सेन से विचार-विमर्श करने के बाद स्वामीजी ने हिंदी बोलना आरम्भ किया। इससे जनता के साथ स्वामी दयानन्द का सीधा सम्पर्क स्थापित हो गया और उनके सिद्धान्तों का प्रचार और तीव्र वेग से होने लगा। सन् १८७४ में यत्र तत्र प्रचार करते-करते ऋषि दयानन्द बम्बई पहुँचे। इससे पूर्व वे अपना 'सत्यार्थ प्रकाश' नामक ग्रन्थ तैयार कर चुके थे। इसमें उन्होंने अपने सम्पूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया और प्रतिमा-पूजन, अवतारवाद, जाति प्रथा, धर्म के वाह्य आडम्बर, बाल-विवाह, पुराण मत तथा अन्य सम्प्रदायों का और विशेषकर ईसाई मत और इस्लाम का खंडन किया। सन् १८७५ में बम्बई नगर में स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज नामक संस्था की स्थापना की।

आर्य समाज का प्रचार : स्वामीजी के सिद्धान्तों की लोकप्रियता अब बड़े वेग से बढ़ने लगी। नगर-नगर में आर्य समाज स्थापित होने लगे। दस वर्ष के अन्दर उत्तर भारत के सम्पूर्ण नगरों में और कुछ कस्बों में आर्य समाजें स्थापित हो गई थीं, और आर्य सदस्यों की संख्या धड़ाधड़ बढ़ती जाती थी। आर्य समाज के प्रचारक और आर्य समाज के शिक्षित सदस्य 'सत्यार्थ प्रकाश' में प्रतिपादित स्वामीजी के सिद्धान्तों का बड़े उत्साह, उमंग और साहस के साथ प्रचार करते थे। आर्य समाज का सन्देश केवल शिक्षित समाज तक ही नहीं किन्तु अशिक्षित लोग में भी पहुँचने लग गया था। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज और देव समाज की बातें तो केवल शिक्षित लोग ही जानते थे और समझते थे, परन्तु आर्य समाज ने अपने प्रचार का ऐसा लोकप्रिय ढंग ग्रहण किया और इसके उपदेशकों ने, भजनीकों ने और सदस्यों ने प्रचार के ऐसे साधनों का प्रयोग किया कि स्वामी दयानन्द का सन्देश घर-घर पहुँच गया। कुछ रूढ़िवादी पंडितों ने इसका विरोध भी किया परन्तु भारत के गौरवमय अतीत की कहानियाँ सुन-सुन कर लोगों में नये रक्त का और नूतन प्रेरणाओं का संचार होने लगा।

स्वामी दयानन्द और अन्य संस्थाएँ : बम्बई में आर्य समाज की स्थापना के पश्चात् स्वामी दयानन्द ने अपना समय समाजों के संगठित करने में, वेद भाष्य

लिखने और अन्य ग्रन्थों की रचना में लगाया। बम्बई से वे पुनः काशी गये और उत्तर प्रदेश में स्थान-स्थान पर प्रचार किया। सन् १८७७ में जब देहली दरबार हुआ तो स्वामी जी वहाँ पहुँचे और एक सार्वदेशिक धार्मिक आन्दोलन संगठित करने का प्रयास किया परन्तु इसमें उनको सफलता नहीं मिली। फिर उनकी प्रेरणा से चाँदपुर में एक बृहत् धार्मिक सम्मेलन हुआ जिसमें हिन्दू, ईसाई और इस्लाम धर्म के विद्वान् एकत्र हुए। इसका उद्देश्य था कि सब धर्मों का विवेचन करके मूल सत्य निश्चित किया जाय, किन्तु दो दिन तक शास्त्रार्थ चलता रहा और कोई परिणाम नहीं निकला। सन् १८७७ में स्वामीजी लाहौर पहुँचे, जहाँ उनका बड़ा स्वागत हुआ और उनको बड़ी सफलता प्राप्त हुई। उन्होंने लाहौर में आर्य समाज स्थापित किया और दो वर्ष के अन्दर अमृतसर, फिरोजपुर, रावलपिण्डी, झेलम, गुजराँवाला, मुल्तान आदि नगरों में आर्य समाज की स्थापना हो गई। लाहौर में ब्रह्म समाज की स्थापना पहले ही हो चुकी थी और सैकड़ों शिक्षित व्यक्ति इसके सदस्य थे परन्तु स्वामी दयानन्द के उपदेशों से प्रभावान्वित होकर ये सब लोग आर्य समाज के सदस्य हो गये और ब्रह्म समाज का केवल नाम शेष रह गया। बम्बई में भी प्रार्थना समाज के सदस्यों से उनका सम्पर्क हुआ था परन्तु इस संस्था के कुछ ही सदस्य आर्य समाज में आये। लगभग इसी समय स्वामी दयानन्द और कर्नल आलकाट में परस्पर पत्र-व्यवहार हुआ। कर्नल आलकाट उस समय अमेरिका में थे और वहाँ थियोसोफिकल सोसाइटी स्थापित कर चुके थे। वे और मादम ब्लेवेस्की दोनों आर्य समाज से मिल कर भारतवर्ष में स्वामी दयानन्द के अधीन धर्म प्रचार करना चाहते थे। इस उद्देश्य से ये दोनों भारत में आये और सहारनपुर में दयानन्द सरस्वती से मिले। वहाँ से तीनों मेरठ पहुँचे, जहाँ आर्य समाजियों ने इन अमेरिकन अतिथियों का बड़ा स्वागत किया। परन्तु दो वर्ष बाद थियोसोफी के दोनों नेता आर्य समाज से अलग हो गये। तो भी ब्लेवेस्की ने स्वामीजी के विषय में एक बार लिखा कि "निस्सन्देह स्वामी दयानन्द से बढ़कर भारत में संस्कृत का विद्वान्, तत्ववेत्ता वक्ता, और बुराइयों का विरोधी शंकराचार्य के बाद कोई नहीं हुआ।" थियोसाफी के मुखपत्र ने स्वामीजी के स्वर्गवास पर लिखा था कि "उनके शरीर के साथ-साथ हमारे सब मतभेद भस्म हो गये हैं। हम उनके सद्गुणों का स्मरण किये बिना नहीं रह सकते। हिन्दू धर्म पहले सिसकियाँ ले रहा था परन्तु स्वामी दयानन्द ने उसको जीवन प्रदान किया। समस्त भारत में उनके समान हिन्दी और संस्कृत का वक्ता कोई नहीं है।" सन् १८८१ में स्वामी दयानन्द ने राजस्थान में भ्रमण किया। पहले वे चित्तौड़, मसूदा, बनेड़ा और फिर इन्दौर गये और तत्पश्चात् उदयपुर, शाहपुरा, जयपुर और जोधपुर पधारे। जोधपुर में उनको किसी ने विष दिला दिया। वे बीमार होकर आबू पर्वत पर गये और फिर अजमेर पहुँचे, जहाँ ३० अक्टूबर १८८३ में उनका देहान्त हो गया।

स्वामी दयानन्द से मत-भेद : अंग्रेजी ढंग के विद्वानों में और स्वामी दयानन्द में मुख्यतः एक ही बात पर मत-भेद था। स्वामीजी वेदों को अपौरुषेय और समस्त विद्याओं का आदि स्रोत मानते थे। पश्चिमी विकासवाद में पले हुए नवीन विद्वानों को यह बात असंगत प्रतीत होती थी। परन्तु श्री अरविन्द घोष ने एक बार लिखा था कि "स्वामी दयानन्द ने वेदों का महत्व प्रदर्शित करने में कोई अत्युक्ति नहीं की है बल्कि उनका महत्व कुछ कम ही बतलाया है।" उनके शेष सिद्धान्तों को शिक्षित समाज प्राय: स्वीकार करता था। यह बात दूसरी थी कि उनके अनुसार कोई व्यवहार करते थे और कोई नहीं।

शुद्धि संगठन और जागृति : भारतवर्ष के इतिहास में प्रथम बार स्वामी दयानन्द ने ही घोषणा की थी कि ईसाई और मुसलमान भी वैदिक धर्म में प्रवेश कर सकते हैं। जो लोग हिन्दू धर्म को छोड़ कर ईसाई या मुसलमान हुए थे उनको पुनः हिन्दू बनाने के लिए स्वामी दयानन्द बड़े आतुर थे। निस्सन्देह यूनानी शब्द, सिथियन, हूण और गजर आदि जातियाँ हिन्दुओं ने आत्मसात् कर ली थीं परन्तु यह उस युग की बात है जब हिन्दू धर्म सजीव और सबल था। सदियों के धक्के खाते-खाते जब हिन्दू धर्म जर्जर हो गया था, स्वामी दयानन्द ने उसको अमृत की घूँट पिलाई और बतलाया कि वह ईसाई और मुसलमान दोनों को पुनः अपने में मिला सकता है। ऋषि दयानन्द न मुसलमानों के विरोधी थे और न ईसाइयों के। सर सैयद अहमद के साथ उनकी गहरी मित्रता थी और कई ईसाई पादरी उनका आदर करते थे। इस्लाम और ईसाइयत का खडन करने में उनका उद्देश्य यह था कि वे भारतवर्ष को एक धर्म के सूत्र में बाँधना चाहते थे। वास्तव में स्वामी दयानन्द का प्राण-मंत्र था—एक धर्म, एक भाषा और एक राज्य। यह मंत्र प्रथम बार भारतवर्ष को स्वामी दयानन्द से मिला था। नव जागरण के आदि नेता भी इसका अनुभव कर चुके थे और किसी न किसी अंश में उन्होंने इस दिशा में काम भी शुरू कर दिया था परन्तु ऋषि दयानन्द ने निर्भीक रूप से विश्वासपूर्वक इस जागरण की स्पष्ट रेखाएँ देश के सामने उपस्थित कीं। यही स्वामी दयानन्द का [illegible] शंख था। इसकी गूँज रावलपिण्डी से पूना तक पहुँची और इसका धीमा स्वर कन्याकुमारी तक व्याप्त हो गया। दलित देश को भी अनुभव हुआ कि मैं कभी महान् था, शक्तिमान् था, विद्वान् था और धनवान् था। यद्यपि यह वैभव शताब्दियों के कुचक्र में चकनाचूर हो गया है, तो भी मैं इसे पुनः प्राप्त कर सकता हूँ। यह संजीवनी स्वामी दयानन्द ने दी थी। अब भारतीय न ईसाइयों से शर्माते थे और न मुसलमानों के आगे सहमते थे। वे निर्भय तर्क के साथ दोनों से बहस करने के लिए तैयार होते थे और ऊँचे स्वर से अपने धर्म की कीर्ति का गान करते थे। आर्य समाज का सन्देश गाँव-गाँव में पहुँचा। उसके प्रचारकों की अकाट्य

दलीलें शिक्षित नवयुवकों की जबान पर चढ़ गईं। उसके भजनीकों की ढोलक की ध्वनि कस्बे-कस्बे में व्याप्त हो गई। भारतवर्ष अँगड़ाइयाँ लेता हुआ उठ खड़ा हुआ। उसको अपने अतीत का स्मरण हो उठा। अब वह धर्म, आचार और व्यवहार में ही नहीं, आध्यात्मिक ज्ञान में भी अपने आपको सबसे आगे समझने लगा।

आर्य समाज और शिक्षा : अंग्रेजी पादरी पहले ही रास्ता बतला चुके थे कि अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए शिक्षा संस्थाएँ जारी करनी चाहिए, जिससे शिक्षा के साथ शनैः शनैः धार्मिक सिद्धान्तों का विद्यार्थियों पर भी प्रभाव पड़ता जाय। इसी नीति का दयानन्द सरस्वती ने अनुसरण किया। राजा राम मोहन राय, महर्षि देवेन्द्र नाथ, केशव चन्द सेन और दक्षिण के नवीन विद्वान्—सब अंग्रेजी भाषा का प्रचार करना चाहते थे परन्तु स्वामी दयानन्द जहाँ जाते थे वहाँ संस्कृत पाठशालाएँ स्थापित करने का उपदेश दिया करते थे और इनमें वेद तथा ऋषि प्रणीतग्रन्थों का अध्ययन करवाते थे। स्वामीजी के देहान्त के कुछ ही दिन बाद लाहौर में दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक कालेज स्थापित हुआ। इसके उद्देश्य थे—वेद और सब शास्त्रों का तथा संस्कृत भाषा का अध्ययन, अंग्रेजी साहित्य और विज्ञान का पठन-पाठन, औद्योगिक शिक्षा और चरित्र निर्माण। इस संस्था के स्थापित होने के पश्चात् पंजाब और उत्तर प्रदेश में बड़े त्वरित वेग से आर्य समाज की कितनी ही शिक्षा सस्थाएँ स्थापित हो गईं। फिर १६०२ में प्राचीन पद्धति से ब्रह्मचारियों को शिक्षा देने के लिए कांगड़ी में गुरुकुल स्थापित हुआ। यहाँ ७, ८ वर्ष की अवस्था में बालकों का प्रवेश होता है। छात्र पूर्ण ब्रह्मचर्य और आज्ञापालन का व्रत धारण करते हैं और हिन्दी और संस्कृत के द्वारा शिक्षा ग्रहण करते हैं। सबसे अधिक बल सच्चरित्र पर दिया जाता है। ऊँची कक्षाओं में अंग्रेजी भी पढ़ाई जाती है।

आर्य समाज ने स्त्री शिक्षा का भी बड़ा प्रचार किया। जालंधर में लाला देवराज ने कन्या महाविद्यालय स्थापित किया, जिसमें आरम्भ में केवल एक कन्या भरती हुई। यह विद्यालय इस समय पंजाब में स्त्री शिक्षा की प्रधान संस्था है। अन्य नगरों में आर्य कन्या पाठशालाएँ स्थापित की गईं। सब संस्थाओं में हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाया गया और संस्कृत का कुछ ज्ञान अनिवार्य किया गया। कन्याओं के लिए कई गुरुकुल जारी हुए जिनमें उसी शिक्षा-पद्धति का अनुसरण किया गया जो गुरुकुल कांगड़ी में जारी की गई थी। इन सस्थाओं से निकली हुई छात्राओं में वैदिक संस्कृति के प्रति उत्कट प्रेम उत्पन्न हुआ और देशाभिमान जाग्रत हुआ। जिन परिवारों में ये छात्राएँ पहुँची वहाँ का वायुमण्डल बदला। पंजाब प्रान्त में हिन्दी का प्रचार मुख्यतः स्त्री शिक्षा के द्वारा ही हुआ है। आर्य समाज और आर्य समाज की संस्थाओं में रावलपिण्डी और पेशावर तक वेद-ध्वनि के द्वारा यज्ञ और दैनिक अग्नि-होत्र होने लगे।

आर्य समाज की अन्य संस्थाएँ : विधवा और भूली-भटकी स्त्रियों का संरक्षण और उद्धार करने के लिए आर्य समाज ने यत्र तत्र विधवा आश्रम और महिला आश्रम स्थापित किये। अनाथ बच्चों की रक्षा करने के लिए कई अनाथालय खोले, जिनमें बालकों का रक्षण, पोषण और शिक्षण किया और उनको भारत का उपयोगी नागरिक बनाया। अशक्त लोगों की सेवा के लिए कई औषधालय खोले, जो चन्दे से चलाये गये और जिनमें लोगों की निःशुल्क चिकित्सा की गई। दलित और अछूत जातियों के उद्धार के लिए आर्य समाज ने बहुत काम किया। इनके लिए पाठशालाएँ खोलीं, छात्र-वृत्तियाँ जारी कीं, छात्रावास चलाये और समानता के व्यवहार का प्रचार किया।

ईसाइयों की शैली का प्रभाव : आर्य समाज के सिद्धान्त पूर्णरूपेण मौलिक थे। विदेशी संस्कृति या विचारों का उनमें स्पर्श भी नहीं था। स्वामी दयानन्द ने देश का आह्वान करके कहा था कि अपना धर्म, अपनी भाषा और अपनी संस्कृति तथा सभ्यता ग्रहण करो और इसकी रक्षा करो। इसलिए वे वैदिक धर्म पर और संस्कृत के अध्ययन पर जोर देते थे। परन्तु साथ ही वे वर्त्तमान युग के प्रवाहों से भी अपरिचित नहीं थे। वे होनहार विद्यार्थियों को विविध प्रकार के उद्योग-धन्धों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंगलैण्ड और जर्मनी भेजना चाहते थे। श्याम जी कृष्ण वर्मा को पत्र लिखकर उन्होंने इस बात का भी पता लगाना चाहा था कि इंगलैण्ड की पार्लियामेण्ट में कार्य करने की क्या प्रणाली है। आर्य समाज का कार्य संचालन जनतन्त्रात्मक शैली से होता है जो प्रत्यक्षतः योरोपीय शैली है। साप्ताहिक अधिवेशन गिरजाघर की सभाओं के ढंग पर होते हैं। ईसाइयत और इसलाम के विरुद्ध आर्य समाज की ओर से जो लाखों ट्रैक्ट प्रकाशित किये गये, ईसाईयों के ढंग का अनुकरण है। इन ट्रैक्टों की उग्र भाषा भी ईसाइयों की भाषा का प्रत्युत्तर है। परन्तु आर्य समाज की कार्य शैली में यह विशेषता है कि उसने दूसरों की जो भी शैली अपनाई, उसको काट-छाँटकर और तराशकर ऐसा रूप दिया कि वह शुद्ध स्वदेशी बन गई।

भारतीय जागरण में आर्य समाज का स्थान : आर्य समाज के प्रचार से ईसाइयत और इसलाम की बढ़ती हुई बाढ़ एक दम रुक गई। उसमें आर्य समाज ने बड़े कष्ट उठाये परन्तु उत्तर भारत में इसने हिन्दुओं को जाग्रत और प्रगतिशील बना दिया। आर्य समाज के जन्म के समय हिन्दू कोरा फुसफुसिया जीव था। उसके मेरुदण्ड की हड्डी थी ही नहीं। चाहे कोई उसे गाली दे, उसकी हँसी उड़ाये, उसके देवताओं की भर्त्सना करे या उस धर्म पर कीचड़ उछाले जिसे वह सदियों से मानता आ रहा है, फिर भी इन सारे अपमानों के सामने वह दाँत निपोर कर रह जाता था। लोगों को यह उचित शंका हो सकती थी कि यह आदमी भी है या नहीं, इसे आवेश भी चढ़ता है या नहीं अथवा यह गुस्से में आकर प्रति-पक्षी की ओर घूर भी

सकता है या नहीं। किन्तु आर्य समाज के उदय के बाद अविचल उदासीनता की यह मनोवृत्ति विदा हो गई। हिन्दुओं का धर्म एक बार फिर जगमगा उठा है। आज का हिन्दू अपने धर्म की निन्दा सुनकर चुप नहीं रह सकता, जरूरत हुई तो धर्म-रक्षार्थ वह अपने प्राण भी दे सकता है।

थियोसोफिकल सोसाइटी

भारत में प्रवेश : यह संस्था अमेरिका में कायम हुई थी। ब्लेवास्की एक रूसी महिला और कर्नल आलकाट एक अमेरिकन सज्जन इसके संस्थापक थे। ये दोनों प्रेत विद्या के अच्छे जानकार थे। फिर इनकी ब्रह्म विद्या की ओर रुचि उत्पन्न हुई। इनके विचार बड़े उदार और निर्मल थे। इनका विश्वास था कि सब धर्मों में सत्य का तत्व है। ये लोग मानते थे कि भारत, ईरान और चीन में धर्म और ज्ञान के ऐसे तत्व हैं जिनका योरोप और अमेरिका में प्रचार करना चाहिए, जिससे बढ़ता हुआ भौतिकवाद कम हो। ये लोग मानवता को एक मानते थे और कहते थे कि विचार-भिन्नता से मनुष्य-मनुष्य से भिन्न नहीं हो सकता। समस्त मानव जाति का आधार एक परम सत्ता है। ब्लेवेस्की और कर्नल आलकाट के साथ स्वामी दयानन्द का पत्र-व्यवहार हुआ और वे सन् १८७९ में भारत में आये। कई स्थानों पर आर्य समाजियों ने उनका भव्य स्वागत किया। ऋषि दयानन्द बड़े प्रेम पूर्वक मिले। परन्तु दो वर्ष के बाद आर्य समाज और थियोसोफिकल सोसाइटी में विचार-भेद उत्पन्न हो गया। फिर इस संस्था का प्रधान कार्यालय आदियार (मद्रास) में स्थापित हुआ। ब्लेवास्की बीमार होकर इंगलैण्ड चली गई और फिर वापिस नहीं आई।

एनीबेसेंट का आगमन : इंगलैण्ड में एनीबेसेंट नामक एक विदुषी महिला इस संस्था में दीक्षित हुई और ४६ वर्ष की अवस्था में सन् १८९३ में वह भारत में आई। कर्नल आलकाट का १९०७ में देहान्त हो गया। उसके पश्चात् थियोसोफिकल सोसाइटी का नेतृत्व एनीबेसेंट ने अपने हाथ में ले लिया। इस महिला की हिन्दू धर्म पर उत्कट श्रद्धा थी। वह इसको सबसे प्राचीन और सबसे श्रेष्ठ मानती थीं। भारत में आते ही उन्होंने साड़ी पहिनना शुरू कर दिया और अपना खान-पान भी ब्राह्मणों का सा बना लिया। उन्होंने कई हिन्दू तीर्थों की यात्रा की। काशी उनको बहुत पसन्द थी। यहाँ उन्होंने सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना की। गीता का अंग्रेजी में अनुवाद किया। रामायण और महाभारत की संक्षिप्त कथाएँ लिखीं और हिन्दू संस्कृति के विविध पक्षों पर ओजस्वी भाषण दिये।

एनीबेसेंट की प्रतिभा और कार्य : एनीबेसट की वक्तृत्व शक्ति बड़ी ओजस्विनी और प्रभावशालिनी थी। उनकी भाषा बड़ी सुन्दर और सरस थी। उनका

एक-एक शब्द श्रोताओं के हृदय को स्पर्श करता था। मद्रास, बम्बई और काशी के उच्च शिक्षित हिन्दुओं में कितने ही थियोसोफिकल सोसाइटी के सदस्य बन गये। एनीबेसेंट ने भारत के अनेक नगरों का भ्रमण किया और हिन्दू धर्म के प्रति आस्था तथा भारतीय संस्कृति के प्रति अभिमान जाग्रत किया। उनका कहना था कि जिस जाति के पास उपनिषद्, गीता और दर्शन जैसे अमूल्य विचार-रत्न हों उसको संसार के सामने सिर क्यों नीचा करना चाहिए ? वह हिन्दू संस्कृति और धर्म को सर्वाङ्ग सुन्दर मानती थीं। इसके प्रत्येक पक्ष को वह विज्ञान के अनुकूल समझती थीं। वह मूर्ति पूजा, वर्ण व्यवस्था, प्रेत विद्या, तंत्र मंत्र आदि किसी में कोई दोष नहीं समझती थीं। इन सबका वह तर्क और न्याय से मंडन करती थीं। वह वेद, उपनिषद् और गीता को ही नहीं, स्मृति, पुराण, धर्म-शास्त्र आदि को भी प्रामाणिक मानती थीं और इनके द्वारा हिन्दू धर्म के सम्पूर्ण प्रचलित रूपों का समर्थन करती थीं। जब वह अद्भुत तर्क और ओजस्विनी भाषा के साथ अपनी अपूर्व वक्तृत्व कला के द्वारा पुनर्जन्म, अवतार, योग अनुष्ठान, बहु देवतावाद आदि का विवेचन करती थीं तो लोग मुग्ध हो जाया करते थे। १६१४ में भाषण देते हुए उन्होंने एक बार कहा था कि निरन्तर चालीस वर्ष के चिन्तन और मनन के बाद मैं इस परिणाम पर पहुँची हूँ कि हिन्दू धर्म से बढ़कर वैज्ञानिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक धर्म ससार में कोई दूसरा नहीं है।

हिन्दुओं में आत्माभिमान जाग्रत किया : अंग्रेजी पढ़े हुए विद्वानों पर और कालेज के विद्यार्थियों पर एनीबेसेंट के प्रचार का बड़ा प्रभाव पड़ा। जब योरोप के ईसाई प्रचारकों ने देखा कि उन्हीं के देश की निवासिनी एक ईसाई महिला हिन्दू धर्म का पक्ष ले रही है और उसके निन्दकों को मुँहतोड़ उत्तर दे रही है तो उनकी कट्टरता ठण्डी होने लगी। नवशिक्षित लोगों ने अब अनुभव किया कि हिन्दू धर्म के अन्दर ऐसी कोई बात नहीं है जिसके कारण किसी को लज्जित होना पड़े। सूक्ष्मता से विचार करने पर प्रकट होता है कि हिन्दुत्व के प्रत्येक अंग में अद्भुत रहस्य है। एनीबेसेंट के प्रचार से हिन्दुओं में अपूर्व जागृति हुई, अब वे समझने लगे कि ईसाइयों का प्रचार निर्मूल है। हिन्दू धर्म विज्ञान के प्रतिकूल नहीं है। उनको ईसाइयों से दबने की कोई आवश्यकता नहीं है। आर्यसमाज ने जनता के सामने हिन्दू धर्म का संशोधित रूप उपस्थित किया था। इसका सबसे अधिक जोर था मूर्ति पूजा के खण्डन पर। पुराने संस्कारों में पले हुए हिन्दू मूर्ति पूजा अनावश्यक और असंगत समझ कर भी छोड़ना नहीं चाहते थे। एनीबेसेंट ने उनके परम्परागत संस्कारों की पुष्टि की। इसका शिक्षित हिन्दू समाज ने अभिनन्दन किया और डाक्टर एनीबेसेंट का ये लोग बड़ा आदर करने लगे। डाक्टर एनीबेसेंट और उनके साथियों ने हिन्दू धर्म के पक्ष में विपुल साहित्य तैयार किया, जिसको अंग्रेजी पढ़े लोगों ने बड़े चाव से पढ़ा। उनका किया हुआ

गीता का अंग्रेजी अनुवाद बहुत ही प्रचलित हुआ और इसी प्रकार उपनिषदों का अनुवाद और तंत्र-विषयक ग्रन्थों का भी खूब प्रचार हुआ।

एनीबेसेंट राजनीति में : डाक्टर ऐनीबेसेंट ने भारतीय राजनैतिक आन्दोलन को भी बड़ा बल दिया। होमरूल लीग की वह प्रमुख नेत्री थीं और एक बार कांग्रेस की अध्यक्षा निर्वाचित हुई थीं। उनके उग्र राजनैतिक विचारों के कारण सरकार ने उनको नजरबन्द कर दिया था। ऐनीबेसेंट ने सदैव इस बात का प्रयास किया कि भारत में राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत हो, समस्त भारतीय अपने को एक कौम समझें और भारत उन्नत देशों का समकक्ष बने। ऐनीबेसेंट के विचार तो उग्र थे परन्तु वह स्वभाव से नम्र थीं और जन-आन्दोलन में शामिल नहीं हो सकती थीं। इसके अतिरिक्त वे केवल अंग्रेजी ही बोलती थीं, अतः उनका जनता से सम्पर्क भी नहीं हो सकता था, उनकी आवाज केवल शिक्षित वर्ग तक ही पहुँच सकती थी। परन्तु भारत के नव-जागरण में और पूर्व तथा पश्चिम की संस्कृतियों के मिश्रण में ऐनीबेसेंट का बहुत बड़ा हाथ था। उन्होंने शिक्षित समाज में धर्माभिमान और स्वाभिमान जाग्रत किया, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हिन्दू धर्म के समस्त पक्षों का विवेचन किया तथा भारतीय संस्कृति को सुन्दर और स्वस्थ सिद्ध करके ग्राह्य बनाया।

स्वामी विवेकानन्द और विदेशों में भारत का आदर : स्वामी विवेकानन्द ने सन् १८६३ में क्षत्रिय कुल में जन्म लिया था। ये बंगाल के निवासी थे और प्रसिद्ध संत श्री रामकृष्ण परमहंस के शिष्य थे। स्वामी विवेकानन्द का जन्म-नाम नरेन्द्र था। इन्होंने कलकत्ते के एक कालेज में शिक्षा प्राप्त करके बी० ए० परीक्षा पास की थी। ये बड़े मेधावी और विचारवान् व्यक्ति थे। स्वामी रामकृष्ण के विशुद्ध और आध्यात्मिक जीवन का इन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा था। युवावस्था में ही संन्यास धारण करके ये हिन्दू धर्म का प्रचार करने लगे। प्रतिमा पूजन, अवतारवद, पुनर्जन्म, वर्ण-व्यवस्था आदि विषयों का ये खंडन नहीं करते थे। कभी-कभी दबी जबान में इनका मंडन ही किया करते थे। परन्तु वेदान्त दर्शन पर और तज्जन्य विशाल मानवता पर इनका विशेष जोर था। इन्होंने भारतवर्ष के कितने ही नगरों में अपने मन्तव्य का प्रचार किया, हिन्दू धर्म की महिमा बतलाई और पुरुषार्थ तथा कर्मशीलता का उपदेश किया। राजस्थान में अलवर, जयपुर, खेतड़ी आदि स्थानों का इन्होंने भ्रमण किया। खेतड़ी के जागीरदार की सहायता से स्वामी विवेकानन्द सन् १८६३ में अमेरिका गये। वहाँ पर शिकागो नगर में एक सर्व धर्म सम्मेलन होने वाला था। स्वामीजी उसमें सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द ने ऐसी योग्यता के साथ वेदान्त का विवेचन किया कि विविध देशों से आये हुए प्रतिनिधि विस्मित हो गये। उन्होंने सिद्ध किया कि वेदान्त सम्पूर्ण धर्मों से ऊपर है, यह मानवता का धर्म है। वहाँ

जाति, वर्ग या देश का भेद नहीं है। इसमें न मस्जिद की आवश्यकता है न मन्दिर की और न गिरजाघर की। वहाँ परमात्मा से सीधा सम्पर्क है। इस सम्मेलन में स्वामीजी ने कई भाषण दिये, और अपने गहन ज्ञान, उदार विचार और अद्भुत वाक-शक्ति का ऐसा परिचय दिया कि अनेक लोग उनके भक्त बन गये। सब मिलकर उन्होंने १२ भाषण दिये। उनके भाषणों से अमेरिका निवासियों की यह धारणा बनी कि स्वामी विवेकानन्द सर्व-धर्म सम्मेलन में सबसे बड़े व्यक्ति हैं। ऐसे ज्ञानवान् देश में ईसाई धर्म के धर्मोपदेष्टा भेजने से कोई लाभ नहीं है, बल्कि यह केवल मूर्खता है।

इस सम्मेलन के पश्चात् स्वामीजी ने अमेरिका और इंगलैण्ड में तीन साल व्यतीत किये। वे जहाँ जाते थे, वहाँ उनका स्वागत होता था। उनके ऊँचे चरित्र, सुन्दर व्यक्तित्व और वक्तृत्व शक्ति का लोगों पर तत्काल प्रभाव पड़ता था। उन्होंने समस्त योरोप में हिन्दू धर्म के महत्व की चर्चा फैलाई। उनके प्रचार का परिणाम यह हुआ कि योरोप के धनवान् लोगों ने यह विचार करना शुरू किया कि भारत में ईसाइयत का प्रचार करने के लिए धन खर्च किया जावे या नहीं? इससे पादरियों का प्रचार-तूफान कम होने लगा। पहले ये लोग हिन्दू धर्म की निर्भीकता से निन्दा करते थे, उस पर बहुत बड़ी रोक लग गई। जो भारतीय अंग्रेजी पढ़कर अपने धर्म को हेय समझने लग गये थे उनकी आँखें खुलीं। उन्होंने देखा कि योरोप और अमेरिका में सैकड़ों नर-नारी स्वामीजी के शिष्य बन रहे हैं तथा हिन्दू धर्म तथा संस्कृति के महत्व को स्वीकार कर रहे हैं, इससे भारत में भी अपने धर्म के प्रति श्रद्धा जाग्रत हुई और नव शिक्षित लोग अपने धर्म के स्वरूप को पहचानने लगे। स्वामी विवेकानन्द के प्रचार से पश्चिमी देश हिन्दू धर्म और संस्कृति का आदर करने लगे और योरोपीय पादरियों की अनर्गल बातें बन्द हो गईं। योरोप और अमेरिका में स्वामीजी ने वहाँ की विलासिता और अर्थपरायणता की निन्दा की। निर्भीकतापूर्वक उन्होंने वहाँ के जीवन के हेय पक्षों का स्पष्ट वर्णन किया। उन्होंने अमेरिका और योरोप के जातीय अहंकार और अमर्यादित जीवन की भी निन्दा की और बतलाया कि धार्मिकता के बिना मानव जीवन निस्सार है। धर्म-हीन सभ्यता केवल पशुता है, अर्थ-परायण सभ्यता का विनाश अवश्यम्भावी है।

स्वामीजी का वेदान्त प्रचार : स्वामीजी की वेदान्त व्याख्या लोगों के हृदय को तत्काल स्पर्श करती थी। उनकी वर्णन शैली अनोखी थी। वे कहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति में देवत्व है, परन्तु उसके विकास करने की आवश्यकता है। धर्म अनुभूति से प्राप्त होता है। वह जीवन का तत्व है। ज्ञान और आनन्द की खोज करने के लिए मनुष्य को ऊँचा उठना चाहिए। इन्द्रिय-परायणता मनुष्य को नीचे गिराती है और तत्व की तलाश में बाधक बनती है। स्वामीजी के उपदेश को सुनकर योरोप और

अमेरिका के लोग दंग रह जाते थे। उनका सूक्ष्म विवेचन सबको मुग्ध कर देता था। अमेरिका और योरोप की यात्रा के बाद स्वामीजी स्वदेश लौटे और यहाँ कई प्रान्तों में घूम कर लोगों में एक नई चेतना उत्पन्न की। उनका सारा समय प्रचार में व्यतीत होता था। वे इतने अथक परिश्रमी थे कि विश्राम करना जानते ही नहीं थे। अत्यधिक परिश्रम करने के कारण उनका देहान्त केवल उन्तालीस वर्ष की आयु में ही हो गया। इस अल्पकाल में उन्होंने धर्म की पुनर्स्थापना के लिए प्रयास किया और भारत को ही नहीं वरन् समस्त संसार को यह सन्देश दिया कि विज्ञान और व्यापार के जगत् में भी धर्म की आवश्यकता है। केवल बुद्धिवाद के द्वारा मनुष्य अपने जीवन को दिव्य नहीं बना सकता। उस समय के हिन्दुओं पर योरोप का बहुत बड़ा प्रभाव था। अपने धर्म और संस्कृति के प्रति उनमें ग्लानि होती जाती थी, परन्तु जब उन्होंने देखा कि स्वामी विवेकानन्द के प्रचार से योरोप के लोग भी हिन्दू धर्म की प्रशंसा कर रहे हैं तो उनका मोह और प्रमाद विच्छिन्न हुआ। स्वामीजी ने अपने ओजस्वी भाषणों के द्वारा भारत में आत्मगौरव की भावना जाग्रत की और अपनी संस्कृति, इतिहास, आध्यात्मिकता की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया।

स्वामीजी की देन : स्वामी विवेकानन्द के प्रचार से सारे संसार में भारत का मस्तक ऊँचा हो गया। पश्चिमी लोग इसके गौरव और ज्ञान को स्वीकार करने लगे। इसका भारतीयों पर भी उत्तम प्रभाव पड़ा। उन्होंने देखा कि अर्द्धशिक्षित और दुराग्रही पादरी चाहे उनके धर्म की निन्दा करते हों परन्तु पश्चिमी देश के बड़े बड़े विद्वान् उसके महत्व को समझते हैं और उसकी विशालता का अनुभव करते हैं। भारत में आर्य समाज, ब्रह्म समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी, प्रार्थना समाज, देव समाज, आदि संस्थाओं के द्वारा जो नव जागरण का कार्य हो रहा था उसको स्वामी विवेकानन्द ने आगे ही नहीं बढ़ाया बल्कि योरोप और अमेरिका के लोगों के द्वारा भी उसका अभिनन्दन करवाया। भारतीय ज्ञान का प्रथम सन्देश पाश्चात्य देशों को केवल स्वामी विवेकानन्द से ही मिला।

स्वामी विवेकानन्द कर्मठ संन्यासी थे, धुरन्धर वक्ता थे, वेदान्त के प्रकाण्ड पण्डित थे और सच्चरित्र से देदीप्यमान थे। उन्होंने भारत को कर्तव्यपरायणता की शिक्षा दी और पाश्चात्य देशों को ज्ञान मार्ग का उपदेश किया। इस प्रकार पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों के मिश्रण में स्वामी विवेकानन्द ने बड़ा योग दिया।

कांग्रेस का जन्म

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में लार्ड रिपन वाइसराय बनकर भारतवर्ष में आये। उस समय धार्मिक जागृति और देशाभिमान के सर्वव्यापक उदय के कारण

भारत में राजनैतिक अकांक्षाएँ जाग्रत हो चुकी थीं। ऋषि दयानन्द अंग्रेजी राज्य की निन्दा तो नहीं करते थे किन्तु यह बात उन्होंने अपने उपदेशों में कई बार दोहराई थी कि सुराज्य की अपेक्षा स्वराज्य अधिक श्रेयस्कर है। अंग्रेज सरकार के कई राजनीतिज्ञ भी यह विचार प्रकट कर चुके थे कि अंग्रेजी शासन का ध्येय भारत को स्वराज्य के योग्य बनाना है। लार्ड रिपन ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के चांसलर की हैसियत से भाषण देते हुए विद्यार्थियों को सम्बोधित करके कहा कि "वह समय बहुत जल्द आने वाला है जब भारत का शासन लोकमत के अनुसार चलेगा और कोई सत्ता लोकमत का विरोध नहीं कर सकेगी। इसके प्रभाव को कोई रोक न सकेगा।" अपनी स्वाभाविक उदारता के कारण लार्ड रिपन ने स्वायत्त शासन का आरम्भ करना चाहा। बंगाल के इस्तमरारी बन्दोबस्त में संशोधन करने का प्रयास किया और धारा सभा में इलबर्ट बिल नामक एक ऐसा कानून पास करना चाहा जिसके अनुसार हिन्दुस्तानी जज अंग्रेजों के मुकद्दमों की सुनवाई कर सकता था। भारत में निवास करने वाले अंग्रेजों ने, अर्द्ध-अंग्रेजों ने और अंग्रेज राजकर्मचारियों ने इन तीनों सुधार प्रस्तावों का प्रबल विरोध किया। खास करके इलबर्ट बिल का विरोध करने के लिए इन लोगों ने एक योरोपियन सुरक्षा संघ संगठित किया और आन्दोलन चलाने के लिए डेढ़ लाख रुपये का चन्दा किया। आन्दोलन में हिन्दुस्तानियों के विरुद्ध अनेक अनर्गल बातें कहीं। इनमें एक बात यह भी कही जाती थी कि हिन्दुस्तानी जज अपने अधिकारों का दुरुपयोग करके अपने जनानखानों को अंग्रेजी औरतों से भर देंगे। इससे अनुमान होता है कि गोरे लोग रिपन के सुधारों के कारण कितने पागल हो गये थे। योरोपियन सुरक्षा संगठन के विरुद्ध सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने सन् १८८३ में एक राष्ट्रीय सभा करने का आयोजन किया और उसके लिए एक राष्ट्रीय कोष बनाने का प्रस्ताव किया। उसी वर्ष कलकत्ते में राष्ट्रीय सभा का अधिवेशन हुआ जिसमें उपरोक्त अंग्रेजों की मनोवृत्ति की निन्दा की गई। इसी समय एलन आक्टेवियन ह्यूम एक उच्च अंग्रेज राजकर्मचारी ने कलकत्ता यूनीवर्सिटी के ग्रेजुएटों को एक खुला पत्र लिख कर प्रेरित किया कि एक ऐसी संस्था बनाई जाय जो भारतवर्ष की मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक और राजनैतिक पुनार्जाग्रति के लिए प्रयत्न करे। तत्कालीन वाइसराय लार्ड डफरिन ने भी इससे सहमति प्रकट की और इंगलैण्ड के उदार सज्जनों ने भी इस प्रस्ताव का अभिनन्दन किया। अतः इंडियन नेशनल कांग्रेस नामक राजनैतिक संस्था संगठित की गई। सन् १८८५ में इसका प्रथम अधिवेशन बम्बई पूना में हुआ। भारत के विभिन्न नगरों से इसमें ७० प्रतिनिधि आये। कलकत्ते के प्रसिद्ध बैरिस्टर उमेशचन्द्र बनर्जी (१८४४-१९०६) इसके अध्यक्ष हुए। उमेश बाबू ईसाई थे, और उस समय कानून के बड़े-बड़े राजकर्मचारी भी कांग्रेस के अधिवेशन में उपस्थित हुआ करते थे, और अपने विचार

भी प्रकट करते थे। सन् १८८६ में कांग्रेस सदस्यों को लार्ड डफरिन ने एक गार्डन पार्टी दी थी, और इसके अगले वर्ष जब मद्रास में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो वहाँ के गवर्नर कौनेमारा ने भी कांग्रेस सदस्यों का इसी प्रकार सत्कार किया था। सन् १८९० तक सरकार इस बात को स्वीकार करती रही कि कांग्रेस उदार विचारों का प्रतिनिधित्व करती है परन्तु ज्यों-ज्यों कांग्रेस अंग्रेजी शासन की टीका-टिप्पणी करने लगी त्यों-त्यों अंग्रेजी सरकार का रुख बदलने लगा।

कांग्रेस में उग्र दल का उदय : वाइसराय की कौन्सिल में १८६१ में ही तीन भारतीय ले लिये गये थे। लेकिन अंग्रेजों के बहुमत के आगे इनकी कुछ चलती नहीं थी। इसलिये इनका नाम "जो हुकम वाला" प्रसिद्ध हो गया था। इन तीन भारतीयों में जयपुर के सुयोग्य महाराजा रामसिंह भी थे। सन् (१८९२) में दूसरा कौन्सिल एक्ट बना। जब इसकी चर्चा चलने लगी तो शिक्षित भारतीयों को आशा हुई कि जनता का प्रतिनिधित्व पर्याप्त मात्रा में बढ़ाया जावेगा। परन्तु इस विषय में सबको निराशा हुई और सबसे अधिक निराशा कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन १८९२ में गोपाल कृष्ण गोखले ने प्रकट की। परन्तु दादाभाई नौरोजी ने अध्यक्ष की हैसियत से कहा कि हमको शान्ति और धैर्य रखना चाहिए और निराशा कभी प्रगट नहीं करनी चाहिए। कांग्रेस के साथ सहानुभूति रखने वाले अंग्रेजी सज्जनों के भी यही विचार थे। यह स्मरण रखने की बात है कि १९०५ से पहले चार अंग्रेज कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हो चुके थे। डेविड यूल (१८८८), सर विलियम वेडर बर्न (१८८९), एल्फ्रेड वेब (१८९४) और सर हेनरी कोटन (१९०४)। इनमें से सर विलियम वेडरबर्न सन् १९१० में इलाहाबाद के अधिवेशन में फिर अध्यक्ष निर्वाचित हुए।

जब नई कौन्सिल बनी तो बङ्गाल के प्रसिद्ध नेता सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और बम्बई के विद्वान बैरिस्टर फिरोजशाह मेहता इसके सदस्य हुए। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने आई० सी० एस० परीक्षा पास की थी। १८७८ में बङ्गाली नामक समाचार पत्र जारी किया था और १८८२ में रिपन कालेज की स्थापना की थी। फिरोजशाह मेहता बम्बई कारपोरेशन के अध्यक्ष थे और उसके बाद धारा सभा के सदस्य रहे। सन् १९०४ में सरकार ने इनको के० सी० एस० आई० की उपाधि से सम्मानित किया। इन दोनों ने सभाओं में सरकार के कार्यों की तीव्र आलोचना और भारतीयों के अधिकारों की बड़ी हिमायत की। इसी समय लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक महाराष्ट्र में सरकार की निर्भीक आलोचना के कारण बड़े प्रसिद्ध होते जाते थे। सन् १८९६ में प्लेग का प्रकोप हुआ और भयंकर दुर्भिक्ष हुआ। प्लेग की रोक-थाम के लिये सरकार ने जिन साधनों से काम लिया, उसकी तिलक ने कठोर आलोचना की। इससे लोगों में सरकार के विरुद्ध घोर असन्तोष फैला और यत्र-तत्र बढ़ा-चढ़ा कर सरकार की निन्दा की

जाने लगी। इसमें यह भी कहा गया कि फौजी गोरों ने रोग की रोकथाम के नाम पर स्त्रियों के साथ अत्याचार किया है, मन्दिरों का अनादर किया है और लोगों को उत्पीड़ित किया है। इस असन्तोष की लहर का यह परिणाम हुआ कि जिस दिन सम्राज्ञी विक्टोरिया की हीरक जयन्ती मनाई जा रही थी उस दिन पूना के अँग्रेज कलेक्टर और अँग्रेजी फौज के अफसर की किसी ने हत्या कर डाली। इस घटना से अँग्रेज घबरा गये और यह आशंका होने लगी कि कहीं १८५७ का सा गदर फिर ना हो जाये। लोकमान्य तिलक को गिरफ्तार किया और राजद्रोह का अपराध लगाकर उनको १८ महीने की सख्त कैद की सजा दी गई। उसी समय ताजीरात हिन्द और जाब्ता फौजदारी में ऐसे संशोधन किये गये जिनसे राजद्रोह के मामलों में आसानी से सजा दी जा सके। जिस समय असन्तोष की और आतंक की ऐसी लहरें चल रही थीं तब १८९८ में लार्ड कर्जन वाइसराय नियुक्त हुए। ये योग्य शासक थे परन्तु भारत की राजनैतिक उमंगों और भावनाओं को कुचलना चाहते थे। सन् १९०२ में लार्ड कर्जन ने एडवर्ड सप्तम की ताजपोशी का देहली दरबार किया। इससे पहले १८९९ और १९०१ में भयंकर दुर्भिक्ष हो चुका था इसलिये १९०३ के मद्रास के कांग्रेस अधिवेशन में लाल मोहन घोष ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि दुर्भिक्ष पीड़ित भारतीय जनता को शानदार तमाशा दिखाया जा रहा है। इसी समय अफ्रीका में घोर युद्ध हुआ और चीन में भी युद्ध छिड़ा, जिसमें लगभग ३०,००० भारतीय सैनिक लड़ने के लिये भेजे गये। १९०३ में लार्ड कर्जन ईरान की खाड़ी देखने के लिये गये जहाँ उनका अत्यन्त भव्य स्वागत हुआ। भारतीय नेताओं ने जोरदार भाषा में आलोचना की और कहा कि ये गरीब जनता के धन का निर्मम दुरुपयोग है और असहाय देश का आर्थिक शोषण है। १९०४ में जापान ने एशिया को हराया जिसका भारत पर यह प्रभाव पड़ा कि एशियाई देश भी योरोपीय देश को हरा सकता है। इस भावना से अधिक उत्साह और आशा के साथ अँग्रेज सरकार का विरोध होने लगा। इसी वर्ष लार्ड कर्जन ने बंग-भंग की घोषणा की। इसके विरोध में लगभग ५०० सभायें हुईं और लोगों ने तीव्र भाषा में विरोध किया कि बङ्गाल-देश के दो टुकड़े नहीं किए जायँ। ६०,००० व्यक्तियों के हस्ताक्षर करवाकर पार्लियामेंट को इस विषय का प्रार्थना पत्र भेजा गया परन्तु परिणाम कुछ नहीं हुआ। बङ्गाल में ही नहीं, सारे देश में असन्तोष की ज्वाला धधक उठी। बङ्ग घोषणा प्रकाशित होने के एक महीने बाद लार्ड कर्जन भारत से चल दिए परन्तु जाने से पहले उन्होंने असन्तोष के भयंकर दृश्य देख लिए थे। अगस्त सन् १९०५ में कलकत्ता के टाउनहाल में एक मीटिंग हुई जिसमें भारतीय राजनैतिक आकांक्षाओं के प्रति अँग्रेजों की उदासीनता की प्रबल निन्दा की गई और यह निश्चय किया गया कि जब तक बङ्ग-भङ्ग रद्द न किया जावे तब तक अँग्रेजी माल

का बहिष्कार किया जाय। १६ अगस्त को जनता ने हड़ताल की और उपवास किया और संघर्ष के लिए आत्मबल प्राप्त करने के हेतु स्थान स्थान पर प्रार्थनायें की गई। लोगों ने मन्दिरों में जाकर भगवान की प्रतिमाओं के सामने प्रण किया कि अँग्रेजी सामान नहीं खरीदा जावेगा। इस आन्दोलन का नेतृत्व सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने किया था जिसके कारण वे बङ्गाल के ही नहीं सारे देश के माने हुए नेता बन गए। गोपाल कृष्ण गोखले और लाला लजपतराय उसी वर्ष इङ्गलैंड गए और वहाँ इस विषय में आन्दोलन किया। इसी वर्ष बनारस कांग्रेस का अधिवेशन हुआ जहाँ गोखले ने अँग्रेजी सामान के बहिष्कार का तरीका अध्यक्ष की हैसियत से स्वीकार कर लिया। पण्डित मदन मोहन मालवीय ने यह प्रस्ताव पेश किया था और लाला लजपतराय ने अनुमोदन करते हुए कहा था कि अब हमको केवल भीख माँग कर सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए। मुँह ताक ताक कर दया की आशा नहीं करना चाहिए। बहिष्कार का परिणाम यह होगा कि यदि उनको अपने देश के व्यापार की चिन्ता है तो हमको आजादी देनी होगी। इसके पश्चात् गोखले इँगलैंड गए। वहाँ लार्ड मार्लें, सेक्रेट्री आफ स्टेट फार इण्डिया से मिले। मार्लें के विचार बड़े उदार थे परन्तु सरकारी दबाव के कारण वे टस से मस नहीं हुये।

कांग्रेस के दो दल : १६०६ में कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ते में हुआ। ८२ वर्ष के वयोवृद्ध दादाभाई नौरोजी अध्यक्ष थे। गोखले इंगलैण्ड से निराश होकर अभी लौटे थे। उन्होंने अध्यक्षीय भाषण पढ़ कर सुनाया था। लोकमान्य तिलक और विपिनचन्द्र पाल चाहते थे कि विदेशी माल का ही नहीं विदेशी सरकार का भी बहिष्कार किया जावे और बराबर की स्वदेशी सरकार स्थापित कर दी जावे। दादा भाई नौरोजी की नीति-मत्ता और सहृदयता के कारण कांग्रेस में दंगा तो नहीं हुआ परन्तु यह स्पष्ट हो गया कि गोखले एक तरफ हैं और तिलक दूसरी तरफ। इसी समय बाबू अरविन्द घोष राजनैतिक आन्दोलन में शामिल आ हुए। इन्होंने आई० सी० एस० परीक्षा पास की थी परन्तु सरकार ने यह कहकर इनको इस पद से वंचित कर दिया था कि इन्हें घोड़े पर चढ़ना नहीं आता। फिर यह बड़ौदा रियासत में २, ३ साल तक उच्च पद पर रहे और अब बंगाल आकर इन्होंने बंग राष्ट्रीय शिक्षा समिति स्थापित की जिसका उद्देश्य था कि सरकारी शिक्षा संस्थाओं का बहिष्कार किया जावे और उनके स्थान पर राष्ट्रीय संस्थायें स्थापित की जावें। इसके पश्चात् अरविन्द बाबू ने वन्दे मातरम नामक एक समाचार पत्र का सम्पादन किया। इस पत्र ने बंगाल में एक नया युग उत्पन्न कर दिया। वन्दे मातरम् ने मंत्र का कार्य किया। लोगों में रोष और जोश उमड़ पड़े। उसी समय वन्दे मातरम् भारत का राष्ट्रीय गान बन गया। यह गान बंकिमचन्द्र चटर्जी कृत आनन्दमठ नामक उपन्यास के ग्यारहवें अध्याय से लिया

गया है अब बंगाल और महाराष्ट्र दोनों प्रान्तों में लोगों का नेतृत्व उग्र-नेताओं के हाथ में आ गया। बंगाल में अरविन्द घोष तथा विपिनचन्द्र पाल तथा महाराष्ट्र में बाल गंगाधर तिलक और जोन बैप्टिस्टा अग्रणी थे।

ऐसी परिस्थिति में सूरत में सन् १९०७ में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इसमें १६०० प्रतिनिधि थे। रास बिहारी घोष नर्म दल के नेता का अध्यक्षपद के लिये प्रस्ताव हुआ। जब सुरेन्द्रनाथ बनर्जी प्रस्ताव करने के लिये खड़े हुये तो बड़ा शोर हुआ और गड़बड़ मच गई और सभा स्थगित कर दी गई। दूसरे दिन रास बिहारी घोष का निर्वाचन हो गया परन्तु ज्यों ही कार्यवाही शुरू हुई बाल गंगाधर तिलक ने एक आपत्ति प्रस्तुत की। अध्यक्ष ने इसको नहीं माना। तब एक रोष-पूर्ण भीड़ व्याख्यान मंच की ओर बढ़ी और इस गड़बड़ में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के एक दक्षिणी जूता लगा। तब सभा तितर बितर हो गई और पुलिस ने पंडाल पर कब्जा कर लिया और उसका एक विधान बनाया। इस कांग्रेस के प्रमुख नेता थे गोखले, लाजपत राय, मदन मोहन मालवीय, दीन शाह वाचा, फिरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और मोतीलाल नेहरू।

मुस्लिम नवोत्थान : उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में मुसलमानों में भी अपूर्व जागृति आरम्भ हुई। अरब में एक वहाबी आन्दोलन चला जिसका उद्देश्य था इस्लाम को परिमार्जित और परिशुद्ध करना परन्तु वहाबी लोगों ने इस्लाम के कुछ प्रचलित विचारों के विरुद्ध ऐसी उग्रता दिखलाई कि यह आन्दोलन खतरनाक समझा जाने लगा। अरब देश में इस आन्दोलन को कुचल दिया गया परन्तु भारत में सैयाद अहमद के नेतृत्व में यह बहुत शक्तिशाली हो गया। सन् १८१८ में सैयद अहमद ने सिरातुल मुस्तकीम नामक एक पुस्तक लिखी जो वहाबियों के घर घर में प्रचलित हो गई। वहाबियों ने सन् १८२० में सिक्खों के खिलाफ जिहाद जारी किया परन्तु ११ वर्ष बाद सैयद अहमद को स्वयं सिक्खों ने मार डाला। अब वहाबियों ने गदर के जमाने में सिक्खों को छोड़ कर अँग्रेजों के खिलाफ जिहाद बोला। १८६४ में इन लोगों ने अम्बाला में और १८७१ में पटना में बड़े उपद्रव किये। ११ वहाबियों को कालेपानी की सजा मिली परन्तु जब पटना में यह मुकद्दमा चल रहा था तो इन लोगों ने जज्ञ को मार डाला और कुछ अंग्रेजों का उस समय यह भी विश्वास था कि अन्डमन्स टापू में लार्ड मेयो की हत्या करने वाला अफगान भी शायद वहाबी होगा।

सर सैयद अहमद के कार्य : ऐसी परिस्थिति में सर सैयद अहमद ने मुसलमानों के नवोत्थान का कार्य अपने हाथ में लिया। ये उच्चकुलीन मुगल मुसलमान थे। १८३७ में इन्होंने कम्पनी की सेवा स्वीकार की और १८५७ के गदर में अंग्रेजों का साथ दिया। सन् १८६९ में ये इंगलैण्ड गये और फिर राज सेवा छोड़कर सन् १८७६

से ये मुसलमानों की उन्नति के लिये कार्य करने लगे। इन्होंने अलीगढ़ में मोहमेडन एंग्लो ओरियन्टल कालेज स्थापित किया जिसने १९१० में विस्तृत होकर अलीगढ़ मुस्लिम यूनीवर्सीटी का रूप धारण किया। यह संस्था शुरू से ही मुसलमानों की प्रगति का केन्द्र बन गई।

सर सैयद अहमद कांग्रेस के घोर विरोधी थे। सन् १८८७ में जब मद्रास में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो उसी समय उन्होंने मुस्लिम शिक्षा सभा का अधिवेशन किया और दूसरे वर्ष कांग्रेस के विरोध में एक सभा स्थापित की। इसी वर्ष इनको के० सी० एस० आई० की उपाधि से सरकार ने सम्मानित किया। सर सैयद अहमद का प्रशंसनीय कार्य अलीगढ़ मुस्लिम कालेज के अतिरिक्त यह था कि उन्होंने राजा राम मोहन की भाँति मुसलमानों का ध्यान अंग्रेजी शिक्षा की ओर आकर्षित किया और अंग्रेजी के अनेक सद्ग्रन्थों के अनुवाद द्वारा उर्दू साहित्य को सम्पन्न किया।

आतंकवाद का उदय : सूरत अधिवेशन के कुछ मास पश्चात् मुजफ्फरपुर में किसी ने बम्ब के द्वारा दो अंग्रेज स्त्रियों की हत्या कर डाली। इसको बहाना बना कर सरकार ने राजनैतिक आन्दोलन का दमन शुरू किया। लोकमान्य तिलक को छः साल की कैद की सजा देकर माँडले भेजा। विपिन चन्द्रपाल को छः मास का कारावास हुआ। अरविन्द घोष को एक साल तक हिरासत में रख कर रिहा किया। चिदम्बरन लाई को छः साल की कैद हुई और हसरत मोहानी को एक साल का कारावास मिला। इस आतंक के कारण जो बलवे हुए उनका जोर से दमन किया गया। फिर भी सन् १९०९ में किसी क्रान्तिवादी ने लार्ड मिन्टो पर बम्ब फेंका परन्तु मिन्टो बच गया। नासिक में एक कलेक्टर को मार डाला। इंगलैण्ड में श्यामजी कृष्ण के एक विद्यार्थी मदन लाल धींगड़ा ने सर डबल्यू कर्जन वायली को एक भरी सभा में गोली से मार दिया।

भेद नीति का आरम्भ : कांग्रेस में दो दल हो ही चुके थे। जब भारत में एक दल और उत्पन्न करने के लिये अंग्रेज लोग मुसलमानों की ओर झुके। बंगाल का लेफिटनेन्ट गवर्नर सर बेम्फील्ड फुलर कहा करता था कि मेरे दो औरते हैं। एक हिन्दू और दूसरी मुसलमानी, लेकिन मुझे मुसलमानी अच्छी लगती है। इस समय मुसलमानों का नेतृत्व नवाब मुहस्सिन ऊलमुल्क (१८३७-१९०७) के हाथ में था। गदर के बाद से इन्होंने सर सैयद अहदम खाँ के साथ-साथ मुस्लिम नवोत्थान और शिक्षा प्रचार का काय किया था। इसी समय यह भी चर्चा चल रही थी कि अंग्रेज सरकार हिन्दुस्तान में कुछ अधिक राजनैतिक सुधार करने वाली है। तब नवाब ने वाइसराय के पास एक मुसलमानों का शिष्ट मंडल भेजने का विचार किया। इसका उद्देश्य था सरकार के सामने मुसलमानों की माँगें पेश करना। इस मंडल का नेता हिज़ हाईनेस

आगा खाँ को बनाया गया। आगा खाँ का जन्म सन् १८७५ में हुआ था। १८९८ में इन्होंने योरोप की प्रथम यात्रा की थी। बम्बई में मुस्लिम शिक्षा सभा के ये अध्यक्ष रह चुके थे और धारा-सभा के मेम्बर थे। इस शिष्ट मंडल ने प्रधान माँग यह रखी कि मुसलमानों का अलग प्रतिनिधित्व होना चाहिये और यह धारा-सभा से लेकर जिला बोर्ड तक हो। मिन्टो ने यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया और उसी दिन हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का बीज बो दिया गया।

मुस्लिम लीग की स्थापना : इसके एक वर्ष के बाद मुहसिन उल्मुल्क की प्रेरणा से आगा खाँ ने अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना की। १९०६ में ढाका में, १९०७ में करांची में, १९०८ में अलीगढ़ में इस संस्था के अधिवेशन हुये। इस बात का प्रचार आरम्भ हुआ कि कांग्रेस हिन्दुओं का संगठन है और लीग मुसलमानों का। इसके बाद मिन्टो-मोर्ले सुधार जारी हुये परन्तु इससे भारतीयों को सन्तोष नहीं हुआ और सन् १९१२ में जब लार्ड हार्डिन्ज की दिल्ली में सवारी निकल रही थी तो किसी ने उनकी ओर बम्ब फेंका। वे बच गये परन्तु उनके बड़ी चोटें आईं जिसके कारण वे लम्बे अर्से तक बीमार रहे।

हिन्दू-मुसलमानों का मेल : सन् १९११ में इस बात का प्रयत्न किया गया कि हिन्दू-मुसलमानों में मेल हो जावे। इस उद्देश्य से दोनों की एक मिली-जुली सभा हुई जिसमें पंडित मदन मोहन मालवीय, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, रहीमतुल्ला, हसन इमाय, जिन्ना और वेडरबर्न उपस्थित थे। मोहम्मद अली, शौकत अली दोनों भाई मुस्लिम लीग के सदस्य थे परन्तु उनके विचार उग्र थे और वे कांग्रेस के विरोधी नहीं थे। सन् १९१३ में मुस्लिम लीग ने अपना मन्तव्य बदला। अब उसका उद्देश्य हो गया—दूसरी कौमों के साथ-साथ भारतवर्ष के लिये स्वराज्य प्राप्त करना। इससे कांग्रेस और लीग एक दूसरे के समीप आ गई। सन् १९१६ में कांग्रेस और मुस्लिम लीग में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार जातीय प्रतिनिधित्व हमेशा के लिये स्वीकार कर लिया गया। सन् १९१३ में एनीबेसेन्ट राजनैतिक क्षेत्र में आ चुकी थी और लोकमान्य तिलक छः वर्ष की जेल भुगतकर १९१४ में स्वदेश लौट आये थे। इसी अर्से में फिरोजशाह मेहता और गोपाल कृष्ण गोखले का देहान्त हो चुका था। इन घटनाओं के कारण देश में उग्र राजनीति बढ़ती जाती थी। सन् १९१४ में प्रथम विश्व-युद्ध शुरू हुआ जिसने भारतीय राजनीति को और अधिक उग्र बना दिया। महायुद्ध के समय तुर्की ने जर्मनी का साथ दिया इसलिये अंग्रेजों ने तुर्की को छिन्न-भिन्न करने का आयोजन किया और उसके मातहत अरब देशों को अपनी ओर फोड़ना शुरू किया। तुर्की का सुल्तान मुस्लिम जगत का खलीफा अर्थात धार्मिक नेता माना जाता था इसलिये हिन्दुस्तान के मुसलमान अंग्रेज सरकार का विरोध करने लगे। इससे ये लोग और भी हिन्दुओं के समीप आ गये और सन् १९२३ तक इन्होंने कांग्रेस का साथ दिया।

नरम और गरम दल का मेल : सन् १९१६ में लखनऊ में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इसमें दोनों दलों के नेता सम्मलित हुए। इस समय एनीबेसेन्ट का बड़ा प्रभाव था और जब लोकमान्य तिलक ने कांग्रेस में प्रवेश किया तो लोगों में हर्ष का पारावार उमड़ पड़ा। दोनों दलों के मिल जाने से और मुसलमानों से समझौता हो जाने के कारण सरकार क्षुब्ध हो गई परन्तु युद्ध में सहायता प्राप्त करने के लिये और समय टालने के लिये वह भारतीयों को मीठे-मीठे आश्वासन देती रही। कांग्रेस के उक्त अधिवेशन में तिलक ने स्वराज्य प्राप्ति के विषय में एक प्रस्ताव पेश किया जिसका समस्त सदस्यों ने हृदय से अनुमोदन किया। इसी से मिलता-जुलता प्रस्ताव मुस्लिम लीग ने भी पास किया। इसी समय धारा सभा के १९ सदस्यों ने नये वाइसराय लार्ड चेम्सफार्ड के सामने एक प्रस्ताव रखा। प्रस्ताव यह था कि लोगों की अभिलाषा केवल यह नहीं है कि शासन अच्छा हो। वे यह चाहते हैं कि शासन उनके प्रति उत्तरदायी हो और शासन का स्वरूप उनको स्वीकार हो। भारत यह चाहता है कि अंग्रेज सरकार का दृष्टिकोण इस आकांक्षा के अनुकूल हो। यदि युद्ध के उपरान्त भी भारत की वही स्थिति रही जो अब है तो उसको बड़ी निराशा होगी। इस समय समस्त साम्राज्य पर खतरा है और इसके निवारण के लिये समस्त साम्राज्य तन्मयता से और प्राणपण से चेष्टा कर रहा है। यदि इसका फल सबको बराबर प्राप्त नहीं हुआ तो परिणाम बड़ा अवांछनीय होगा। इस प्रस्ताव के तैयार करने वाले १९ सदस्यों में श्रीनिवास शास्त्री, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, रहीमतुल्ला तथा मोहम्मद अली जिन्ना भी थे।

महात्मा गांधी और सत्याग्रह : वर्तमान भारत के निर्माण में महात्मा गांधी का भी बहुत बड़ा हाथ है। मोहनदास कर्मचन्द गांधी का जन्म सन् १८६९ में काठियावाड़ प्रान्त के पोरबन्दर नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता पोरबन्दर के महाराज के दीवान थे। १२ वर्ष की आयु में गांधी जी का विवाह हुआ। इसके पाँच वर्ष पश्चात् यह इंगलेण्ड गये। गांधी जी स्वाभावतः सत्यशील और चरित्रवान थे। विलायत के विलासमय जीवन में भी ये जलकमलवाद रहे। वहाँ चार वर्ष शिक्षा प्राप्त करने के बाद फिर बेरिस्टर बने और फिर उसी वर्ष वापिस भारत में आ आ गये। १८९३ में ये दक्षिणी अफ्रीका गये और वहाँ १९१४ तक ठहरे। अफ्रीका में भारत से गये हुए लोगों के अधिकारों की रक्षा के लिये गांधी जी ने बड़ा प्रयास और संघर्ष किया। वहाँ उन्होंने सत्याग्रह का प्रथमवार उपयोग किया जिससे समस्त संसार में इनकी ख्याति हो गई। इनके संघर्ष के फलस्वरूप जनरल स्मट्स ने इनके साथ एक समझौता किया जो कार्यरूप में कभी परिणित नहीं हुआ।

अफ्रीका से वापिस लौटने पर महात्मा गांधी ने भारत में भी पीड़ितों का

दुःख निवारण करने के लिये सत्याग्रह का प्रयोग किया। सन् १९१५ में काठिया-वाड़ में जकात के विषय में एक विषम स्थिति उत्पन्न हुई। छोटी-छोटी रियासतों में माल की आमदरफ्त पर ऐसा कर लगाया जाता था जिसकी मार से लोग बड़े दुखी थे। गांधीजी ने वाइसराय से पत्र-व्यवहार किया और अन्त में यह कहा कि यदि लोगों का दुःख निवारण नहीं हुआ तो वे सत्याग्रह करेंगे। वाइसराय की सलाह पर इन रियासतों ने जकात कर बन्द दिया। १९१७ में गांधीजी के सामने एक दूसरी स्थिति उपस्थित हुई। उस समय भारत से अफ्रीका में मजदूर भेजे जाते थे और इनके साथ ऐसी शर्तें की जाती थीं जिनके अनुसार निश्चित अवधि के भीतर वे स्वदेश नहीं लौट सकते थे और अफ्रीका में इनको घोर परिश्रम करना पड़ता था तथा महान् शारीरिक कष्ट भोगना पड़ता था। गांधीजी के प्रयत्न से सरकार ने यह प्रथा बन्द कर दी। परन्तु इस अवसर पर भी महात्मा गांधी को यह कहना पड़ा था कि यदि इस विषय का कानून रद्द नहीं किया जावेगा तो सत्याग्रह का उपयोग होगा। तीसरी बार फिर ऐसा अवसर आया। बिहार के लोगों ने गांधीजी से प्रार्थना की कि चम्पारन आकर नील ने खेतों पर काम करने वाले भारतीयों की दुर्दशा अपनी आँखों से देखें। नील के खेतों के मालिक सब अंग्रेज थे जो भारतीय मजदूरों को बड़ा दुःख देते थे। इनको कम से कम मजदूरी देते थे और अधिक से अधिक इनसे काम लेते थे। गांधीजी के सम्पर्क मात्र से भारतीय मजदूरों में स्वाभिमान जागृत हुआ। दण्ड भय जाता रहा और गोरे लोगों का रोब तथा आतंक लोगों के हृदय से निकल गया। यहाँ भी महात्मा गांधी सत्याग्रह करने के लिये तैयार हो गये थे लेकिन बिहार के गवर्नर ने बुद्धिमता से काम लिया और नील के खेतों पर काम करने वाले मजदूरों के कष्ट कानून द्वारा दूर कर दिये। चतुर्थ विजय गांधीजी को १९१८ में अहमदाबाद में हुई। यहाँ मजदूरों को बहुत कम मजदूरी दी जाती थी। उनकी दशा को सुधारने के लिये गांधी जी से प्रार्थना की गई। मजदूर मालिकों ने पहले तो गांधीजी की बात नहीं मानी परन्तु जब कारखानों में हड़तालें हुई और महात्मा गांधी ने उपवास करने की घोषणा की तब मजदूरों की माँगें स्वीकार की गई। इस विजय से महात्मा गांधी की ख्याति और प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई और गुजरात के मजदूरों और कृषकों में अपूर्व जागृति फैल गई।

उनका राजनैतिक नेतृत्व : प्रथम विश्व-युद्ध (१९१४-१९१८) के बाद अंग्रेज सरकार ने भारतवर्ष में स्वराज्ज का श्री गणेश करने की घोषणा की। परन्तु इस नाम-मात्र के राजनैतिक सुधारों से भारत को सन्तोष नहीं हुआ। इसके साथ ही गवर्नमेंट ने रोलेट एक्ट नामक एक ऐसा कानून जारी किया जिसके अनुसार केवल सन्देह होने पर किसी भी व्यक्ति को कैद किया जा सकता था। इसके विरुद्ध भारत के प्रायः सभी नेताओं ने अपनी आवाज उठाई। लाला लाजपतराय ने कहा कि इस

कानून के खिलाफ न अपील है, न है और न वकील है । परन्तु गवर्नमेन्ट ने कुछ नहीं सुना । तब महात्मा गांधी ने देशव्यापी आन्दोलन का कार्य अपने हाथ में लिया। समस्त देश ने उनका नेतृत्व स्वीकार किया परन्तु जन-आन्दोलन का अत्यन्त उग्र रूप पंजाब में प्रगट हुआ। सरकार ने भी अपना दमन-चक्र चलाया और आन्दोलन पर कई प्रकार की पाबन्दियाँ लगाई फिर भी अमृतसर के जलियाँवाला बाग में सरकार का विरोध करने के लिये एक विराट सभा हुई। घटनास्थल पर डायर नामक एक जनरल सैनिकों को साथ लेकर पहुँचा और उपस्थित जनता पर किसी भी प्रकार की चेतावनी दिये बिना ही उसने गोलियाँ चलवाना शुरू कर दिया जिसके फलस्वरूप ३७६ व्यक्तियों की मृत्यु हुई और १२०० व्यक्ति घायल हुए। भारतवर्ष में उग्र राजनैतिक आन्दोलन का यह प्रथम अध्याय था। उस दिन से ही महात्मा गांधी भारत के सर्वमान्य नेता बन गये। और जन-आन्दोलन तीव्र वेग से अधिकाधिक प्रबल होता गया। इसमें कई उतार-चढ़ाव आये परन्तु दूसरे विश्व-युद्ध के पश्चात् सन् १९४७ के १४ अगस्त को अंग्रेजों ने अपनी सम्पूर्ण शासन-सत्ता भारतीयों के सुपुर्द कर दी। ३० जनवरी १९४८ को गोडसे नामक एक व्यक्ति ने गांधीजी की हत्या की। उनके देहान्त पर भारत ने ही नहीं समस्त संसार ने शौक मनाया ।

वर्तमान भारत का निर्माण : वर्तमान भारत अनेक अंशों में महात्मा गांधी का बनाया हुआ है । राजनैतिक स्वतन्त्रता का श्रेय सर्वाधिक उन्हीं को है। देशाभिमान की जागृति उन्हीं के प्रयास से हुई है। रहन-सहन की सादगी को उन्होंने जन्म दिया है। योरोप की चकाचौंध गांधीजी ने मिटाई है। निर्भीकता और आत्माभिमान गांधीजी का मंत्र है। राजनैतिक आन्दोलन के दौरान में भारतीय स्त्रियों को समानता और स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। पर्दा तोड़ कर उन्होंने पुरुषों के साथ काम किया और हजारों महिलायें जेल में गई । इन्हीं दिनों जाति-पाँति की भावना कम हुई और शिक्षित लोगों में स्पर्शास्पर्श प्रायः जाता रहा। गांधीजी ने गौ-रक्षा के लिये देशव्यापी आन्दोलन किया। अछूतों के उद्धार के लिये उन्होंने प्रशंसनीय प्रयत्न किया। उनके प्रयास से इनका आर्थिक और बौद्धिक स्तर ऊँचा हुआ और इनको राजनैतिक क्षेत्र में अनेक सुविधायें प्राप्त हुई । गांधीजी की भगवत् भक्ति का भी शिक्षित समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा । उनकी रामधुन भारतवर्ष की नई गायत्री बन गई और जिन लोगों ने उनकी प्रार्थना को सुनने के लिये उपस्थित हजारों और लाखों की प्रशान्त भीड़ देखी है उनकी आँखों के सामने से वे दृश्य अब भी ओझल नहीं होते। मोहनदास करम चन्द गांधी को स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने महात्मा कहना शुरू किया था जो सारे विश्व ने स्वीकार किया । गांधीजी परम धार्मिक महात्मा थे और वास्तव में भारतीय राष्ट्र के पिता थे।

तेरहवाँ अध्याय

संस्कृति का वर्तमान स्वरूप

अंग्रेजों के सम्पर्क का प्रभाव : अंग्रेजों ने भारत में लगभग २०० वर्ष तक राज्य किया। इस अर्से में उन्होंने ईसाइयत का प्रचार किया, सम्पत्ति का शोषण किया और भारतीय उद्योग-धन्धों को लगभग नष्ट कर दिया। हमारे धर्म और संस्कृति के कतिपय स्वरूपों को बड़ी अत्युक्ति के साथ योरोपिय लेखकों ने हमारे और जगत के सामने उपस्थित किया। अधिकांश अंग्रेजों ने भारत को घृणा की दृष्टि से देखा। उन्होंने जाति-भेद को प्रोत्साहन दिया। कई नई जातियाँ उत्पन्न कर दीं। जैन, सिक्ख आदि को हिन्दुओं से पृथक करने की चेष्टा की। अछूतों को भड़काया। उनके इतिहासकारों ने क्षत्रिय, गूजर, जाट, नागर ब्राह्मण आदि कितने ही वर्गों को विदेश से आये हुए सिद्ध करने की कुचेष्टा की कि भारत एक देश नहीं है बल्कि महाद्वीप है। यहाँ की विभिन्न जातियों को, विभिन्न भाषाओं को, नाना प्रकार के रीति-रिवाजों को और सामाजिक विषमताओं को उन्होंने हमारी संस्कृति का मुख्य लक्षण बताया। इस प्रकार निरन्तर प्रयास यह रहा कि भारत की सांस्कृतिक एकता नष्ट हो जावे और राष्ट्रीय एकता का यहाँ उदय न हो।

परन्तु अंग्रेजों के सम्पर्क का परिणाम भारत के लिये हितकर हुआ और उनकी आकांक्षाओं के विपरीत हुआ। अंग्रेज लोग अपने आपको ऊँचे से ऊँचे भारतीय से भी ऊँचा समझते थे। इसलिये उन्होंने हम लोगों के साथ हेल-मेल नहीं रखा और मेल-जोल नहीं बढ़ाया। तो भी अंग्रेजी साहित्य और योरोप के इतिहास का भारत पर बड़ा प्रभाव पड़ा और ईसाइयत के धक्के से भारत सचेत हो गया और उसने अपने असली स्वरूप को टटोल लिया। अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन से लोगों ने जान लिया कि योरोप में भी दास प्रथा थी और अमेरिका में तो इसने अत्यन्त भयंकर स्वरूप धारण कर लिया था। अफ्रीका के हब्शी पशुओं की भांति पकड़े जाते थे। माताओं को बच्चों से अलग कर दिया जाता था। कुटुम्ब विच्छिन्न हो जाते थे और इनको विभिन्न स्थानों पर बेच दिया जाता था। यह बातें पढ़ कर हिन्दुस्तानी लोग समझ गये कि पाश्चात्य लोग जो हमारे धर्म, संस्कृति और जाति-पाँति की निन्दा करते हैं वह अनुचित है। सामाजिक बुराइयाँ या कुप्रथायें अंधविश्वास और मंत्र-तंत्र, जैसे पूरब में हैं वैसे ही पश्चिम में हैं। इनमें किंचित भेद हो सकता है लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि भारत में केवल अंधकार है और योरोप में केवल

प्रकाश। साथ ही योरोप के साहित्य के अध्ययन करने से यह भी पता लगा कि धर्म के नाम पर योरोप में पाशविक अत्याचार हुए हैं। लगभग सभी देशों में ईसाइयों के एक सम्प्रदाय ने दूसरे सम्प्रदाय के लोगों को घोर नृशंसता के साथ आग में जला कर मारा है और ऐसी घटनायें वहाँ प्रतिदिन वर्षों तक हुई हैं। हिन्दुओं में ईसाइयों के प्रचार से शुरू में कुछ आत्मग्लानि सी आ गई थी परन्तु योरोप के साहित्य और इतिहास के पढ़ने के बाद उनको बोध हुआ कि मानव समाज सर्वत्र एक सा ही है। धर्म के तत्व भी प्रायः समान हैं। अन्ध विश्वासों में भी कोई भेद नहीं है।

तो भी ईसाइयों के धक्के से हिन्दू लोग संभल गये। उन्होंने अपने धर्म के मूल तत्वों की खोज की और अपनी संस्कृति के शुद्ध स्वरूप को पहचाना। अंग्रेजों के सम्पर्क के बिना शायद ये मूल तत्व छिपे ही पड़े रहते और हिन्दुओं में अपनी संस्कृति के प्रति वास्तविक श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती। इतना ही नहीं हिन्दुओं ने प्रतिमा-पूजन, अवतारवाद, वर्णाश्रम, धर्म षोड्ष-संस्कार, विवाह पद्धति, आदि का तर्क और विज्ञान के द्वारा मंडन करना शुरू किया। इसमें उनको कुछ पाश्चात्य साथी भी मिल गये और स्वामी विवेकानन्द के तूफानी दौरे ने एक नई लहर और उमंग उत्पन्न कर दी। इस प्रकार अंग्रेजों के सम्पर्क से हिन्दुओं का धर्म, संस्कृति, समाज, दृष्टिकोण और ज्ञान-विज्ञान पुनःस्थापित हो गया। योरोप के वैज्ञानिक प्रकाश ने इनको और प्रकाशित कर दिया। नई तर्क से इन सबकी पुष्टि हुई और पाश्चात्य सम्पर्क से भारत को नया आलोक प्राप्त हुआ। यह कहा जा सकता है कि योरोपीय दृष्टिकोण से भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों को जब देखा गया तो उनका विचित्र सौन्दर्य प्रकट हुआ। योरोप की प्रचार शैली, भाषण, विधि, संगठन प्रणाली वाद-प्रतिवाद का ढंग भारत ने ग्रहण किया। छापेखाने ने प्रचार में सहायता पहुँचाई। रेल, तार और डाकखाने के कारण फासलों की कठिनाइयाँ दूर हो गई। इस प्रकार दो सभ्यताओं के सम्पर्क ने और तज्जन्य परिस्थिति ने भारत को अमृत की घूंट पिलाई और भारत सबल और सशक्त होकर खड़ा हो गया।

स्त्री समाज पर प्रभाव : अंग्रेजों के सम्पर्क से स्त्रियों की स्थिति में अपूर्व परिवर्तन हुआ। पर्दे का विरोध अंग्रेजों के कारण ही आरम्भ हुआ। ब्रह्म समाज ने उच्च और शिक्षित कुलों से पर्दा हटाया और वह भी केवल बंगाल में। परन्तु इसकी शाखाओं ने पंजाब और उत्तर प्रदेश में भी पर्दे के विरुद्ध कुछ प्रचार किया। आर्य समाज ने उत्तर भारत में पर्दा प्रथा के विरुद्ध धुआंधार आन्दोलन किया और कांग्रेस के आन्दोलन में महिलाओं ने जब सहयोग दिया तो महात्मा गांधी की प्रेरणा से पर्दा बिल्कुल बिदा हो गया। इस समय पर्दा केवल नाम मात्र का रह गया है। केवल मध्यवर्गीय और उच्चवर्गीय लोगों ने ही नहीं अपित राजपूत नरेशों के यहाँ भी अब पर्दा नहीं है।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में स्त्री-शिक्षा का घोर विरोध था। साक्षरता भी केवल कुछ जातियों के कतिपय कुलों में पाई जाती थी। यह हर्ष के साथ मानना चाहिये कि स्त्री-शिक्षा का सूत्रपात ईसाई प्रचारकों ने किया था। फिर यह काम ब्रह्म समाज ने हाथ में लिया और आर्य समाज ने तो पंजाब और उत्तर प्रदेश में कस्बे कस्बे में आर्य कन्या पाठशालायें खोल दीं। रूढ़िवादियों ने आरम्भ में बड़ा विरोध किया किन्तु शनैः शनैः स्त्री-शिक्षा की उन्नति होती गई। थियोसोफिकल सोसाइटी और दक्षिण एजूकेशन सोसाइटी ने भी इस दिशा में बहुत काम किया। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप आज स्त्री-शिक्षा संस्थाओं की भारमार है। प्रत्येक नगर में स्त्रियों के बड़े-बड़े कालेज हैं और मध्यवर्गीय लोगों के कुलों में वर्तमान पुश्त की निरक्षर लड़कियाँ तो इनी-गिनी ही हैं। स्त्री-शिक्षा के लिये ऐसी सर्वव्यापक माँग है कि हाई स्कूल और कालेजों में कितनी ही लड़कियों का प्रवेश नहीं हो पाता है।

एक समय ऐसा था जब बाल-विवाह की प्रथा सीमा का उलंघन कर गई थी और ग्यारह वर्ष के बाद लड़की का कुंवारी रहना महापाप माना जाता था। इस प्रथा का विकास राजनैतिक कारणों से हुआ था। किसी अंश में यह प्रथा नवमीं, दसवीं शताब्दी से शुरू हो गई थी। परन्तु इसने हेय रूप मुसलमानों के समय में धारण किया था। स्वयं मुसलमानों में उस समय बाल-विवाह की प्रथा बहुत प्रचलित थी। अंग्रेजों के सम्पर्क से यह प्रथा शिथिल होने लगी। अंग्रेज सरकार ने कानून द्वारा इनमें रोक लगाई और अब शिक्षित समाज में तो बाल-विवाह की कुप्रथा नहीं बल्कि किसी वंश में प्रौढ़-विवाह की कुप्रथा चल पड़ी है। अंग्रेजों की देखा देखी और आर्थिक परिस्थितियों के कारण कितनी ही लड़कियाँ आजन्म कुँवारी भी रहने लग गई हैं। विवाह की पद्धति सरल और परिमार्जित होती जाती है। इसमें आर्य समाज का बहुत बड़ा हाथ है। सरकारी कानून भी बन गया है कि मजिस्ट्रेट के यहाँ जाकर कुछ मिनट में ही शादी की जा सकती है। इसके लिये प्रायः प्रत्येक जिले में अफसर नियुक्त कर दिये गये हैं। पहले हिन्दू कानून के अनुसार विवाह बन्धन कभी तोड़ा नहीं जा सकता था परन्तु अब पति-पत्नी दोनों की विशेष परिस्थितियों में नये कानून के अनुसार मुसलमान और ईसाइयों की भांति एक दूसरे को तलाक दे सकते हैं। प्राचीन प्रथा के अनुसार कुछ जातियों को छोड़ कर सारे हिन्दू-समाज में पिता की सम्पत्ति में से कानून के अनुसार पुत्री को कुछ नहीं मिलता था। पिता उसको दहेज के रूप में जो देता था वही उसको मिलता था परन्तु अब नये-नये कानून के अनुसार पुत्री को भी पिता की सम्पत्ति पर उतना ही अधिकार दे दिया गया है जितना पुत्र को। यह कानून अंग्रेजों ने नहीं बनाये हैं। इनकी सृष्टि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हुई है। परन्तु यह परिवर्तन पाश्चात्य लोगों के सम्पर्क के कारण और विशेषतः अंग्रेजों के सम्पर्क के

कारण हुआ है। इससे स्पष्ट है कि हम तीव्र गति से सामाजिक मामलों में अधिकाधिक अंग्रेजों के निकट पहुँच रहे हैं। दो संस्कृतियों के सम्मिश्रण से पुरानी संस्कृति पर नयी संस्कृति का क्या प्रभाव पड़ता है यह इससे स्पष्ट है।

जाति-भेद पर प्रभाव : अंग्रेजों के यहाँ तथा अमेरिका में भी वर्ण-भेद प्रचलित है। अंग्रेज लोग अफ्रीका के हब्शियों के साथ आस्ट्रेलिया के आदि निवासियों के साथ और अमेरिका के लोग रेड इंडियन तथा हब्शियों के साथ पाशविक व्यवहार करते थे। इस समय भी इनके व्यवहार में अधिक भेद नहीं आया है तो भी जब अंग्रेज लोग हमारी अयोग्यता सिद्ध करने के लिये भारतीय जाति-प्रथा का उदाहरण देने लगे तो हमारे सुधारकों ने भी जाति की निन्दा शुरू की। स्वामी दयानन्द ने वर्ण-प्रथा का विशुद्ध वैज्ञानिक स्वरूप देश के सामने उपस्थित किया। इस दिशा में गांधीजी के उपदेशों का भी बड़ा प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप अब जाति बन्धन शिथिल होते जाते हैं। खान-पान विषयक मर्यादायें प्रायः उठ सी गई हैं। स्पर्शास्पर्श विलीन सा हो गया है। अछूतों का उद्धार अब भारतीय विधान का अङ्ग है। हमारी पथा के निन्दकों को यह उचित उत्तर है परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि उनकी नीति और लान्स-फटकार के कारण ही भारत को होश आया है और दलितों का उद्धार और उत्थान के लिये निश्चित कार्यक्रम बन गया है। अब भारत सरकार ने वर्गहीन और जातिहीन समाज की रचना करना अपना ध्येय निश्चित कर लिया है। ऐसी आशा होती है कि शीघ्र ही भारतीय समाज योरोप और अमरीका के समाज से अधिक उन्नत और उदार बन सकेगा।

प्रायः समस्त संसार में इस समय यह प्रवाह चल रहा है कि आर्थिक विषमतायें नष्ट या कम की जावें। रूस का यह ध्येय है और इंगलैण्ड और अमेरिका में इसको सिद्धान्ततः स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार यह विचार-धारा कहीं तीव्र वेग से और कहीं शिथिल वेग से चल रही है। इन परिस्थितियों का प्रभाव हमारे देश पर पड़ा है कि हमारी सरकार ने भी साम्यवादी समाज की सृष्टि करना शासन ध्येय बना लिया है और बराबर इस बात पर विचार किया जाता है कि धनवानों पर अधिक से अधिक कर लगा कर उनकी आय और सम्पत्ति की सीमा निश्चित कर दी जावे। इस प्रकार भारत पाश्चात्य देशों के समीप जा रहा है और आर्थिक दृष्टि से अभी अपने समाज का नव-निर्माण कर रहा है।

जनतन्त्रवाद : जनतन्त्रवाद का प्रथम पाठ भारत ने अंग्रेजों से ही पढ़ा है। लगभग २००० वर्ष पूर्व भारत में छोटे बड़े गणतन्त्र राज्य थे और इसी प्रकार यूनान में भी कई नगर गणतन्त्र थे परन्तु ये अतीत में विलीन हो गये थे। शासन के इस स्वरूप की जागृति पहले पहल अमेरिका में हुई। फ्रांस ने उसका अनुकरण किया और

फिर वहां से यह विचार धारा समस्त योरोप में फैल गई। योरोप से यह विचार चीन और जापान में पहुँचे और फिर भारत में इनका उदय हुआ। इस समय हम जनतन्त्र-वाद में इंगलैण्ड से भी आगे बढ़े हुए हैं। वहां के राज्य का स्वामी कुलक्रमानुगत राजा है परन्तु हमारे देश का अधिपति निर्वाचित राष्ट्रपति है।

वर्तमान दृष्टिकोण : हमारी संस्कृति में विभिन्न युगों के प्रभाव दिखाई देते हैं। हमारी भाषा वैदिक काल से चली आई है। हमारे धर्म के अनेक तत्त्व वैदिक कालीन हैं। समय समय पर हमारे धर्म का स्वरूप बदला है और बदल रहा है परन्तु मूलतः वह वैदिक है। भारतीय वर्ण व्यवस्था को प्रत्येक युग में धक्के लगे हैं। यूनानी, शक, सीथियन, और हूण लोगों के धक्कों का इस पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। मुसलमानों ने हिन्दूओं में से करोड़ों लोगों का धर्म परिवर्तन किया परन्तु उनके सम्पर्क से वर्ण व्यवस्था एक अंश में अधिक दृढ़ तथा दूसरे अंश में किंचित् विकृत हो गई। सन्तों के उपदेशों से जातीय दृष्टिकोण कुछ उदार हुआ परन्तु जाति पांति का स्वरूप प्रायः पूर्ववत् ही बना रहा। अब पाश्चात्य सम्पर्क ने एक नया दृष्टिकोण उत्पन्न किया है परन्तु फिर भी इस विषय में कोई बड़ा परिवर्तन दिखाई नहीं देता। बल्कि कभी कभी इसका उग्र रूप उपस्थित हो जाता है। जन तन्त्रात्मक शासन को स्थापित हुए अभी केवल नौ साल हुए हैं। इससे संसार के राष्ट्रों में भारत का सम्मान बहुत बढ़ा है। अब वह प्रतिष्ठित देश माना जाता है। जनतन्त्रवाद हमारे शासन में ही नहीं लेकिन हमारी विभिन्न संस्थाओं और हमारे जीवन में घुस गया है। हमारे आचार, विचार और व्यवहार जन-तन्त्रीय रूप धारण करते जाते हैं परन्तु एक बात खटकती है और वह यह है कि इस समय अधिकारों पर जोर दिया जाता है और कर्तव्यों की प्रायः उपेक्षा है। हमारी संस्कृति का यह वर्तमान स्वरूप पूर्व और पाश्चात्य के सम्मिश्रण का परिणाम है।

